स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

MAEC-06
भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास

प्रथम खण्ड : भारतीय अर्थव्यवस्था
द्वितीय खण्ड : भारतीय अर्थव्यवस्था
तृतीय खण्ड : कृषि अर्थव्यवस्था

वर्धमान महावीर
खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास
MAEC-06

खण्ड परिचय

भारतीय अर्थव्यवस्था

भारतीय अर्थव्यवस्था पर इस खण्ड में कुल पांच इकाइयां है। इसमें भारतीय अर्थव्यवस्था की पिछले पचास वर्षों में उपलब्धियां एवं प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इस तथ्य से तो हम सभी परिचित हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने द्रुत आर्थिक विकास के उद्देश्य से नियोजन का मार्ग चुना। अब तक हम आठ पंचवर्षीय योजनाएं पूरी कर चुके हैं एवं नौवी पंचवर्षीय योजना (1997-2002) प्रगति पर हैं। इन वर्षों में विभिन्न योजना के लक्ष्यों एवं उपलब्धियों पर प्रथम इकाई में चर्चा की गई है। नियोजन के दौरान अर्जित वृद्धि दरों को विभिन्न दशकों में अलग-अलग प्रदर्शित किया गया है। इस प्रश्नपत्र की सामग्री में आँकड़ों की अनुपलब्धता व तेजी से परिवर्तन होते हैं। अतः आपसे अपेक्षा है कि आप अपने स्रोतों से नवीनतम जानकारी एकत्रित कर पाठ्य सामग्री में उसे यथा स्थान प्रयुक्त करें। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ जैसे भारत, आर्थिक सर्वेक्षण, रिजर्व बैंक से प्रकाशित आँकड़ों का आप आसानी से प्रयोग कर सकते हैं।

भारत में नियोजन एवं विकास प्रक्रिया व नियोजित विकास की उपलब्धियों की चर्चा इकाई संख्या दो में की गई है। इस इकाई में नियोजित आर्थिक विकास की विशेषताओं एवं उपलब्धियों की चर्चा के साथ-साथ नियोजन की विफलताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। हमें इन विफलताओं से सबक लेकर विकास के मार्ग की बाधाओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

इकाई संख्या तीन में विकास की व्यूह रचनाओं भारी उद्योग बनाम मजदूरी वस्तुओं की चर्चा की गई है। विकास के ये विभिन्न मार्ग सत्तर के दशक में काफी चर्चा में रहे। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्राप्त सफलता के कारण आयोजन अधिकारी कृषि को छोड़कर विकास के आधारभूत ढाँचे के निर्माण के लिए भारी उद्योगों पर बल देना चाहते थे। प्रो. प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस ने द्वितीय योजना में भारी उद्योग माडल पर आधारित विकास मार्ग अपनाने की सलाह दी। इसे भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने काफी पसंद किया। इसके विपरीत विकास का एक मार्ग मजदूरी वस्तुओं पर आधारित था जिसे वस्तुतः लागू नहीं किया गया। परन्तु भारतीय परिस्थितियों में यह आज भी विचारणीय एवं प्रासंगिक है। इन विभिन्न मॉडलों के बारे में आप इस खण्ड में जानकारी प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त चतुर्थ इकाई में आपका परिचय एक अन्य विकास व्यूह रचना से कराया जाएगा। इसमें केन्द्रित एवं विकेन्द्रित नियोजन पद्धति का अर्थ एवं इसकी उपलब्धियों एवं समस्याओं की चर्चा की जाएगी। इकाई पाँच में भारत में शिक्षा का विकास विषय पर चर्चा की गई है। आज के बढ़ते वैज्ञानिक युग में शिक्षा के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा की अहम् भूमिका है। आज कम्प्यूटर क्रांति के युग में पारम्परिक शिक्षा के साथ-साथ सूचनाक्षेत्र में हो रही क्रांति के साथ चलना होगा। इसके लिए हमें अपने पाठ्यक्रमों में भी आवश्यक परिवर्तन करना होगा। शिक्षित वर्ग ही इस तकनीकी का समुचित प्रयोग कर विकास की दोड़ में आगे निकल सकता है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. के. पी. एम. सुन्दरम (1)
नई दिल्ली

डॉ. लक्ष्मी नारायण नाथूरामका (3, 4)
जयपुर

डॉ. धर्मेश शर्मा (2)
डुंगरपुर

डॉ. अरूणा कालरा (5)
नई दिल्ली

खण्ड-1

भारतीय अर्थव्यवस्था

पृष्ठ संख्या

इकाई 1
भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि की प्रवृत्तियां 7-20

इकाई 2
भारत में नियोजन एवं विकास
प्रक्रिया-नियोजित विकास की समीक्षा 21-37

इकाई 3
विकास की व्यूहरचनाएं-भारी उद्योग बनाम मजदूरी-वस्तुएं-
उद्देश्य व उपलब्धियां 38-55

इकाई 4
विकेन्द्रित नियोजन-पद्धति 56-72

इकाई 5
भारत में शिक्षा का विकास 73-83

सम्पादक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया

सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष

अर्थशास्त्र विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

पाठ्य सामग्री उत्पादन

निदेशक

पाठ्य सामग्री एवं वितरण

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस सामग्री के किसी भी अंश की कोटा विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015
मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना. कटरा, इलाहाबाद।

इकाई 1

भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि की प्रवृतियां

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था
1.3 1951 के बाद का आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक वृद्धि
1.4 नियोजन अवधि के दौरान वृद्धि दर
  1.4.1 नियोजन का प्रथम दशक (1951-61)
  1.4.2 नियोजन का दूसरा दशक (1961-71)
  1.4.3 नियोजन का तीसरा दशक (1971-81)
  1.4.4 नियोजन का चौथे दशक के दौरान वृद्धि दर (1981 के बाद से)
  1.4.5 सातवीं योजना (1985-90) के दोरान वृद्धि दर
1.5 प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर
1.6 1951 के बाद से भारतीय अर्थव्यवस्था में क्षेत्रवार वृद्धि
  1.6.1 1950-51 बाद से कृषि की वृद्धि दर
  1.6.2 औद्योगिक क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि दर
1.7 अवर-संरचनात्मक सुविधाओं में वृद्धि दर
  1.7.1 ऊर्जा एवं शक्ति
  1.7.2 परिवहन व संचार
  1.7.3 बैंकिंग एवं वित्त
1.8 सारांश
1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई क अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि भारतीय अर्थव्यवस्था किस प्रकार धीरे-धीरे वृद्धि की ओर उन्मुख हुई।

1.1 प्रस्तावना

भारत, जिसे विश्व के सबसे बड़े व सर्वाधिक स्थिर लोकतंत्र के रूप में जाना जाता है, मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। पिछले चालीस वर्षों से अधिक समय से भारत में अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र कंधे से कंधा मिलाते हुए एक-साथ क्रियाशील हैं। इस सहयोगपरक क्रियाशीलता का उद्देश्य है भारत की जड़ व निर्भर अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाते हुए उसे आत्म-निर्भर, प्रगतिशील व विकास उन्मुखी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित करना।

भारत की जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी ने न केवल देश को अपनी सतत बढ़ती जनसंख्या को दो वक्त की रोटी देने में सहायता पहुंचाई है बल्कि उसने पर्याप्त मात्रा में ऐसे कच्चे संसाधन

भी सुलभ कराए हैं जो भारत के अनेक पारम्परिक उद्योगों को कुशल संचालित करते आए है। उद्योगों के क्षेत्र में भारत विश्व के 10 सर्वाधिक औद्योगीकृत देशों में से एक है। भारत आज प्रायः समस्त उपभोक्ता सामग्री में आत्म-निर्भर है जबकि इस्पात, सीमेन्ट, रासायनिक खाद, भारी मशीनरी व कलपुर्जो आदि के क्षेत्र में वह तेजी से अपनी निर्धारित क्षमता का उत्पादन कर रहा है। देश में पूंजी पदार्थो के उत्पादन में अत्यन्त प्रभावशाली वृद्धि हुई है। अब भारत इस स्थिति में है कि वह न्यूनतम स्तर पर पूंजी पदार्थ आयातित करते हुए अपने अधिकतम उद्योगों को स्थापित व अनुरक्षित कर सकता है। भारत ने तेजी से बढ़ते अपने प्राथमिक व माध्यमिक क्षेत्रों को सुचारू आधार देने के लिए काफी विशाल अवर-संरचना का निर्माण कर लिया है। उदाहरण के लिए आज भारत में सिंचाई परियोजनाओं व नहरों तथा जल व तापीय आधार पर उत्पादित बिजली व उसके वितरण का प्रभाव जाल बिछा हुआ है। आज भारतीय रेल व्यवस्था काफी हद तक बिजली व डीजल से संचालित है और वह एशिया की सबसे बड़ी रेल व्यवस्था हैं। दुनिया में भारतीय रेलवे का तीसरा स्थान है। इसके साथ ही भारतीय बैंकिंग व वित्तीय प्रणाली सतत बढ़ते हुए राष्ट्र व्यापी हो चली है। आज वह ऐसी स्थिति में है कि वह देश के दूर दराज़ तक से आर्थिक विकास के लिए सामुदायिक बचत को प्रोत्साहित व संवर्द्धित कर सकती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था आजादी के बाद से (विशेषतः 1951 के बाद से) और भी अधिक प्रभावशाली उपलब्धियां अर्जित कर सकती थी बशर्ते सरकार वो गलतियां नहीं करती जो उसने वास्तव में की। 1951 के बाद से भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास पर ध्यान देने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की सच्ची तस्वीर पर अपना ध्यान केन्द्रित करें।

1.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

भारत को सदैव एक ऐसे अमीर देश के रूप में जाना जाता रहा हैं जहां गरीब बसते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीः

(अ) 1951 में भारत की जनसंख्या 351 मिलियन थी। यह जनसंख्या न केवल काफी विशाल थी बल्कि काफी तेज दर से बढ़ भी रही थी।

(आ) कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था जो कार्यशील जनसंख्या के 70% वर्ग को रोज़गार सुलभ कराता था। सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी. एन. पी.) को उसका योगदान 56% से भी अधिक था।

(इ) देश में उपभोक्ता माल के कुछ ही उद्योग स्थापित थे जैसे सूती व पटसन कपड़ा उद्योग, चीनी उद्योग तथा दिया-सलाई उद्योग। कई औद्योगिक इकाईयां विदेशी स्वामित्त्व अथवा प्रबन्धन की परिचायक थीं।

(ई) अवर-संरचनात्मक सुविधाएं बाबा आदम के जमाने की थी। देश के कई भागों में परिवहन की समुचित व्यवस्था का अभाव था और न ही बैंकिंग सुविधाएं ही सुलभ थी। देश में बचत और निवेश को बढ़ाव देने वाली संस्थाएं या तो विद्यमान ही नहीं थीं और यदि वे थी भी तो पूर्णतः विकसित नहीं थीं।

(उ) अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में माल और सेवाओं में प्रयुक्त तकनीकें भी काफी पुरानी थीं। देश में घोर बेरोजगार या अल्प-रोजगार व्याप्त था। देश के व्यापक प्राकृतिक व मानवीय संसाधन घोर उपेक्षा का शिकार थे और उनका समुचित उपयोग प्रायः अनुपस्थित था। लोगों की प्रति व्यक्ति आय समूची दुनियां के संदर्भ में प्रायः नगण्य थी।

(ऊ) जहां एक ओर लोगों का एक छोटा समूह सर्वसम्पन्न था (जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापारी, बिचौलिये व उद्योगपति) और उनका जीवन स्तर काफी समुन्नत, वहीं दूसरी और जनता का अधिकांश भाग घोर अभावग्रस्त था, उनका कोई विशिष्ट जीवन स्तर ही नहीं था। कुल जनसंख्या का 50%, और कुछ राज्यों में तो उसका 60% तक काफी गरीब था। उनका रोटी, कपड़ा और मकान का उपभोग स्तर काफी गिरा हुआ था।

1.3. 1951 के बाद का आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक वृद्धि

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री तथा भारत में आर्थिक नियोजन के सूत्रधार जवाहर लाल नेहरू की यह धारणा थी कि:

(i) लाभ के संवेग पर आधारित भारतीय अर्थव्यवस्था का निजी क्षेत्र मूल एवं आधारभूत उद्योगों के विकास की उपेक्षा करेगा। इसके अतिरिक्त, निजी क्षेत्र वित्तीय व प्रबंधन की दृष्टि से दुर्बल है और इसलिए वह अपने बूते देश के तीव्र विकास में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होगा।

(ii) इस्पात, परिवहन, बैंकिग, बीमा जैसे क्षेत्रों में सरकार को अपना उच्च नियंत्रण स्थापित करना चाहिए।

(iii) मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली भारत के लिए एक आदर्श प्रणाली सिद्ध होगी क्योंकि इसमें:—

- निजी क्षेत्र व बाजार व्यवस्थाएं उनके अपने निर्दिष्ट विधि, दर व कालावधि के अनुरूप आर्थिक वृद्धि संसाधित कर सकेंगे; तथा
- सार्वजनिक क्षेत्र (इस अर्थव्यवस्था के अंतर्गत) मूल व आधारभूत उद्योग संचालित करते हुए अवर-संरचनात्मक सुविधाएं भी जुटा सकेगा।

भारत में नियोजन के सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों का मंतव्य उत्पादन व रोज़गार, आधुनिकीकरण व आत्म-निर्भरता लोगों के बीच आय व सम्पत्ति के पुनर्वितरण तथा शोषण के अभाव व समानता के आधार पर समतावादी समाज की रचना द्वारा राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आमदनी में तीव्र वृद्धि संसाधित करना है। इस दृष्टि से भारत में भारी उद्योगों के ज़रिए तीव्र औद्योगीकरण के रूसी मॉडेल को अपनाने का उपक्रम किया गया।

योजना आयोग ने पहले भारी उद्योग और सदैव उसके साथ-साथ अवर संरचना के विकास की प्राथमिकताओं को सुनिश्चित किया। भारत की प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में उससे संबंधित काल-अवधि के भीतर स्पष्ट विकास-लक्ष्य निर्धारित किए गए। योजना अवधि के दौरान और उसके अंत में गलतियों को सुधारने, आवश्यक संशोधनों तथा समायोजना को कार्यरूप देने और क्रियान्वयन की सफलता व असफलता के आकलन संबंधी उपक्रम लगातार किए जाते रहे।

1.4 नियोजन अवधि के दौरान वृद्धि दरें

भारतीय अर्थ व्यवस्था की वृद्धि दरों के समाकलन की दृष्टि से हम **स्थिर मूल्यों** के आधार पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि पर विचार करते हैं न कि वर्तमान प्रभावी मूल्यों के आधार पर। उदाहरण के लिए, वर्तमान दरों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि दो घटकों के समन्वित प्रभाव की द्योतक होती है:

(अ) वास्तविक वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन/सृजन में वृद्धि; तथा

(ब) मूल्य स्तर में वृद्धि।

यदि राष्ट्रीय आय में पहले घटक के कारण वृद्धि हो तो वह अर्थव्यवस्था में **वास्तविक वृद्धि** की परिचायक होती है क्योंकि उसके यह निहितार्थ होता है कि लोग अधिक माल व सेवाएं ग्रहण कर रहे हैं। यदि किसी समय दूसरे घटक के आधार पर राष्ट्रीय आय बढ़े, जैसे मूल्य स्तर में वृद्धि, तो ऐसी वृद्धि केवल मुद्रा के संदर्भ में हो आसमान वृद्धि की परिचायक होती है। परिणामतः मुद्रा के संदर्भ में राष्ट्रीय आय को स्थिर मूल्यों के आधार पर अपस्फीत (डिफ्लेट) किया जाता है ताकि उस अवधि में दर्ज मूल्य स्तर में वृद्धि के किसी भी प्रभाव को दूर किया जा सकें।

स्थिर मूल्य पर कुल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि समुदाय के सकल उत्पादनकारी प्रयासों का सूचकांक होता है। उससे देश के संदर्भ में माल व सेवाओं में अभिवृद्धि का बोध होता है। 1970-71 के मूल्यों को स्वीकार करते हुए और उसके आधार पर पीछे और आगे की गणना करते हुए राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय दर में वार्षिक वृद्धि दर को निर्धारित किया गया है (1970-71 के स्थिर मूल्य पर) जो इस प्रकार है:

तालिका 1.1: 1950-51 के बाद में वार्षिक वृद्धि दरें
(1970-81 के स्थिर मूल्यों का आधार)

	कुल राष्ट्रीय उत्पाद	प्रति व्यक्ति आय
प्रथम योजना	3.6	1.8
द्वितीय योजना	4.0	1.9
तृतीय योजना	2.2	0.0
चौथी योजना	3.1	1.1
पांचवी योजना	4.0	2.3
छठी योजना	3.1	1.1
1951-61	3.8	1.8
1961-71	3.5	1.2
1971-81	3.2	1.1
1981-91	3.5	1.4

(स्रोतः भारत सरकार, विभिन्न आर्थिक सर्वेक्षण, प्रतिवेदन

तालिका 1.1 से यह ज्ञात होता है कि (अ) राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय विषयक समस्त पंचवर्षीय योजना की वृद्धि संबंधी प्रवृत्तियां प्रथम पंचवर्षीय योजना से शुरू हुई तथा (ब) प्रत्येक दशक की वृद्धि प्रवृत्तियों की शुरूआत 1951 से चरितार्थ हुई।

1.4.1 नियोजन का प्रथम दशक (1951-61)

इस दशक के दौरान पहली पंचवर्षीय योजना काल में भारतीय अर्थव्यवस्था में 3.6% की दर से वृद्धि हुई। इस योजना को भारी सफलता का श्रेय दिया गया क्योंकि इसके अंतर्गत उत्पादन लक्ष्य, विशेषतः कृषि के क्षेत्र में, आशातीत अर्जित किए जा सके। हालांकि पहली योजना की सफलता काफी अंशों में उस काल की अनुकूल जलवायु पर निर्भर थी, सरकार ने कई योजना-लक्ष्यों की उपलब्धि का सेहरा अपने सिर पर बांध लिया।

दूसरी पंचवर्षीय योजना पहली की अपेक्षा अधिक महत्त्वाकांक्षी थी परन्तु उसका पूर्णतः

क्रियान्वयन नहीं हो सका। इसके लिए घोर वित्तीय सीमाएं उत्तरदायी थी। विशेषतः विदेशी विनियम संसाधनों का काफी अभाव व्याप्त था। इस योजना के मध्य काल में ही योजना आयोग को वित्तशतः कई विकास कार्यक्रमों एवं लक्ष्यों में काट-छांट को अंजाम देना पड़ा। इसके अतिरिक्त, इस अवधि में सामान्य मूल्य स्तर खतरनाक तरीके से बढ़ने लगा। इन समस्याओं के बावजूद, अर्थव्यवस्था की वार्षिक वृद्धि दर योजना काल में प्रभावशाली रूप से ऊंची उठ कर 4% दर्ज हुई। इस प्रकार, नियोजन के प्रथम दशक के दौरान सकल राष्ट्रीय उत्पाद 3.8% की वार्षिक दर से बढ़ा।

1.4.2 नियोजन का दूसरा दशक (1961-71)

दूसरी पंचवर्षीय योज़ना के अंत तक भारतीय नियोजकों तथा भारत सरकार इस नतीजे तक पहुंच गई कि अब भारतीय अर्थव्यवस्था 'टेक-ऑफ' (उडान के लिए ऊपर उठने) की अवस्था पर आ गई है। अतएव, उन्होंने यह सुझाव दिया कि तीसरी योजना को आत्म निर्भरता व अर्थव्यवस्था के आत्म-विकास के लक्ष्य को स्वीकार करना चाहिए। योजना आयोग का यह भी तर्क था कि पहली दो योजनाओं ने तीव्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक संस्थात्मक संरचना निर्मित कर दी है। इसके साथ ही योजना आयोग को यह पीड़ाजनक अनुभूति भी थी कि कृषि उत्पादन के क्षेत्र में प्रकट धीमी वृद्धि दर भारत के तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में एक अवरोधक कारक है। भारतीय अर्थव्यवस्था के तेजी से विकास के लिए आवश्यक मूल व आधारभूत उद्योगों के विकास पर बल देते हुए तीसरी पंचवर्षीय योजना ने कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की। यह योजना एक भारी दुर्घटना सिद्ध हुई क्योंकि इस योजना काल में व्यापक अकाल पड़ा और कृषि उत्पादन में भारी गिरावट प्रस्तुत हुई। 15 वर्षों में पहली बार देश ने वृद्धि की नकारात्मक वार्षिक दर प्राप्त की। फिर भी, तीसरे योजना काल में अर्थव्यवस्था की वार्षिक वृद्धि की औसत दर 2.2% अंकित थी।

तीसरे योजना काल के अंतिम वर्ष के दौरान प्रकट असफलता ने भारत सरकार को आर्थिक नियोजन रोकने और 'योजना अवकाश' लेने पर विवश किया। 1966-69 के दौरान वार्षिक योजनाएं तथा चौथी योजना के प्रथम दो वर्ष अकाल व व्यापार मंदी से उबरने के वर्ष सिद्ध हुए। उन्होंने काफी अंशों में तीसरे योजना काल की समाप्ति के दौरान प्रकट असफलता से मुक्ति पाने के प्रयासों का परिचय दिया। दूसरे नियोजन दशक (1961-71) के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने 3.5% वार्षिक वृद्धि दर दर्ज कराने में सफलता अर्जित की।

1.4.3 नियोजन का तीसरा दशक (1971-81)

नियोजन का तीसरा दशक निम्नलिखित से अभिनिर्मित था:

(अ) **चौथे योजना काल के अंतिम तीन वर्ष:** पिछली योजना के दौरान अर्जित 3.5% वार्षिक वृद्धि दर के अनुपात में चौथी योजना ने 5.5% की महत्त्वाकांक्षी वृद्धि का लक्ष्य लेकर चलते हुए प्रारम्भ में भारी सम्भावनाओं का परिचय दिया। प्रारम्भ में खाद्यान्नों का रिकॉर्ड उत्पादन हुआ और उसी अनुपात में औद्योगिक उत्पादन भी बढ़ा इसके बावजूद मानसून की बारम्बार प्रकट विफलता के कारण चौथी योजना के अंतिम तीन वर्ष भारी निराशाजनक सिद्ध हुए। खाद्यानों के उत्पादन में गिरावट औद्योगिक मोर्चे पर विद्युत आपूर्ति की घोर अनियमितता से प्रकट विफलता, परिवहन की अस्तव्यस्ताओं, औद्योगिक असंतोष तथा तेजी से चढ़ते मुद्रास्फीति के दबावों आदि के कारण यह योजना काल अत्यन्त निराशा का युग सिद्ध हुआ। सामान्यतः यह माना जाने लगा कि मध्यावधि के उपरान्त चौथी योजना निर्णायक रूप से लडखड़ा गई। वार्षिक वृद्धि की दर इस दौरान मात्र 3.1% ही दर्ज हो सकी जबकि योजना आयोग ने 5.5% की मौलिक वृद्धि दर संकल्पित की थी।

(ब) **पांचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79):** जब पांचवी योजना को औपचारिक रूप

से प्रस्तुत किया गया उस समय (अप्रैल 1974 में) भारत गम्भीर मुद्रास्फीति व आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था। इसके बाद देश में आपातकाल की घोषणा हो गई जिसके दौरान सरकार तथाकथित बीस-सूत्रीय कार्यक्रम के क्रियान्वयन में सक्रिय हो गई। पांचवी योजना लगभग भुला दी गई और उसे सरकारी तौर पर चौथे साल ही बन्द कर दिया गया। इन सारी समस्याओं के बावजूद पांचवी योजना-काल में वृद्धि की 4% वार्षिक दर दर्ज की गई।

(स) अंतिम तीन वर्ष: भारतीय अर्थव्यवस्था ने दो वर्षों से अधिक समय तक जनता छठी योजना के अंतर्गत नियोजन ग्रहण किया जिस दौरान अर्थव्यवस्था ने ठोस प्रगति उपलब्ध की। कांग्रेस शासन के दौरान पहले योजना वर्ष में अर्थव्यवस्था को कठिन कृषि व औद्योगिक स्थितियों का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार नियोजन के तीसरे दशक के दौरान भारत को कुछ वर्षों के दौरान अत्यन्त दुर्बल व क्षीण आर्थिक क्रियाशीलता का सामना करना पड़ा (जैसे 1971-73 व 1980-81)। इस दौरान कुछ वर्ष उत्कृष्ट आर्थिक प्रगति से सम्पन्न थे। कुल मिलाकर भारतीय अर्थव्यवस्था की औसत वार्षिक वृद्धि दर केवल 3.2% ही थी। अतएव, इस दशक के दौरान हम अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि दर की दिशा में सतत गिरावट का अनुभव करते हैं:

1.4.4 नियोजन के चौथे दशक के दौरान वृद्धि दर (1981 के बाद से)

छठी पंचवर्षीय योजना ने 5.2% की वृद्धि दर का लक्ष्य स्वीकार किया जो कि पिछली दो योजनाओं के स्वीकृत वृद्धि दर लक्ष्यों से कुछ कम था। छठी योजना के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने चौतरफा प्रगति अर्जित की। योजना आयोग द्वारा निर्धारित अधिकांश लक्ष्य इस दौरान संशोधित किए गए। उदाहरण के लिए, कृषि क्षेत्र ने काफी अच्छी उपलब्धियों प्राप्त की और नियोजन प्रक्रिया के दौरान पहली बार कुछ लक्ष्य निर्धारित स्तर से भी काफी अधिक ऊंचे अर्जित किए जा सके। अंतिम वर्ष में यद्यपि अकाल की स्थितियों के कारण कृषि उत्पादन के क्षेत्र में देश के कुछ भा.. में अर्जित किए जा सके। अंतिम वर्ष में यद्यपि अकाल की स्थितियों के कारण/जरूर कुछ गिरावट आई लेकिन उद्योगों के क्षेत्र में इस योजना काल की उपलब्धियां काफी कमजोर सिद्ध हुई। कुल मिला कर छठी योजना की अवधि पर्याप्त रूप से सफलता की द्योतक थी। योजना आयोग द्वारा उच्च दर उपलब्ध की जा सकी है। बाद में, सरकार ने छठी योजना काल की अर्जित वार्षिक वृद्धि दर में कुछ संशोधन कर के 3 से 4.7% ठहराया। सरकार के आलोचक इस घटी वृद्धि दर (4.7%) को भी प्रामाणिक मानने को तैयार नहीं है। उनके अनुसार योजना आयोग ने अगले पांच वर्षों के लिए अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर के आकलन की दृष्टि से 1974-80 को आधार वर्ष माना था जो कि असामान्य रूप से खराब वर्ष था। यह वह वर्ष था जब अर्थव्यवस्था ने पहली बार वृद्धि की नकारात्मक दर पाई थी। इस आधार पर आलोचकों की यह राय थी कि छठी योजना के दौरान योजना आयोग द्वारा 4.7% की जिस घटी हुई वार्षिक वृद्धि दर का दावा किया गया था, वह भी अतिशयोक्तिपूर्ण था और वृद्धि की वास्तविक वृद्धि केवल 3.5 के आस-पास ही थी। इसी दर का अब ''आर्थिक वृद्धि की हिन्दू दर'' के नाम से जाना जाता है। वस्तुयतः वृद्धि दर 5.3% थी जो अनुकूल स्थितियों के कारण काफी उच्च थी।

1.4.5 सातवीं योजना (1985-90) के दौरान वृद्धि दर

भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण ने तत्काल प्रभावी व स्थिर दोनों मूल्य-प्रकारों के आधार पर कुल तथा निश्चित (ग्रॉस व नेट) राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दरों से संबंधित प्रारम्भिक आंकड़े प्रस्तुत किए थे। 1980-81 के स्थिर मूल्यों पर निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद सातवीं योजना के प्रारम्भिक तीन वर्षों के दौरान क्रमशः 5.0, 3.6 तथा 3.4% था। वृद्धि की यह दर देश के अधिकांश भागों में व्याप्त गम्भीर अकाल स्थितियों के संदर्भ में देखी जानी चाहिए।

1.5 प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर

अब तक हमने 1950-51 से लेकर आज तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था की वृद्धि दर को स्थिर मूल्य विषयक राष्ट्रीय आय आंकड़ों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। लेकिन स्थिर मूल्य पर राष्ट्रीय आय आंकड़े तुलनीय होते हुए भी जनसंख्या प्रभावों को छुपाते हैं। जनसंख्या वृद्धि के प्रभाव को दूर करने के लिए हमें प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पाद अथवा प्रति व्यक्ति आय का प्रयोग करना होगा। स्थिर मूल्यों पर निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद जहां समुदाय के स्तर पर चरितार्थ कुल उत्पादनकारी प्रयास का सूचक है और उससे देश में विद्यमान माल व सेवाओं में वृद्धि का बोध होता है, वही स्थिर मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय जनता के जीवन-स्तर में आए परिवर्तनों की परिचायक है।

नियोजन के पहले दस वर्षों के दौरान प्रति व्यक्ति निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद 1.8% की वार्षिक वृद्धि दर से बढ़ा जबकि निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद की वार्षिक वृद्धि दर 3.8% थी। निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद तथा प्रति व्यक्ति आय में प्रकट इस अन्तर को इस दशक के दौरान अर्जित जनसंख्या वृद्धि के संदर्भ में भली भांति समझा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि भारत में जनसंख्या 1957 में 361 मिलियन थी जो 1961 में बढ़ कर 439 मिलियन हो गई। यह वृद्धि पूरे दशक के दौरान 78 मिलियन अधिक थी अथवा प्रति वर्ष उसकी वृद्धि 2.1% थी।

नियोजन के दूसरे दशक (1961-71) के दौरान प्रति व्यक्ति आय प्रति वर्ष केवल 1.2% वृद्धि की दर से ही बढ़ सकी जबकि निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद में इस दौरान प्रति वर्ष 3.5% वृद्धि दर्ज हुई। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, तीसरी योजना घोर असफलताजनक थी और उसके परिणामस्वरूप निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद में वार्षिक वृद्धि दर केवल 2.7% थी जबकि प्रति व्यक्ति आय इस दौरान **शून्य** थी। दूसरे शब्दों में, तीसरी योजना काल में जनसंख्या वृद्धि ने राष्ट्रीय आय में वृद्धि को पूर्णतः निष्क्रिय कर दिया। चौथी योजना अवधि के दौरान पहली दो वार्षिक योजनाओं तथा योजना के प्रारम्भिक दो वर्षो के श्रेय प्रद आर्थिक कार्य-सम्पादन ने अपनी बदौलत भारतीय अर्थव्यवस्था को निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद के क्षेत्र में 3.5% तथा प्रतिव्यक्ति आय में 1.2% वृद्धि का अवसर प्रदान किया।

नियोजन के तीसरे दशक (1971-81) के दौरान प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि की दर 1% से कुछ अधिक दर्ज हुई जो इस सामान्य तथ्य की स्पष्ट सूचक है कि देश में जनसंख्या वृद्धि प्रायः राष्ट्रीय आय में वृद्धि-लाभों को निष्क्रिय बना देती है।

इस प्रकार, आर्थिक नियोजन के प्रथम 30 वर्षो (1951-1981) के दौरान प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि केवल 1.4% रही जो कि काफी कम है। प्रति व्यक्ति आय में इतनी कम वृद्धि 'गरीबी हटाने' की समस्त चर्चाओं को प्रायः निरर्थक सा बना देती है। जनसंख्या वृद्धि रोकने के लिए कारगर कदम न उठा सकने की स्थिति में भारत में प्रति व्यक्ति आय दर में वृद्धि कर पाने की कोई वास्तविक सम्भावना नहीं दिखाई देती।

1.6. 1951 के बाद से भारतीय अर्थव्यवस्था में क्षेत्रवार वृद्धि

अब तक इस पाठ में हम लोग समग्र रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि पर चर्चा करते आए है। अब हमें क्षेत्रवार वृद्धि दरों पर चर्चा करनी चाहिए जिसके अन्तर्गत हम सबसे पहले कृषि पर ध्यान देंगे।

1.6.1 1950-51 के बाद से कृषि की वृद्धि दर

योजना आयोग ने कृषि क्षेत्र में विकास के लिए नियोजन संबंधी चार प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किए:

(अ) कृषि उत्पादन में वृद्धि;

(ब) कृषि क्षेत्र में अतिरिक्त रोजगार के अवसर जुटाने का प्रावधान;

(स) भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने के लिए अतिरिक्त कृषि जनसंख्या को द्वितीयक तथा कृषि-सहयोगी क्षेत्रों में स्थानान्तरित करने का प्रबंध; तथा

(द) भू-जोतों पर अंकुश तथा अन्य भूमि सुधार संबंधी उपायों द्वारा कम से कम कुछ अंशों में ग्रामीण क्षेत्रों में समानता व न्याय के प्रसार का संकल्प।

हालांकि पंचवर्षीय योजनाएं इन सभी उद्देश्यों के लिए कार्यक्रम योजनाएं प्रवर्तित करने को कृत संकल्प थीं परन्तु व्यवहार में नियोजकों ने केवल पहले उद्देश्यों पर ही पर्याप्त ध्यान दिया यानि इन योजनाओं में कृषि उत्पादन में वृद्धि पर ही बल दिया गया। कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए एकाधिक क्रम में इन रणनीतियों को संबोधित/परिचालित किया गया: नई कृषि संबंधी रणनीति, आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी, जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी, हरित क्रांति और न जाने क्या-क्या। इस रणनीति में समाहित रहे हैं: समूचे देश में सामुदायिक विकास व कृषि विस्तार सेवाओं की स्थापना, सिंचाई सुविधाओं, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं, कृषि यंत्रों, बीजों की उन्नत किस्मों, परिवहन सुविधाओं, विद्युत आपूर्ति, विपणन तथा संस्थाजन्य ऋण सुविधाओं आदि का पर्याप्त सृजन एवं विस्तर। 1950 के दौरान कृषि क्षेत्र में हुई वार्षिक वृद्धि दरों का विवरण तालिका-1.2 में वर्णित है।

सुविधा की दृष्टि से हमने 1950-51 से प्रारम्भ नियोजन अवधि को दो काल-खण्डों में वर्गीकृत किया है — पूर्व-हरित क्रान्ति अवधि (1951-65) तथा उत्तर-हरित क्रांति अवधि (1965-86)*

तालिका -1.2

1. 50-51 के बाद से कृषि क्षेत्र में अर्जित वार्षिक वृद्धि दर

(प्रतिशत में)

समस्त खाद्यान्न	1951-65	1965-87
	4.2	2.2
चावल	4.5	2.0
गेहूं	5.1	6.3
खड़े अनाज	3.7	0.2
दालें	2.9	
गैर-खाद्यान्न		
तिलहन	3.8	1.3
कपास	5.0	0.8
गन्ना	5.6	1.8
आलू	5.5	5.9

स्रोत : 1) **एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लान्स** (अप्रैल 1986)

2) कृषि मंत्रालय, **वार्षिक रिपोर्ट**, 1987-88

यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि खाद्यान्नों व गैर खाद्यान्नों के कुल उत्पादन में अर्जित यह वृद्धि कृषि योग्य बनाए गए अतिरिक्त कृषि-क्षेत्र तथा प्रति हेक्टेयर अर्जित अधिक उपज का सम्मिलित प्रतिफल है।

जोत के लिए अधिक जमीन को उपयोगी बनाने की दृष्टि से विशेषत: पूर्व-हरित क्रांति अवधि में विशेष उपलब्धि अर्जित की गई। इस दौरान नई जोतयोग्य जमीन को खेती के लिए तैयार किया गया तथा बंजर जमीन को कृषि योग्य बनाने के लिए सिंचाई सुविधाओं को उन क्षेत्रों तक पहुंचाया गया। 1964-65 के बाद जोत के प्रसार की सम्भावनाओं में धीरे-धीरे गिरावट आने लगी।

भारत में प्रति हेक्टेयर उपज में भी प्रबल वृद्धि अंकित हुई। यह वृद्धि अनेक कारकों से परिचालित हुई, जैसे सिंचाई सुविधा का विस्तार जोत के लिए सघन पद्धतियों का प्रयोग, आदि। आधुनिक कृषि व्यवहारों के प्रवर्तन ने जैसे (वर्णसंकर बीज के प्रयोग) सभी फसलों के संदर्भ में प्रति हेक्टेयर उपज सतत बढ़ाने की दिशा में निर्णायक योगदान दिया। 1962 के बाद सरकार ने जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी का सुभारम्भ किया ताकि कृषि उत्पादकता तथा कृषि उत्पादन, दोनों को अभिवृद्ध किया जा सके।

पूर्व हरित क्रान्ति अवस्था विषयक पहली अवधि में खाद्यान्नों का उत्पादन प्रभावशाली रूप से 4.1% की वार्षिक वृद्धि दर से बढ़ा। प्रमुख खाद्यान्नों (चावल व गेहूं) ने खड़े अनाज व दालों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची वृद्धि दरें अर्जित की। इस दौरान गैर-खाद्यान्नों की वार्षिक वृद्धि दरें भी प्रभावशाली रूप से बढ़ीं।

दूसरी उत्तर-हरित क्रान्ति अवधि के दौरान वार्षिक वृद्धि दरें काफी कम अंकित की जा सकी। आधुनिक जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा खाद्यान्नों में केवल गेहूं के उत्पादन की वृद्धि दर को ही कायम रखा जा सका जो कि इस दौरान 6.3% प्रति वर्ष विद्यमान रही। आश्वस्त वर्षा अथवा अच्छी सिंचाई सुविधाओं से सम्पन्न क्षेत्रों तक आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी की पहुंच ने खड़े अनाजों, तिलहनों और दालों को अपेक्षाकृत घटिया जमीन पर ढकेल दिया। इसके कारण इन फ़सलों ने न तो उत्पादकता और न ही कुल उत्पादन के संदर्भ में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि अर्जित की।

जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी का प्रचलन प्रमुख खाद्यान्नों के उत्पादन के संदर्भ में राज्यों के हिस्सों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी रहा। उदाहरण के लिए, पंजाब, हरियाणा व उत्तर प्रदेश से मिल कर बने उत्तरी क्षेत्र का हिस्सा चावल के कुल उत्पादन की दृष्टि से बढ़कर 10.4% से 22.5% पहुंच गया जबकि चावल उत्पादन में उत्तर-पूर्वी राज्यों (पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, बिहार, असम व अन्य उत्तर पूर्व राज्य) का हिस्सा 38% से गिर कर केवल 28% ही रह सका। गेहूं के मामले में पश्चिमी क्षेत्र से हट कर उत्तरी क्षेत्र प्रमुख परिवर्तित कृषि-पैदावार का क्षेत्र बन कर उपस्थित हुआ।

आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी तथा कृषि उत्पादन में आई महत्वूर्ण वृद्धि के बावजूद भारतीय कृषि अभी भी "मानसून के जुए" की स्थिति में व्याप्त है। देश में आज तक बहुत अधिक फसल विफलताएं तथा उत्पादन के उलट-फेर चरितार्थ होते आए हैं।

1.6.2 औद्योगिक क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि दर

पिछले लगभग चार दशकों के दौरान औद्योगीकरण में अर्जित तीव्र वृद्धि भारतीय आर्थिक विकास का एक विलक्षण अनुभव है। सरकार ने 1948 तथा 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों के अंतर्गत सचेतन व संकल्पित औद्योगीकरण प्रक्रिया को प्रवर्तित किया। पंचवर्षीय

योजनाओं ने उसे उत्साहपूर्वक क्रियान्वित भी किया। इस दृष्टि से सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में भारी निवेश किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश प्रायः कुल व्यय के 23 से 24% के बीच विद्यमान रहा। केवल प्रथम योजना इस निवेश प्रकार का अपवाद था जब औद्योगिक निवेश अनुपात केवल 6% था। अधिकांश निवेश बड़े उद्योगों पर किया गया था।

योजना आयोग ने जो विकास रणनीति अपनाई वह रूसी मॉडल पर आधारित थी। इसमें भारी उद्योगों के बल पर तीव्र औद्योगीकरण की संकल्पना की गई थी। इस औद्योगिक रणनीति के लिए उच्च प्रौद्योगिक क्षमता के विकास की महती आवश्यकता थी जिसने अपने क्रम में प्रबल, क्रियाशील व वृद्धि-उन्मुखी अभियांत्रिकी क्षेत्र के विकास पर बल दिया जिसमें यंत्र-निर्माण संबंधी उद्योगों की स्थापना सम्मिलित थी।

औद्योगिक वृद्धि की वार्षिक दर सभी पंचवर्षीय योजनाओं में एक समान नहीं रही है। वस्तुतः वह घटावकारी ही रही है। प्रथम योजना (1951-56) के दौरान सरकार ने औद्योगिक मोर्चे पर कोई बड़ा अभियान नहीं लागू किया। उसके अंतर्गत उद्योगों का आवंटन कुल व्यय का मात्र 6% ही था। फिर भी, सरकार ने कुल बड़ी औद्योगिक इकाईयों की स्थापना अवश्य की जैसे चितरंजन लोकोमोटिव्स, इंडियन टेलिफोन इंडस्ट्रीज, इत्यादि। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य था प्रमुख अवर-संरचनात्मक इनपुट्स के लिए नियोजन। इसके तहत अनेक मूल उद्योगों की स्थापना की गई जैसे इस्पात, रासायनिक खाद, मशीन के कलपुर्जे, औषधि व दवाईयों के कारखाने, इत्सादि। दूसरी योजना (1965-61) के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के तीन इस्पात संयंत्र स्थापित हुए। साथ ही, रसायनों कपड़ा उद्योग, सीमेन्ट, चाय, चीनी, कागज़, आंटा व तेल मिलों, खदानों आदि के लिए मशीनी कलपुर्जे बनाने के कारखाने भी स्थापित किए गए। यद्यपि दूसरी योजना में अधिकांश सार्वजनिक निवेश भारी व मूल उद्योगों के क्षेत्र में किया गया, फिर भी पटसन व सूती कपड़ा उद्योग, चीनी इत्यादि उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के आधुनिकीकरण व पुनर्उपकरणीकरण की दिशा में इस दौरान अच्छी प्रगति उपलब्ध की जा सकी। ऐसे समस्त औद्योगीकरण के फलस्वरूप, नियोजन के प्रथम दशक में उद्योगों के क्षेत्र में 7.5% की वार्षिक वृद्धि दर का अनुमान किया गया। यह कृषि क्षेत्र या समूची अर्थव्यवस्था द्वारा अर्जित वार्षिक वृद्धि दर से कहीं अधिक ऊंची वृद्धि दर थी।

दूसरे दशक के दौरान उद्योगों की वृद्धि दर

तीसरी योजना (1961-65) ने उद्योग, ऊर्जा व परिवहन को सक्षम बनाने के लिए अधिकाधिक निवेश का आग्रह किया ताकि औद्योगिक व प्रौद्योगिकी सम्बन्धी परिवर्तनों की प्रक्रिया तेज़ की जा सके। तीसरी योजना ने उद्योगों के क्षेत्र में 14% की वार्षिक वृद्धि दर की संकल्पना की। हालांकि तीसरी योजना अवधि के प्रथम चार वर्षों के दौरान औद्योगिक उत्पादन 7.6% की वार्षिक वृद्धि दर से ही बढ़ सका। जबकि उत्पादक व मूल उद्योगों में वृद्धि अच्छी थी, प्रमुख उपभोक्ता सामग्री (जैसे सूती कपड़ा व चीनी) के संदर्भ में वृद्धि की यह दर केवल 1.3% से 2% के बीच ही रह पाई।

1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में देश को गम्भीर अकाल व व्यापक व्यापार मंदियों के दौर से गुजरना पड़ा। ऐसी स्थिति में 1966-67 के दौरान औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर केवल 0.2% ही दर्ज हुई जबकि 1967-68 के दौरान वह 0.5% अंकित हुई। चौथी योजना के प्रथम दो वर्षों में कृषि उत्पादन में सुधार के फलस्वरूप औद्योगिक निवेश तथा उत्पादन कुछ अवश्य सम्भला। इन सभी समस्याओं के रहते नियोजन की दूसरी अवस्था के दौरान औद्योगिक वृद्धि की दर 5.5% ही रह सकी।

नियोजन के तीसरे दशक (1971-81) में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर

नियोजन का तीसरा दशक औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में और अधिक गिरावट का काल सिद्ध हुआ। चौथी योजना ने 8% वार्षिक वृद्धि का साधारण लक्ष्य स्वीकार किया था। वास्तविक वृद्धि दर इस योजना अवधि में केवल 5% ही उपलब्ध हो सकी। ऐसा इस कारण हुआ क्योंकि इस्पात व रासायनिक खाद जैसे मूल उद्योगों की कार्य-क्षमता में गिरावट आई, पूंजीगत वस्तुओं से संबंधित उद्योगों में अपर्याप्त निवेश व तत्परिणामी कम उत्पादन हुआ तथा हड़ताल व असंतोषप्रद औद्योगिक संबंधों के फलस्वरूप व्यापक उत्पादन अवरोध उपस्थित हुआ। पांचवीं योजना में सरकार ने देश में आपातकाल लागू कर दिया तथा हड़तालों व तालाबंदियों पर प्रतिबंध लगा दिया। लाईसेंस हटाने की प्रक्रिया का सुभारम्भ करते हुए सरकार ने निजी क्षेत्र एकाधिकारी प्रतिष्ठानों व भारत में निवेश की इच्छुक विदेशी कंपनियों विनियोग प्रतिबंध दूर करने का उपक्रम किया। इन समस्त प्रोत्साहनों के बावजूद पांचवी योजना के प्रारंभिक चार वर्षों के दौरान औद्योगिक वृद्धि की औसत वार्षिक दर लक्षित 8.1% की तुलना में 5.3% ही दर्ज हो सकी। पांचवीं योजना अवधि में औद्योगिक उत्पादन में शिथिल वृद्धि के लिए जो प्रमुख उत्तरदायी कारक थे, उनमें अनेक उद्योगों में निर्धारित क्षमता का अभाव, ऊर्जा व परिवहन की कमी तथा व्यवधानग्रस्त औद्योगिक संबंध विशेष उल्लेखनीय हैं।

नियोजन के तीसरे दशक में अंतिम तीन वर्षों के दौरान औद्योगिक क्षेत्र की कार्यप्रणाली में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हो सका। औसतन वार्षिक वृद्धि दर इस दौरान केवल 4% ही रह पाई।

1980 के दशक में औद्योगिक वृद्धि की दर

छठी योजना (1980-85) के दौरान औद्योगिक उत्पादन में 7% वृद्धि के लक्ष्य की तुलना में उपलब्ध वास्तविक वृद्धि की दर केवल 5.0% ही थी। इस्पात, सीमेन्ट, अलौह धातु, रासायनिक खाद, कपड़ा, चीनी, दवा व औषध-निर्माण, वाणिज्यिक वाहन आदि के क्षेत्र में उत्पादन में कमी दृष्टिगोचर हुई। मूल व भारी उद्योगों की तुलना में अभिजन उपभोक्ता सामग्री संबंधी उद्योगों ने काफी ऊंची वृद्धि दर अर्जित की। विद्युत व ऊर्जा में कटौती, आवश्यक कच्चे माल में भारी कमी, कई सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों में घोर अक्षमता तथा खराब प्रौद्योगिक अद्यतनीकरण — ये समस्त कारण छठी योजना के दौरान औद्योगिक उत्पादन लक्ष्यों में गिरावट के लिए उत्तरदायी हैं।

सातवीं योजना के विनिर्माण क्षेत्र के लिए 8% की वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य निर्धारित किया था। वर्तमान संकेत प्रथम दो वर्षों के आधार पर इस वृद्धि दर की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, औद्योगिक उत्पादन सूचकांक के अनुसार 1985-86 तथा 1986-87 के संदर्भ में विनिर्माण उत्पादन क्रमशः 9.7% व 9.0% बढ़ा। हालांकि 1987-89 के दौरान यह वृद्धि घट कर 7.5% के रूप में उल्लेखनीय सुधार प्रस्तुत हुआ। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के एक आकलन के अनुसार 1989-90 के दौरान उद्योग जगत की 8 से 9% की वृद्धि दर अर्जित करने की प्रबल सम्भावना थी। उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 1960 व 1970 के दशकों के दौरान औद्योगिक उत्पादन में घटी वृद्धि दरों के 1980 के दशक में सम्भलने की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं।

1.7 अवर-संरचनात्मक सुविधाओं में वृद्धि की दर

कृषि संबंधी तथा औद्योगिक उत्पादन ऊर्जा परिवहन सम्प्रेषण व संचार, बैंकिंग व वित्त,

विपणन, इत्यादि पुर निर्भर करता है। ये समस्त सुविधाएं व सेवाएं अपने समग्र रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की अवर संरचना कहलाती है। इन्हें कुछ लोग 'आर्थिक लागतों' (इकानामिक ओवरहेड्स) की भी संज्ञा देते हैं। तीव्र कृषि व औद्योगिक वृद्धि के लिए ये समस्त सुविधाएं अनिवार्य पूर्व-शर्तें हैं।

भारतीय नियोजकों ने पहली योजना से ही अवरसंचरनात्मक सुविधाओं के विस्तार को उच्च प्राथमिकता प्रदान की। कुल योजना मद का 40 से 45% भाग अवर संरचनात्मक सुविधाओं के विकास के लिए सुरक्षित रखा गया। इस भारी निवेश के फलस्वरूप 1950-51 से लेकर अब तक अवरसंरचना वृद्धि के संबंध में यहां संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

1.7.1 ऊर्जा एवं शक्ति

विद्युत शक्ति आर्थिक विकास का एक अनिवार्य संघटक है। घरेलू तथा वाणिज्यिक उपयोग संबंधी विद्युत आपूर्ति की मांग आज कई गुना बढ़ गई है। यह वृद्धि जनसंख्या व आर्थिक विकास के सतत ऊंचे स्तरों के कारण विशेषतः प्रकट हो रही है। इसका एक अमिट लक्षण कृषि में विद्युत शक्ति का बढ़ता उपयोग है। इसके लिए ग्रामीण विद्युतीकरण, उत्थापक सिंचाई (लिफ्ट इरिगेशन) तथा पम्प सेटों के ऊर्जात्मक प्रयोग विषयक अनेक कार्यक्रम हाल के वर्षों में अधिकाधिक प्रवर्तित किए गए हैं। इनके परिणामस्वरूप, विद्युत शक्ति के कुल उपयोगीकरण में कृषि के भाग में नाटकीय वृद्धि प्रस्तुत हुई है। 1960-61 में यह भाग 6% था जो 1985-86 के दौरन बढ़ कर 19% हो गया। यह उल्लेखनीय है कि इसी अवधि में उद्योगों का हिस्सा 69% से गिर कर 54% ही रहा सका। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि औद्योगीकरण अब सुस्त हो चला है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि उद्योग शक्ति के अन्य स्रोतों की ओर प्रयाण कर रहे हैं। यह अवश्य सच है कि बड़ी औद्योगिक इकाईयों ने अब अपनी स्वयं की शक्ति संसाधन प्रणाली इजाद कर ली है। वे अपने उत्पादन के लिए अब अपर्याप्त व अविश्वसनीय सार्वजनिक सुविधाओं पर ही आश्रित नहीं हैं।

शक्ति के उत्पादन व वितरण के विषय में दो तथ्यों को समझना और उन पर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम, विद्युत उत्पादन 1950-51 में 5 बिलियन किलोवॉट था जो बढ़ कर छठी योजना के अंत तक 16 बिलियन किलो वॉट तथा 1987-88 में 20 बिलियन किलो वॉट हो गया द्वितीय, किसी भी पंचवर्षीय योजना द्वारा अपने कार्य-काल में अतिरिक्त शक्ति-उत्पादन के लक्ष्यों को नहीं पाया जा सका। उपलब्धि में यह कमी 16% से लेकर 40% (चौथी योजना) तक रही है। नियोजन की इस मूल क्षेत्र विषयक शिथिलता का यह सम्मिलित प्रभाव हुआ है कि शक्ति व ऊर्जा के संकट ने अर्थव्यवस्था की वृद्धि-प्रक्रिया का गला घोंटने तक की नौबत ला दी। आज बिजली की कमी और उसकी नियमित अनिवार्य कटौती ने प्रायः सभी राज्यों को त्रस्त कर रखा है इस दृष्टि से सर्वाधिक दुष्प्रभावी राज्य पश्चिम बंगाल है जिसकी राजनीतिक कारणों से केन्द्र, सतत उपेक्षा कर रहा है।

शक्ति के अभाव की यह समस्या छठी योजना के बाद से शक्ति के क्षेत्र में प्रकट हुई नई प्रगतिशीलता के कारण अब कुछ सम्भलती/सुधरती जा रही है। तापीय विद्युत शक्ति में सतत सुधार व विद्यमान क्षमता के प्रभावी उपयोगीकरण ने इस प्रगतिशीलता को प्रस्तुत किया है। एक आकलन के अनुसार स्वयं छठी योजना की अवधि में ही विद्युत अभाव 16% से घट कर 6% रह गया था। योजना आयोग के एक ताज़े अनुमान के अनुसार सातवीं योजना काल में अतिरिक्त क्षमता बढ़ाने संबंधी कार्यक्रमों द्वारा शक्ति विषयक समस्त मांगे सातवीं योजना की समाप्ति तक संसाधित की जा सकेंगी।

1.7.2 परिवहन का संचार

भारतीय नियोजकों ने परिवहन व संचार के विकास को भी उच्च प्राथमिकता दी। पहली दो योजनाओं के दौरान परिवहन व संचार पर कुल व्यय का 27 से 28% भाग सुरक्षित रखा गया। बाद में यह आवंटन घटा दिया गया। इस आवंटन का अधिकांश रेलवे के विकास की ओर मोड़ दिया गया।

आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ से ही परिवहन क्षेत्र ने महत्वपूर्ण वृद्धि अंकित की है। भारतीय रेलवे ने टन भार के आधार पर लगाए गए माल भाड़े में प्रति वर्ष औसतन 3.1% की वृद्धि अंकित की है। हालांकि दूरी व लम्बाई के संदर्भ में यह वृद्धि घटी सिद्ध हुई जो कि वस्तुतः 0.4% प्रति वर्ष थी। सड़क मार्गीय नेटवर्क 4.5 की वार्षिक दर से बढ़ा है जबकि सड़क परिवहन साधनों में 6.8% की वृद्धि हुई है। जहाजरानी लदान (टन के अधिभार में) प्रभावशाली रूप से 11% बढ़ा है जबकि प्रमुख बंदरगाहों पर आवागमन 1951 के 19 मिलिटन टन से बढ़ कर 1985 में 107 मिलियन टन हो गया। यह वृद्धि 5% की प्रभावकारी वार्षिक वृद्धि की द्योतक आधुनिक संचार प्रणालियां — डाक व तार सेवाएं, दूरसंचार प्रणाली रेडियो प्रसारण, टेलिविज़न व सूचना सेवाएं — विकास प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग बन गई हैं। 1950-51 के बाद से समूचे देश में डाक सेवाओं का नेटवर्क लगातार बढ़ता जा रहा है। वह अब ग्रामीण, पहाड़ी तथा जनजातीय क्षेत्रों तक अपनी पहुंच बनाता जा रहा है। दूरसंचार क्षेत्र नई तकनीकों का अधिकाधिक समावेश कर रहा है जिनमें इलेक्ट्रोनिक्स, उपग्रह संचार व विविध प्रसारण नेटवर्क विशेष उल्लेखनीय हैं।

1.7.3 बैंकिंग एवं वित्त

जब से देश में आर्थिक नियोजन स्वीकार किया गया है, बैंकिंग व्यवस्था पर्याप्त रूप से लगातार बढ़ती जा रही है। इस वृद्धि का कुछ आभास अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की क्रियाशीलता से हो सकता है जिसे तालिका 1.3 में प्रदर्शित कर रही है :

तालिका-1.3 : अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकें की वृद्धि एवं क्रियाशीलता

वर्ष	बैंकों की संख्या	बैंकों में जमा राशि (करोड़ रु. में)	बैंक ऋण (करोड़ रु. में)
1950-51	430	820	580
1970-71	73	5,910	4,690
1988-89	275	140,000	81,000

[स्रोत : रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया, रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स (विविध अंक)]

1950-51 के बाद से बैंकों की संख्या में रिजर्व बैंक की छोटे बैंकों के विलय एवं समायोजन नीति के कारण कमी आई। इसका मंतव्य भारत में बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ करना है। 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपरांत भारत में बैंकिंग व्यवसाय में अत्यधिक विस्तार हुआ है 1951 से 1971 की बीस वर्षों की अवधि में बैंकों में जमा राशि 7 गुना अधिक बढ़ी। 1971 से 1989 के अलगे 18 वर्षों की अवधि में तो यह वृद्धि लगभग 30 गुना अधिक है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान जमा राशियों तथा ऋणों में व्यापक प्रसार हुआ है। बैंक वास्तव में विकास-उन्मुखी हो चले हैं। बैंकिंग अब बड़ी इकाईयों के बजाय छोटी इकाईयों पर

अभिकेन्द्रित होती जा रही हैं। अनेक नए प्रयोग जैसे लीड बैंक योजना, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, आदि बैंकिंग प्रणाली को अधिकाधिक चरितार्थ कर रहे हैं। आर्थिक विकास के साथ-साथ उसे कार्यकारणत्व रूप में बैंकिंग व्यवस्था सतत विकसित हो रही है।

1951 के बाद से योजना आयोग ने अन्य वित्तीय संस्थाओं में शानदार वृद्धि होते देखी है। इनमें स्टॉक एक्सचेंज, छोटे निवेशकों के निवेश को बढ़ाने वाला यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया, जीवन बीमा निगम, आई.एफ.सी.आई., आई.डी.बी.आई. तथा आई.सी.आई.सी.आई. विशेष उल्लेखनीय है।

1.8 सारांश

इस इकाई में आपके अध्ययन को सुविधाजनक बनाने के लिए आज़ादी के बाद से अर्थव्यवस्था की समग्र वृद्धि दर तथा उसके विविध क्षेत्रों की क्षेत्रवार वृद्धि दरों का वितरण प्रस्तुत किया गया है। 1960 के दशक में महसूस किए जाने वाली वृद्धि में मंदी व शिथिलता की प्रक्रिया पर छठी योजना व उसके बाद कुछ प्रभावी अंकुश अवश्य लगा है। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था की उत्तरजीविता परिपुष्ट होती है।

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. रूद्र दत्त एवं के.पी.एम. सुन्दरम : **इंडियन इकॉनोमी**
2. भारत सरकार, योजना आयोग : **छठी व सातवीं एवं आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं संबंधी दस्तावेज**
3. रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया : **रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाईनेन्स**

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय अर्थव्यवस्था नियोजन के प्रथम दशक में अर्जित वृद्धि दर के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करें।

2. क्या आप **मानते है कि द्वितीय योजना** में औद्योगिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण **उपलब्धि** अर्जित की थी? स कारण उत्तर दें।

इकाई 2

भारत में नियोजन एवं विकास प्रक्रिया-नियोजित विकास की समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्य
2.3 नियोजित आर्थिक विकास की विशेषताएँ
2.4 नियोजन की प्रमुख उपलब्धियां
2.5 नियोजन के कुछ महत्वपपूर्ण सबक
2.6 नियोजित विकास के अप्राप्त उद्देश्य
2.7 नियोजित विकास की विफलताएँ
2.8 सारांश
2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

* जान सकेंगे कि भारत में नियोजन के क्या लक्ष्य रहे हैं?
* समझ सकेंगे कि इस काल में हमारी उपलब्धियों में क्या कमियां रहीं।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में यह जानने का प्रयास करेंगे कि भारत में स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक विकास की उपलब्धियां क्या व कितनी रहीं? विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य क्या रहे हैं एवं किस सीमा तक उन्हें प्राप्त किया गया है? इसी के साथ नियोजन की कमियों एवं विफलताओं पर भी आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे।

स्वतंत्रता से पहले देश की आर्थिक समस्याओं के निवारण एवं आर्थिक विकास के लिए कुछ योजनाओं का निर्माण एवं प्रकाशन किया गया था। इन योजनाओं में देश के आठ प्रमुख उद्योगपतियों द्वारा प्रकाशित 'बम्बई योजना', भारतीय श्रम-संघ द्वारा निर्मित एवं प्रकाशित 'जन योजना' अखिल भारतीय विनिर्माणक संगठन द्वारा प्रकाशित 'विश्वेश्वरैया-योजना' तथा गांधीजी ने आर्थिक विचारों पर आधारित श्रीमन्नारायण द्वारा निर्मित 'गांधीवादी योजना' प्रमुख है लेकिन इन सभी योजनाओं का केवल सैद्धांतिक महत्व ही है क्योंकि इनमें से किसी भी योजना का क्रियान्वयन नहीं हो सका।

अगस्त 1947 में भारत के स्वतंत्र होने पर सर्वप्रथम औद्योगिक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन का क्रम प्रारंभ हुआ। देश की प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा सरकार द्वारा अप्रैल

1948 में की जिसमें मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाते हुए आर्थिक विकास के ढाँचे की भावी रूपरेखा प्रस्तुत की गई। 26 जनवरी 1950 से स्वतंत्र भारत का संविधान लागू हुआ जिससे देशवासियों को मौलिक अधिकारों की प्राप्ति एवं राज्य को नीति निर्देशक तत्वों के अनुरूप देश का भावी विकास करने का पथ प्रशस्त किया गया। मार्च 1950 में सरकार ने योजनाओं के निर्माण एवं सीमित साधनों के कुशलतम उपयोग के लिए पं. जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 'योजना आयोग' की स्थापना की। तभी से योजना आयोग द्वारा देश के आर्थिक विकास एवं आर्थिक-सामाजिक शोषण से मुक्ति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया जा रहा है।

हमारे देश में 1 अप्रैल 1951 से प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरूआत हुई। 31 मार्च 1990 को सातवीं पंचवर्षीय योजना समाप्त हुई है एवं आठवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल 1992 से 1997 तक पूरी हुई। वर्तमान में नौवीं पंचवर्षीय योजना चल रही है। यह अवधि योजनाओं के विकास के लाभों का मूल्यांकन करने के लिए पर्याप्त है। इस अवधि के दौरान योजना प्रक्रिया को कुछ संकटों का सामना की करना पड़ा फिर भी योजना आयोग द्वारा योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन का क्रम आज तक अनवरत जारी है जो तालिका - 2.1 से स्पष्ट है।

तालिका 2.1

भारत की योजनाएँ

योजना	अवधि	सार्वजनिक क्षेत्र का योजना परिव्यय (करोड़ रुपये)
पहली पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 51 से 31 मार्च 56	1960
दूसरी पंचवर्ष योजना	1 अप्रेल 56 से 31मार्च 61	4600
तीसरी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 61 से 31 मार्च 66	8577
तीन वार्षिक योजनाएँ	1 अप्रेल 66 से 31 मार्च 69	6626
चौथी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 69 से 31 मार्च 74	15,779
पांचवी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 74 से 31 मार्च 79	39,426
वार्षिक योजना	1 अप्रेल 79 से 31 मार्च 80	12,177
छठी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 80 से 31 मार्च 85	1,10,467
सातवीं पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 85 से 31 मार्च 90	1,78,570
आठवीं पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 92 से 31 मार्च 97	4,34,100
नौवीं पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 97 से 31 मार्च 2002	8,59,000

इस प्रकार तीसरी पंचवर्षीय योजना के तुरंत बाद चौथी पंचवर्षीय योजना प्रारंभ नहीं हो सकी एवं तीन वर्षों के लिए (1966-69) वार्षिक योजनाएँ बनाई गई। इस अवधि को 'योजना से छुट्टी' के नाम से भी जाना जाता है। तीसरी योजना की अवधि में 1962 में चीन का आक्रमण हुआ, 1965 में पाकिस्तान से युद्ध हुआ एवं 1965-66 में भयंकर सूखा पड़ा। इनसे भारतीय अर्थव्यवस्थ पर भारी दबाव पड़ा एवं चौथी योजना को निर्धारित समय पर शुरू नहीं किया जा सका। इसी प्रकार पांचवी योजना के दौरान केन्द्र में जनता सरकार के आने से पांचवीं योजना की एक वर्ष पूर्व मार्च 1978 में ही समाप्त कर दिया गया एवं 1978-83 की अवधि के लिए छठी योजना बनाई गई। लेकिन जनता सरकार के पतन के बाद पुनः 1980-85 की अवधि के लिए नई छठी योजना बनाई गई। अतः 1978-79 के योजना-परिव्यय को पांचवीं योजना में सम्मिलित किया जाता है एवं 1979-80 के परिव्यय को अलग से वार्षिक योजना के रूप में दर्शाया जाता है।

2.2 पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्य

इकाई के इस भाग में हम विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन करेंगे।

प्रथम योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे :—

1. देश के विभाजन से प्रभावित अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना
2. खाद्यान्न संकट को दूर करना एवं कच्चे माल की स्थिति को सुधारना।
3. मुद्रा स्फीति पर रोक लगाना।
4. आर्थिक पूंजी के निर्माण के लिए सड़क का निर्माण नहरों, तथा जनविद्युत एवं सिंचाई योजनाओं का निर्माण करना ताकि भविष्य में भारी विकास योजनाएं बनाई जा सकें।
5. विकास कार्यक्रमों के कुशलतम क्रियान्वयन के लिए उपयुक्त प्रशासनिक तंत्र की स्थापना करना।

द्वितीय योजना के प्रमुख उद्देश्य

पं नेहरू के समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना के स्वप्न को साकार करने के लिए 1956 में नई औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ द्वितीय योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए :—

1. लोगों का जीवन स्तर सुधारने के लिए राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि करना,
2. बुनियादी एवं भारी उद्योगों की स्थापना करते हुए देश का तेजी से औद्योगिक करना,
3. रोजगार के अवसरों का तेजी से विस्तार करना तथा,
4. आय तथा धन की असमानताओं में कमी करना।

तृतीय योजना के प्रमुख उद्देश्य

इस योजना के निर्माण के समय यह स्वीकार किया किया गया कि कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास को प्राथमिकता दिए बगैर देश का आर्थिक विकास संभव नहीं है। इसलिए तृतीय योजना का लक्ष्य आत्म निर्भर एवं स्वयं-स्फूर्त अर्थव्यवस्था रखा गया। इसके साथ निम्नलिखित उद्देय भी रखे गए:

1. राष्ट्रीय आय में पांच प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करना,

2. खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना,
3. आधारभूत उद्योगों, जैसे इस्पात, रसायन, ईंधन तथा ऊर्जा का विकास व विस्तार करना,
4. मानवीय साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिए रोजगार के अवसरों में पर्याप्त विस्तार करना,
5. लोगों को अधिक समान अवसर प्रदान करना एवं आय तथा धन की असमानताओं में कमी करना।

चौथी योजना के उद्देश्य

इस योजना में 'स्थिरता के साथ विकास' एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति की बात प्रमुखता से कही गई। इसके लिए निम्नलिखित उद्देश्य रखे गए —

1. राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत आर्थिक वृद्धि दर प्राप्त करना,
2. मुद्रा-स्फीति पर नियंत्रण के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था पर अंकुश लगाना,
3. आत्मनिर्भरता प्राप्त करने, निर्यात बढ़ाना एवं विदेशी सहायता को कम करना
4. सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को कम करना,
5. रोजगार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराना।

पांचवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य

इस योजना में 'गरीबी उन्मूलन' एवं 'आत्म-निर्भरता की प्राप्ति' की बात जोर देकर कही गई, जिनके लिए निम्नलिखित उद्देश्य रखे गए—

1. सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 5.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करना,
2. उत्पादक रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना,
3. न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक राष्ट्रीय कार्यक्रम की शुरूआत करना,
4. सामाजिक कल्याण का विस्तृत कार्यक्रम शुरू करना,
5. आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का सरकारी संग्रहण एवं सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार करना ताकि निर्धन वर्गों को ये वस्तुएं उचित मूल्यों पर उपलब्ध हो सकें,
6. निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन पर जोर देना,
7. सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने के लिए संस्थागत, राजकोषीय एवं अन्य आवश्यक उपाय अपनाना,
8. गरीबी उन्मूलन की विकास विधि के रूप में घरेलू उत्पादन की दर को बढ़ाना एवं जनसंख्या की वृद्धि दर को घटाना।

छठी योजना के प्रमुख उद्देश्य

1977 में केन्द्र में जनता सरकार के आने से पांचवीं योजना को निर्धारित समय से एक वर्ष पूर्व ही समाप्त घोषित कर दिया गया एवं 1978-83 की अवधि के लिए, जनता सरकार द्वारा छठी योजना प्रारंभ की गई। परंतु जनता सरकार के पतन के बाद कांग्रेस सरकार ने भी जनता सरकार की छठी योजना को समाप्त कर दिया और 1980-85 की अवधि के लिए नई

छठी योजना लागू की, जिसके निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए :—

1. उत्पादकता में वृद्धि के साथ अर्थव्यवस्था का विकास दर में पर्याप्त वृद्धि करना,
2. आर्थिक एवं प्राविधिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों को सुदृढ़ बनाना,
3. ऊर्जा के संरक्षण एवं कुशल उपयोग के साथ ऊर्जा के घरेलू साधनों की तेजी से विकास करना,
4. न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम द्वारा पिछड़े कमजोर एवं सामान्य जनता के जीवन स्तर में निर्धारित अवधि में राष्ट्रीय दृष्टि से स्वीकृत स्तर प्राप्त करना,
5. गरीबी एवं बेरोजगारी में उत्तरोत्तर कमी लाना,
6. आय एवं धन की असमानता में कमी करने के लिए सार्वजनिक नीतियों एवं सेवाओं के पुनर्वितरण के आधार को देश की निर्धन जनसंख्या के पक्ष में सुदृढ़ करना,
7. क्षेत्रीय असमानताओं में उत्तरोत्तर कमी करना,
8. जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए स्वैच्छिक स्वीकृति के आधार पर प्रयास करना,
9. परिस्थितिकीय एवं पर्यावरणीय परिसंपतियों का संरक्षण एवं सुधार करना,
10. उपयुक्त शिक्षा एवं संचार आदि के द्वारा विकास की प्रक्रिया में जनता के सभी वर्गों की सहभागिता को बढ़ावा देना।

सातवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य

इस योजना में खाद्यान्न, रोजगार एवं उत्पादकता पर विशेष जोर दिया गया है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए योजना में निम्नलिखित कार्य-नीतियों का उल्लेख किया गया है।

1. अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादकता में वृद्धि के साथ, विद्यमान उत्पादन क्षमता का गहन उपयोग करना,
2. अधसंरचना संबंधी सुविधाओं की कमी को दूर करना,
3. विनियोजन प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना
4. प्रशासनिक कार्यकुशलता को बढ़ाना,
5. आधुनिक तकनीक एवं विज्ञान का समुचित समन्वय करते हुए विकास करना,
6. निर्धन जनसंख्या, पिछड़े क्षेत्रों एवं राज्यों की उत्पादकता एवं आय में वृद्धि के विशेष प्रयास करना एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को जारी रखना,
7. स्वास्थ्य एवं शिक्षा सहित आधारभूत सुविधाओं का गुणात्मक सुधार करते हुए विस्तार करना,
8. जनसंख्या वृद्धि की दर को तेजी से कम करना,

इस प्रकार हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं में विकास एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक साधनों के गरीबों के पक्ष में पुनर्वितरण पर भी जोर दिया गया है। इसके लिए गरीबी उन्मूलन, बेकारी निवारण एवं कीमत-स्थायित्व की बात कही जाती रही है तथा आत्मनिर्भरता एवं आधुनिकीकरण पर विशेष ध्यान दिया गया है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य (1992-97)

आठवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है।

1. अर्थव्यवस्था का तेजी से बहुमुखी विकास
2. राष्ट्रीय आय में वृद्धि
3. गरीबी दूर करना,
4. बेरोजगारों को ऊंचे आय स्तर पर उत्पादक रोजगार उपलब्ध कराना,
5. विभिन्न क्षेत्रों एवं वर्गों के बीच विषमताओं में कमी लाना,
6. जन साधारण की जरूरतों को पूरा करना एवं उनकी जीवनकोटि में सुधार लाना,
7. विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के लिए प्रयास करना।

नौवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (1997-2002)

नौंवी पंचवर्षीय योजना के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं-

1. गरीबी निवारण एवं पर्याप्त उत्पादक रोजगार के निर्माण हेतु कृषि एवं ग्रामीण विकास को प्राथमिकता,
2. स्थाई मूल्यों के साथ-साथ अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर में तेजी लाना,
3. सभी के लिए खाद्य एवं पोषाहार सुरक्षा,
4. सुरक्षित पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा, प्राथमिक शिक्षा और आवास आदि मूलभूत सुविधाएं एक निश्चित समयावधि में सबके लिए उपलब्ध कराना।
5. जनसंख्या नियंत्रण,
6. जन भागीदारी द्वारा विकास प्रक्रिया में पर्यावरणीय सुरक्षा सुनिश्चत करना,
7. महिलाओं एवं कमजोर वर्गों का सामाजिक उत्थान,
8. पंचायती राज संस्थाओं, सहकारिताओं, स्वंयसेवी संस्थाओं को प्रोत्साहन,
9. स्वायत्तता निर्माण पर बल देना,

2.3 नियोजित आर्थिक विकास की प्रमुख विशेषताएँ

भारत में पिछले चार दशकों में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जो आर्थिक विकास हआ, इस संबंध में दो प्रमुख विचारधारा हैं। पहली विचार धारा के अनुसार देश ने पर्याप्त आर्थिक विकास किया है एवं भारत 'विकासशील देशों में सबसे अधिक विकसित देशों की श्रेणी में' आ गया है। दूसरी विचारधारा के अनुसार देश की अधिकांश जनसंख्या को विकास के लाभ की प्राप्ति नहीं हुई है। इस प्रकार पहली विचारधारा उत्पादन के भौतिक पहलू से संबंधित है जबकि दूसरी विचारधारा उत्पाद के वितरण पहलू से प्रभावित है। देश की योजनाओं का उद्देश्य न केवल 'राष्ट्रीय-रोटी' के आकार को बढ़ाना है अपितु इस 'रोटी' में सभी वर्गों को समुचित हिस्सा प्रदान करना भी है ताकि सामाजिक न्याय की प्राप्ति के साथ आर्थिक असमानताओं में कमी हो सके।

भारतीय नियोजनकर्ताओं के विकास के निम्नलिखित तीन पथों में से अंतिम पथ-भारी उद्योगों के विकास से औद्योगीकरण के पथ का चुनाव किया है।

1. स्वचालित स्वतंत्रता बाजार का पथ
2. मजदूरी वस्तुओं की प्रमुखता सहित कृषि एवं ग्रामीण विकास का पथ, और
3. भारी उद्योगों की स्थापना से औद्योगीकरण का पथ।

डॉ. ब्रह्मानंद एवं डॉ. पंचमुखी ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया के संबंध में निम्नलिखित तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है:

1. वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की वार्षिक दर जो सत्तर के मध्य तक 3.5 प्रतिशत थी। बाद में 4.5 प्रतिशत से भी कुछ अधिक हो गई। विकास दर में अस्थिरता का प्रमुख कारण कृषि क्षेत्र के उतार-चढ़ाव रहे हैं। सकल घरेलू उत्पादन एवं सरकारी व्यय का अनुपात जो पचास के प्रारंभिक वर्षों में 8 से 10 प्रतिशत के बीच था, अस्सी के मध्य तक 32-33 प्रतिशत तक पहुंच गया है। इसी प्रकार सकल घरेलू उत्पादन एवं कर-राजस्व का अनुपात इसी अवधि में 9-10 प्रतिशत से बढ़कर 16 से 18 प्रतिशत तक हो गया है। इसी अवधि में आय अनुपात की शुद्ध बचत का प्रतिशत 7-8 से बढ़कर 16-17 प्रतिशत हो गया है।
2. वृद्धिशील पूंजी उत्पादन अनुपात जो पचास के प्रारंभिक वर्षों में 2:1 था, बढ़कर अस्सी के मध्य तक 5:1 हो गया है।
3. मजदूरी-वस्तुओं की कुल पूर्ति की वार्षिक दर 3 एवं 3.5 प्रतिशत रही है तथा प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न एवं खाद्य वस्तुओं का उपयोग बढ़ रहा है।
4. उपभोक्ता वस्तुओं की तुलना में विनियोग वस्तुओं की पूर्ति में विस्तार की दर दुगुनी है।
5. सार्वजनिक क्षेत्र की क्रियाओं का तेजी से विस्तार हुआ है तथा वर्तमान में कुल पूंजी भंडार का लगभग आधा सार्वजनिक क्षेत्र के स्वामित्व में है। लेकिन अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठान तीन प्रतिशत की औसत शुद्ध दर से प्रतिफल देने में भी सक्षम नहीं है।
6. बजट घाटे में तीव्र वृद्धि हुई है क्योंकि आर्थिक सहायता का भार बढ़ा है एवं सरकारी बचत अपर्याप्त है।
7. देश में काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था मौजूद है।
8. विश्व-निर्यात में भारत का हिस्सा गिर रहा है तथा आयात क्षमता से अधिक आयात किया जा रहा है।
9. विकसित देशों की मुद्रा के संदर्भ में रुपये की विनिमय दर लगातार गिर रही है, लेकिन इससे निर्यात के विकास में मदद नहीं मिली है।
10. उच्चतम एवं निम्नतम वर्ग के वेतन अनुपात में वृद्धि होने से विषमता बढ़ी है। गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वालों का प्रतिशत कम हुआ है।
11. परिवार नियोजन कार्यक्रम पूर्णतः सफल नहीं रहा है। मृत्यु दर तेजी से घटी है, औसत उम्र बढ़ी है लेकिन जनसंख्या वृद्धि दर आज भी दो प्रतिशत से अधिक है।
12. सकल घरेलू उत्पादन में कृषि क्षेत्र का हिस्सा जो पचास के प्रारंभिक वर्षों में 50 से 55 प्रतिशत तक था, अस्सी के मध्य में घटकर लगभग 30 प्रतिशत ही रह गया है। जबकि कृषि क्षेत्र पर निर्भर जनसंख्या का प्रतिशत अभी भी लगभग 70 बना हुआ है। सकल घरेलू उत्पादन में उद्योग एवं सेवा क्षेत्र दोनों का हिस्सा बढा है।

13. संगठित क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि की दर शहरीकरण में वृद्धि की दर से कम रही है। छिपी हुई बेरोजगारी बढ़ रही है। ग्रामीण एवं गैर-पंजीकृत निर्माण क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरी दरों में वृद्धि संगठित क्षेत्र की तुलना में कम रही है।

14. प्रति इकाई वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि के लिए इनपुट (विद्युत, कोयला, तेल, परिवहन आदि) की आवश्यकता पहले से अधिक मात्रा में होती है।

15. खनिजों एवं धातुओं के भंडारों में वृद्धि की जानकारी बहुत कम हुई है लेकिन इनका खनन एवं शोषण तेजी से बढ़ा है। इसी प्रकार सिंचाई क्षमता के पूरे उपयोग के नजदीक तेजी से बढ़ रहे हैं।

16. वर्तमान दर के पूर्वानुमान बताते हैं कि अर्थव्यवस्था को शीघ्र ही पानी, खाद्य तेल, दालें, पेट्रोलियम उत्पाद एवं उच्च कोटि के कोयले की भयंकर कमी का सामना करना होगा।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त यह जानकारी भी जरूरी है कि नियोजन-काल के वर्षों में, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में भारत की प्रगति क्या व कितनी रही है। इसके लिए हम कुछ चुने हुए वर्षों, जैसे 1950-51, 1960-61, 1970-71, 1980-81 एवं 1990-91 के आंकड़ों का उपयोग करेंगे।

आगे तालिका - 2.2 में भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ चुने हुए आर्थिक संकेतकों को दर्शाया गया है। इनसे पता चलता है कि स्वतंत्रता के बाद देश ने किस दिशा में कितनी प्रगति की है।

तालिका 2.2

भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख संकेतक

क्र.स.	संकेतक	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1993-94
1.	साधन लागत पर सकल घरेलू उत्पादन 1970-71 की कीमतों पर (करोड़ रु.)	17,536	25,534	36,736	1,22,427* (980-81 की कीमतों पर)	475604*	710233*
2.	प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन 1970-71 की कीमतों पर (रु.)	466	559	638	1630	4964*	7038*
3.	औद्योगिक उत्पादन सूचकांक (आधार 1980-81)	18.3	36.2	65.3	100	212.6	225.6
4.	कृषि उत्पादन सूचकांक (आधार 1969-80 को समाप्त होने वाले तीन वर्ष)	58.5	86.7	111.5	135.3	192.2	–
5.	सकल घरेलू बचत (सकल उत्पादन के % के रूप में)	10.2	13.7	16.8	21.2	23.9	24.2
6.	खाद्यान उत्पादन (मिलियन टन)	50.8	82	108.4	126.6	176.3	180.0
7.	तैयार स्टील (मिलि. टन)	1.04	2.39	4.64	6.82	10.65	
8.	सीमेन्ट (मिलियन टन)	2.7	8	14.3	18.6	52.0	57.3
9	कोयला (मिलि. टन)	32.8	55.	76.3	119	232.6	346.4
10.	क्रूड तेल (मिलियन टन)	.26	45	6.8	10.5	30.4	
11.	थोक मूल्य सूचकांक (आधार 1970-71)	47.5	55.1	100	256.2	182.00 at 1980-81 Prices	247.8

	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	94
13. निर्यात (करोड़ रु.)	601	660	1535	6711	15,741	
14. आयात (करोड़ रु.)	650	1140	1634	12,549	22,399	
15. विदेशी मुद्रा भंडार (करोड़ रु.)	911	1496	4381	4,822	7,287	
16. जनसंख्या (करोड़)	36.12	44.24	55.13	68.8	83.5	88.1
17. जन्म दर (प्रति हजार)	39.9	41.7	36.9	33.9	29.0	
18. मृत्यु दर (प्रति हजार)	27.4	22.8	14.9	12.5	10.0	
19. जीवन प्रत्याशा पुरुष (वर्ष)	32.45	41.89	46.4	54.1	-	
20. जीवन प्रत्याशा (महिला वर्ष)	31.66	40.55	54.7	54.7	-	
21. साक्षरता दर के प्रतिशत	16.7	24	29.5	36.2	-	
22. प्रति व्यक्ति प्रति दिन शुद्ध उपलब्धि (ग्राम में)						
(i) अनाज	334.2	399.7	417.6	416.2	408.2	
(ii) दूध	160.7	69	51.2	37.5	133.2	
23. प्रति व्यक्ति उपलब्धि (कि. ग्रा.)						
(i) खाद्य तेल	3.2		3.5	3.8	5.9	
(ii) वनस्पति	0.8		1.0	1.2	1.3	
(iii) चीनी	7.7		7.3	7.2	11.7	
24. केन्द्र सरकार के उद्यम						
(i) इकाइयां	5	48	87	163	221	
(ii) कुल पूंजी विनियोग (करोड़ रु.)	29	953	3,606	18,207	58125	

* चालू कीमतों पर

2.4 नियोजन की प्रमुख उपलब्धियां

स्वतंत्रता बाद देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए योजनाओं के मार्ग को अपनाने से अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में उल्लेखनीय उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं जहां स्वतंत्रता के पूर्व के पचास वर्षों में वास्तविक राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि की दर मुश्किल से दो प्रतिशत रही, वहां स्वतंत्रता के बाद के चालीस वर्षों में यह लगभग 3.6 प्रतिशत रही। योजनाकाल के प्रारंभिक 35 वर्षों में वास्तविक प्रति वयक्ति आय की वार्षिक वृद्धि दर 1.4 प्रतिशत एवं वास्तविक निजी उपभोग की वृद्धि दर 1.3 प्रतिशत रही। इसी प्रकार, कृषि उत्पादन 2.7 प्रतिशत, कृषि क्षेत्र 1.0 प्रतिशत तथा कृषि उत्पादकता लगभग सात गुना एवं खाद्यान्नों का उत्पादन लगभग तीन गुना बढ़ गया। औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक 5.8 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ा। निर्यात में वृद्धि दर 8.7 प्रतिशत वार्षिक रही एवं एक भारतीय की औसत उम्र बढ़कर लगभग 53 वर्ष हो गई। इस अवधि में देश की जनसंख्या के लगभग दुगुनी हो जाने एवं 1987 में शताब्दी के भयंकर सूखे के उपरांत भी भारतीय अर्थव्यवस्था विकास के पथ पर अग्रसर है। नियोजन की कुछ प्रमुख उपलब्धियों का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता : स्वतंत्रता के समय देश में खाद्यान्न-उत्पादन एवं खाद्यान्न-आवश्यकता में बहुत अंतर था। भारतीय कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता था एवं खाद्यान्नों के आयात पर अर्थव्यवस्था निर्भर रहती थी। दूसरी एवं तीसरी योजना अवधि में पी.एल. 480 के अधीन खाद्यान्न का आयात किया जाता

था। देश में आई हरित क्रांति के कारण, कुछ खाद्यान्नों का उत्पादन तेजी से बढ़ा। कुल मिलाकर अब भारत खाद्यान्नों के मामले में लगभग आत्मनिर्भर हो गया है, एवं पिछले कुछ वर्षों में तो खाद्यान्नों का थोड़ा बहुत निर्यात भी किया है।

2. **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार** : समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना करने के लिए स्वतंत्रता के बाद सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार किया गया। इससे अर्थव्यवस्था की औद्योगिक क्षमता का विविधकरण भी हुआ। शुरू में सार्वजनिक क्षेत्र अलाभदायकता के कारण आलोचना के पात्र बने, लेकिन धीरे-धीरे स्थिति में सुधार हुआ है, एवं ये थोड़ा बहुत लाभ भी देने लगे हैं।

3. **अधःसंरचना का विकास** : किसी अर्थव्यवस्था का विकास उसकी आर्थिक अधःसंरचना पर निर्भर करता है। स्वतंत्रता के बाद देश में ऊर्जा, सिंचाई, परिवहन एवं दूर-संचार की सुविधाओं के व्यापक विकास से कृषि, उद्योग एवं व्यापार — सभी को पर्याप्त मदद मिली है। इस्पात तथा सीमेंट जैसी आधारभूत वस्तुओं के उत्पादन में देश आत्मनिर्भर है।

4. **तकनीकी विकास एवं आधुनिकीकरण** : पिछले कुछ वर्षों से तकनीकी विकास एवं आधुनिकीकरण पर जोर देने से कुछ सुखद परिणाम सामने आए हैं। इससे देश क औद्योगिक ढ़ांचा मजबूत हुआ है एवं विदेशी विशेषज्ञों पर निर्भरता में काफी कमी आई है। भारतीय तकनीकी विशेषज्ञों की मांग विदेशों में भी होने लगी है।

5. **आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यात संवर्द्धन** : पहले भारत कुछ परंपरागत वस्तुओं का ही निर्यात करता था लेकिन अब निर्यात का पर्याप्त विविधिकरण हुआ है एवं गैर-परंपरागत वस्तुओं, पूंजीगत वस्तुओं, इंजीनियरी सामान आदि का निर्यात तेजी से बढ़ा है। इसी प्रकार खाद्यान्न, खाद, खनिज तेल, उपभोक्ता एवं पूंजीगत वस्तुओं का देश में ही उत्पादन होने से आयात का प्रतिस्थापन हुआ है।

6. **गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम** : पांचवी योजना में बेरोजगारी एवं निर्धनता पर प्रत्यक्ष प्रहार करने की बात कही गई। इसके लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम आदि अनेक कार्यक्रम लागू किए गए, जिनका गरीबी एवं बेरोजगारी के उन्मूलन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। सन् 1989-90 के बजट में नेहरू रोजगार योजना लागू की गई है, जिसमें प्रत्येक गरीब परिवार के एक सदस्य को रोजगार देने की बात कही गई है।

स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार : योजना काल में मृत्यु-दर में उल्लेखनीय गिरावट हुई है। भारतीयों की औसत उम्र बढ़ी है एवं सामान्य व्यक्ति को कुशल स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध हो रही हैं।

शिक्षा में मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन : शिक्षा प्रणाली के विकास से न केवल साक्षरता दर बढ़ी है, अपितु प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान के विशेषज्ञों की संख्या भी बढ़ी है, जिसका उपयोग देश के बहुमुखी विकास के लिए हो रहा है।

9. **सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विकास** : नियोजन काल की एक प्रमुख उपलब्धि, सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सफलतापूर्वक काम करना भी है। आवश्यक वस्तुओं का वितरण इस प्रणाली के माध्यम से उचित कीमतों पर होता है। उचित मूल्यों की दुकानें गांवों एवं शहरों सभी जगह लोकप्रिय हैं। इनसे उपभोक्ताओं को

मुद्रा स्फीति के दुष्प्रभावों से पर्याप्त मात्रा में बचाया जाता है। वस्तुओं की बाजार में कृत्रिम कमी होने पर एवं प्राकृतिक विपदा एवं सूखे के समय, यह प्रणाली पिछले वर्षों में प्रभावी रही है।

10. **बैंकिंग प्रणाली का विस्तार** : बैंकों के राष्ट्रीकरण एवं ग्रामीण बैंकों की स्थापना के बाद देश में बैंक शाखाओं का तीव्र विकास हुआ है। 30 जून 1969 को देश में व्यापारिक बैंकों की कुल शाखाएं केवल 8262 थीं, जो जून 1988 में बढकर 55,410 हो गई। इनके फैलाव से ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ एवं औद्योगीकरण में पर्याप्त मदद मिली।

11. **घरेलू उत्पादन में संरचनात्मक परिवर्तन** : शुद्ध घरेलू उत्पादन को तीन क्षेत्रों में बांटने की परंपरा रही है — (i) **प्राथमिक क्षेत्र** — जिसमें कृषि एवं वन, मत्स्य आदि संबंधित क्षेत्र सम्मिलित किए जाते हैं, (ii) **द्वितीयक क्षेत्र** — जिसमें विनिर्माण उद्योग एवं निर्माण आदि क्षेत्र सम्मिलित किए जाते हैं, और (iii) **तृतीयक क्षेत्र** — जिसमें व्यापार, परिवहन संचार, बैंकिंग, बीमा एवं विभिन्न सेवाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि अर्थव्यवस्था से, औद्योगिक अर्थव्यवस्था धीमी गति से प्रवेश कर रही है। आगे तालिका में स्थिर कीमतों पर (आधार 1970-71) शुद्ध घरेलू उत्पादन में वृद्धि की चक्रवृद्धि दरें दर्शाई गई हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह वृद्धि की दर प्राथमिक क्षेत्र में, अन्य दोनों क्षेत्रों की तुलना में आधी से कम रही। वृद्धि की दरों में यह अंतर आर्थिक विकास की एक सामान्य विशेषता है।

तालिका 2.3

वृद्धि की चक्रवृद्धि दरें

क्षेत्र	1950-51 से 1960-61 तक	1960-61 से 1970-71 तक	1970-71 से 1983-84 तक	1950-51 से 1983-84 तक
प्राथमिक	2.93	2.26	1.98	2.35
द्वितीयक	5.36	5.02	4.16	4.78
तृतीयक	4.69	4.96	5.68	5.16
शुद्ध घरेलू उत्पादन	3.79	3.55	3.70	3.68

शुद्ध घरेलू उत्पादन में वृद्धि पहले दशक की तुलना में दूसरे दशक में कम हुई, तीसरे दशक में यह कुछ बढ़ी लेकिन पहले दशक की तुलना में यह कम ही थी। क्षेत्रानुसार विकास की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि द्वितीयक क्षेत्र की वृद्धि दर उत्तरोत्तर तीनों दशकों में कम होती जा रही है। इस प्रकार औद्योगीकरण की नीति पूर्णतः सफल नहीं रही है। प्राथमिक क्षेत्र की वृद्धि दर में भी उत्तरोत्तर कमी हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि नहीं होने के कारण हरित क्रांति के लाभ पूर्ण रूप से नहीं मिल पाए हैं। तृतीय क्षेत्र के योगदान में उत्तरोत्तर वृद्धि पुनः आर्थिक विकास की प्रक्रिया के शुरूआत को पुष्ट करती है।

12. **जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण में अनुकूल परिवर्तन** : 1951 से 1971 के आंकड़े बताते हैं कि शुद्ध घरेलू उत्पादन में कृषि क्षेत्र का हिस्सा उत्तरोत्तर घटा लेकिन कृषि क्षेत्र पर निर्भर जनसंख्या में कमी नहीं आई। लेकिन 1971-81 के

दौरान इस प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ, जो अर्थव्यवस्था के विकास की दृष्टि से अनुकूल विशेषता मानी जा सकती है। आगे तालिका में हम अर्थव्यवस्था को दो क्षेत्रों में बांट रहे हैं — कृषि एवं गैर कृषि क्षेत्र। तालिका से ज्ञात होता है कि घरेलू उत्पादन में कृषि का हिस्सा 1981 में घटकर 35.52 प्रतिशत हो गया। इसके साथ कुल श्रमशक्ति में, कृषि क्षेत्र में लगे श्रमिकों का हिस्सा भी पहले घटकर 66.69 प्रतिशत हो गया। यह स्थिति अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक रूप में आर्थिक विकास की सूचक है। यह बात अलग है कि इस परिवर्तन की शुरुआत होने में भारत को तीस वर्ष लगे।

तालिका 2.4

शुद्ध घरेलू उत्पादन एवं श्रम शक्ति में कृषि एवं गैर-कृषि क्षेत्र का योगदान

जनगणना वर्ष	कृषि क्षेत्र का हिस्सा (प्रतिशत)		गैर कृषि क्षेत्र का हिस्सा (प्रतिशत)	
	शुद्ध घरेलू उत्पादन	श्रम शक्ति	शुद्ध घरेलू उत्पादन	श्रम शक्ति
1951	49.3	69.5	50.7	30.5
1971	42.8	69.8	57.2	30.2
1981	35.5	66.7	64.5	33.3

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के बाद देश ने अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में तेजी से विकास किया है, जिसके कारण देशवासियों की आर्थिक स्थिति में पूर्वापेक्षा उल्लेखनीय सुधार हुआ है। योजनाओं ने देश का चहुंमुखी विकास करने में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है।

2.5 नियोजन के कुछ महत्वपूर्ण सबक

प्रो. डी. टी. लाकडावाला ने नियोजन के अनुभवों का विश्लेषण करते हुए योजना अवधि के दौरान सीखे गए कुछ महत्वपूर्ण सबक गिनाए हैं:

संस्थागत परिवर्तन, जो प्रथम दृष्टि में आकर्षक प्रतीत हुए थे, उन्हें लागू करने के पूर्व पर्याप्त विचार करना चाहिए। खाद्यान्न संकट के समय खाद्यान्नों के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया गया, लेकिन सभी प्रयासों के बावजूद यह कदम असफल रहा। सरकारी एजेंसियों के लिए यह सरल नहीं था कि समस्त बाजार योग्य अधिशेष को खरीद सकें एवं पूरे देश में इसका समुचित वितरण कर सकें। इसलिए इससे नरम कदम अधिक सफल रहा, जिसमें उचित कीमत एवं वितरण प्रणाली अपनाई गई। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कीमत एवं वितरण प्रणाली की समय-समय पर समीक्षा की जाए, जरूरत के अनुसार इसमें सुधार किया जाए और जब इससे किसी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो तो इसे छोड़ दिया जाए।

राज्य को इन्हीं उद्यमों को चलाना चाहिए जिनमें कार्यकुशलता के मानदंड के साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि भविष्य में इसमें सुधार की और संभावना है या नहीं। यह धारणा कि राज्य बीमार इकाइयों का अधिग्रहण करके उन्हें सफलता पूर्वक चला सकता है, सामान्यतया गलत साबित हुई है। सभी मामलों में, प्रतिद्वंद्वात्मक निजी क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र की कार्यप्रणाली में आशातीत सुधार ला

सकता है। उदाहरण के लिए अतिरिक्त स्टाफ की समस्या से निपटना सार्वजनिक क्षेत्र के लिए मुश्किल है।

3. आय एवं धन की असमानताओं को कम करने में अपनाए गए राजकोषीय उपाय प्रभावी नहीं रहे हैं तथा समुचित संस्थागत परिवर्तन होने में समय लगेगा। वर्तमान ऊँची दरों पर यदि सम्पन्न वर्ग की आय को बढ़ने दिया गया एवं इस वर्ग द्वारा यदि विलासिता-उपभोग पर नियंत्रण नहीं किया गया तो भविष्य में सामाजिक असंतोष एवं संघर्ष से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सम्पन्न वर्ग के संगठन अपने हितों की रक्षा हेतु बन रहे हैं, जिससे अन्य वर्गों के हितों की अनदेखी होती है।

4. भारत जैसे गरीब देश में, सीमित साधनों पर दबाव बहुत अधिक है। अतः साधनों के उपयोग के लिए प्राथमिकताओं के निर्धारण में पर्याप्त जांच पड़ताल जरूरी है। गरीबतम वर्ग के हितों पर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाए एवं दूसरे वर्गों की मांगों पर नियंत्रण रखा जाय।

5. गरीब-वर्ग के हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता इस तरीके से दी जानी चाहिए कि वे शीघ्र ही राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित हो जाएं, न कि वे हमेशा के लिए अपनी अलग पहचान बनाए रखें एवं विशेष अधिकारों के लिए दबाव बनाए रखें।

6. पिछले कुछ वर्षों से अर्थव्यवस्था का बचत अनुपात स्थिर हो गया है। बचत बढ़ने के लिए बचत की सीमान्त प्रवृत्ति को बढ़ना चाहिए। ऐसा तभी संभव है, जब उपभोक्ता-संस्कृति को नियंत्रित किया जाए। ऐसा नहीं हो सकेगा, यदि विलासिता की उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन तेजी से बढ़ता रहेगा, क्योंकि इसका मध्य आय वर्ग पर मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत होने लगा है।

इस प्रकार प्रो. लाकड़ावाला द्वारा रेखांकित किए गए उपर्युक्त तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं एवं इन्हें भावी योजनाओं के निर्माण करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। योजनाओं से संबंधित निर्णय शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से लिए जाने चाहिए न कि राजनैतिक दृष्टिकोण से। इस दृष्टिकोण के विकसित होने पर अर्थव्यवस्था के विकास में पर्याप्त मदद मिलेगी। विकास का पथ सदैव सीधा एवं सुगम नहीं होता, इसलिए आर्थिक नीतियों के निर्माण एवं क्रियान्वयन में सतर्कता जरूरी है। योजनाओं के अनुभवों से शिक्षा लेते हुए प्रगति का पथ प्रशस्त किया जाना चाहिए। भारत जैसे विकासशील देश के लिए तो यह अधिक जरूरी है।

2.6 नियोजित विकास के अप्राप्त उद्देश्य

योजना-काल में निर्धारित उद्देश्यों में से कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति पूर्णतः नहीं हो पाई है। निम्नलिखित उद्देश्यों को निर्धारित स्वीकृत मात्रा में प्राप्त नहीं किया जा सका है।

1. **त्वरित विकास** : यद्यपि पिछले लगभग चालीस वर्षों में उल्लेखनीय विकास हुआ है, फिर भी नियोजन-काल के उत्तरोत्तर प्रत्येक दशक में वास्तविक कुल आय की वृद्धि दर एवं प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय की वृद्धि दर घटी है। प्रारंभिक तीन दशकों के प्रत्येक दशक में वास्तविक कुल आय की वृद्धि दर क्रमशः 3.8, 3.5 एवं 3.4 प्रतिशत एवं वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय की वृद्धि दर प्रत्येक दशक में क्रमशः 1.8, 1.2 एवं 1.0 प्रतिशत ही रही है।

2. **बेरोजगारी एवं अल्परोजगार में कमी** : श्रम बाजार में नये श्रमिकों के प्रवेश की तुलना में रोजगार के नये अवसरों का सृजन कहीं कम हो रहा है। वर्ष लगभग

56 लाख श्रमिक, श्रम बाजार में प्रवेश करते हैं। छठी योजना के प्रारंभ में 120.2 लाख व्यक्ति अवशिष्ट बेरोजगार थे। योजना अवधि में रोजगार में 4.17 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि अनुमानित की गई लेकिन श्रम-शक्ति में लगभग इतने ही नव-प्रवेशकों के कारण योजना के अंत में 119.8 लाख व्यक्तियों के पुनः अवशिष्ट बेराजगारों के रूप में शेष रहने का अनुमान लगाया गया। इसी प्रकार सातवीं योजना अवधि 404 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने की बात कही गई है। इसके उपरान्त भी सातवीं योजना के अंत तक 72 लाख व्यक्ति अवशिष्ट बेरोजगार बने रहेंगे। इसी प्रकार सातवीं योजना के दौरान 94 लाख शिक्षित व्यक्तियों को नौकरी देने की आवश्यकता बताई गई है, लेकिन शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने के लिए योजना में कोई विशिष्ट नीति नहीं बनाई गई है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की व्यापक समस्या बनी हुई है।

सामाजिक न्याय : सभी योजनाओं से आर्थिक असमानता एवं आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को कम करने की अपेक्षा की गई है। लेकिन सामाजिक न्याय की प्राप्ति अभी तक देशवासियों को अपेक्षित मात्रा में नहीं हो पाई है।

(i) **असमानता में कमी** : एक अनुमान के अनुसार, उच्चतम दस प्रतिशत जनसंख्या को इस अवधि में बढ़ी हुई कुल व्यक्तिगत आय का दो तिहाई हिस्सा मिल गया है, जबकि शेष 90 प्रतिशत जनसंख्या को एक तिहाई हिस्से पर ही संतोष करना पड़ा है। इस प्रकार यह उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सका है।

(ii) **धन एवं आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण** : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के एक सर्वेक्षण के अनुसार (1971-72), 70 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास 1,000 रु. से भी कम की परिसंपतियां थीं जो कुछ ग्रामीण परिसंपतियों का केवल एक प्रतिशत थी, जबकि दूसरी तरफ केवल चार प्रतिशत ग्रामीण-परिवारों के पास 50,000 रु. या अधिक की परिसंपतियां थीं, जो कुल का तीस प्रतिशत से भी अधिक था। इसी प्रकार उच्च बीस औद्योगिक घरानों की परिसम्पतियाँ इन वर्षों में न केवल बढ़ी हैं, अपितु इनकी अर्थव्यवस्था पर पकड़ भी पहले से मजबूत हुई है।

4. **गरीबी उन्मूलन** : सातवीं योजना का कहना है कि विकास प्रक्रिया एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के कारण गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों की प्रतिशत, जो 1984-85 में 36.9 था, 1989-90 तक घटकर 25.8 रह जाएगा। इस प्रकार निर्धनों की संख्या सातवीं योजना के अंत तक 21.1 करोड़ रह जाएगी। यदि सरकार के अनुमानों को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी निर्धनों की संख्या काफी अधिक है एवं गरीबी रेखा की अवधारणा को अब बदलने की जरूरत है क्योंकि यह अवधारणा बदली हुई विकास परिस्थितियों में काफी संकुचित है, जो केवल उपभोग व्यय एवं कैलोरी उपयोग से संबंधित है।

5. **कीमत स्थायित्व** : यह नाम लिया गया है कि विकासशील देशों में मुद्रा स्फीति आवश्यंभावी है। योजनाओं में स्थिरता के साथ विकास की बात कही तो जाती है, परंतु इसका क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। कीमत स्तर में वृद्धि का सर्वाधिक दुष्प्रभाव असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों, बेरोजगारों, गरीबों एवं निश्चित आय-वर्ग के लोगों पर पड़ा है। इससे गरीबी रेखा से ठीक ऊपर गुजर-बसर करने वाले एकाएक

गरीबी रेखा के नीचे ढकेले जाते हैं क्योंकि उनकी क्रय शक्ति कीमत वृद्धि के साथ-साथ घटती जाती है।

6. **क्षेत्रीय संतुलन** : भारत जैसे बड़े देश में प्रादेशिक असमानताएं योजनाओं के माध्यम से ही कम की जा सकती है, लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया है। कुछ राज्य अत्यधिक उन्नत हुए हैं एवं कुछ पिछड़ हुए ही हैं।

2.7 नियोजित विकास की विफलताएँ

भारत के नियोजित आर्थिक विकास के दौरान कुछ **कमियों एवं विफलताओं** को और देखा जा सकता है, यथा

1. चालीस वर्षों के प्रयासों के पश्चात भी **भू-सुधार लागू** नहीं किये जा सके हैं। अधिकतम जोत कानूनों के अंतर्गत जिस जमीन का कब्जा लिया जा चुका है, उसे मुकदमेबाजी के कारण पूरी मात्रा में वितरित नहीं किया जा सका है। सातवीं योजना में भी चकबंदी, काश्तकारी नियमन एवं भूमि-अभिलेखों को अद्यतन बनाने की बात कही गई है लेकिन राजनीतिक मनोबल के अभाव, नौकरशाही की उदासीन प्रवृत्ति, गरीब किसानों एवं कृषि मजदूरों की निष्क्रियता एवं असंगठन एवं भू-सुधारों के क्रियान्वयन में कानूनी बाधाओं के कारण भू-सुधारों में प्रगति असंतोषजनक रही है।

2. **अर्थव्यवस्था में काले धन की मौजूदगी** के कारण सामाजिक न्याय की प्राप्ति में सरकारी नीतियां असफल रही हैं। द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एंड पोलिसी के अनुमान के अनुसार सकल घरेलू उत्पादन में काली आय का अनुपात 18 से 21 प्रतिशत के बीच रहा है। 1983-84 में इस संस्थान ने 36786 करोड़ रु. की काली आय की उत्पत्ति का अनुमान लगाया है। तस्क्की, कालाबाजारी एवं लाइसेंसिंग प्रणाली के कारण यह समस्या बनी हुई है एवं इससे निपटने के कारगर उपाय नहीं अपनाए जा सके हैं।

3. **नियोजन काल में व्यापार असंतुलन एवं भुगतान असंतुलन** — दोनों की समस्या विषम हुई है। सन् 1987-88 के कुल आयात 22,399 एवं कुल निर्यात 15,741 करोड़ रु. के ही अनुमानित किए गए हैं, इस प्रकार विदेशी व्यापार घाटा 6,658 करोड़ रु. का है। विदेशी ऋण-सेवा भार, जो 1980-81 में केवल 804 करोड़ रु. था, 1988-89 में 2 770 करोड़ रु. हो गया है। पिछले कुछ वर्षों में शुद्ध विदेशी सहायता की राशि, ऋण सेवा-प्रभार की तुलना में कम हो रही है। कुल विदेशी सहायता आधे से अधिक, ब्याज तथा ऋण की किश्त के भुगतान के रूप में चला जाता है। ऋण-जाल में फंसने के शुरूआती संकेत है। सन् 1987-88 में 3,422 करोड़ रु. का विदेशी ऋण था।

4. **भारतीय रुपये की क्रय शक्ति** वर्ष-प्रतिवर्ष कम होती जा रही है। अर्थव्यवस्था में व्याप्त मुद्रा-स्फीति एवं सरकार द्वारा अपनाई गई व्यापक घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण रुपये का मूल्य तेजी से घटा है। अन्य देशों की मुद्राओं के मुकाबले भी रुपया कमजोर हुआ है। वर्ष 1980-81 में अमरीकी डॉलर एवं ब्रिटिश पाउंड के लिए क्रमशः 7.9 रु. एवं 18.5 रु. ही देने पड़ते थे, जबकि जनवरी 1989 में एक डॉलर के लिए 15.1 रु. एवं एक पौंड के लिए 26.9 रु. दिए गए।

5. **पिछले वर्षों में सरकारी-व्यय तेजी से बढ़ा है।** केन्द्र सरकार का कुल व्यय जो 1980-81 में केवल 22,495 करोड़ रु. था, बढ़कर 1988-89 (बजट) में

77,824 करोड़ रु. हो गया। वर्ष 1950-51 में यह व्यय केवल 504 करोड़ रु. ही था। केन्द्र सरकार का रक्षा व्यय एवं ब्याज के भुगतान पर व्यय 1980-81 में क्रमशः 3,571 एवं 2,253 करोड़ रु. था, जो 1989-90 (बजट) में क्रमशः 13,000 एवं 17,000 करोड़ रु. होने का अनुमान है। इस प्रकार रक्षा व्यय से भी ब्याज भुगतान का व्यय बढ़ रहा है, जो चिंताजनक है। इसी प्रकार खाद्यान्न, खाद एवं निर्यात संवर्द्धन के लिए केन्द्र सरकार की आर्थिक सहायता का व्यय भी 1989-90 के बजट में 7,472 करोड़ रु. प्रस्तावित है। इस प्रकार केन्द्र सरकार का अनुत्पादक व्यय तेजी से बढा है।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि योजनाओं से अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं हो सके हैं। प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारण योजनाओं का समुचित क्रियान्वित नहीं हुआ है।

2.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय विकास योजनाओं को पूर्ण सफलता नहीं मिली है। खाद्यान्न में हम न केवल आत्म-निर्भर हो गए हैं अपितु यदा-कदा अनाज का थोड़ा बहुत निर्यात भी करने लगे हैं। शताब्दी के भयंकर सूखे का पिछले दिनों भारत ने सफलतापूर्वक सामना किया है। फिर भी कृषि विकास का दर संतोषजनक नहीं रही है। दालों एवं तिलहनों के मामले में हमारी प्रगति निराशाजनक रही है। औद्योगिक विकास अपेक्षाकृत अधिक तेजी से हुआ है। उपभोक्ता वस्तुओं से बाजार भर गया है एवं इन वस्तुओं की मांग को पूरा करने के लिए उद्योगों में अवांछनीय प्रतियोगिता भी हो रही है जिससे सीमित संसाधनों का दुरुपयोग हुआ है। बिजली, कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ, सीमेंट, इस्पात आदि वस्तुओं एवं परिवहन तथा संचार व्यवस्था पर भारी दबाव बना हुआ है। विदेशी व्यापार में आशातीत वृद्धि होने के उपरान्त भी विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा कम हुआ है, जो इस बात का सूचक है कि अन्य देशों के मुकाबले हमारी गति धीमी रही है। अर्थव्यवस्था पर आंतरिक एवं बाह्य ऋण का भार जरूरत से ज्यादा है, जिसके वार्षिक ब्याज के आंकड़े ही चौंकाने वाले है। जनसंख्या वृद्धि एवं मूल्य वृद्धि के कारण विकास के लाभ सामान्य नागरिक को नहीं मिल पाए हैं। कानून एवं व्यवस्था की शोचनीय स्थिति एवं प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार का दुष्प्रभाव विकास योजनाओं के क्रियान्वयन पर पड़ा है। गरीबी एवं बेकारी की समस्या आज भी बनी हुई है जो योजनाओं के लिए असली चुनौती है। आवश्यकता इस बात की है कि योजनाओं को ईमानदारी से क्रियान्वित किया जाए ताकि विकास की गति भी बढे एवं मौजूदा वितरण प्रणाली के विकास के लाभ आम जनता को प्राप्त हो सकें। इसके अभाव में आय एवं धन की विषमताएँ और बढ़ेगी। संक्षेप में भारतीय अर्थव्यवस्था की समस्या योजनाओं के निर्माण की न होकर योजनाओं के समुचित क्रियान्वयन की है।

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल ए. एन. — भारतीय अर्थव्यवस्था, विकास

रूद्र दत्त, सुंदरम — भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चांद एंड कं.

एम. एल. झिंगन — विकास का अर्थव्यवस्था एवं आयोजन, कोणार्क पब्लिशर्स

श्री कृष्ण माहेश्वरी — भारत में आयोजन तथा आर्थिक विकास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

P.R. Brahamanand and V.R. Panchamukhi - The Development Process of the Indian Economy, Himalaya Publishing House, Bombay

G. O. I - Economic Survey.

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. "भारत ने पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा पर्याप्त आर्थिक विकास किया है।" इस कथन की सप्रमाण पुष्टि कीजिए।
2. भारतीय नियोजन के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन करते हुए बताइए कि इन्हें किस सीमा तक प्राप्त किया जा सका है?
3. भारतीय नियोजन की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए नियोजन की उपलब्धियों एवं विफलताओं का वर्णन कीजिए।
4. स्वतंत्रता के बाद भारत की विकास प्रक्रिया को समझाते हुए, भावी योजनाओं के लिए अपने सुझाव दीजिए।

इकाई 3

विकास की व्यूहरचनाएं – भारी उद्योग बनाम मजदूरी-वस्तुएं – उद्देश्य व उपलब्धियां

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भारी उद्योगों का आशय तथा उनको व्यूहरचना में प्राथमिकता देने के उद्देश्य

3.3 भारी उद्योग-मॉडल की कमियां

3.4 मजदूरी-वस्तुओं का अर्थ व उनको उच्च प्राथमिकता देने से लाभ (डा. पी. आर. ब्रह्मानंद के विचार)

3.5 भारत जैसी खुली अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तु मॉडल की सीमाएं

3.6 क्या योजना काल में विकास की प्रारम्भिक आधारभूत व्यूहरचना में कोई परिवर्तन किया गया है?

3.7 भारी उद्योग-मॉडल की उपलब्धियां व मूल्यांकन

3.8 भावी नियोजन की व्यूहरचना में इनका सापेक्ष स्थान क्या होना चाहिए?

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.10 प्रश्नों के उत्तर।

3.0 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

* समझ सकेंगे कि विकास की व्यूह रचना किसे कहते हैं?

* भारत में भारी उद्योग आधारित विकास बनाम मजदूरी वस्तु आधारित विकास के लिए क्या तर्क दिए गए हैं।

3.1 प्रस्तावना

विकास की व्यूहरचना का अर्थ

प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुसार विकास की व्यूहरचना तैयार करता है। यह दीर्घकालीन नियोजन के लिए हो सकती है, तथा एक पंचवर्षीय योजना की अवधि के लिए भी हो सकती है। मोटे तौर पर व्यूहरचना के तीन बातें शामिल होती हैं : (i) इसमें नियोजन के लक्ष्य (targets) निर्धारित किये जाते हैं जिन्हें सरकार प्राप्त करना चाहती है; जैसे विकास की अमुक दर, रोजगार-संवर्धन, जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण, निर्यात-संवर्धन, आदि। (ii) इन लक्ष्यों को प्राथमिकता के क्रम में जमाया जाता है। इससे यह पता चलता है कि सरकार किन लक्ष्यों को सर्वोपरि मानती है और किनको गौण। (iii) अंत में लक्ष्यों को प्राप्त

करने के लिए आवश्यक नीतियां तय की जाती हैं जिनको कार्यान्वित करने से उनकी पूर्ति की जा सके। नीतियों का संबंध कई बातों से होता है, जैसे योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए साधन किस प्रकार से जुटाये जायेंगे — इनमें घरेलू साधनों व विदेशी साधनों का क्या योगदान होगा; घरेलु साधनों में सार्वजनिक बचतों व निजी बचतों की क्या भूमिका होगी; विनियोग का प्रारूप (Pattern of investment) क्या होगा, अर्थात, कृषि उद्योग, ऊर्जा, परिवहन व सामाजिक सेवाओं पर साधनों का आवंटन कैसा होगा तथा उद्योगों में भी आधारभूत, मध्यवर्ती, पूँजीगत व उपभोक्ता उद्योगों में किस प्रकार का साधन आबंटन होगा, आदि, आदि।

इस प्रकार विकास की व्यूहरचना की धारणा काफी व्यापक होती है। यह एक तरह से 'विकास का मार्ग' बतलाती है। इसमें उन प्रमुख प्रतिबंधों (constraints) को भी स्पष्ट कर दिया जाता है जिनके अंतर्गत उस अर्थव्यवस्था को कार्य करना होता है; जैसे भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में वर्षा की अनिश्चितता एक भारी प्रतिबंध माना जा सकता है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों का परम्परागत दृष्टिकोण, देश में उद्यमशीलता व पूँजी का अभाव, विदेशी विनिमय का अभाव, आदि कई प्रकार के प्रतिबंध पाये जाते हैं। एक अर्थव्यवस्था इन प्रतिबंधों के दायरे में रहती हुई अपना विकास करती है। वह कुछ सीमा तक इन प्रतिबंधों को तोड़ने या कम करने का भी प्रयास करती है।

कुल मिलाकर नियोजन की व्यूहरचना में विनियोग के प्रारूप (आर्थिक क्षेत्रवार साधन-आबंटन) का विशेष महत्व होता है और एक अर्थव्यवस्था विभिन्न प्रकार के प्रतिबंधों के दायरे में क्रमवार निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। इस प्रकार विकास की व्यूहरचना विकास की आधारभूत नीति व विकास-मार्ग को निर्धारित करती है।

भारतीय नियोजन में विकास की व्यूहरचना द्वितीय पंचवर्षीय में निर्धारित की गई थी जिसे नेहरू-महलानोबिस व्यूहरचना का नाम दिया गया है क्योंकि इसके निर्धारण में इन दोनों का योगदान रहा था। इसके मुख्य तत्व इस प्रकार थे: (i) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को प्राथमिकता, (ii) औद्योगीकरण पर अधिक जोर (iii) भारी पूँजीगत उद्योगों के विकास को सर्वोच्च स्थान, (iv) आयात-प्रतिस्थापन्न आधारित औद्योगीकरण का दृष्टिकोण अपनाना तथा (v) समाजवादी ढंग के समाज की ओर अग्रसर होना, ताकि अधिक रोजगार, अधिक आर्थिक-सामाजिक व अवसर की समानता तथा अधिक उत्पादन की दशाएं प्राप्त की जा सकें।

यहां हम नेहरू-महलानोबिस व्यूहरचना में भारी उद्योगों की भूमिका का विशद् विवेचन करेंगे।

3.2 भारी उद्योगों का अर्थ तथा उनको प्राथमिकता देने के उद्देश्य

भारी उद्योगों का अर्थ :— द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारूप (जुलाई 1955) में 'भारी उद्योग', 'मूलभूत उद्योग', 'पूँजीगत उद्योग' व 'उत्पादन वस्तुओं के उद्योग' एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। कहीं-कहीं 'मूलभूत पूँजीगत वस्तुओं' एवं 'भारी पूँजीगत वस्तुओं' के उद्योग जैसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। अतः भारी उद्योगों मे आधुनिक उपयोग-आधारित औद्योगिक वर्गीकरण (use-based industrial classification) के अनुसार मूलभूत उद्योग (basic industry) व पूँजीगत उद्योग (capital industry) दोनों शामिल होते हैं। मूलभूत उद्योगों में कोयला, कच्चा लोहा, सीमेंट, लोहा व इस्पात, विद्युत, क्रूड तेल व प्रट्रोल रिफाइनरी-उत्पाद लिये जाते हैं, तथा पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों में इन्जीनियरी (भारी यांत्रिक व हल्के यांत्रिक, विद्युत व इलेक्ट्रोनिक्स) तथा धातुकर्मिक उद्योग (लोहे व इस्पात के अलावा) शामिल होते हैं। पूँजीगत उद्योगों में मशीनें व परिवहन-उपकरण बनाने वाले उद्योग मुख्यतया लिये जाते हैं।

अतः द्वितीय योजना में जिन भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता दी गई थी उनमें लोहा व इस्पात, मशीनरी, विद्युत-उपकरण तथा भारी रसायन आदि शामिल किये गये थे। इनमें से लोहा व इस्पात व भारी रसायन तो मूलभूत उद्योगों की श्रेणी में आते हैं तथा मशीनरी व विद्युत-उपकरण पूँजीगत उद्योगों का सम्मिश्रण कहा जा सकता है। इनमें 'मशीनें बनाने की मशीनें' बनाने (मातृ-मशीनें बनाने) (mother machine) के उद्योग भी आ जाते हैं।

भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने के उद्देश्य :-

द्वितीय योजना में उद्योगीकरण को भावी आर्थिक विकास का आधार बनाने का निर्णय लिया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत औद्योगिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ था। औद्योगिक ढांचे में सूती वस्त्र उद्योग व जूट वस्त्र उद्योग का रोजगार व उत्पादन (जोड़े गये मूल्य में) लगभग 2/3 अंश था। देश में पूँजीगत उद्योगों का नितान्त अभाव था। भारत मशीनों के लिए विदेशों पर आश्रित रहता था। इस प्रकार औद्योगिक ढांचा काफी असंतुलित व विकृत-किस्म का था जिसे नियोजित विकास के माध्यम से ठीक करने की आवश्यकता थी। प्रो. महलानोबिस ने रूस के नियोजन के मॉडल पर भारत को भी तीव्र औद्योगीकरण के मार्ग पर डालने का निर्णय लिया ताकि निम्न उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके।

(i) **पूँजी-निर्माण की ठोस आधारशिला रखने के लिए :-**

भारी उद्योगों का विकास करके ही देश में पूँजी-निर्माण (capital formation) की मजबूत आधारशिला रखी जा सकती थी और देश को अत्यावश्यक संयंत्र व उपकरणों के आयातों से युक्त किया जा सकता था। भारत जैसे विशाल देश का आर्थिक भविष्य सुरक्षित व सुनिश्चित करने के लिए देश में विभिन्न प्रकार के भारी उद्योगों की स्थापना आवश्यक समझी गयी ताकि देश आत्म-निर्भर बन सके और विकास की आधारभूत सामग्री स्वयं बना सके।

(ii) **भारी उद्योगों के विकास के लिए भारत में प्राकृतिक साधन विद्यमान हैं:-**

आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए भारत के पास प्राकृतिक साधन विद्यमान हैं जैसे लोहे व इस्पात उद्योग के लिए कच्चा लोहा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इनके विकास के लिए पूँजी व दक्षता का आयात विकसित देशों से किया जा सकता है। इस प्रकार यह माना गया कि भारत में भारी उद्योगों के विकास से अंतर्राष्ट्रीय विनिमय की सम्भावनाओं की उपेक्षा व अवहेलना नहीं होती।

(iii) **आयात-प्रतिस्थापन-आधारित औद्योगीकरण की नीति के अंतर्गत भारी उद्योगों को दी गई प्राथमिकता उचित :-**

द्वितीय योजना में भारत ने निर्यात-चालित औद्योगीकरण (export-led industrialisation) का मार्ग नहीं अपनाया क्योंकि नियोजकों में यह धारणा थी कि भारत निर्यात बढ़ाने में ज्यादा कारगर नहीं हो सकता है। देश में निर्यातों के संबंध में निराशावादी धारणा व्याप्त थी। इसीलिए आयातित मशीनों, रसायनों व अन्य उपकरणों के स्थान पर उनका देश में उत्पादन करने की नीति अपनायी गयी। इससे उनका आयात कम करना असंभव था। देश इस्पात का उत्पादन बढ़ाकर इसका आयात कम कर सकता था तथा साथ में अन्य उद्योगों के लिए भी आधार बना सकता था।

(iv) खनन-साधनों का पूर्ण विदोहन परिवहन का विकास तथा दक्ष श्रमशक्ति का सदुपयोग करने के लिए भारी उद्योगों का विकास आवश्यक :-

भारी उद्योगों का विकास करने से ही भारत की विपुल खनिज-सम्पदा का पूर्ण विदोहन हो सकता था। देश में परिवहन की सुविधाओं का विकास भी काफी सीमा तक भारी उद्योगों पर ही निर्भर करता है। परिवहन-उपकरणों का निर्माण पूँजीगत उद्योगों की श्रेणी में आता है। भारत में दक्ष इंजीनियरों व उच्च तकनीकी क्षमता प्राप्त व्यक्तियों की सेवाओं का उपयोग करने के लिए भी भारी उद्योगों को प्राथमिकता देना आवश्यक समझा गया था।

(v) भारी उद्योगों का विकास मॉरिस डॉब के 'त्वरक विपरीत-दिशा में' (accelerator-in-the-reverse) सिद्धान्त के अनुरूप है :-

वैसे ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकांश देशों में पहले उपभोक्ता वस्तु-उद्योगों में तीव्र प्रगति हुई; तत्पश्चात् भारी पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का विकास हुआ। लेकिन इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का क्रम उलट कर भारी उद्योगों के विकास को प्राथमिकता भी दी जा सकती है। केम्ब्रिज के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मॉरिश डॉब ने अपने 'त्वरक विपरीत-दिशा में' सिद्धांत के द्वारा यह समझाने का प्रयास किया है कि पूँजीगत वस्तुओं के विकास से किस प्रकार आगे चल कर उपभोक्ता-वस्तु-उद्योगों के विकास की गति अधिक तेज की जा सकती है। सीधे व सरल 'त्वरत सिद्धांत' में उपभोक्ता वस्तुओं की माँग के बढ़ने से पूँजीगत वस्तुओं की माँग बढ़ती है। इस प्रकार 'त्वरक-विपरीत-दिशा में' के सिद्धांत ने 'भारी उद्योग-पहले' के दृष्टिकोण को समर्थन दिया है।

(vi) सार्वजनिक क्षेत्र, भारी उद्योग, आयात-प्रतिस्थापन, आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था व समाजवादी ढंग के समाज में परस्पर गहरी कड़ी :-

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों का विकास करना आवश्यक समझा गया क्योंकि निजी क्षेत्र के पास इतना भारी पूँजीगत विनियोग करने के लिए साधन नहीं थे। भारत भी समाजवादी ढंग से समाज की स्थापना करके नियोजित विकास के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता था। सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था व भारतीय अर्थव्यवस्था में परस्पर कड़ी स्थापित करने के लिए भी हमारे देश में भारी उद्योगों का विकास करना आवश्यक था। इस प्रकार राजनीतिक कारणों व परिस्थितियों ने भी काफी उद्योगों को प्राथमिकता देने की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

महलानोबिस के चार-क्षेत्र मॉडल में भारी विनियोग-वस्तु उद्योगों की भूमिका :-

महलानोबिस ने अपने चार-क्षेत्र मॉडल में K से आधारभूत विनियोग वस्तु-उद्योगों को; C_1 से फैक्ट्री उपभोग-वस्तु उद्योगों को; C_2 से पारिवारिक उद्योगों को (कृषि सहित) तथा C_3 से सेवा क्षेत्र को सूचित किया था।

उसने सार्वजनिक क्षेत्र में प्रस्तावित कुल विनियोग का 1/3 अंश आधारभूत विनियोग वस्तु-उद्योगों पर लगाने का सुझाव दिया था। उसका मानना था कि भारी उद्योग-व्यूहरचना से ही दीर्घकाल में राष्ट्रीय आय, उपभोग व रोजगार में वृद्धि-दर को अधिकतम किया जा सकता है। महलानोबिस ने भारी विनियोग-वस्तु उद्योगों के लिए उत्पत्ति-पूँजी अनुपात (output – capital ratio) 0.20 माना था, अर्थात यह माना था कि एक रुपये की पूँजी से 20 पैसे की उत्पत्ति सम्भव है, दूसरे शब्दों में पूँजी-उत्पत्ति अनुपात 5:1 माना था, अर्थात् एक रुपये की उत्पत्ति प्राप्त करने के लिए पाँच रुपये की पूँजी की आवश्यकता मानी गई थी। इस क्षेत्र के

लिए पूँजी-श्रम अनुपात 20 हजार रुपये प्रति श्रमिक आंका गया था। इन मान्यताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया था कि भारी उद्योगों के विकास से राष्ट्रीय आय की कुल वृद्धि का 12.76% अंश व रोजगार की कुल वृद्धि 8.18% अंश प्राप्त किया जा सकेगा।

स्मरण रहे कि महलानोबिस ने विकास की व्यूहरचना में एक तरफ भारी उद्योगों को व दूसरी ओर लघु पैमाने पर संचालित उपभोक्ता-माल उद्योगों व कृषि में खाद्यान्नों के उत्पादन को भी महत्व दिया ताकि भारी उद्योगों के विकास की अवधि में मुद्रास्फीति, बेरोजगारी व उपभोक्ता-वस्तुओं के अभाव की दशाओं पर नियंत्रण रखा जा सके। इनमें आवश्यक उपयोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा जिससे लोगों का जीवन-स्तर कायम रखा जा सकेगा। प्रायः महलानोबिस द्वारा सुझायी गई विकास-नीति में इस पहलू पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है जिससे अनावश्यक शंकाएं व आशंकाएं बढ़ जाती हैं।

3.3 भारी उद्योग-मॉडल की कमियाँ

वकील व ब्रम्हानंद ने अपनी पुस्तक — Planning for an Expanding Economy (जून, 1956) में महालानोबिस मॉडल में भारी उद्योगों की दी गई प्राथमिकता की तीव्र आलोचना की थी, तथा विकल्प के रूप में विकास का 'मजदूरी-वस्तु-मॉडल' (Wage goods model) सुझाया था। बाद में प्रोफेसर ब्रह्मनंद ने Planning For A Futureless Economy (नवम्बर, 1978) में पुनः समन्वित मजदूरी-वस्तु मॉडल के समर्थन में अपने तर्क दिये तथा विभिन्न लेखों में भी 'भारी उद्योग-आधारित विकास की व्यूहरचना' को गलत बतलाया है जिसका विस्तृत विवेचन आगे चल कर किया गया है।

भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता देने से निम्न समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं:

(i) भारी उद्योगों के उत्पादों की माँग ज्यादातर भारी उद्योगों में होने से अर्थव्यवस्था में असंतुलन :-

प्रोफेसर ब्रह्मानंद का कहना है कि भारी उद्योगों के माल की अधिकांश माँग भारी उद्योगों के द्वारा की जाती है, जैसे अतिरिक्त इस्पात, परिवहन-उपकरण, कोयला, शक्ति, मशीन-निर्माण, आदि उद्योगों के माल की खपत स्वयं इन्हीं उद्योगों में की जाती है भारी उद्योगों के माल की कड़ी (Linkage) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन से नहीं बैठ पाती, जिससे अर्थव्यवस्था में पूँजीगत माल का उत्पादन अधिक और उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन कम होने की दशा उत्पन्न हो सकती है।

(ii) इस मॉडल को कार्यान्वित करने से देश में उपभोक्ता-वस्तुओं का अभाव निरंतर बना रहता है :-

साम्यवादी देशों, विशेषतया सोवियत् संघ का अनुभव यह बतलाता है कि 'भारी उद्योग पहले' की नीति को कड़ाई से लागू करने पर आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं का अभाव निरंतर बना रहता है जिससे आम जनता का जीवन-स्तर ऊँचा करने में बाधा पहुंचती है, लोगों में असंतोष बना रहता है, जीवन की अनिवार्य वस्तुओं का अभाव रहने से भारत जैसी खुली निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में इनके भाव बढ़ जाते हैं एवं उपभोक्ता-वर्ग को अनावश्यक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। यदि इस प्रकार के अभाव अल्पकाल अथवा थोड़े से वर्षों तक सीमित रहते तो जनता इनको बर्दाश्त कर लेती ताकि भविष्य को अधिक सुखमय बनाया जा सके। लेकिन जनाधिक्य वाले देशों में अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव दीर्घकाल में भी दूर नहीं होता और इसकी जिम्मेदारी उनके नियोजन में पूँजीगत वस्तुओं को दी गई ऊँची प्राथमिकता पर डाली जाती

है। विद्वानों का मत है कि विकास की व्यूहरचना में आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक ध्यान देने से कई प्रकार की आर्थिक समस्याओं से बचा जा सकता है।

(iii) **बेरोजगारी की समस्या भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने से बढ़ती है :-**

भारी उद्योग पूँजी-गहन, ऊर्जा-गहन, आयात-गहन व दक्षता-गहन, होते हैं, अर्थात्, इनमें क्रमशः पूँजी का उपयोग करना होता है, अधिक शक्ति का उपभोग किया जाता है, इनके लिए विदेशों से मशीनों व कल-पुर्जों का आयात करने की आवश्यकता होती है तथा तकनीकी दृष्टि से दक्ष कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इसलिए ये श्रम-गहन नहीं होतीं और बेरोजगारी व अल्परोजगार की समस्या को हल करने की बजाय इसको अधिक तीव्र कर देती हैं।

(iv) **बचत की दर को बढ़ाने में कठिनाई :-** भारी उद्योगों की व्यूहरचना में घरेलू बचत को बढ़ाना बहुत आवश्यक होता है ताकि भारी विनियोग प्रोजेक्टों की वित्तीय व्यवस्था की जा सके। लेकिन निर्धन विकासशील देशों में आय का स्तर नीचा होने से बचत की दर को ऊँचा करना काफी कठिन होता है। ऐसी स्थिति में विकास-कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए विदेशी साधनों का उपयोग करना आवश्यक हो जाता है।

(v) **विदेशी विनिमय का प्रतिबंध उत्पन्न हो जाता है :-** भारी उद्योगों की रणनीति में देश के समक्ष शीघ्र ही विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित हो जाता है जैसा कि भारत में तृतीय पंचवर्षीय योजना में हो गया था। यदि भारी उद्योग-आधारित विकास की नीति लम्बी अवधि तक जारी रहती है तो देश विदेशी विनिमय के संकट में प्रवेश कर सकता है। कई वर्षों तक इस नीति के तहत विदेशों से कर्ज लेकर पूँजीगत माल मँगाने से देश कर्ज के जाल में फंस सकता है। अतः यह नीति विदेशी विनिमय के संकट का कारण बन सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत ने नियोजन के प्रारम्भिक वर्षों में आयात-प्रतिस्थापन पर अधिक बल दिया था तथा निर्यात-प्रोत्साहन पर कम दिया था। इससे आगे चलकर देश विदेशी विनिमय के संकट में फंस गया।

इस प्रकार भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति भारत में बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, भुगतान-असंतुलन, असमानता, पिछड़ेपन, निरक्षरता आदि को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। सम्भवतः यही कारण है कि अब भावी नियोजन की व्यूहरचना में अनिवार्य उपयोग वस्तुओं के उत्पादन पर विशेष ध्यान देना स्वीकार किया गया है। विनियोग का ऊँचा अंश भारी उद्योगों-जैसे इस्पात के कारखानों, एल्यूमिनियम, तांबा, तेल रिफाइनरीज, पेट्रोरसायन, भारी इन्जीनियरिंग, पावर संयंत्रों आदि में लगाये जाने से कृषि, सिंचाई, बाढ़-नियंत्रण, शिक्षा, स्वास्थ्य व गरिबार नियोजन आदि के लिए कम बचा पाया है। परिणामस्वरूप देश में मानवीय साधनों के विकास को धक्का पहुँचा है। भारी उद्योगों में सीमान्त पूँजी-उत्पत्ति अनुपात (ICOR) अन्य आर्थिक क्षेत्रों से ऊँचा पाया जाता है जिससे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि-दर नीची पायी जाती है। इसलिए कुछ विद्वान भारत में भावी नियोजन की आधारभूत व्यूहरचना को भारी उद्योगों की दिशा से हटाकर कृषि व सम्बद्ध क्रियाओं तथा मानवीय साधनों के समुचित उपयोग व विकास की दिशा में मोड़ने का समर्थन करने लगे हैं।

बोध प्रश्न - 1

1. योजना की व्यूहरचना में किन प्रमुख बातों पर बल दिया जाता है?
2. भारी उद्योग, आधारभूत उद्योग व पूँजीगत उद्योग में अंतर करिए तथा 'भारी उद्योग-प्रथम' नीति के तीन लाभ लिखिए?

3.4 मजदूरी-वस्तुओं का अर्थ व उनको उच्च प्राथमिकता देने से लाभ

(डा. पी. आर. ब्रह्मानंद के विचार)

प्रोफेसर ब्रह्मानंद ने विकास की व्यूहरचना में मजदूरी-वस्तुओं को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का प्रबल समर्थन किया है। मजदूरी-वस्तुएं सर्वसाधारण के उपयोग की आवश्यक वस्तुएं होती हैं। इनके निजी उपयोग के स्तर पर निम्न 14 वस्तुएं शामिल की जा सकती हैं : (i) खाद्यान्न, अनाज व दालें, (ii) दूध व दूध-उत्पाद, (iii) खाद्य-तेल, (iv) मछली, अंडे व मांस, (v) चीनी व चीनी से बने पदार्थ, (vi) फल व सब्जी, (vii) मसाले, (viii) चाय (ix) कॉफी (x) कपड़ा, (xi) माचिस, (xii) साबुन, (xiii) नमक तथा (xiv) खाद्य तेल। इनके अधिकांश कृषिगत पदार्थ होते हैं तथा कुछ औद्योगिक पदार्थ थी। ये निजी उपभोग के स्तर पर जीवन की अनिवार्य वस्तुएं मानी जाती हैं। (Planning For a Futureless Economy, 1978, पृ.-180)। बाद के लेखों व वक्तव्यों में इन्होंने मजदूरी-वस्तुओं में सस्ता परिवहन, सुरक्षित पेयजल, आम दवाएं व औषधियाँ, स्कूल का सामान, शिक्षा व स्वास्थ सेवाएं, खेल का सामान, सांस्कृतिक व मनोरंजन की सुविधाएं तथा आमतौर से प्रयुक्त होने वाली विशिष्ट (मेरिट) वस्तुएं; जैसे परिवार-नियोजन में सहायक वस्तुएं, आदि भी जोड़ी है। स्पष्ट है कि विकास के पथ पर आगे बढ़ते जाने पर इनकी संख्या भी बढ़ती जाती है। अतः मजदूरी-वस्तुओं की कोई अंतिम सूची नहीं होती। यह देश, काल, व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील होती है।

अतिरिक्त श्रम-शक्ति को कृषि से हटाकर अन्यत्र काम देने में मुख्य बाधा मजदूरी-वस्तु-अंतर (Wage-goods-gap) से बढ़ती है :-

प्रो. ब्रह्मानंद का मत है कि भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में छिपी हुई बेरोजगारी के हल में मुख्य बाधा मजदूरी-वस्तुओं के अभाव की होती है। अतः इनका उत्पादन बढ़ाने से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देना सम्भव हो सकता है। एक श्रमिक को अन्य जगह काम देने पर जो मजदूरी-वस्तुएं देनी होंगी, तथा छिपी हुई बेरोजगारी की अवस्था में वह जिन मजदूरी-वस्तुओं का उपयोग कर रहा था — इन दोनों का अंतर मजदूरी (Wage-goods-gap) वस्तु-अंतर कहलाता है। मान लीजिए, एक श्रमिक पहले किसी खेत पर 250 रुपयों की मजदूरी-वस्तुएं (प्रतिमाह) (अनाज, गुड़, नमक, खाद्य-तेल, आदि) का उपयोग करता था और अब उसे खेत से हटाकर अन्यत्र किसी उद्योग या सार्वजनिक निर्माण-कार्य, आदि में लगाने के लिए 500 रुपयों की मजदूरी-वस्तुओं (प्रतिमाह) की आवश्यकता होती है, तो 500-250=250 रुपयों के बराबर मूल्य की अतिरिक्त मजदूरी-वस्तुओं की सरकार द्वारा व्यवस्था कर दिये जाने पर उस श्रमिक को खेत से हटाकर अन्यत्र काम पर लगाना सम्भव हो सकता है। इसमें एक आवश्यक मान्यता यह है कि वह अपना पूर्व खेत वाला 250 रुपयों तथा मजदूरी-वस्तु, उपभोग दूसरी जगह भी जारी रख पाता है। इस प्रकार अतिरिक्त मजदूरी-वस्तुओं की पूर्ति बढ़ा कर रोजगार बढ़ाया जा सकता है। मजदूरी-वस्तु मॉडल के निम्न लाभ बतलाये गये हैं :*

---

* देखिए डा. ब्रह्मानंद का लेख, Wage goods Planning, Financial Express, अगस्त 8] 1989.

(i) इसके माध्यम से तिहरा-पूर्ण रोजगार (triple-full employment) प्राप्त किया जा सकता है :-

मजदूरी-वस्तुओं व सेवाओं पर आधारित विकास-नीति में तीन तरह के पूर्ण रोजगार प्राप्त करने की दशा निहित मान जाती है। ये इस प्रकार होती हैं :-

(अ) समस्त उपलब्ध श्रम को पूर्ण रोजगार मिल जाता है, अर्थात् सभी काम चाहने वालों को काम मिल जाता है; (आ) उनको पूर्ण समय, अर्थात् पूरे वर्ष, के लिए काम मिल जाता है तथा (इ) पारिश्रमिक के अनुसार भी उनकी वास्तविक मजदूरी अथवा आमदनी इतनी होती है कि (विशिष्टि या मेरिट-वस्तुओं का उपयोग करते हुए) वे पूर्ण कार्यकुशलता से काम करने की स्थिति में होते हैं। इसे तिहरा-पूर्ण-रोजगार कहते हैं क्योंकि इसमें श्रमिकों की संख्या, काम की अवधि तथा वास्तविक मजदूरी तीनों पर एक साथ ध्यान दिया जा सकता है। इसका आशय यह हुआ कि जीवन की अनिवार्य वस्तुओं को विकास का केन्द्र-बिन्दु बनाने से सभी श्रमिकों को वर्षभर पर्याप्त वास्तविक मजदूरी पर काम मिल जाता है जिससे उनकी कार्यदक्षता का सर्वाधिक उपयोग हो जाता है। इस व्यवस्था में स्वरोजगार के अवसर बढ़ते हैं, अल्परोजगार की दशा में सुधार आता है और ऊपर वर्णित तिहरा-पूर्ण रोजगार प्राप्त होता है।

(ii) **मुद्रास्फीति पर नियंत्रण व जीवन-स्तर में वृद्धि :-** मजदूरी-वस्तु, मॉडल में जीवन की अनिवार्य वस्तुओं जैसे अनाज, दाल, दूध, चीनी, चाय, दवा, नमक आदि की सप्लाई को बढ़ाने का प्रयास जारी रहने से, तथा जनसंख्या-नियंत्रण के लिए परिवार नियोजन की आवश्यक वस्तुओं का इस्तेमाल जारी रहने से एक तरफ मूल्यों पर नियंत्रण रहता है और दूसरी तरफ जीवन-स्तर में सुगमतापूर्वक वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार इसमें जनसंख्या-नियंत्रण पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

(iii) **बचत की दर में वृद्धि होती जाती है :-** इस मॉडल में बचत का आय से अनुपात निरंतर बढ़ता जाता है। नये-नये निर्माण में प्रोजेक्ट व विनियोग के प्रोजेक्ट अधिक मात्रा में हाथ में लिये जाते हैं और उनको कार्यान्वित करने से उत्पादन, उपभोग, बचत व विनियोग निरंतर बढ़ते जाते हैं।

(iv) **असमानता का अनुपात (disparity ratio) कम किया जा सकता है :-** इस मॉडल में ऊपर समूहों की औसत आमदनी व निचले समूहों की औसत आमदनी में अनुपात किसी मान्य स्तर तक अधिक आसानी से लाया जा सकता है क्योंकि मुद्रास्फीति भी नियंत्रण में रहती है और आमदनी-नीति लागू की जा सकती है।

(v) इसमें परिवेश-असंतुलन कायम रखा जा सकता है क्योंकि जल, मिट्टी, पशु व मांग के बीच असंतुलन उत्पन्न करने वाले अधिक तत्व भारी उद्योगों के विकास की व्यूहरचना से अधिक जुड़े हुए हैं। इस मॉडल में गाँव व शहर के बीच की खाई भी कम की जा सकती है। यह नव-गांधीवादी विचारधारा के अधिक अनुकूल होता है और विकेंद्रित नियोजन की पद्धति के अनुरूप होता है।

(vi) **विदेशी भुगतान में संतुलन व आत्म-निर्भरता के अनुकूल :-** इस मॉडल में विदेशी सहायता पर इतनी आश्रितता नहीं होती जितनी भारी उद्योगों के मॉडल में होती है। इसलिए इसमें विदेशी भुगतान की समस्या जटिल रूप धारण नहीं करती और देश सच्चे अर्थ में आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण की ओर आगे बढ़ता जाता है।

(vii) **विकास की ऊँची वार्षिक दर :-** डा. ब्रह्मानंद का मत है कि मॉडल में मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि-दर वर्तमान में 3.5% से बढ़ा कर 6-7% कर देने से समग्र आर्थिक विकास की वृद्धि-दर भी 7% तक प्राप्त की जा सकती है। इसलिए यह

विकास की वार्षिक दर को ऊँचा रखने में भी सहायक होता है। मजदूरी-वस्तु विकास-नीति में कृषि व सम्बद्ध क्रियाओं जैसे पशुपालन, मछलीपालन, वानिकी आदि में वार्षिक विकास-दर कम से कम 6% प्राप्त करनी होगी। यह वर्तमान स्तर से दुगुनी करनी होगी। इसलिए आठवीं योजना में कृषि व ग्रामीण रोजगार पर कुल परिव्यय का अधिक अंश कम किया जाना चाहिए। यही मजदूरी-वस्तु विकास व्यूहरचना व प्रणाली का स्तर है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन को नियोजन में प्राथमिकता देने से विकास की दर, रोजगार, बचत, विनियोग आदि चल राशियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ते हैं, और मुद्रास्फीति के नियंत्रण, भुगतान-संतुलन की स्थिति को नियंत्रित करने, धन व आय की असमानता के अनुपात को घटाने, जनसंख्या को नियंत्रित करने तथा परिवेश व पर्यावरण-संरक्षण में काफी मदद मिलती है। इस प्रकार 'भारी उद्योग-प्रथम' की नीति के स्थान पर भविष्य में 'मजदूरी-वस्तुएं प्रथम' की नीति अपनाने का समय आ गया है। इससे अधिक उत्पादन व सामाजिक न्याय, आर्थिक स्थिरता व भुगतान-संतुलन तथा पर्यावरण-संरक्षण आदि लक्ष्यों को प्राप्त करने में अधिक सफलता मिलने की आशा है। इससे गांवों में रोजगार के अवसरों का अधिक तेजी से विस्तार किया जा सकेगा जिससे जनसंख्या का गांवों से शहरों की ओर पलायन रुकेगा।

यहां इस बात पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'मजदूरी-वस्तु मॉडल' में हम पहले आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं व सेवाओं की माँग का अनुमान लगाते हैं। फिर उनके उत्पादन की व्यवस्था करते हैं तथा इस संबंध में आवश्यक पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन व सप्लाई की व्यवस्था करते हैं। इसलिए यह सोचना गलत होगा कि मजदूरी-वस्तु मॉडल में पूँजीगत उद्योगों को बिल्कुल भुला दिया जाता है, अथवा उनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसमें भी मशीनों व उपकरणों का उत्पादन किया जाता है, लेकिन यह उपभेक्ता-वस्तुओं के प्रत्यक्ष पूरक व सहयोगी के रूप में होता है। इसके विपरीत भारी उद्योग मॉडल में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर अपर्याप्त ध्यान दिया जाता है जिससे देश में इसका अभाव बना रहता है और लोगों को कई प्रकार की कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं।

विद्वानों का मत है कि आज भारत की स्थिति 1956 की तुलना में काफी बदल गयी है, और अब मजदूरी-वस्तु मॉडल को लागू करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।

3.5 भारत जैसी खुली अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तु मॉडल की सीमाएं

मजदूरी-वस्तु मॉडल को अपनाने से भी कई प्रकार की कठिनाईयां उत्पन्न हो सकती हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जनाधिक्य वाले देश में मजदूरी-वस्तुओं जैसे अनाज व दालों, चीनी, चाय, खाद्य-तेल, नमक, आदि के उत्पादन व सप्लाई को बढ़ाने की आवश्यकता से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता, लेकिन विकास के मॉडल को अत्यधिक मात्रा में मजदूरी-वस्तु मॉडल की तरफ खिसकाने के संबंध में मतभेद हो सकते हैं। व्यवहार में इसकी सम्भावना के संबंध में आशंका प्रकट की जा सकती है तथा इसको अपनाने से कुछ खतरे भी उत्पन्न हो सकते हैं।

डा. चरन वधवा (Charan Wadhva) ने भारत जैसी खुली अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तु मॉडल की निम्न सीमाएं बतलायी हैं :-

(i) **भारत में पिछले वर्षों में टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं (Consumer durables) का उत्पादन काफी तेजी से बढ़ा है** क्योंकि देश में लगभग 20 करोड़ मध्यम-श्रेणी के व्यक्तियों की मांग की पूर्ति करने के लिए इस दिशा में विनियोग

बढ़ाया गया है। अब इसे मजदूरी-वस्तुओं की तरफ भारी मात्रा में मोड़ सकना सम्भव नहीं लगता।

(ii) इस समय देश में सरकार के पास वित्तीय साधनों का अभाव होने से साधनों का संकट बना हुआ है। इसलिए प्रश्न उठता है कि मजदूरी-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए भारी मात्र में विनियोग के लिए साधन कहां से आयेंगे? परोक्ष कर बढ़ाने से मुद्रास्फीति होगी, तथा प्रत्यक्षकरों से साधन बढ़ाने में भी कठिनाईयां पायी जाती हैं।

यदि मजदूरी-वस्तुओं पर विनियोग बढ़ाने के लिए ऊर्जा, इन्फ्रास्ट्रक्चर या अन्य प्रमुख भारी उद्योगों पर विनियोग में कटौती की गई तो इन क्षेत्रों में पूर्ति के बंधन, (supply-constraints) उत्पन्न हो जायेंगे जिससे नई समस्याएं खड़ी हो जायेंगी। देश में गैर-उपभोग टिकाऊ उद्योगों में पूर्ति की कमी हो जायगी।

(iii) **आम जनता भी उपभोग के लिए अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करती है जिससे मजदूरी-वस्तुओं की माँग पर प्रभाव पड़ता है :-**

यह मान कर चलना भी गलत होगा कि जो मजदूरी-वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं वे ही आम आदमी को पसंद आ जायेंगी, और वे इनका उपयोग करने लग जायेंगे। व्यवहार में प्रायः यह देखा गया है कि निम्न मध्यम श्रेणी के व्यक्ति अथवा निर्धन व्यक्ति भी अब उपयोग-वस्तुओं की खरीद में अपनी पसंद व्यक्त करने लगे हैं; जैसे बाजार में मोटे जनता वस्त्र से बनी सूती कमीजों के स्थान पर पोलियेस्टर/पोलीवस्त्र की कमीजें ज्यादा पसंद की जाती हैं। इसी प्रकार साधारण मीडियम वेव रेडियो के स्थान पर 'टू-इन-वन' या 'थ्री-इन-वन' चलने लगे हैं। 'ब्लेक एण्ड व्हाइट' टीवी की जगह 'रंगीन टीवी', साइकिल की जगह स्कूटर तथा कोरे ठंडे पानी की जगह लिम्का या अन्य ठंडे पेय पदार्थों की माँग बढ़ रही है।

इसलिए विद्वानों का मत है कि 1990 के भारत में यदि मजदूरी-वस्तुओं की तरफ औद्योगिक विकास को जबरन मोड़ दिया गया तो औद्योगिक जगत में मंदी आ जायेगी, क्योंकि इससे पिछले वर्षों में विकसित किये गये आधुनिक टिकाऊ उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों के उत्पादन को धक्का पहुंचेगा। इससे निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में औद्योगिक विनियोग पर बुरा असर पड़ेगा, स्टॉक बाजार में गिरावट आयेगी तथा पूँजी-बाजार गतिहीन हो जायेगा और अंत में हमारे निर्यातों पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(iv) **निर्यातों को प्रोत्साहन देने में बाधा :-**

इस प्रकार मजदूरी-वस्तु मॉडल की भी अपनी सीमाएं हैं जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस मॉडल को अपनाने का सबसे बड़ा खतरा यह है कि भारत अपने निर्यात बढ़ाने में कठिनाई महसूस करेगा। आज एशिया के तथाकथित प्रथम चार टाइगर्स — दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, तैवान व हांगकांग — में इसका नाम नहीं आता तथा एशिया के टाइगर के बच्चों — मलयेशिया, थाईलैण्ड, आदि — में भी इसकी गिनती नहीं होती। ऐसी हालत में विकास-नीति को एकदम मजदूरी-वस्तुओं की तरफ मोड़ देने से अर्थव्यवस्था के और पिछड़ जाने का भय है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारी उद्योगों व मजदूरी वस्तु उद्योगों की

आर्थिक विकास में अपनी-अपनी भूमिका होती है। दोनों के संबंध में एक-तरफा दृष्टिकोण अपनाने से आर्थिक विकास में कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए इनके संबंध में काफी संतुलित व प्रावैगिक दृष्टिकोण अपनाया जाना आवश्यक है जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी।

3.6 क्या योजनाकाल में विकास की प्रारम्भिक आधारभूत व्यूहरचना में कोई परिवर्तन किया गया है?

मोटे तौर पर यह कहा जाता है कि भारत में विकास की नेहरू-महलानोबिस व्यूहरचना जो द्वितीय पंचवर्षीय से आरंभ की गई थी, वह आगामी योजनाओं में भी जारी रखी गयी है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति भारतीय नियोजन की मुख्य लक्षण मानी जा सकती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि योजनाओं में कृषि, खाद्यान्न व आम जरूरत की उपयोग्य वस्तुओं के उत्पादन की उपेक्षा की गई है। सच पूछा जाय तो स्वयं महलानोबिस ने विकास की प्रारम्भिक व्यूहरचना में आम जरूरत की उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन घरेलू व लघु उद्योगों में बढ़ाने पर जोर दिया था, ताकि इनका अभाव न रहे तथा मुद्रास्फीति व बेरोजगारी को भी अंशतः नियन्त्रित किया जा सके। महलानोबिस के मॉडल में आगे चल कर उपभोक्ता-माल के उत्पादन की व्यवस्था आधुनिक किस्म के बड़े पैमाने के कारखानों में करने की कल्पना की गई थी।

विकास की व्यूहरचना में हुए कुछ परिवर्तन :-

(i) हरित क्रान्ति योजना के 15 वर्षों के बाद भारत में कृषिगत विकास की नई नीति का प्रादुर्भाव हुआ। 1966 से देश में हरित क्रान्ति की शुरूआत हुई जिसके अंतर्गत फसलों में अधिक उपज देने वाली किस्मों, उर्वरकों, सिंचाई, कीटनाशक दवाओं, साख की सुविधाओं, लाभप्रद वसूली मूल्यों व सरकारी खरीद आदि का प्रयोग बढ़ा जिससे कृषि अपना परंपरागत स्वरूप छोड़ कर व्यावसायिक स्वरूप ग्रहण करने लगी। इससे भारत में गेहूँ व चावल का उत्पादन विशेषतया बढ़ा और भारत खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर हो गया। कृषि में यंत्रीकरण, आधुनिकीकरण व व्यवसायीकरण का प्रभाव बढ़ा जिससे विकास की गति पर भी असर आया। लेकिन साथ में अन्तर्क्षेत्रीय व अन्तर्वर्गीय असमानताएं भी उत्पन्न हो गईं, और कृषकों के लिए इन्पुटों की सप्लाई बढ़ाने की समस्या भी उत्पन्न हो गई। विकास के दौरान ये तनाव उत्पन्न होने स्वाभाविक थे।

(ii) पाँचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79) में विकास के साथ-साथ वितरणात्मक न्याय पर भी जोर दिया जाने लगा तथा निर्धनता व बेरोजगारी को दूर करने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता स्वीकार की गई। पहले यह सोचा गया था कि विकास के लाभ स्वतः निर्धनता-निवारण व रोजगार-संवर्धन के रूप में ढलकने (trickle-down) लगेंगे। लेकिन जब ऐसा कुछ नहीं हुआ तो गरीबी व बेरोजगारी पर प्रहार करने के लिए अलग से विशेष कार्यक्रम अपनाये जाने लगे। आगे चल कर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (गरीबी दूर करने के लिए) तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम एवं ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (बेकारी कम करने के लिए) आदि ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रम चालू किये गये ताकि क्षेत्रीय पिछड़ापन दूर किया जा सके तथा पिछड़े वर्गों की आर्थिक दशा भी सुधारी जा सके।

इस प्रकार भारतीय नियोजन की यात्रा में आये के चरण में हरित क्रान्ति व वितरणात्मक न्याय के समावेश से नियोजन को एक नया मोड़ व नया आयाम अवश्य मिला, लेकिन मूलतः विकास की रणनीति में भारी उद्योगों की प्रधानता को बरकरार रखा गया। इसीलिए छठी व सातवीं योजनाओं में भी ऊर्जा, इस्पात, पेट्रोल, भारी इन्जीनियरी उद्योगों, भारी रसायन उद्योगों, आदि पर बराबर विकास के दबाव बने रहे। अतः विकास के दौरान सामयिक परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुसार नियोजन की आधारभूत व्यूहरचना को नया मोड़ मिला।

बोध प्रश्न-2

1. मजदूरी-वस्तु मॉडल का आशय बतलाइए तथा प्रमुख मजदूरी-वस्तुएं लिखिए।
2. 'मजदूरी-वस्तुओं' पर आधारित विकास की व्यूहरचना के तीन प्रमुख गुण बताइए।
3. मजदूरी-वस्तु मॉडल की तीन प्रमुख कमियां दर्शाइए।
4. क्या आप यह मानते हैं कि भारतीय नियोजन के चार दशकों में विकास की भारी उद्योगों पर आधारित व्यूहरचना में कोई आधारभूत परिवर्तन हुआ है?

3.7 भारी उद्योग-मॉडल की उपलब्धियां व मूल्यांकन

भारत में भारी उद्योग-मॉडल सोवियत् संघ के नमूने पर अपनाया गया था। वहाँ भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति काफी सफल हुई क्योंकि इसको अपनाकर सोवियत संघ में विद्युत, तेल, गैस, कोयला, इस्पात, खनिज उर्वरक, सीमेंट, रसायन, आदि के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई और वह विश्व की महान आर्थिक शक्तियों में अपना स्थान बना सका। आज इसके उत्पादन में उसका स्थान अमेरिका के बाद आता है। रूस में कोयले का उत्पादन 1940 में 16.6 करोड़ टन के बढ़ कर 1987 में 76 करोड़ टन हो गया, तथा इस्पात का 1940 में 1.83 करोड़ टन से बढ़ कर 1987 में 16.2 करोड़ टन हो गया। इस प्रकार भारी उद्योगों को प्राथमिकता देकर रूप ने अपनी अर्थव्यवस्था की तकनीकी क्षमता तथा सुरक्षा उद्योगों को काफी सुदृढ़ कर सका है, हालांकि इसकी वजह से विकास के शुरू के वर्षों में उसे उपभोग्य वस्तुओं के अभाव का सामना करना पड़ा था, जिसे अब अनाज, मांस, दूध, अण्डों, फल-सब्जी, आदि का उत्पादन बढ़ाकर काफी सीमा तक ठीक कर लिया गया है, और भविष्य में इसे और सुधारे जाने की आशा है।

भारत में भी भारी उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देने से कई आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, इनमें बहुधा विकास की वार्षिक दर ऊँची रही है जिसके फलस्वरूप औद्योगिक ढांचे में इनका स्थान पहले से ऊँचा हो गया है। आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों के क्षेत्र में मुख्य उपलब्धियां इस प्रकार रही हैः

(i) **उत्पादन में वृद्धि :-** प्रमुखी भारी उद्योगों में उत्पादन की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :-

तालिका 3.1

भारी उद्योगों में उत्पादन

	1950-51	1970-71	1888-89	1988-89 में उत्पादन 1950-51 का गुना
(अ) तैयार इस्पात (मिलियन टन)	1.0	4.6	10.9	11
(आ) सीमेंट (मिलियन टन)	2.7	14.3	41.8	15
(इ) कोयला (लिग्नाइट सहित) (मिलियन टन)	32.8	76.3	207	6.3
(ई) क्रूड तेल (मिलियन टन)	0.26	6.8	32	123

योजनाकाल में (1950-51 से 1988-89 तक) कोयले का उत्पादन 6.3 गुना, सीमेंट का 15 गुना तथा इस्पात का 11 गुना एवं क्रूड तेल का 123 गुना हो गया। इसी अवधि में रासायनिक उर्वरकों, विविध प्रकार की मशीनरी, परिवहन-उपकरणों आदि का उत्पादन भी बढ़ा है।

(ii) **विभिन्न श्रेणी के उद्योगों में आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों में वार्षिक वृद्धि-दरें निम्न तालिका में दी जाती हैं।**

तालिका 3.2

वस्तु समूह	1955-60	1960-65	1965-76
(अ) आधारभूत वस्तुएं	12.1	10.4	6.5
(आ) पूँजीगत वस्तुएं	13.3	19.6	2.6
(इ) पटसन वस्तुएं	6.3	6.9	3.0
(ई) उपभोग्य वस्तुएं	4.4	4.9	3.4

(स्रोत : सी.पी. चन्द्रशेखर का लेख, EPW, विशेष अंक, नवम्बर 1988, पृ. 2365)

तालिका से स्पष्ट होता है कि 1955-56 तक की अवधि में आधारभूत वस्तुओं व पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की वार्षिक-दरें अन्य उद्योग-समूहों से ऊँची रही हैं। बाद के वर्षों में वृद्धि-दरों में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं।

1980 के दशक में आधारभूत वस्तु उद्योगों में विकास की वार्षिक दर 1984-85 11.17 रही जो सर्वाधिक थी। पूँजीगत वस्तु-उद्योगों में 1986-87 में यह 18.27% रही जो सर्वाधिक थी। इस प्रकार भारी उद्योगों को विकास में प्राथमिकता देने से इनका उत्पादन बढ़ा है, जो अन्यथा सम्भव नहीं था।

(iii) **औद्योगिक ढांचे में भारी उद्योगों का योगदान पहले की तुलना में ऊँचा हुआ है :-**

योजनाकाल में भारत का औद्योगिक ढांचा काफी बदल गया है जिसका परिचय निम्न तालिका से मिलता है।

(जोड़े गये मूल्य (value-added) में प्रतिशत अंक) (स्थिर भावों पर)

(iii) **पूँजीगत उद्योगों में तकनीकी कार्यकुशलता बढ़ाने की आवश्यकता :-** भारत में पूँजीगत उद्योगों में तकनीकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए विदेशों से टेक्नोलोजी का अयात किया जाना चाहिए। प्रयत्न करके भरतीय पूँजीगत उद्योगों के माल का निर्यात भी बढ़ाया जा सकता है (विकासशील देशों में)। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि व्यूहरचना में भारी उद्योगों को ऊँचा स्थान देने की नीति 1956 की परिस्थितियों में समयोचित थी। लेकिन आठवीं योजना की पूर्व संख्या पर देश की आर्थिक दशाएं व आवश्यकताएं काफी बदल गई हैं। इसलिए इन परिवर्तन परिस्थितियों में अधिक अनुकूल विकास की नई व्यूहरचना का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने पर उचित बल देना होगा।

3.8 भावी नियोजन की व्यूहरचना में इनका सापेक्ष स्थान क्या होना चाहिए?

भारत में विकास की व्यूहरचना में काफी लंबी अवधि तक भारी उद्योगों — आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों — पर बल दिया गया है। इसकी उपलब्धियों का ऊपर मूल्यांकन किया जा चुका है। अब प्रश्न उठता है कि भावी नियोजन की व्यूहरचना में पूँजीगत उद्योगों व आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों का सापेक्ष स्थान क्या होना चाहिए?

यहाँ पर स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि नियोजन के 50 वर्षों के बाद देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति के प्रमुख लक्षण निम्नांकित हैं जिनको ध्यान में रखकर ही नई विकास-नीति निर्धारित करनी होगी :—

(i) देश की जनसंख्या जून 1990 में लगभग 84 करोड़ हो चुकी थी, जिसमें आज भी 2% से अधिक वार्षिक दर से वृद्धि हो रही है। प्रतिवर्ष श्रम-शक्ति में 80 लाख से अधिक व्यक्ति जुड़ जाते हैं। गांवों से नगरों व महानगरों की तरफ जनसंख्या के पलायन को रोकना अब ज्यादा जरूरी हो गया है।

(ii) देश में गरीबी, बेरोज़गारी, अल्परोजगार व असमानता की समस्याएं काफी प्रबल रूप धारण करती जा रही हैं।

(iii) आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं की माँग काफी बढ़ गई है और उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इनकी कीमतें भी ऊँची हो गई हैं जिससे मुद्रास्फीति की समस्या काफी जटिल हो गई है। आवश्यक वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों को नियन्त्रित रखना बहुत जरूरी हो गया है। इसके लिए इनकी सप्लाई में निरंतर वृद्धि करना नितान्त आवश्यक है। यदि इनकी पूर्ति घरेलू उत्पादन बढ़ा कर नहीं की जा सकती तो इनका आयात विदेशों से करना आवश्यक हो जाता है।

(iv) पूँजीगत वस्तुओं की गुणवत्ता बढ़ाने व लागत घटाने की आवश्यकता है।

(v) देश में टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन व माँग तो काफी बढ़े हैं, लेकिन आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं का प्रायः अभाव पाया जाता है। भारत ने एक तरफ खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा कर इनका आयात कम कर लिया है, लेकिन खाद्य-तेलों का आयात बढ़ाना पड़ा है क्योंकि देश में तिलहन का उत्पादन पर्याप्त नहीं रहा है।

वर्तमान आर्थिक स्थिति के उपुर्यक्त लक्षणों को ध्यान में रखते हुए 1990 के दशक के लिए विकास की नीति के निर्धारण में निम्न बातों का समावेश किया जाना चाहिए।

(i) आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन व वितरण पर समुचित ध्यान देना होगा। इनका उत्पादन सार्वजनिक, निजी तथा सहकारी क्षेत्रों में प्रोत्साहित

तालिका 3.3

उद्योग की श्रेणी	1960-61		1979-80	
(अ) आधारभूत उद्योग	27	38	31	49
(आ) पूँजीगत उद्योग	11		18	
(इ) मध्यवर्ती उद्योग	21		16	
(ई) उपभोक्ता उद्योग	41		35	
कुल	100		100	

इस प्रकार योजनाकाल में श्रेणी (अ) + श्रेणी (आ) का योगदान, अर्थात भारी उद्योगों का योगदान, लगभग 1/3 से बढ़कर 1/2 हो गया है। (1960-61 से 1979-80 की अवधि में)। अतः भारत के औद्योगिक ढांचे में भारी उद्योगों की दिशा में परिवर्तन आया है।

(iv) **भारतीय पूँजीगत वस्तुओं की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में भी सुधार हुआ है :-** प्रायः यह माना जाता है कि भारतीय मशीनें घटिया होती हैं और इनकी लागत बहुत ऊँची होती हैं। लेकिन यह धारणा भी ज्यादातर मामलों में सही नहीं हैं। कई स्वतंत्र अध्ययनों से प्रमाणित हुआ है कि कुछ घरेलू पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों, जैसे गैर-विद्युत मशीनरी, रेल परिवहन, मशीनरी, कुछ खनन-उपकरणों, आदि में हमारी लागतें अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी प्रतिस्पर्धात्मक रही है। अतः भारतीय उत्पादक कार्यकुशल भी प्रमाणित हुए हैं। हालांकि इस दिशा में अभी अधिक प्रगति करने की काफी गुंजाइश है।

इस प्रकार भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता देने से योजनाकाल के लगभग 35 वर्षों में यह क्षेत्र विकसित हुआ है, जिससे औद्योगिकरण की नींव सुदृढ़ हुई है और भारत आगामी वर्षों में आत्म-निर्भर औद्योगिक विकास की दिशा में अग्रसर होने की स्थिति में पहुंच गया है।

मूल्यांकन :- यद्यपि देश में पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों की प्रगति हुई है, फिर भी इनके संबंध में कुछ समस्याएं भी सामने आयी हैं, जिन्हें भावी योजनाओं में हल करना होगा। ये इस प्रकार हैं :-

(i) **उत्पादन-क्षमता का अल्प प्रयोग** :- प्रायः यह देखा जाता है कि भारतीय उद्योग कुछ कारणों से अपनी प्रतिस्थापित उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। इसके निम्न कारण हो सकते हैं, जैसे माँग की कमी, कच्चे माल का अभाव, टेक्नोलोजी के परिवर्तन, विद्युत का अभाव, औद्योगिक विवाद, आदि। विभिन्न पूँजीगत उद्योगों की वैयक्तिक समस्याओं को हल करके इनकी उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग किया जाना चाहिए।

(ii) **पूँजीगत वस्तुओं के आयातों में वृद्धि** :- भारत में पिछले वर्षों में धातु निर्मित वस्तुओं, मशीनरी, परिवहन, उपकरणों व प्रोजेक्ट-वस्तुओं (उर्वरक-सयंत्र आदि) के आयात में काफी वृद्धि हुई है। 1987-88 में इनका आयात 6285 करोड़ रु. का हुआ तथा 1988-89 में 6939 करोड़ रु. का हुआ। 1988-89 में पूँजीगत वस्तुओं का अयात कुल आयात का लगभग 1/4 था। इस प्रकार भारत में आज भी पूँजीगत माल का भारी मात्रा में आयात किया जाता है जिसे प्रयत्न करके स्वदेशी उत्पादन बढ़ा कर कम किया जाना चाहिए।

करना होगा। साथ में इनका उत्पादन बड़े पैमाने, लघु पैमाने तथा कुटीर उद्योगों सभी में परिस्थितियों के अनुसार करना होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-पदार्थों की प्रोसेसिंग करने की योजनाएं संचालित की जा सकती हैं, जैसे फलों को डिब्बों में भरने की योजना संचालित की जा सकती है।

(ii) कृषिगत उत्पादन — विशेषतया खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने पर अधिक ध्यान देना होगा। खाद्यान्न मजदूरी-वस्तुओं में सर्वोच्च स्थान रखते हैं।

(iii) पूँजीगत वस्तुओं की गुणवत्ता सुधारने तथा चुने हुए ढंग पर इनका विस्तार करने की नीति जारी रखनी होगी। कृषि व उद्योग, लघु व वृहद् उद्योग, सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र, आदि में परस्पर गहरा सम्पर्क स्थापित करना होगा।

(iv) परिवहन, संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल आदि का भी समुचित विकास करना होगा।

वर्तमान सरकार कृषि व ग्रामीण विकास पर सार्वजनिक व्यय का लगभग आधा भाग आवंटित करना चाहती है। आठवीं योजना को रोजगारोन्मुखी, ग्रामोन्मुखी व गरीबोन्मुखी बनाया जा रहा है। अतः अब बहुत-कुछ मजदूरी-वस्तु व सेवा आधारित विकास-व्यूहरचना का समय आ गया है, हालांकि इसको लागू करते समय आवश्यक पूँजीगत उद्योगों की उपेक्षा करना गलत होगा। वास्तव में हमारी परिस्थितियों में 'यह या वह' का दृष्टिकोण न रखकर 'यह एवं वह' का दृष्टिकोण अपनाना अधिक श्रेयष्कर होगा, क्योंकि विकास के लिए आवश्यक पूँजीगत माल व आवश्यक उपभोक्ता-माल दोनों की समान रूप से आवश्यकता होती है।

बोध प्रश्न : 3

1. भारी उद्योगों के क्षेत्र में उपलब्धियाँ बताइए।
2. क्या भारतीय नियोजन में भारी उद्योगों को दी गई प्राथमिकता सही प्रमाणित हुई?
3. भावी नियोजन में विकास की व्यूहरचना का आधार क्या हो?
4. क्या भावी नियोजन को मजदूरी-वस्तु मॉडल पर आधारित करना राष्ट्र हित में होगा?

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

[1] Mishra & Puri, **Indian Economy.** 7th ed., 1989, ch. 15.

[2] P.R. Brahmananda, **Planning For A Future less Economy**, 1979, ch. 15 and other relevant chapter.

[3] V.G. Bhatia, **Eighth Plan, An Alternative Approach** Economic Times, July 31, 1989.

[4] PR Brahmananda, **Wage goods Planning,** (2 parts) Financial Express, August 8 & 9, 1989.

[5] Charan Wadhva, **Economic Advisory Council's Report**

on the Economic An Apprarised, EPW, March 3, 1990, PP. 453-455, (for wage-good model's weaknesses).

[6] CP Chandrashakhar, **Aspects of Growth and Structured change in Indian Industry,** EPW, Special Number 1988.

[7] Economic Survey, 1989-90, ch. 4.

[8] Sukhamoy Chakravarty, **Development Planning-the Indian Experience,** 1987, ch. 2 and 3.

प्रश्नों के उत्तर

[1] (i) योजना के लक्ष्य (ii) उनको प्राथमिकता के क्रम में जंचाना (iii) प्राप्त करने के लिए उचित नीतियों व उपाय अपनाना। मूलतः व्यूहरचना में विनियोग के प्रारूप पर सर्वाधिक बल दिया जाता है तथा आर्थिक नीतियों में साधन-संग्रह, राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों तथा विदेशी पूँजी पर बल दिया जाता है।

[2] द्वितीय योजना के फ्रेमवर्क (1956) में भारी उद्योग, आधारभूत (बेसिक) उद्योग व पूँजीगत उद्योग एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये थे। लेकिन आजकल उपयोग-आधारित औद्योगिक वर्गीकरण के अनुसार भारी उद्योग में आधारभूत उद्योग (सीमेंट, इस्पात, उर्वरक आदि) तथा पूँजीगत उद्योग (मशीनें व परिवहन-उपकरण, आदि) दोनों शामिल होते हैं।

'भारी उद्योग-प्रथम' की नीति से (i) पूँजी निर्माण की ठोस आधारशिला रखी जाती है, (ii) प्राकृतिक साधनों का विदोहन होगा (iii) आयात-प्रतिस्थापन व आत्म-निर्भरता प्राप्त होगी।

[3] भारी उद्योग मॉडल की तीन कमियाँ : (i) उपभोक्ता-वस्तुओं का निरंतर अभाव, (ii) बेरोजगारी की समस्या का उचित हल नहीं (iii) विदेशी विनिमय की कठिनाई।

[4] मजदूरी-वस्तु मॉडल में कुल विनियोग में अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक अंश आबंटित किया जाता है। खाद्यान्न-मोटा अनाज व दालें, साधारण कपड़ा, खाद्य-तेल, अंडे, मांस, मछली, गुड-चीनी, चाय, मॉफी, माचिस, नमक, साधारण किस्म की दवाएं, खेल का सामान, परिवहन की सुविधा, पेयजल, वगैरः मजदूरी-वस्तुएं व सेवाएं मानी जाती हैं।

[5] (i) तीन तरह का पूर्ण रोजगार मिलता है : सभी श्रमिकों को वर्षभर तथा पर्याप्त वास्तविक मजदूरी पर, (ii) मुद्रास्फीति पर नियंत्रण व जीवन-स्तर में वृद्धि (iii) विदेशी भुगतान की समस्या से मुक्ति।

[6] (i) विनियोग के साधनों का अभाव (ii) लोगों की रूचि मजदूरी-वस्तुओं से हटकर उत्तम व आरामदायक उपभोक्ता-माल के पक्ष में होने से माँग की कमी तथा (iii) अर्थव्यवस्था में औद्योगिक मंदी, बाजार में गिरावट, आदि का भय।

बोध प्रश्न 2

[1] (i) भारी उद्योगों में उत्पादन बढ़ा, (ii) इन उद्योगों में विकास की वार्षिक वृद्धि-दरें सामान्यतया ऊँची रहीं, (iii) औद्योगिक ढांचे में इनका योगदान 1/3 से बढ़कर 1/2 हो गया है।

[2] कुल मिलाकर सही प्रमाणित हुई क्योंकि इससे विकास का आधार सुदृढ़ हो गया।

[3] (i) जनसंख्या व वार्षिक वृद्धि-दर, (ii) उपभोक्ता काल की मांग में वृद्धि (iii) गरीबी, बेरोजगारी, असमानता की समस्याएं (iv) पूँजीगत माल की गुणवत्ता बढ़ाने की आवश्यकता तथा (v) टिकाऊ उपभोक्ता-माल के साथ-साथ आवश्यक उपभोक्ता-माल के उत्पादन पर बल देने की आवश्यकता।

[4] मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन व देशव्यापी सार्वजनिक वितरण पर यथोचित ध्यान दिया जाना चाहिए। विकास-मॉडल को रोजगार-आधारित बनाना अधिक लाभकारी होगा। चुने हुए ढंग पर पूँजीगत माल के उत्पादन पर भी ध्यान देना होगा। कुल मिलाकर आवश्यक उपभोक्ता-माल व आवश्यक पूँजीगत माल के उत्पादन पर संतुलित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

इकाई 4

विकेन्द्रित नियोजन-पद्धति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 केन्द्रित व विकेंद्रित नियोजन में मुख्य अंतर
4.3 विकेन्द्रित नियोजन की कार्य-पद्धति (methodology) तथा पंचायती राज संस्थाओं से संबंध
(अ) योजना कैसे बनायी जाती है?
(ब) योजना की मशीनरी कैसी होती है?
4.4 विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में प्रगति व अनुभव—कर्नाटक, पश्चिमी बंगाल व गुजरात में विकेन्द्रित नियोजन
4.5 विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में बाधाएं व समस्याएं
4.6 विकेन्द्रित नियोजन की सफलता की आवश्यक शर्तें
4.7 भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य व सुझाव
4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विकेन्द्रित नियोजन पद्धति के अर्थ एवं उद्देश्यों से आपका परिचय कराना है।

4.1 प्रस्तावना :

एक देश के आर्थिक साधनों का निर्धारित सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करने की विधि को नियोजन की पद्धति कहते हैं। इसके कई रूप होते हैं। इनमें से केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन के रूप में विशेष चर्चा के विषय रहे हैं। केन्द्रित नियोजन को 'ऊपर से नियोजन' (planning from above) भी कहते हैं। भारत में योजना-आयोग द्वारा अब तक जो पंचवर्षीय योजनाएं बनायी गयी हैं वे इसी श्रेणी में आती हैं। इसमें केन्द्रीय व राज्यीय स्तरों पर योजनाओं का निर्माण होता है। योजना-आयोग विभिन्न राज्य सरकारों से विचार-विमर्श करके उनकी योजनाओं के लिए सार्वजनिक व्यय की राशि स्वीकृत करता है। इस प्रकार केन्द्र व राज्यों के बीच आवश्यक सलाह से योजना बनायी जाती है। लेकिन इस पद्धति में राज्य-स्तर से नीचे योजना की प्रक्रिया पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसके विपरीत विकेन्द्रित नियोजन को 'नीचे से नियोजन' (planning for bottom) अथवा 'ग्रासरूट प्लानिंग' (grassroot planning) भी कहते हैं, जिसमें योजना का निर्माण वस्तुतः ग्राम-स्तर से ऊपर खण्ड या तालुका-स्तर, फिर जिला-स्तर से ऊपर तथा आगे राज्य-स्तर के केन्द्र-स्तर की तरफ किया जाता है।

इस प्रकार विकेन्द्रित नियोजन में योजना का निर्माण व क्रियान्वयन क्षेत्रीय दृष्टि से सबसे छोटी इकाई, अर्थात् गांव, से आरंभ होता है, हालांकि व्यवहार नियोजन की इकाई 'जिला' या

'खण्ड' रखी जाती है, ताकि नियोजन की कार्यकुशलता बनी रही। स्मरण रहे कि विकेन्द्रित नियोजन व पंचायत राज संस्थाओं का परस्पर गहरा संबंध होता है, क्योंकि इस पद्धति में आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण भी आवश्यक माना गया है।

भारत जैसे विशाल देश के लिए विकेन्द्रित नियोजन निम्न कारणों से, विशेष रूप से, आवश्यक माना गया है।

(i) **भारत के कुछ जिलों की जनसंख्या का अधिक होना :—**

भारत में विकेन्द्रित नियोजन के पक्ष में प्रथम कारण यह दिया जाता है कि नियोजन अत्यावश्यक हो जाता है। हमारे देश में कई राज्यों की जनसंख्या व क्षेत्रफल फ्रांस व जर्मनी से अधिक हैं। ऐसे देश में नियोजन की प्रक्रिया को राज्य-स्तर पर रोक देने से आर्थिक विकास में बाधा पड़ सकती है, क्योंकि इससे राजनीतिक व आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(ii) **सभी लोगों को विकास की धारा में शामिल करने के लिए :—**

अब तक के नियोजन का अनुभव रहा है कि कुछ लोग आर्थिक क्रिया व आर्थिक विकास की मुख्य धारा से बाहर रह गये थे। उन्हें विकास-कार्यक्रमों से या तो कोई लाभ नहीं मिला, अथवा अपर्याप्त लाभ मिला, जिससे विकास की दृष्टि से अन्तर्क्षेत्रीय व अंतर्वर्गीय असमानताएं बढ़ी। भावी नियोजन में इस कमी को दूर करने के लिए जिला व खण्ड नियोजन की तरफ बढ़ना आवश्यक माना गया है। ऐसा करके अब तक विकास के लाभों से वंचित लोगों को भी विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है।

(iii) **विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही स्थानीय साधनों व स्थानीय आवश्यकताओं में आवश्यक ताल-मेल बैठाया जा सकता है।**

विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक साधन व उनकी आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न होती हैं। उनके विकास के स्तरों में भी काफी अंतर पाये जाते हैं। किसी खण्ड तालुका में ट्यूब-वेल की जरूरत होती है, तो किसी में जल-विकास की, किसी में पशु-चिकित्सा की तो किसी में संचार की, आदि। इसलिए स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय नियोजन ही अधिक उपयुक्त होता है। राष्ट्रव्यापी या राज्यव्यापी नियोजनों में क्रमशः देश व राज्यों की आवश्यकताओं का तो ध्यान रखा जा सकता है, लेकिन इससे नीचे के स्तरों की अलग-अलग प्रकार की जरूरतों पर ध्यान दे पाना दुष्कर होता है।

(iv) **नियोजन की प्रक्रिया में आम आदमी की भागीदारी को प्रोत्साहन देने के लिए:-**

विकेन्द्रित नियोजन के पक्ष में एक प्रबल तर्क यह है कि इसी के माध्यम से आम लोगों को नियोजन की प्रक्रिया में शामिल किया जा सकता है। जब ग्राम-स्तर पर नियोजन किया जाता है तो लोगों को योजना के निर्माण के समय अपनी बात कहने का अवसन मिलता है, और बाद में इसके क्रियान्वयन में भाग लेने का अवसर मिलता है, जो अन्यथा सम्भव नहीं था। इससे नियोजन अधिक व्यावहारिक, लचीला व परिणामोन्मुख बनाया जा सकता है।

(v) **विकेन्द्रित नियोजन के अनुकूलतम परिणाम :-**

वर्तमान समय में राज्य सरकारों के विभिन्न विभाग जिला-स्तर पर अपने-अपने काम देखते हैं, जैसे कोई सिंचाई का, कोई पशु-पालन का, कोई भू-संरक्षण का, आदि, आदि। इनमें प्रायः परस्पर ताल-मेल का अभाव रहता है। दूसरी तरफ सरकारी

विभागों व पंचायती राज संस्थाओं में भी ताल-मेल की कमी रहती है। इस परिस्थिति में सरकारी व्यय का पूरा लाभ नहीं मिल पाता और काफी व्यय के निरर्थक चले जाने की अधिक सम्भावना रहती है। विकेंद्रित नियोजन की प्रक्रिया में सरकारी एजेंसियों व जन प्रतिनिधि-एजेंसियों में अधिक ताल-मेल व समन्वय होने से व्यय से अनुकूलतम परिणाम निकल सकते हैं।

(vi) **ऊर्जा-नियोजन की दृष्टि से विकेन्द्रीकरण लाभदायक :—** अक्टूबर 1983 में आर्थिक सलाहकार परिषद् ने विकास-नियोजन व क्रियान्वयन के विकेन्द्रीकरण पर प्रधानमंत्री को जो रिपोर्ट दी थी, उसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि भारतीय गांवों में ऊर्जा का प्रभावपूर्ण नियोजन विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही सफल बनाया जा सकता है। ऊर्जा के परम्परागत साधनों (कोयला, जल-विद्युत, तेल) तथा गैर परंपरागत साधनों (वायु, लकड़ी, सौर-ऊर्जा, आदि) का सर्वोत्तम उपयोग ग्रामीण नियोजन के माध्यम से ही संभव है। गांवों की ऊर्जा-समस्या का हल भी इसी विधि से निकाला जा सकता है। गांवों में गोबर-गैस के चूल्हों का फैलाव इस दिशा में प्रगति का सूचक है।

(vii) **गांवों को परस्पर जोड़ना तथा गांवों व छोटे कस्बों को परस्पर जोडना संभव :-** भारत के अधिकांश गांवों में जनसंख्या बहुत थोड़ी पायी जाती है और वे एक दूसरे से काफी दूर-दूर बसे होते हैं। उनमें परस्पर कड़ी स्थापित करने तथा उनको पास के छोटे शहरों से जोड़ने के लिए इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास की आवश्यकता होती है जैसे, सड़क, गोदाम, व परिवहन की सुविधाएं आदि। ये काम विकेन्द्रित नियोजन से ही संभव हो सकते हैं जहाँ प्रत्येक क्षेत्र अपनी आवश्यकताएं ठीक से पहचान पाता है और उनको पूरा करने में स्थानीय साधनों का भी योगदान दे सकता है।

(viii) **मिट्टी, धरातल व जलवायु की विभिन्नताओं के कारण स्थानीय नियोजन जरूरी :-**

प्रायः एक राज्य के विभिन्न भागों में जलवायु, वर्षा, मिट्टी आदि के अंतर पाये जाते हैं जिससे उनके नियोजन में अंतर करना आवश्यक हो जाता है। भू-स्वामित्व, भूजोतों के अपखण्डन व वितरण, आदि के प्रश्न बड़े जटिल होते हैं। अतः विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही इन विभिन्न प्रकार की दशाओं में अधिकतम आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही हम आर्थिक विकास की दर को ऊंचा कर सकते हैं, रोजगार-संवर्धन व निर्धनता-निवारण के कार्यक्रम अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लागू कर सकते हैं, ऊर्जा व इन्फ्रास्ट्रक्चर के नियोजन को अधिक सफल बना सकते हैं, तथा लोगों की आवश्यकताओं के मुताबिक नियोजन को अपनाकर उसमें उनकी भागीदारी को भी बढ़ा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि भारत जैसे विशाल देश में, जो लोकतांत्रिक मूल्यों को विशेष आदर देता है, विकेन्द्रित नियोजन व पंचायती राज संस्थाओं के विकास से ही देशवासियों का जीवन-स्तर बेहतर बनाया जा सकता है। ग्रामवासियों, वनवासियों, गिरीवासियों अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों, खेतिहर मजदूरों, हरिजनों व अन्य पिछड़ी जातियों के आर्थिक कल्याण के लिए सरकार को आगामी कई वर्षों तक विकेन्द्रित नियोजन की प्रक्रिया व पद्धति के माध्यम से संघर्षरत रहना होगा, तभी वांछित सफलता मिल सकेगी।

4.2 केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन में मुख्य अंतर

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारत विकेन्द्रित नियोजन की पद्धति को अपना कर अधिक लाभ उठा सकता है। योजना-आयोग के वर्तमान उपाध्यक्ष श्री रामकृष्ण हेगड़े ने आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में विकेन्द्रित नियोजन-प्रणाली को अपनाने पर बल दिया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत अब तक मूलतः केन्द्रित नियोजन के मार्ग पर ही चलता रहा है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना योजना-आयोग द्वारा एक विशेष मॉडल के आधार पर केन्द्रीय स्तर पर तैयार की गई है।

केन्द्रिय नियोजन की पद्धति का व्यापक रूप से प्रयोग सोवियत संघ में किया गया है। भारत ने, भी द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरंभ से नेहरू-महलानोबिस विकास-नीति के तहत सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों पर आधारित औद्योगीकरण का मार्ग ग्रहण किया था। तब से सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष 1989-90 तक देश केन्द्रित नियोजन की पद्धति पर ही चलता रहा है, हालाकि सातवीं योजना (1985-90) में कुछ राज्यों, जैसे कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, गुजरात आदि के विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में कुछ कदम उठाये हैं। नीचे केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन में मुख्य अंतर बतलाये गये हैं :-

केन्द्रित नियोजन	विकेन्द्रित नियोजन
(i) इसका निर्माण सीधे राष्ट्रीय स्तर पर योजनाधिकारी करते हैं। फिर निचले स्तरों जैसे ज्यीय स्तर, जिला-स्तर आदि पर विकास-कार्य किये जाते हैं।	(i) इसका निर्माण वस्तुतः ग्राम-स्तर से आरम्भ होता है, फिर खण्ड या तालुका-स्तर व जिला स्तर पर योजनाएं बनायी जाती हैं। तत्पश्चात् राज्यीय योजनाए बनती हैं और अंत में राष्ट्रीय योजना बनती है। अतः इसकी निर्माण प्रक्रिया केन्द्रित नियोजन से विपरीत होती है।
(ii) इसमें नियोजित विकास की वार्षिक दर का निर्धारण विनियोग की राशि व पूँजी-उत्पत्ति अनुपात (Capital-out-put ratio) तथा जनसंख्या की वृद्धि, आदि के आधार पर निकाला जाता हैं। इसमें समग्र दृष्टिकोण अपनाया जाता है।	(ii) इसमें व्यष्टि-दृष्टिकोण से प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि गांव की योजना कार्यक्रम व प्रोजेक्टों से चालू करके खण्ड स्तर पर, फिर जिला-स्तर पर, और अंत में राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचते हैं। अतः इसमें विकास की दर का अनुमान बाद में लगाया जाता है।
(iii) इसमें राजनीतिक केन्द्रीकरण हो जाता है। केन्द्र के हाथों में आर्थिक सत्ता सिमट जाती है।	(iii) इसमें राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण हो जाता है, अर्थात् पंचायती राज संस्थाओं, जैसे जिला परिषदों, पंचायत-समितियों व ग्राम-पंचायतों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।
(iv) यह ज्यादातर अधिनायक तंत्र में सफल हो पाती है जैसे रूस की साम्यवादी अर्थव्यवस्था	(iv) यह ज्यादातर लोकतंत्र में जनसहयोग के आधार पर संचालित होने पर अच्छे परिणाम देती है।
(v) इसका निर्माण अपेक्षाकृत सरल व शीघ्रगामी होता है।	(v) इसका निर्माण जटिल होता है तथा उसमें सम भी अधिक लगता है।
(vi) यह बहुधा आम जनता की आकांक्षाओं व अभिलाषाओं का पर्याप्त ध्यान नहीं रख पाती।	(vi) यह सर्वसाधारण की आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान दे पाती है।

इस प्रकार केन्द्रित व विकेन्द्रित दोनों प्रकार की योजनाओं के अपने-अपने लक्षण होते हैं। प्रत्येक देश को अपनी राजनीतिक व्यवस्था, आकार, विकास की अवस्था व आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजन की पद्धति का चुनाव करना चाहिए। स्मरण रहे कि केन्द्रित व विकेन्द्रित दोनों प्रकार की योजना-पद्धतियों में राष्ट्रीय स्तर पर योजना होती है, लेकिन उसके बननेकी प्रक्रिया में अंतर होने के कारण उसमें गुणात्मक भेद पाया जाता है जो काफी महत्वपूर्ण होता है। विकेन्द्रित योजना केन्द्रित योजना का सहायक व पूरक होती है।

4.3 विकेन्द्रित नियोजन की कार्य-पद्धति (methodology) तथा पंचायती राज संस्थाओं से संबंध :

(अ) योजना कैसे बनायी जाती है?

जैसा कि पहले कहा जा चुका है विकेन्द्रित नियोजन में योजना का निर्माण 'नीचे से ऊपर की ओर' चलता है। इसमें हम ग्राम-स्तर से प्रारम्भ कर सकते हैं। अतः इसमें सर्वप्रथम गाँवों के लिए योजनाएं बनायी जाती हैं। इन ग्राम्य योजनाओं में खण्ड या तालुका-स्तर पर आवश्यक संशोधन करके खण्ड-योजनाएं (block plans) बनायी जाती है। आगे चलकर खण्ड-योजनाओं को इकट्ठा करके जिलेवार योजनाएं बनती है। यही क्रम आगे राज्य व केन्द्र-स्तर पर जारी रख कर राष्ट्रीय योजना का निर्माण होता है।

(i) खण्ड स्तर नियोजन (Block-level planning) :-

यदि गांवों के लिए पृथक योजनाएं न बनाकर सीधे खण्ड-स्तर पर ही योजना बनायी हो तो थोड़ा भिन्न तरीके से चलना होगा। पूर्व जनता शासनकाल में छठी पंचवर्षीय योजना के संशोधित प्रारूप (1978-83) (उस समय योजना आयोग के उपाध्यक्ष डा. डी. टी. लकड़ावाला थे) में खण्डस्तरीय योजना के निर्माण के लिए यह आवश्यक माना गया था सर्वप्रथम उस खण्ड के भौतिक व आर्थिक साधनों, मानवीय साधनों, आधार ढांचे (इन्फ्रास्ट्रक्चर) की सुविधाओं तथा संस्थागत व्यवस्थाओं का सर्वेक्षण कराया जाय। खण्ड-स्तर की योजना का वित्तीय आकार निर्धारित करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय — (i) राज्य-योजना का कोई निश्चित प्रतिशत, जैसे 10%, खण्ड-योजना के लिए नियत किया जाय, (ii) समन्वित ग्रामीण विकास के लिए स्वीकृत केन्द्रीय अनुदान, (iii) राज्यों द्वारा संचालित खण्ड स्तरीय स्कीमों के लिए धन की व्यवस्था, (iv) स्थानीय वित्तीय साधन, (v) संस्थागत कर्ज (बैंकों आदि से)

खण्ड-स्तर की योजना में निम्न कार्यक्रम शामिल किये जा सकते हैं :— (i) उत्पादन के कार्यक्रम, जनशक्ति-नियोजन व दक्षता-विकास, आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताएं व संस्थागत-सहयता, (ii) विभिन्न इन्फ्रास्ट्रक्चर-विनियोग कार्यक्रमों के स्थान-चयन के लिए क्षेत्रीय नियोजन, (iii) प्रमुख प्रोजेक्टों व उनके सहायक प्रोजेक्टों के लिए स्थान-चयन, (iv) आधारभूत इन्फ्रास्ट्रक्चर की व्यवस्था तथा (v) संगठन की स्थापना। खण्ड स्तरीय नियोजन में अदक्ष श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्यों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ii) जिला-नियोजन के निर्माण की प्रक्रिया :-

जिला-नियोजन की प्रक्रिया या तो खण्ड-योजनाओं को एकत्र करने व उनकी छानबीन व संशोधन के माध्यम से हो सकती है, अथवा, सीधे जिला-स्तर पर ही योजना बनायी जा सकती है। यह परिस्थितियों के अनुसार तय किया जा सकता है चूँकि हमारे देश में जिला-नियोजन, खण्ड-नियोजन तथा ग्राम-नियोजन के लिए कोई निर्धारित व

सुनिश्चित स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है, इसलिए राज्य-स्तर से नीचे योजना के विकेन्द्रीकरण के कई स्वरूप सुझाए जा सकते हैं। यदि ज़िले को नियोजन की इकाई माना जाता है तो सीधे जिला-योजना बनाने के लिए निम्न पहलुओं पर ध्यान देना होगा :—

(अ) स्थानीय साधन—उनका वर्तमान उपयोग व विकास की सम्भावनाएं,

(आ) स्थानीय लोगों की आवश्यकताएं,

(इ) उस जिले में विभिन्न खण्डों के विकास में असमानताएं तथा उनको नियोजन की प्रक्रिया के द्वारा कम करने के उपाय,

(ई) मानवीय साधनों का विकास तथा बेरोजगार व अल्परोजगार को कम करने के उपाय,

(उ) निर्धनता कम करने के उपाय

(ऊ) योजना के निर्माण व क्रियान्वयन में लोगों की भागीदारी के सुनिश्चित करने के उपाय।

इस प्रकार जिले की योजना को ठोस, विशिष्ट, व्यावहारिक व लचीला रूप दिया जाना चाहिए। योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उचित मात्रा में वित्तीय साधनों को जुटाने तथा संस्थागत व तकनीकी परिवतनों के लिए तैयारी की जानी चाहिए।

इस प्रकार योजना चाहे किसी भी स्तर पर बनायी जाय, उसकी मूलभूत प्रक्रिया में भौतिक व आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण, स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं का अनुमान, मानवीय साधनों का उपयोग, बरोजगारी व निर्धनता दूर करने के लिए ठोस कार्यक्रम, संस्थागत व तकनीकी परिवर्तन, योजना के लिए आवश्यक मात्रा में वित्त का प्रबंध, आदि शामिल होते हैं। यह तो विकेन्द्रित नियोजन की चुनी गई प्रक्रिया पर निर्भर करेगा कि उसे गांव से प्रारंभ करके ऊपर खण्ड व जिले की ओर लाया जाय, अथवा खण्ड-स्तर से प्रारम्भ करके जिले की ओर लाया जाय; अथवा प्रारम्भ ही जिला-स्तर से किया जाय। विकेन्द्रित नियोजन के व्यापक रूप में इसे ग्राम-स्तर से प्रारम्भ करके खण्ड-स्तर, राज्य-स्तर व राष्ट्र-स्तर की तरफ लाते हैं।

(ब) योजना की मशीनरी कैसी होती है?

विकेन्द्रित नियोजन की मशीनरी का भी कोई एक निश्चित व अंतिम स्वरूप नहीं होता। यह पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना पर भी निर्भर करता है। हम जानते हैं कि गाँवों में ग्राम-सभा व ग्राम-पंचायतें होती हैं। ग्राम-पंचायतों में सरपंचों सदस्यों का सीधा चुनाव हो सकता है, अथवा केवल सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव तथा सरपंच का परोक्ष चुनाव (स्वयं चुने हुए सदस्यों द्वारा) हो सकता है। खण्ड या पंचायत-समिति के अध्यक्ष सदस्यों का भी प्रत्यक्ष चुनाव हो सकता है, अथवा केवल सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव हो सकता हो सकता है। जिला-परिषद् के लिए केवल सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव हो यकता है, अथवा अध्यक्ष का प्रत्यक्ष चुनाव कराया जा सकता है।

ग्राम-पंचायतों, पंचायत समितियों व जिला-परिषदों की नियोजित विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

जिला-परिषदों में पार्लियामेंण्ट के सदस्य, एम एल. ए गण जिला परिषद् के अध्यक्ष, आदि भी होते हैं। स्मरण रहे कि जिला-परिषदें ग्रामीण क्षेत्रों के लिए योजनाएं बनाती हैं। लेकिन सम्पूर्ण जिले की योजना का काम जिला-नियोजन-बोर्ड (District Planning Board) को करना होता है। इसलिए जिला-नियोजन-बोर्ड को जिला-परिषद् की योजनाओं की समीक्षा करनी

होती है तथा उनको जिले की तथा राज्य की योजना से समन्वित करनी होती है तथा उनको जिले की तथा राज्य की योजना से समन्वित व समायोजित करना होता है। इनको जिले के नगरीय क्षेत्रों की योजनाओं से भी समन्वय स्थापित करना होता है। जिला-नियोजन-बोर्डों के सदउस्यों में निम्न शामिल होते हैं — एक राज्य का मंत्री (अध्यक्ष), एम पी, एम एल ए गण, जिला परिषदों के कुछ सदस्य, आदि। जिलाधीश इसका सदस्य-सचिव होता है। इस प्रकार नियोजन की मशीनरी में जिला-परिषद् व जिला-नियोजन-बोर्ड के परस्पर संबंध पर ध्यान दिया जाना चाहिए। ("पंचायती राज व जिला-नियोजन" पर जिला मजिस्ट्रेटों/जिलाधीशों की वर्क शॉप की रिपोर्ट, जुलाई, 1988 में प्रस्तावित) इसे चित्रवत् रूप में आगे दर्शाया गया है।

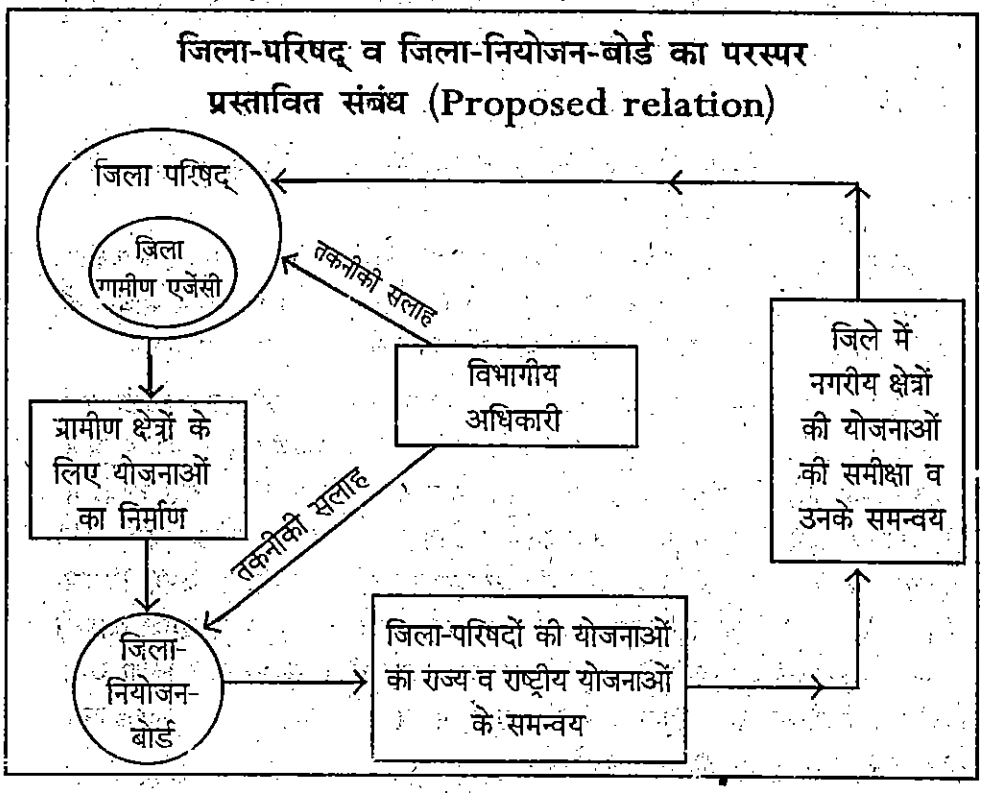

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट होता है कि जिला-स्तर पर जिला-नियोजन-बोर्ड के गठन से एक तरफ जिला-परिषदों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निर्मित योजनाओं का राज्यीय योजनाओं से समन्वय बैठाना तथा दूसरी तरफ नगरीय योजनाओं के साथ भी समन्वय बैठाना सम्भव होगा। अतः तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित सदस्यों के रूप में इनको पूरा सहयोग मिलना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए योजना बनाने में जिला-ग्रामीण-विकास-एजेंसियों (DRDAs) का योगदान भी मिलता है, जो ऊपर जिला-परिषद् के साथ छोटे गोले में दर्शाया गया है।

बोध प्रश्न-1

1. विकेन्द्रित नियोजन का अर्थ लिखिए।
2. विकेन्द्रित नियोजन के तीन प्रमुख उद्देश्य या लाभ लिखिए।
3. केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन में तीन आधारभूत अंतर करिए।
4. जिले की योजना बनाने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?
5. जिला नियोजन बोर्ड के गठन व कार्य का परिचय दीजिए।

4.4 विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में प्रगति व अनुभव

भारत में विकेन्द्रित नियोजन पर जितनी चर्चा हुई है उसके मुताबिक व्यवहार में काम नहीं हो पाया है। इसमें स्थानीय संस्थाओं का चुनावों के आधार पर निर्माण किया जाता है, उनको अधिकार व वित्तीय साधन हस्तान्तरित किये जाते हैं, और सरकारी अधिकारी तथा जन-प्रतिनिधि परस्पर सहयोग करके विकास-कार्य सम्पन्न करते हैं। यह क्रिया ऊपर से तो सुगम लगती है, लेकिन व्यवहार में इसका क्रियान्वयन काफी जटिल होता है। हमारे देश में सभी राज्यों में विकेन्द्रित नियोजन व पंयाचती राज संस्थाओं का विकास एक-सा नहीं हो पाया है। इस दिशा में कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आँध्र प्रदेश आदि में विशेष प्रगति हुई है। इनके अनुभवों का लाभ उठाकर भविष्य में अन्य राज्य भी विकेन्द्रित नियोजन की पद्धति को अपना सकते हैं। नीचे कर्नाटक, पश्चिम बंगाल व गुजरात व विकेन्द्रित नियोजन की प्रगति का उल्लेख किया जाता है।

(i) **कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन** :— कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन का प्रयोग 1987-88 से किया गया था। वहां मंडल-पंचायतों व जिला-परिषदों के प्रत्यक्ष चुनाव होते हैं। ग्रामसभा में गांव के 18 वर्ष से ऊपर के सभी व्यक्ति एकत्र होकर समय-समय पर विकास की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं। एक मण्डल में कई गांव होते हैं जिनकी कुल जनसंख्या 8 हजार से 12 हजार के बीच होती है। इनके प्रधान व उप-प्रधान चुने हुए सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। इनमें स्त्रियों की सदस्यता का अंश 25%, तथा अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के सदस्यों का अंश 18% रखा गया है। जिला-परिषदों को जिलों के विकास व कल्याण-प्रशासन में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इनके चुने हुए सदस्य ही अध्यक्ष व उपाध्यक्षों का चुनाव करते हैं। स्मरण रहे कि कर्नाटक-मॉडल में ग्राम-पंचायतों के गठन का प्रावधान नहीं रखा गया है। जहां तक तालुक पंचायत समिति का प्रश्न है वह नामजद सदस्यों की संख्या होती है जिसमें मंडलों के सभी प्रधान, एम एल ए गण, वगैर होते हैं। यह समिति विभिन्न मंडलों में समन्वय स्थापित करती है।

कनार्टक में जिला-परिषद से ऊपर जिला-नियोजन-बोर्ड जैसी कोई शीर्ष संस्था नहीं रखी गयी है, जैसा कि पहले प्रस्तावित कार्यक्रम सुझाया गया था। जिला-परिषद् का अध्यक्ष इसका कार्यकारी अध्यक्ष, व जिला-विकास-कार्यक्रम-समिति का चेयरमैन होता है। यह योजना के सभी क्षेत्रों में विकास की समीक्षा करती है।

कर्नाटक में 1988-89 में जिला व मंडल स्तरों पर योजनाएं बनायी गयी थीं। राज्य की योजना के व्यय का जिलेवार-विवरण जनसंख्या (50%), विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के पिछड़ेपन, कमजोर वर्गों की समस्याओं तथा विशिष्ट क्षेत्रीय समस्याओं के आधार पर किया गया है। इसी प्रकार जिलों से मंडलों की ओर वित्तीय साधनों का आबंटन जनसंख्या (50%) क्षेत्रफल (15%), सूखा क्षेत्र, खेतिहर मजदूरों की संख्या (10%) तथा प्रतिव्यक्ति सृजित साधन (10%) के आधार पर किया गया है। इस प्रकार कर्नाटक में जिला-परिषद् जिला-स्तर पर नियोजन का निर्माण व क्रियान्वयन करने वाली अन्तिमन प्रमुख सस्था मानी जाती है। कनार्टक में राजकीय वित्त आयोग की स्थापना काफी प्रावधान है। यह राष्ट्रीय वित्त आयोग के नमूने पर स्थापित किया जाता है और यह राज्य सरकार की ओर से जिलों को वित्तीय साधनों के हस्तांतरण के बारे में सलाह देता है। कर्नाटक में जिला-ग्रामीण-विकास समितियों को (DRDAs) को समाप्त कर दिया गया है।

कर्नाटक-मॉडल की एक विशेषता यह है कि इसमें जिलाधीश के अधिकार-क्षेत्र में केवल कानून व व्यवस्था ही रखे गये हैं, तथा विकास-कार्य जिला-मुख्य-सचिव को सौंपा गया है। कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में ठोस प्रगति हुई है और इससे ग्रामीण विकास में मदद मिली है। इस मॉडल को अन्य राज्यों में भी अपनाने की आवश्यकता है। योजना आयोग के पूर्व उपाध्यक्ष श्री रामकृष्ण हेगड़े ने कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन की आधारशिला रखने में भूतकाल में काफी योगदान दिया है।

(ii) **पश्चिम बंगाल में विकेन्द्रित नियोजन :–** वैसे साम्यवाद में 'केन्द्रीयता' पर विशेष बल दिया जाता है, लेकिन पश्चिम बंगाल में 1978 में पंचायती व्यवस्था में श्रीगणेश कर दिया गया था। वहां पंचायतों के चुनाव दलगत आधार पर 1978, 1983 व 1988 में किये जा चुके हैं। वहां भूमि सुधारों के अंतर्गत बटाईदारों को भूमि व साख प्रदान की गई है तथा सीलिंग से ऊपर की भूमि का भूमिहीन श्रमिकों में बंटवारा किया गया है।

पश्चिम बंगाल में विकेन्द्रित नियोजन की वास्तविक शुरूआत 1985-86 से हुई जो सातवीं पंचवर्षीय योजना का प्रथम वर्ष था। इस प्रकार वहां सातवीं योजना के दौरान विकेन्द्रित नियोजन के अनुभव प्राप्त हुए हैं। वैसे 1978 के पंचायती चुनावों के बाद ग्रामीण निर्माण कार्यों का नियोजन तथा ग्रामीण श्रमिकों को जुटाने के काम पंचायतों के सुपुर्द कर दिये गये थे बाद में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी-कार्यक्रम, सूखा-राहत कार्यक्रम आदि भी पंचायतों को सौंपे गये। वहां जिला व खण्ड-स्तर पर नियोजन-मशीनरी काम कर रही है। वहां जिले की योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण व शहरी जनता को समन्वित विकास करने का प्रयास किया गया है। पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या यह भी ध्यान दिया गया है। वहां साख-योजना बनाने पर विशेष ध्यान दिया गया है। कुल मिलाकर पश्चिम बंगाल में क्षेत्रीय नियोजन (area planning) की ओर नियोजन को मोड़ा गया है। 1985-86 की जिला-योजनाएं काफी कुशलता से तैयार की गई थीं। लेकिन वित्तीय साधनों के अभाव तथा राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी के कारण वांछित सफलता नहीं मिल पायी है। वहां जिला-स्तर पर जिला-नियोजन व समन्वय समिति (DPCC) तथा जिला-नियोजन-समिति (DPC) होती हैं। DPCC में केबिनेट मंत्री अध्यक्ष होता है तथा एम पी व एम एल ए इसके सदस्य आदि होते हैं। DPCC के होने से नौकरशाही का प्रभाव बढ़ा है और पंचायती राज संस्थाओं का कम हुआ है। अतः पश्चिम बंगाल को कर्नाटक के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए जहां जिला-नियोजन-बोर्ड की सर्वोपरि होता है।

(iii) **गुजरात में विकेन्द्रित नियोजन :–** हाल में भारत सरकार द्वारा गुजरात के जिला-नियोजन की काफी सराहना हुई है। वहां विकेन्द्रित नियोजन का प्रयोग 1980-81 से आरम्भ हो गया था। 1980-81 से 1988-89 तक की अवधि में वहाँ जिला-नियोजन-बोर्डों को लगभग 288 करोड़ रुपये आवंटित किये गये जिनका उपयोग करके वहाँ क्लास-रूम, जल-पूर्ति कार्यक्रम, लिंक-सड़कें, विद्युतीकरण, आदिकार्य सम्पन्नकिये गये हैं। वहाँ राज्य-स्तर के जिला-स्तर तथा जिला-स्तर से तालुका-स्तर की ओर कोषों का आवंटन निश्चित सूत्र के आधार पर किया जाता है। वहाँ पिछड़े तालुकों के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। वहाँ राज्य की योजना का लगभग 1/3 व्यय जिला-स्तर की स्कीमों के लिए निर्धारित किया जाता

है। इस एक-तिहाई का 20% जिला-नियोजन बोर्डों द्वारा चलायी जाने वाली व कार्यान्वित की जाने वाली योजनाओं के लिए नियत होता है तथा शेष 80% सामान्य जिला-स्तर की स्कीमों के लिए होता है। जो 20% राशि जिला-नियोजन-बोर्डों के पूर्ण-अधिकार क्षेत्र में होती है उसमें से 15% विवेकाधीन व्यय-राशि (discretionary outlay) होती है तथा 5% प्रेरणा-व्यय-राशि (incentive outlay) होती है। प्रेरणा-राशि के लिए यह शर्त होती है कि उसमें आम-जनता का भी योगदान होगा जो तालुका के पिछड़ेपन के अनुपात में होगा। जैसे सबसे ज्यादा पिछड़े तालुका के लिए आम जनता को योगदान 10% तथा सरकार का 90%, उससे कम पिछड़े क्षेत्र के लिए जनता का 25%, तथा सरकार का 75%, तथा सबसे कम पिछड़े क्षेत्र के लिए जनता का योगदान 50%, तथा सरकार का भी 50%। इस प्रकार प्रेरणा-व्यय-राशि की व्यवस्था से स्थानीय योगदान का अवसर भी उत्पन्न हो जाता है। इससे स्थानीय स्तर पर जनता की सीधी भागीदारी होने से उसकी रूचि विकास-कार्यक्रमों में काफी बढ़ जाती है। गुजरात के विकेन्द्रित नियोजन में जिला-स्तर पर राजकीय योजना का 1/3 अंश आवंटित किया जाना एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ प्रशासनिक सत्ता, अधिकार, कोषों आदि के हस्तान्तरण की दिशा में ठोस कदम उठाये गये हैं। प्रेरणा-व्यय-राशि की व्यवस्था से लोगों की स्थानीय नियोजन में प्रत्यक्ष भागीदारी हो गई है।। आशा है, आठवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में अन्य राज्य भी कर्नाटक, पश्चिम बंगाल व गुजरात आदि के 'जिला-नियोजन व पंचायती राज संस्थाओं के अनुभवों' से लाभ उठाकर इस दिशा में अग्रसर होंगे।

4.5 विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में बाधाएं व समस्याएं

भारत में विकेन्द्रित नियोजन के बड़े गुणगान हुए हैं, लेकिन वास्तविक जगत में इसकी प्रगति बहुत-कुछ नगण्य ही रही है। हमें उन कारणों की जानकारी करनी चाहिए जिन्होंने इसके मार्ग में बाधाएं पहुंचायी हैं ताकि भविष्य में उनको दूर करके विकेन्द्रित नियोजन को अधिक साकार रूप दिया जा सके तथा सफल बनाया जा सके। भारत में विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में निम्न प्रकार की बाधाएं आयी हैं :

(i) **राज्य स्तर से नीचे की इकाइयों को संवैधानिक इकाई न मानकर मात्र प्रशासकि इकाई ही माना गया :–** प्रोफेसर सी.टी. कुरियन का मत है कि भारत में दो-स्तर वाले संघवाद में राज्यों को तो केन्द्र से जोड़ दिया गया, लेकिन राज्य-स्तर से नीचे की इकाइयों को केवल प्रशासनिक इकाइयां ही माना गया। उनको संविधान की दृष्टि से कोई 'स्टेटस' नहीं मिली, जिससे देश में विकेन्द्रित नियोजन की सम्भावनाएं सदैव सीमित ही बनी रहीं। यदि जिला, तालुका, आदि नीचे के स्तरों की इकाइयों को 'संवैधानिक स्टेटस' मिलती तो इन स्तरों पर नियोजन को भी निस्संदेह बल मिलता।

(ii) **पंचायती चुनावों का राजनीतिकरण :–** भारत में पंचायती राज-संस्थाओं जैसे जिला-परिषदों,पंचायत-समितियों तथा ग्राम-पंचायतों के चुनाव दलगत राजनीति के आधार पर कराये गये जिससे उनमें जनता के सच्चे प्रतिनिधि न पहुंच कर पार्टियों के नुमाइंदे ही पहुंच पाये, परिणामस्वरूप इनको पर्याप्त बल नहीं मिल पाया। यदि इनके चुनाव 'दलविहीन पद्धति' पर कराये जाते तो सम्भवतः अधिक योग्य व ईमानदार व्यक्ति पहुंच पाते और इनके विकास में मदद मिलती। पंचायती राज

संस्थाओं के चुने हुए सदस्यों ने पुराने शक्ति-संतुलन व आर्थिक अंतरों को बनाये रखा जिससे इनके विकास का मार्ग प्रशस्त न हो सका। इनमें स्थापित व निहित स्वार्थ वाले वर्ग का प्रभुत्व बना रहा जो विकास में बाधक था। कई बार राज्य सरकारों ने इनके चुनाव समय पर नहीं कराये और उनको बार-बार टालने से ये निष्क्रिय व निष्प्राण होती गयीं।

(iii) **राज्य-स्तर पर विभागीय प्रशासन अपना वर्चस्व छोड़ने को तत्पर नहीं :-** विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में एक बाधा यह भी रही कि राज्य-स्तर पर नौकरशाही व अफसरशाही (bureaucracy) अपने अधिकार व सत्ता नीचे के स्तरों पर जन-प्रतिनिधियों को सौंपने से सदैव कतराती रही है। अतः सत्ता का नीचे की ओर हस्तान्तरण (devolution of power) नहीं हो पाया। कर्नाटक में इस दिशा में प्रगति हुई, जिससे पंचायती राज संस्थाओं के प्राणों का सुचार हुआ। लेकिन देश के सभी लोगों में ऐसा नहीं हो पाया। वास्तव में सरकारी तंत्र व जनतंत्र के परस्पर सहयोग व तालमेल में कई बाधाएं रही है।

(iv) **पंचायती राज संस्थाओं के पास पर्याप्त कोषों का अभाव :-** जिस प्रकार राज्य केन्द्र पर आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार पंचायती राज संस्थाएं धन व वित्तीय साधनों के लिए राज्य-सरकारों के मुंह की ओर देखती रहती हैं। उनके पास कोषों का अभाव पाया जाता है तथा उनके पास काम की जिम्मेदारियां अधिक होती हैं। उनके स्वयं के साधन भी सीमित होते हैं। वे उत्पादक परिसम्पत्तियों का निर्माण करके अपनी आमदनी नहीं बढ़ा पाती हैं। पिछड़े क्षेत्रों का विकास-कार्य काफी जटिल होता है। वहाँ इन्फ्रास्ट्रक्चर का अभाव पाया जाता है। पिछड़े क्षेत्रों के लोग कम आय के कारण अपना वित्तीय सहयोग भी नहीं दे पाते। इस प्रकार पर्याप्त कोषों के अभाव में इनकी प्रगति रूक जाती है।

(v) **संस्थागत व सामाजिक परिवर्तनों का अभाव :-** जब तक गांवों में भूमि-सुधार ठीक से लागू नहीं होते तब तक वहां भूमि का आवंटन असमान बना रहता है। गांवों की आर्थिक व्यवस्था में सामन्ती तत्वों का बोलबाला होता है। महाजन, व्यापारी व प्रशासन ग्रामीण जनता के आर्थिक हितों की अनदेखी करते रहते हैं। गांवों में बरोजगारी, अल्परोजगार, निर्धनता व असमानता वहां की अर्थव्यवस्था के अटूट अंग बन चुके हैं। अतः संस्थागत व सामाजिक परिवर्तन की लहर के बिना पंचायती राज संस्थाएं भी स्वार्थी व सिद्धान्तहीन लोगों के प्रभाव क्षेत्र में जकड़ी रहती हैं और अपने मूल उद्देश्य से भटक जाती हैं।

इस प्रकार विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में कई प्रकार की बाधाएं व कठिनाइयां रही हैं और इनमें से आज भी कुछ कायम हैं अतः सामाजिक-आर्थिक तथा संवैधानिक व प्रशासनिक ढांचों में आधारभूत परिवर्तन करके ही उनके विकास का मार्ग खोला जा सकता है।

बोध प्रश्न-2

1. कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन की प्रमुख बातें लिखिए।
2. विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में तीन मुख्य बाधाएं क्या रही है?
3. गुजरात में विकेन्द्रित नियोजन की प्रगति ने भारत सरकार को सबसे ज्यादा क्यों प्रभावित किया?

4.6 विकेन्द्रित नियोजन की सफलता की आवश्यक शर्तें

हमने अब तक के विवेचन में देखा कि विकेन्द्रित नियोजन के प्रति देश में एक प्रकार का भावनात्मक लगाव है। गांधीजी के 'ग्राम-स्वराज' की अवधारणा में भी राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रियकरण की मान्यताएं विद्यमान हैं। भारत में प्राचीन काल में पंचायत-प्रणाली सक्षम व कुशल ढंग से काम करती थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण' की आवश्यकता पर बल दिया। गया है। अतः प्रश्न उठता है कि नियोजन के चार दशक बाद तक भी देश विकेन्द्रित नियोजन की दिया में सराहनीय प्रगति क्यों नहीं कर सका और इसकी सफलता की आवश्यक शर्तें क्या हैं? हम ऊपर इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं का उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ इसकी सफलता के लिए आवश्यक आधारों का विवेचन किया जायगा।

(i) **सर्वप्रथम केन्द्र से राज्यों की तरफ सत्ता, अधिकारों, निर्णय की प्रक्रिया व कोषों का पर्याप्त व संतोषजनक हस्तान्तरण किया जाय :–** राज्यों से जिलों व इनके नीचे के स्तरों पर राजनीतिक व आर्थिक सत्ता व साधनों का हस्तान्तरण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले केन्द्र से राज्यों की तरफ इस प्रकार के हस्तान्तरण पूरे किये जाएं। विद्वानों का मत है कि आज भी राज्यों के ऊपर दायित्व से ज्यादा है, लेकिन उनको निभाने के लिए उनके पास पर्याप्त कोष नहीं है, और वे केन्द्र पर बहुत ज्यादा आश्रित हैं। इसलिए केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को अधिक व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

(i **योजना आयोग व योजना-तंत्र का पुनर्गठन :–** योजना आयोग को स्वायत्त संस्था बनाना चाहिए ताकि इसके कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप न हो। साथ में राज्य-स्तर, जिला-स्तर व इसके नीचे के स्तरों पर भी योजना की इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए। अभी तक सभी राज्यों व संघीय प्रदेशों में योजना-बोर्ड काम नहीं कर रहे हैं। दीर्घकालीन नियोजन पर तो काम केवल महाराष्ट्र, तमिलनाडु, जम्मू व कश्मीर, कर्नाटक व आंध्र प्रदेश में ही कुछ सीमा तक हो पाया है। अतः पहले सभी राज्यों के स्तर पर नियोजन-तंत्र को स्थापित किया जाना चाहिए ताकि उनके आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण करके उनके उचित संरक्षण, विदोहन व उपयोग की बात सोची जा सके।

(iii) **स्थानीय संस्थाओं** – जिला-परिषदों, पंचायत समितियों व ग्राम-पंचायतों का गठन किया जाय तथा उनके चुनाव निश्चित अवधि में करवाए जाएँ ताकि वे सक्रिय बनी रहें। इसमें ढील न दी जाय, अन्यथा इनके प्रति कोई गम्भीरता नहीं रह जायगी। इसको प्रशासनिक अधिकार व वित्तीय अधिकार सौंपे जाएँ तथा लोगों का भविष्य स्वयं उनके हाथों में दे दिया जाय ताकि वे अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर सकें।

सरकारी प्रशासन व स्थानीय निकायों के कार्यों में पूरा ताल-मेल बैठाया जाय। सरकार के प्रशासनिक विभागों में राज्य-स्तर व जिला-स्तर के बीच समन्वय स्थापित किया जाय; तथा जिला-स्तर पर कार्यरत विभिन्न विभागों में परस्पर समन्वय स्थापित किया जाय। इन प्रक्रियाओं को क्रमशः लम्बवत् एकीकरण (Vertical integration) व क्षैक्षित एकीकरण (Horizontal intigration) कहा जाता है।

(iv) **विकेन्द्रित नियोजन की सफलता तभी संभव हो सकती है जब गाँवों में भूमि-सुधार कार्यक्रम पूर्णतया लागू हो :–** कुछ लोगों का विचार है कि जब तक भूमि-सुधार लागू नहीं किये जाते तब तक गाँवों में सामन्ती वातावरण बना रहेगा

और भूमि के वितरण की असमानता बनी रहने से सम्पन्न भूस्वामी, जमींदार, महाजन, साहूकार व व्यापार किसान का शोषण करते रहेंगे, और स्थानीय संस्थाओं में इन्हीं का प्रभाव व प्रभुत्व बना रहेगा। ये विकास के लाभ हड़पते जायेंगे जिससे गाँवों के निर्धन लोग इनसे वंचित रह जायेंगे। इसलिए गाँवों के गरीबों का राजनीतिक संगठन होना चाहिए जो उनको उचित लाभ दिला सकें। सहकारी सुयुक्त खेती, चकबंदी व काश्तकारी सुधारों पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। भूमि-सुधारों जैसे संस्थागत सुधारों की आवश्यकता इतनी अधिक है कि कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि इनके होने पर राजकीय स्तर तक ही नियोजन काफी रहेगा और अन्य नीचे के स्तरों पर नियोजन को ले जाने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(v) **जनता की भागीदारी,** स्थानीय वित्तीय साधनों का उपयोग व स्थानीय आवश्यकताओं में कड़ी स्थापना की जानी चाहिए। इससे लोगों की विकास-कार्यों में रूचि बढ़ेगी और वे पदाधिकारियों के कार्यों पर कड़ी निगरानी रख सकेंगे।

(vi) **नियोजन की इकाई सुनिश्चित की जानी चाहिए :–** वैसे विकेन्द्रित नियोजन की अन्तिम व आधारभूत इकाई 'गाँव' होती है, लेकिन परिस्थितियों व साधनों को ध्यान में रख कर जिला व खण्ड पंचायत या 'गाँवों के एक समूह' (cluster of villages) को नियोजन की इकाई के लिए चुना जा सकता है। लेकिन जो भी इकाई चुनी जाय उसके आर्थिक साधनों का समुचित सर्वेक्षण आवश्यक होता है ताकि उचित विकास-कार्यक्रम निर्धारित किये जा सकें।

(vii) **इसमें कोई दो मत नहीं कि विकेन्द्रित नियोजन की भावी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसमें भाग लेने वाले सभी व्यक्ति –** सरकारी अधिकारी व जन-प्रतिनिधि — अपने सीमित स्वार्थों से ऊपर उठकर लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हों। अन्यथा भ्रष्टचार के व्याप्त रहने से इसकी प्रक्रिया निष्प्राण व निर्जीव बनी रहेगी। अतः राजनीतिक दलों, ऐच्छिक संगठनों व स्थानीय नेताओं तथा नागरिकों को राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मान कर कार्यरत रहना पड़ेगा।

(viii) **स्थानीय आर्थिक साधनों जैसे उपजाऊ भूमि, जल-स्रोत, वन-सम्पदा व खनिज-सम्पदा का सार्वजनिक उपयोग सुनिचित किया जाय:–**

डा. वी. एम. राव का मत है कि यदि गाँव के आर्थिक साधन जैसे भूमि, जल, वन, खनिज-पदार्थ आदि स्थानीय या बाहरी व्यक्तियों के अधिकार में चले जाते हैं तो विकेन्द्रित नियोजन के लिए विकास (growth) के क्षेत्र में बहुत कम काम रह जायगा। इसलिए गाँव के अप्रयुक्त उत्पादन साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व रहने से स्थानीय नियोजन का महत्व बढ़ जाता है। लेकिन निजी स्वामित्व की दशा में भी स्थानीय नियोजन साधनों के उपयोग को नियमित व नियन्त्रित अवश्यक कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विकेन्द्रित नियोजन की सफलता के लिए कई प्रकार की शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। सच पूछा जाय तो इसमें 'सम्पूर्ण क्रान्ति' (Total revolution) की भावना निहित है जिसके दायरे में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व प्रशासनिक तथा नैतिक सभी प्रकार के क्षेत्र आ जाते हैं। किसी भी बिन्दु पर कमी रह जाने से उसकी सफलता संदेह के घेरे में आ जाती है।

4.7 भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य व सुझाव

हमारे देश में 1989 में आम चुनावों से पूर्व कांग्रेस (आई) सरकार ने संविधान में संशोधन करके पंचायती राज संस्थाओं को सुदढ़ करने का कार्यक्रम अपनाया था। इसके अंतर्गत पंचायतों के निर्धारित अवधि में चुनाव कराने, तथा इनमें स्त्रियों, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को उचित प्रतिनिधित्व देने पर जोर दिया गया था। यह संशोधन अब पारित हो चुका है। पंचायती राज व विकेन्द्रित नियोजन के मूलभूत मुद्दे अभी विद्यमान हैं और इस दिशा में कदम उठाये जाने का इन्तजार है।

भारतीय लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए यहाँ विकेन्द्रित नियोजन को सफल बनाना होगा। इसका कोई विकल्प नहीं प्रतीत होता। लेकिन इसके लिए भारी प्रयास भी आवश्यक होगी। सच पूछा जाय तो यह काम ऊपर से काफी सरल व सुगम लगता है, क्योंकि इसमें वस्तुतः एक ही बात निहित है कि स्थानीय संस्थाओं को सत्ता, शक्ति, निर्णय का अधिकार व कोषों का सच्चे अर्थ में हस्तान्तरण किया जाय। अतः केन्द्र-स्तर की ओर, तथा राज्य-स्तर से जिला-स्तर व अन्य नीचे के स्तरों की ओर ये हस्तान्तरण शीघ्र व पूर्ण रूप में सम्पन्न किये जाएं।

स्मरण रहे कि विकेन्द्रित नियोजन को एक समुचित दायरे में नहीं देखना है; जैसे ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रमों समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय विकास रोजगार कार्यक्रम, सूखा सम्भवित क्षेत्र कार्यक्रम, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, आदि — को सम्पन्न करने के लिए ही इसका उपयोग नहीं करना है, बल्कि इसे एक व्यापक व गहन कार्यक्रम व प्रक्रिया के रूप में लेना है जिससे राष्ट्र का सम्पूर्ण राजनीतिक व आर्थिक कार्यकलाप बदला जा सके, और लोगों का जीवन-स्तर ऊचा किया जा सके। अतः इसे केवल ग्रामीण क्षेत्रों में राहत-कार्यक्रमों को चलाने व जनता की भागीदारी को बढ़ाने का मामूली साधन न मानकर 'सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन' का सूत्रधार मानना चाहिए।

भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य उज्जवल बनाया जा सकता है। वर्तमान सरकार ने आठवीं योजना में विकेन्द्रित नियोजन का दृष्टिकोण अपनाया गया है।

सुझाव :– योजना-आयोग के पूर्व सदस्य डा. सी. एच. हनुमन्थ राव ने अपने एक लेख में विकेन्द्रित नियोजन के लिए निम्न पाँच कार्यक्षेत्रों (areas of action) पर बल दिया है, ताकि इसकी सफलता सुनिश्चित की जा सके। ये कार्यक्षेत्र इस प्रकार हैं :

(i) **केन्द्रचालित योजनाओं में उचित संशोधन :–** योजनाकाल में केन्द्रचालित योजनाओं की संख्या बढ़ने से राज्यों की स्वायत्तता पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। इनका सम्बन्ध कृषि, ग्रामीण विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा व निर्धनता-निवारण से होता है। इसलिए भविष्य में इन पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए, तथा इनकी संख्या यथासम्भव कम की जानी चाहिए। इससे स्थानीय नियोजन का महत्व बढ़ जायगा। नियोजन में केन्द्र का वर्चस्व भी कम हो जायगा।

(ii) **प्रादेशिक स्तर पर नियोजन के उपाय :–** प्रादेशिक असमानताएं कम करने के लिए प्रादेशिक स्तर पर नियोजन अधिक प्रभावपूर्ण होता है। बड़े राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों के विकास में जिला व खण्ड-नियोजन से काफी लाभ मिल सकता है तथा उनकी स्थानीय समस्याएं हल की जा सकती है। निर्धनता-निवारण कार्यक्रमों को लागू करने में स्थानीय नियोजन से मदद मिलती हैं।

(iii) **चुनावी सुधार होने चाहिएं ताकि निर्धनों को प्रतिनिधित्व मिल सके :–** प्रायः स्थानीय संस्थाओं में लघु व सीमान्त कृषकों, खेतिहार श्रमिकों, ग्रामीण कारीगरों,

आदि के प्रतिनिधि पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुंच पाते जिससे इनके हितों की रक्षा नहीं हो पाती। स्त्रियों, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को उचित आरक्षण देकर इनके हितों पर ध्यान देना सम्भव हो सकता है।

(iv) **ग्रामीण निर्धनों की शोषण से मुक्ति होनी चाहिए :–** देहातों में आज भी भूस्वामी, साहूकार व ठेकेदार गरीब लोगों का शोषण करते हैं। अभी तक वहाँ संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हो पाये हैं। इसलिए भूमि-सुधार, न्यूनतम मजदूरी कानून व संस्थागत साख की व्यवस्था करके इनको शोषण से मुक्त करना चाहिए। एक शोषणविहीन समाज की रचना ही विकेन्द्रित नियोजन की सफलता का आधार प्रस्तुत कर सकती है।

(v) **जनता की भागीदारी :–** निर्धनों का संगठित करके उनके हितों की रक्षा की जा सकती है। निहित स्वार्थी वर्ग से उनको संघर्ष के लिए तैयार किया जा सकता है। विकेन्द्रित नियोजन के लिए जनता की भागीदारी का विकास करना बहुत जरूरी है। लोग योजना के निर्माण व क्रियान्वयन में भाग लेते हैं और कई बिन्दुओं पर विकास-कार्यों के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट करते हैं। इससे उनमें आत्म-विश्वास व सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है।

आशा है वर्तमान सरकार विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में ठोस कदम उठायेगी और उसको आवश्यक वैधानिक आधार दे पायेगी। भारत का आर्थिक भविष्य लोकतंत्र, सहकारिता, विकेन्द्रीकरण व संस्थागत तथा तकनीकी परिवर्तनों की सफलता पर निर्भर करता है। ग्रामीण विकास में जिला-नियोजन की अहम भूमिका हो सकती है और होनी चाहिए।

बोध प्रश्न-3

1. विकेन्द्रित नियोजन को सफल बनाने के लिए तीन उपाय बताइए।
2. संस्थागत सुधारों के अभाव में विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में किस प्रकार बाधा उपस्थित होती है?
3. क्या भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य उज्जवल है?

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

[1] C.H Hanumantha Rao, *Decentralised Planning : An overview of Experience and Prospects*, EPW, February 25, 1989.

[2] V.M. Rao, Decentralised Planning: Priority Economic Issues EPW, July 24, 1989.

[3] Arun Ghose, *Decentralised Planning : West Bengal Experience* EPW, March 26, 1988.

[4] Report of Workshop of District Magistrates/collectors on Responsive Administration, *Panchayati Raj and District Planning*, July 1988. (mimeographed)

[5] Amitava Mukherjee, *Denaturalised Planning*, I & II, A rejoined, in the Economic Times of Dec. 12 & 14, 1989.

[6] L.C. Jain, *Central Planning and Karnataka's Decentralised Planning*, II, Mainstream, May 2, 1987, pp. 16-17.

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

[1] विकेन्द्रित नियोजन में 'नीचे से ऊपर की ओर' होता है; जैसे ग्राम-योजना, खण्ड-योजना, जिला-योजना, राज्य-योजना तथ अंत में राष्ट्रीय योजना। इसे 'ग्रासरूट प्लानिंग' भी कहते हैं।

[2] (i) कुछ जिलों की जनसंख्या व क्षेत्र से अधिक होने से इनका पृथक नियोजन आवश्यक,

(ii) सभी लोगों को विकास की मुख्य धारा में लाना सम्भव,

(iii) स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजन।

[3] (i) केन्द्रित नियोजन 'ऊपर से नीचे' तथा विकेन्द्रित नियोजन 'नीचे से ऊपर की ओर',

(ii) केन्द्रित नियोजन में 'समष्टि दृष्टिकोण' तथा विकेन्द्रित में 'व्यक्ति-दृष्टकोण'

(iii) प्रथम की सफलता के लिए अधिनायकतंत्र तथा द्वितीय के लिए लोकतांत्रिक पद्धति व सहकारिता तथा सक्रिय जन सहयोग आवश्यक।

[4] जिले के भौतिक व आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण व अध्ययन, लोगों की आधारभूत आवश्यकताएं, बेरोजगारी, निर्धनता व खण्डवार असमानताएं कम करने के कार्यक्रमों पर जोर, इन्फ्रास्ट्रक्चर का विकास, संस्थागत व तकनीकी परविर्तन, वित्त-व्यवस्था आदि। जिला-नियोजन बोर्ड व जिला-परिषद् का सफल संचालन व परस्पर सहयोग आवश्यक

[5] **जिला-नियोजन-बोर्ड का गठन** :— इसका अध्यक्ष राज्य का मंत्री जिलाधीश-सदस्य-सचिव; एम. पी. एम. एल. ए. गण जिला-परिषद् के चुने हुए सदस्य (रोटेशन से), पंचायत-समितिों के अध्यक्ष (रोटेशन से), जिला-परिषद् का अध्यक्ष, नगरीय प्राधिकरणों के अध्यक्ष, आदि।

जिला नियोजन बोर्ड जिला-परिषद् द्वारा तैयार ग्रामीण योजना की समीक्षा करेगा तथा उसका समन्वय राजकीय योजना से स्थापित करेगा। इसी प्रकार वह नगरीय योजनाओं की भी समीक्षा करेगा और उनका भी राजकीय योजना से उचित समन्वय स्थापित करेगा।

बोध प्रश्न-2

[1] (i) वहाँ मंडल पंचायतों व जिला-परिषदों के ही चुनाव होते हैं। ग्राम-पंचायतों का गठन नहीं किया जाता, (ii) वहाँ जिला-नियोजन-बोर्ड सर्वोपरि होते हैं (iii) वहाँ जिलाधीश कानून व व्यवस्था सम्हालते हैं तथा जिला-मुख्य-सचिव (District chief secretary) विकास व नियोजन का काम देखते हैं।

[2] (i) राज्य-स्तर से नीचे की इकाइयों को सदैव मात्र प्रशासनिक इकाई माना गया, उन्हें संवैधानिक स्टेट्स नहीं मिली।

(ii) राजकीय नौकरशाही उनको प्रशासनिक सत्ता व अधिकार सौंपने से कतराती रही,

(iii) इनके पास कोषों का अभाव बना रहा।

[3] गुजरात में 1980-81 से अब तक जिला-नियोजन-बोर्डों को काफी धनराशि दी गई है। यह राज्य स्तर पर प्रस्तावित योजना-व्यय का 1/3 होती है। इसका 20% जिला-नियोजन-बोर्ड अपने निर्णयानुसार व्यय कर सकते हैं। जिसका 5% अंश प्रेरणा-व्यय माना जाता है जिसके साथ जनता का योगदान भी शामिल किया जाता है। जिला-नियोजन-बोर्डों द्वारा व्यय किये जाने से ग्रामीण सड़कों, स्कूलों, पेयजल, आदि की सुविधा बढ़ाने में प्रगति हुयी है।

बोध प्रश्न-3

[1] (i) केन्द्र से राज्यों की ओर सत्ता, अधिकार, निर्णय की प्रक्रिया व कोषों का पर्याप्त व संतोषजनक हस्तान्तरण किया जाय,

(ii) योजना-तन्त्र का पुर्नगठन, (iii) स्थानीय संस्थाओं का गठन व निश्चित अवधि के बाद अनिवार्य चुनाव।

[2] संस्थागत सुधारों के अभाव में भूमि-सुधार नहीं होने से भूमि के वितरण में असमानता बनी रहती है। गाँवों में साधन सम्पन्न व साधनहीन दो वर्ग बन जाते हैं। स्थानीय संस्थाओं में सम्पन्न वर्ग का वर्चस्व हो जाता है, जिससे वे गरीबों के हितों की उपेक्षा करते हैं और केवल अपने हितों का पोषण करते रहते हैं। इससे विकेन्द्रित नियोजन कामयाब नहीं हो पाता।

[3] भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य उज्जवल बनाया जा सकता है। इसके लिए राजनीतिक व प्रशासनिक सत्ता, अधिकार निर्णय, की प्रक्रिया व कोषों का हस्तान्तरण सही रूप में जिला व इससे नीचे के स्तरों पर करना होगा। निर्धनों को शोषण से मुक्त करना होगा, उनका राजनीतिक संगठन भी करना होगा और स्थानीय विकास-कार्यों में जनता की विकसित करनी होगी, ताकि ग्रामीण निर्माण के कार्य सम्पन्न किये जा सकें एवं कृषि, कुटीर उद्योग, सड़क, शिक्षा, चिकित्सा, पेयजल, आवास, आदि की सुविधाएं बढ़ सकें।

इकाई 5

भारत में शिक्षा का विकास

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 संरचना की विशेषतायें
5.3 संरचना का विकास व शिक्षा
5.4 कृषि संरचना पर शिक्षा का प्रभाव
5.5 औद्योगिक संरचना एवं शिक्षा
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य कृषि व औद्योगिक संरचना के विकास में शिक्षा के योगदान के महत्व को बताना है। इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो जाएंगे:

* कृषि एवं औद्योगिक संरचना के विकास में शिक्षा कैसे एक महत्वपूर्ण योगदान करती है।
* सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था में संरचना सेवाओं को प्रदान करने की विभिन्न विधियाँ।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम सर्वप्रथम यह देखेंगे कि संरचना से तात्पर्य क्या है, संरचना की विशेषतायें क्या है? तथा शिक्षा संरचना उद्योगों के विकास में कैसे योगदान कर सकती है। इसके उपरान्त हम कृषि व औद्योगिक संरचना पर शिक्षा के प्रभाव का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

5.2 संरचना की विशेषतायें

संरचना किसी देश की पूंजी सम्पत्ति का एक हिस्सा होती है। इसको सामाजिक ऊपरी पूंजी के नाम से जाना जाता है जो प्रत्यक्ष उत्पादक पूंजी से अलग होता है। संरचना से हमारा तात्पर्य उन उत्पादकों को मिलने वाली सेवाओं से होता है जोकि वास्तविक जीवन में यातायात, संचार, उर्जा, जल आपूर्ति, सिंचाई तथा विकास व्यवस्था से तथा संरचना उद्योग जैसे- कोयला, रासायनिक खाद, सीमेन्ट तथा लोहा आदि से होता है। परन्तु जैसे कि योगस्योन का कथन है कि सीधा निष्कर्ष यह है कि सामाजिक ऊपरी पूंजी वस्तुओं का एक सेट नहीं अपितु सम्पत्तियों

का एक सेट है। "संरचना की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह बाह्य बचतों का स्रोत है। इसी कारण एड्म स्मिथ ने संरचना के प्रावधान को सरकार के द्वारा किए जाने वाले कार्यों में रखा है। एड्म स्मिथ का कहना था कि उनके अतिरिक्त सरकार अन्य उत्पादकता करने में कम सक्षम है। अतः उसको निजी क्षेत्र के लिये छोड़ा जाना चाहिये अर्थात् उसको अदृष्य हाथ के लिये छोड़ दिया जाना चाहिये। जब एक सड़क का निर्माण होता है तो इसका लाभ उन समस्त देश वासियों को होता है जो उस सड़क मार्ग पर रहते हैं। जब एक ऊर्जा संचार का सृजन किया जाता है तो उससे उन समस्त लोगों को लाभ पहुंचता है जो उससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं। सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त ने वस्तुओं का विभाजन निजी वस्तु तथा सार्वजनिक वस्तु में किया गया है। निजी वस्तुयें वे वस्तुयें होती हैं जिनका प्रयोग कुछ विशेष व्यक्तियों तक ही सीमित होता है या आम जनता को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं हो पाती। जबकि सार्वजनिक वस्तुओं का प्रयोग साधारण जन मानस को प्राप्त होता है और इस प्रकार इसका लाभ देश में अधिकतम देशवासियों को होता है। संरचना के लिये प्रदान की गयी सेवायें इस प्रकार की सार्वजनिक वस्तुओं में आती हैं। प्रो. रैगनर नर्कसे ने इस प्रकार की पूंजी की एक और विशेषता यह बतायी है कि इसके अंतर्गत बड़े स्तर पर मूल्यवान संरचनाओं का जन्म होता है। इस प्रकार इन मूल्यवान सेवाओं को प्रदान करने में सरकार का महत्व अत्यधिक है। विकासशील देशों में जहां आमतौर पर पूंजी की कमी है और देश के तीव्र विकास के लिये आधुनिक तकनीकी की आवश्यकता पड़ती है, सरकार पर इन सेवाओं को प्रदान करने का दायित्व अधिक आ जाता है। इसकी तुलना में विकसित राष्ट्रों में स्थिति ऐसी नहीं है।

5.3 संरचना का विकास व शिक्षा

अब हम यह देखेंगे कि शिक्षा का प्रसार संरचना के विकास को किस प्रकार प्रभावित करता है। किसी समाज में ज्ञान का भण्डार उसके निवासियों में निहित होता है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होता जाता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान के भण्डार में वृद्धि तथा उसकी किस्म में सुधार भी होना चाहिये ताकि मनुष्य में, संसार में होने वाली बातों को समझने की शक्ति अधिक हो सके और इस प्रकार मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों को और अधिक नियंत्रित करने के योग्य बन सकें ताकि संसार की तीव्र गति से बढ़ती हुयी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। शिक्षा को इसी प्रकार की भूमिका निभानी है। अतः इसके अंतर्गत अधिकाधिक नवयुवकों के लिये पढ़ाई लिखाई का प्रावधान होना चाहिये तथा सेवारत लोगों के लिये ऐसा प्रशिक्षण दिया जाये कि वे उत्पादन विधि को भली भाँति समझ सकें। जब संसार के विकसित देशों में आर्थिक विकास की लहर आई तो इन देशों में उत्पादन के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के नव निर्माण देखने में आये जिनका आधार वैज्ञानिक आविष्कार था। धीरे-धीरे यह नव आविष्कार वैज्ञानिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये और इनको सुचारू रूप से लागू किया जाने लगा। इन तमाम उपलब्धियों के लिये एक उच्चतम शिक्षा प्रणाली का होना आवश्यक था जिसके अंतर्गत गणित इत्यादि के साथ-साथ प्राकृतिक व सामाजिक शक्तियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की क्षमता होनी चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली का विकास विकसित राष्ट्रों में प्रारम्भिक अवस्था में धीमा था। परन्तु बाद में इसमें तेजी आयी और अन्त में इन देशों में शिक्षा व्यापक रूप से फैल गयी तथा विश्वव्यापी प्रारम्भिक शिक्षा स्थापित हो गयी।

विकासशील राष्ट्रों में, जो पाश्चात्य शक्तियों की गुलामी में थे, शिक्षा का प्रसार एक छोटे से क्षेत्र तक ही सीमित रहा जिसका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी सरकार का शासन चलाने के लिये अधिकारी तथा क्लर्क बनाना था। साथ ही साथ इसके द्वारा लाभ उस क्षेत्र को पहुंचा जो आधुनिक उद्योगों में थे तथा विदेशी व्यापार में लगे थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन राष्ट्रों में अपनी सरकारें आयी तो शिक्षा के विकास पर ध्यान दिये जाने की बात की जाने लगी ताकि देश का आर्थिक विकास सम्भव हो सके। दुर्भाग्य वश शिक्षा का विकास उस गति से न हो पाया जैसा कि होना चाहिये था क्योंकि सरकार ने इसको प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथ में न रखकर इसमें विकास तथा वृद्धि की जिम्मेदारी निजीक्षेत्र पर डाल दी। अपने निहित स्वार्थों के कारण निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने शिक्षा के प्रसार व उसकी विभा को आम जनता तक पहुंचाने में सफल न हो सके। शिक्षा मुख्य रूप से उच्च शिक्षा केवल कुछ ही लोगों तक सीमित होकर रह गयी और यही कारण है कि आज देश के सामने बड़ी समस्या शिक्षा के प्रसार की है। इसकी कमी के कारण आम जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उन्माद है जो हमारी समस्त आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का मूल कारण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय शिक्षा की स्थिति को देखने के पश्चात् अब हम यह अध्ययन करेंगे कि शिक्षा के प्रसार का प्रभाव कृषि तथा औद्योगिक विकास की संरचना पर कैसे पड़ता है। भारत वर्ष में शिक्षा की दर 1981 की जनगणना के अनुसार 36.12 जो 1991 की जनगणना के अनुसार लगभग 50% हो गयी है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि इतने वर्षों के प्रयास के उपरान्त आज भी शिक्षा का समुचित प्रसार न हो सका जबकि दुनिया के अन्य विकसित राष्ट्रों में शिक्षा की दर लगभग 100% हैं।

यदि हम यह प्रश्न करें कि शिक्षा से क्या लाभ होता है तो हमें निम्नलिखित दो बातों पर ध्यान देना होगा।

(1) शिक्षा व्यक्ति विशेष की कार्यशक्ति में वृद्धि करती है।

(2) यह संरचना की मांग को बढ़ाती है जैसे ऊर्जा तथा सिंचाई की खपत रासायनिक खाद तथा जल आपूर्ति इत्यादि। इसी प्रकार शिक्षा के प्रसार का प्रभाव यातायात, संचार सड़क यातायात के साधनों का प्रयोग बिजली के सामान का प्रयोग, लोहे की वस्तुओं का प्रयोग, घर बनाने के लिये सीमेन्ट आदि का इस्तेमाल करना पड़ता है।

5.4 कृषि संरचना पर शिक्षा का प्रभाव

कृषकों के जीवन-स्तर में सुधार लाने में शिक्षा का उतना ही महत्व है, जितना कि आर्थिक विकास का। आर्थिक विकास का प्रभाव यह होता है कि कृषक अपने बच्चों को शिक्षा के लिये स्कूल भेजते हैं तथा उन्हें उच्च शिक्षा भी प्रदान कराने की चेष्टा करते हैं, जिससे उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि होती है तथा उनकी योग्यता में सुधार होता है। इसका प्रभाव यह होता है कि किसान नये-नये तरीकों को अपनाता है और कृषि में उत्पादकता को बढ़ाता है। वास्तव में शिक्षा तथा तकनीक का विकास ही कृषि क्षेत्र में सुधार का एकमात्र साधन है। इसीलिये ये कहा जाता है कि आर्थिक विकास एक जटिल प्रगतिशील प्रक्रिया है, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ शिक्षा जैसे कारकों का भी अधिक महत्व है। इस प्रकार के कृषक न केवल कृषि में सुधार में सफल होता है। यहाँ पर यह बात समझने के योग्य है कि शिक्षा से होने वाले लाभों को आसानी से तथा सही तरीके से मापा नहीं जा सकता। शिक्षा पर व्यय एक विनियोग के रूप में है जिसका लाभ दीर्घकाल में होता है, अर्थात् उसको हम मानवीय पूँजी में विनियोग कह सकते हैं। बच्चों में माता-पिता अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की कटौती करके जो शिक्षा पर व्यय करते हैं

उसका लाभ दीर्घकाल में प्राप्त होता है क्योंकि शिक्षा मनुष्य को न केवल अधिक उत्पादक बना देती है, वरन् उसे पारिवारिक क्षेत्र में ऐसे मूल्य प्रदान करती है जिससे वो अधिक सुखी तथा सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकता है। यह है वर्तमान त्याग का भविष्य में लाभ।

अब प्रश्न ये उठता है कि कृषि के आधुनिकीकरण में शिक्षित कृषकों का क्या योगदान है?

(i) शिक्षित युवक निम्नलिखित लाभ प्राप्त कर सकता है :—

(i) शिक्षा से उसे कृषि के बारे में सही समुचित सुचनायें प्राप्त होती है। वह यह जान लेता है कि सुविधायें कहाँ, कब और कैसे प्राप्त हो सकती है?

(ii) शिक्षित कृषक लागत तथा मूल्य-विश्लेषण करके यह जान सकता है कि उसके लिए कौन सी सूचना अधिक लाभदायक हो सकती है?

(iii) शिक्षित कृषक इन सूचनाओं को शीघ्रता से प्राप्त कर सकता है तथा उसका प्रयोग कृषि में लाभदायक रूप से कर सकता है।

(iv) शिक्षित कृषक बोयी जाने वाली फसलों का अनुकूलतम समन्वय प्राप्त कर सकता है, तथा किस प्रकार की आधुनिक कृषि विधि अथवा तकनीक को कम से कम लागत पर लागू कर सकता है।

(v) यदि किसी कृषि यन्त्र के आयात का मामला हो तो इसके बारे में भी यह निर्णय ले सकता है और कृषि में महान नव-प्रवर्तन ला सकता है।

(vi) कृषि विधियों को कम से कम लागत लागू करके अधिकतम उत्पादन किया जा सकता है।

इस प्रकार शिक्षा से कई महत्वपूर्ण बातें निकलती हैं, जैसे :—

(अ) नव प्रवर्तन प्रभाव, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

(ब) साधनों का सही रूप से आवंटन और जिसका लाभ न केवल अधिक उत्पादन में मिलता है, बल्कि फसल को अच्छेसे अच्छे दामों पर बेचने में सहायता मिल सकती है।

(स) इसका प्रभाव कृषकों की तथा खेत में काम करने वाले शिक्षित मजदूरों के जीवन-स्तर में सुधार के रूप में भी होता है जैसे-अच्छा स्वास्थ्य, नियंत्रित परिवार, उच्च तथा वैज्ञानिक विचार आदि।

(द) इन शिक्षित कृषकों के सम्पर्क में जो आस-पास के दूसरे कृषक अथवा रहने वाले आते हैं वे नयी पद्धतियों तथा जीवन-निर्वाह के नये तरीकें का अनुसरण कर सकते हैं और वे भी कसी हद तक लाभ उठा सकते हैं। निम्नलिखित चार्ट में शिक्षा के प्रभाव को विस्तार से दर्शाया गया है।

चार्ट संख्या 5.1

कृषकों की शिक्षा का समस्त आर्थिक प्रभाव

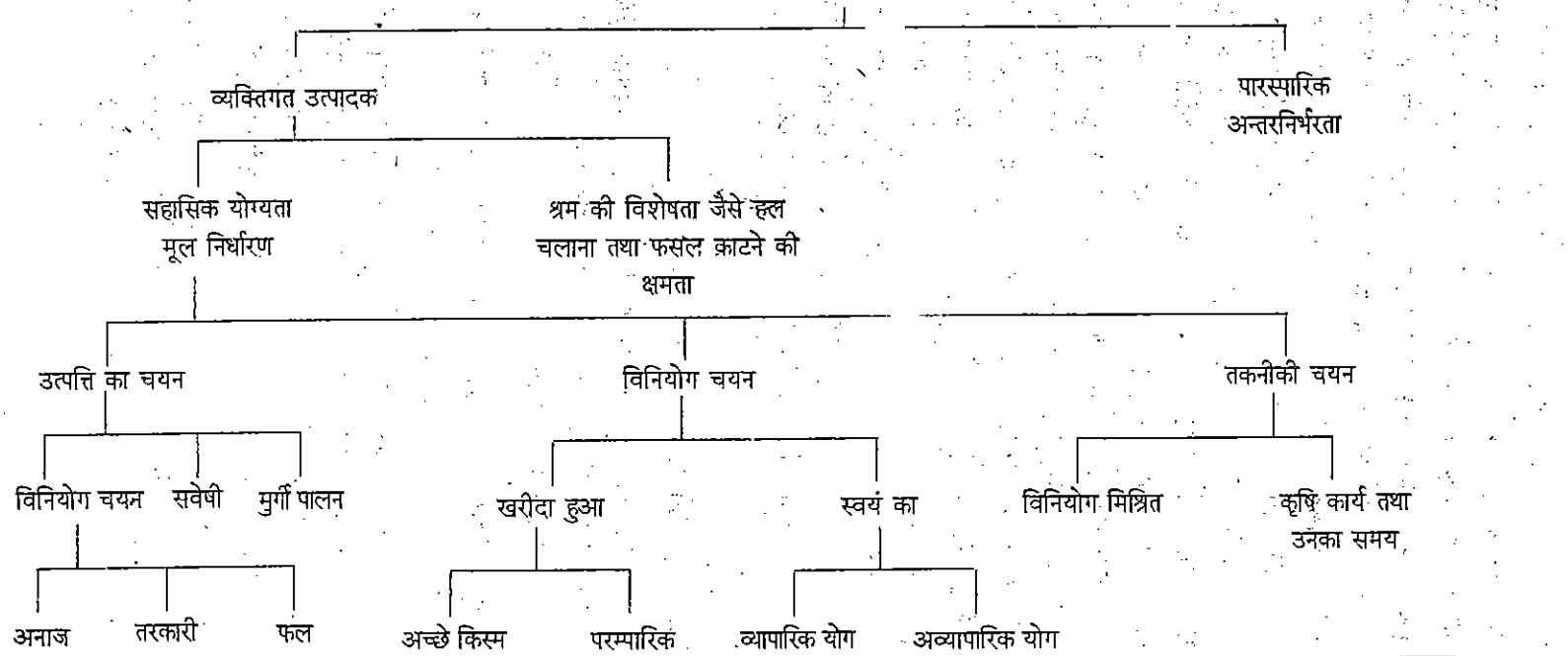

अनिश्चता

अच्छे किस्म

i) बाजार मूल से संबंधित सूचना
ii) उत्पादन को दूर बाजार में भेजने संबंधी लागत-लाभ अनुमान का क्षमता
iii) डस्टॉक को रोकने संबंधी लागत-लाभ से सही अनुमान की क्षमता

बाजार से संबंधित कारण (मौसमी उतार-चढाव)

संस्थागत कारको तथा विकास सम्बन्धी नीतियों में परिवर्तन की सम्भावना

इसके विपरीत पारंपरिक कृषि में जहाँ कृषि तकनीक में नयी विधियां नये विचारों को नहीं लागू किया जाता और न वहां के कृषकों को शिक्षा, आधुनिकीकरण तथा नयी-नयी खोजों तथा सूचनाओं का लाभ प्राप्त नही होता, उसकी दशा अब भी पिछड़े हुए साम्य-स्थिति में है। मुख्य रूप से दो कारक महत्वपूर्ण है, (अ) प्राकृतिक कारक अथवा प्राकृतिक विपदायें जिनके कारण कृषि को हानि पहुंचती है, और कृषक अपने को असहाय पाता है। (ब) दूसरे, बाजार में मांग-पूर्ति शक्तियों का फायदा उठाने में छोटे तथा सीमान्त कृषक असमर्थ रहते हैं। वह अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने उत्पादन का उचित मूल्य नहीं पाते। छोटे तथा सीमान्त कृषक अपनी कृषि में किसी प्रकार का जोखिम नहीं उठाना चाहते और वे उन्हीं पद्धतियों तथा फसलों को छांटते हैं जिनसे उसको निश्चित आय प्राप्त हो सके। क्योंकि उनको बाजार के बारे में सही सूचना भी नहीं प्राप्त हो पाती अतः वे आधुनिक चीजों को इस्तेमाल नहीं करते हैं ओर लकीर के फकीर बने रहते हैं। आज भी उसके उत्पादन का मुख्य ध्येय उपभोग है अर्थात् वर्ष भर के लिये अपने तथा अपने परिवार के लिये खान-पान जुटाना तथा अगली फसल के लिये बीज का प्रावधान करना। इसके विपरीत बड़े किसान कृषि में आधुनिकीकरण का पूर्ण लाभ उठाते है समय से तथा सही सूचना प्राप्त करते हैं। सिंचाई, नये-नये बीज तथा अन्य आधुनिक विधियों का प्रयोग करके न केवल अधिक उत्पादन करता है, वरन् उसको बाजार में प्रचलित मूल्य अनुसार बेचकर अच्छे दाम प्राप्त करता है। सरकार के द्वारा चलाई गई योजनाओं तथा सुविधाओं का लाभ वास्तव में यही प्राप्त करता है तथा छोटे तथा सीमान्त कृशक जिनको यह लाभ मिलना चाहिये अथवा जिनके लिये यह योजनायें बनाई गई हैं वे उनसे वंचित रह जाते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य है, और इस पर नियोजकों को ध्यान देना चाहिये या इस विडम्बना का मुख्य कारण छोटे तथा सीमान्त कृषकों में शिक्षा का अभाव है। केवल शिक्षा का प्रसार व आधुनिकीकरण से ही इनकी दयनीय दशा में सुधार लाकर आर्थिक दोहरेपन को दूर किया जा सकता है।

(अ) आर्थिक संरचना,

(ब) नियंत्रित बाजारी पद्धतियां,

(स) कृषि क्षेत्र में सहकारिता को प्रोत्साहन देना, तथा सहकारी साख समितियों तथा व्यापारिक तथा अन्य बैंकों द्वारा कृषकों को साख प्रदान करवाना ताकि वे साहूकार तथा महाजनों के चंगुल से छूट सकें।

(द) कृषि संबंधित लाभकारी सूचनायें, दूरदर्शन, रेडियो आदि से कृषकों तक पहुंचाना। कृषि मेले का आयोजन करना इत्यादि।

इस प्रकार की सूचनायें विभिन्न कृषक समूहों के लिये भिन्न-भिन्न करनी पड़ेगी। अर्थात् छोटे तथा सीमान्त कृषकों के लिये इसका आयोजन अलग तरीके से करना होगा। उनको नयी पद्धति को अपनाने के लिये दूसरे तरीके से प्रोत्साहित करना होगा, जबकि बडे तथा विकसित कृषकों के लिए यह आयोजन दूसरे ढंग का होगा। और इसका उद्देश्य भी भिन्न होगा।

गाँव में प्रेरकों को भेजना अधिक लाभदायक होगा, छोटे तथा सीमान्त किसानों के लिये जबकि दूसरे वर्ग के कृषकों के लिये हैंड बिल तथा अन्य छपी हुई सामग्री के द्वारा पहुंचाया जा सकता है। यदि सरकार इन बिन्दुओं पर ध्यान दे तो शिक्षा तथा नये संचार-माध्यमों से सभी प्रकार के कृषकों को लाभ हो सकता है।

अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि सही रूप से शिक्षा का प्रसार तथा संचार साधनों का उचित प्रयोग हमारी कृषि की समस्याओं का एकमात्र समाधान हो सकता है। यदि कुछ कृषक नयी पद्धति अथवा नये तरीके अपनाते हैं तो उसका प्रभाव अन्य कृषकों पर अवश्य पड़ेगा और इसको हम प्रदर्शन-प्रभाव कह सकते हैं। इस प्रभाव से वशीभूत होकर छोटा किसान

भी पूंजी बाजार का लाभ उठा सकता है। तथा नयी-नयी आर्थिक संरचनाओं से लाभ प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार जो कृषक खेत में काम करते हैं वे कृषि शोध में भी महान योगदान दे सकते हैं। वे नयी पद्धतियों के प्रभाव का अध्ययन करके उनसे उत्पन्न परिणामों को अथवा उनसे उत्पन्न कठिनाइयों को शिक्षा-संस्थाओं में ले जाकर कृषि-शोध में योगदान दे सकते हैं। इस प्रकार कृषि में नये-अन्वेषणों को लागू करना एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे न केवल कृषि लाभ उठाती है बल्कि कृषि शोध की दिशा में भी परिवर्तन ला सकती है। शिक्षकों तथा शोधकर्ताओं को यह समझना चाहिये कि हम किसानों से भी बहुत कुछ सीख सकते हैं।

आधुनिक कृषि विनियोग के चयन तथा शिक्षा के संबंध का निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है।

आधुनिक विनियोग = F (शिक्षा)

यह देखा गया है कि अधिक शिक्षित रसायनिक खाद तथा अधिक उर्वरक बीज तथा सिंचाई का अच्छा इस्तेमाल कर सकता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि शिक्षा का महत्व कृषि में अत्यधिक है। यह तथ्य एक गतिशील कृषि में और अधिक लागू होता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा तथा आधुनिकीकरण के द्वारा ही कृषि का सही ढंग से विकास हो सकता है। अधिक शिक्षा का प्रभाव यह होगा कि कृषक अधिक आधुनिक बातों की मांग करेंगे, अधिक ऊर्जा का प्रयोग करेंगे तथा कृषि संचार एवं सूचना का प्रयोग सही ढंग से करके कृषि उत्पादन बढ़ाकर भारतीय अर्थव्यवस्था को सही मायनों में विकास की ओर अग्रसर करेंगे।

5.5 औद्योगिक संरचना एवं शिक्षा

ऊपर के भाग में हम यह देख चुके हैं कि शिक्षा किस प्रकार के कृषि में क्षेत्र में उन्नति का माध्यम बन सकती है तथा संचार व्यवस्था का समुचित उपयोग कर सकती हैं। इसी प्रकार औद्योगिक संरचना के लिये भी शिक्षा का महत्व है। शिक्षा के औद्योगिक श्रमिकों को नई तकनीकी ज्ञान होता है। उसमें सोचने की क्षमता बढ़ती है तथा एक शिक्षित नये अन्वेषणों के प्रति अधिक जागरूक होता है।

हमें विदित है कि शिक्षा के कारण नई-नई औद्योगिक संरचनाओं की मांग बढ़ती है। इस संबंध में हम यह कह सकते हैं कि इस प्रकार की संचरना उन क्षेत्रों में होती है वहां इसकी मांग विदित है अर्थात् जहां पर औद्योगिक विकास की परिस्थितियां उत्पन्न है। यहां पर इन सुविधाओं को प्रदान करने से हमारा औद्योगिक ढांचा अधिक संतुलित हो पाता है। इस प्रकार का औद्योगिक विकास हमारे देश के लिये अधिक उत्तम नहीं माना गया है। हमारे नियोजनकों ने देश में सन्तुलित विकास करने की नीति अपनायी है। जिसके अंतर्गत हम उद्योगों को उन स्थानों पर ले जाना चाहते हैं जहां उनका अभाव है। यह तब ही संभव हो सकता है जब हम इन स्थानों पर औद्योगिक संरचना प्रदान करें तथा अन्य सुविधाओं को कम दरों पर दें।

विकसित राष्ट्रों में प्रथम प्रकार का औद्योगिक विकास मुख्य रूप से देखने में आता है। इन देशों के औद्योगिक संरचना के साथ-साथ शिक्षा के औद्योगीकरण में अधिक योगदान दिया है। सरकार का काम मांग के अनुसार केवल औद्योगिक संरचना को प्रदान करना था। शेष औद्योगिक विकास स्वयं होता रहा।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विकासशील राष्ट्रों में भी इसी प्रकार की पद्धति को अपनाया गया तथा औद्योगीकरण के लिये प्रचलित मांग अनुसार संचरना का विकास किन्तु जैसे ऊर्जा की

पूर्ति, यातायात के साधन आदि। वास्तव में इसके परिणाम स्वरूप शहरी क्षेत्रों में अथवा बड़े-बड़े उद्योगों को आस पास विकास की गति बढ़ी। वहां पर अत्यधिक जनसंख्या का दबाव पड़ा और इन राष्ट्रों में भी असन्तुलित औद्योगिक विकास ने दृढ़ता प्राप्त की। दूसरी ओर जब इन देशों ने अधिक उर्वरक किस्म के बीजों के इस्तेमाल के कारण कृषि क्षेत्र में विद्युत तथा ऊर्जा शक्ति की अधिक मांग बढ़ी तो ऊर्जा के उत्पादन में विकास हुआ। परन्तु विद्युत अथवा ऊर्जा का उत्पादन उस अनुपात में न हो सका जिसमें अनुपात में देश में इसकी मांग बढ़ी। परिणाम स्वरूप ऊर्जा की कमी के कारण पम्प सेट में चलने में बाधा आयी। जल कूप का पूर्णरूप से इस्तेमाल न हो सका जिससे न केवल कृषि उत्पादन वरन् औद्योगिक उत्पादन में भी कमी आयी।

इसके विपरीत पारम्परिक कृषि में जहां पुरानी पद्धति का प्रयोग जारी था तथा कृषकों की शिक्षा का भी अभाव था वहां औद्योगिक संरचना की मांग कमजोर थी और इस क्षेत्रों में इसका कुप्रभाव यह हुआ कि उत्पादन में वृद्धि इतनी नहीं हुयी जितनी कि होनी चाहिये थी। सत्य तो यह है कि जब राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान तथा विश्व बैंक जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थायें ऋण देने की योजनाओं पर विचार करते हैं तो इसमें मुख्य रूप से यह देखा जाता है कि इस योजना में उत्पादन बढ़ाने की भविष्य में संभावनायें कैसी हैं। यदि इनमें शिक्षा तथा आधुनिकीकरण का समावेश है तो योजना के स्वीकार करने की संभावनायें अधिक हो जाती हैं क्यों ऋण देने वाली संस्था तभी समय अपना पैसा जोखिम में डालेगी जब उसे संतुष्टि हो जायेगी कि यह योजना पर्याप्त रूप से उत्पादक है। दूसरे शब्दों में ये संस्थायें इस बात का अध्ययन करती हैं कि योजना में विनियोगों पर वापसी की दर कितनी है। ऐसा इसलिये है कि यह संस्थायें योजना की अवसर लागत पर ध्यान देती हैं और ऋण उसी योजना पर देती हैं जहां वापसी की दर अधिक हो। जिस योजना के विषय में यह देखा जाता है कि वहां संरचना अथवा ऊपर पूंजी की मांग कम होती है। अथवा अर्थ यह निकलता है कि यहं विकास की दर तथा विनियोग पर वापसी दर कम हो और ऐसी योजनाओं की स्वीकृति की संभावनायें कम हो जाती हैं।

परंतु योजना के स्वीकार करने की उपर्युक्त विधि बहुत अधिक उचित नहीं है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिन क्षेत्रों में संरचना की मांग कम है अथवा विनियोग की वापसी दर कम है, वहां पर विकास की आवश्यकता अधिक होती है। यदि इन क्षेत्रों में अथवा इन योजनाओं पर विनियोग न किया गया तो यह सदा के लिये अविकसित तथा पिछड़ा रहेगा जिसका प्रभाव संपूर्ण विकास पर अच्छा नहीं पड़ता। इसीलिये विकासशील देशों में आधुनिक सरकारें ऐसे क्षेत्र में अधिक विकास की संरचना प्रदान कर रही है और यही अर्थ संतुलित विकास नीति का। दूसरे शब्दों में उद्योगों को इन अविकसित क्षेत्रों में लाने का प्रयास किया जाता है। यही बात अंतर्राष्ट्रीय ऋण के विषय में भी कही जा सकती है जहां सरकार को अपने दृष्टिकोण को अधिक प्रभावशाली रूप से बताना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा देखा गया है यदि संरचना के विकास में हस्तक्षेप न किया जाये तो किसी क्षेत्र में असंतुलित विकास हो जाता है। उदाहरण के लिये यातायात में यदि हम किसी प्रकार के एक यातायात का अधिक विकास कर देते हैं तथा दूसरे प्रकार के यातायात के साधनों में ऐसा विकास नहीं होता है तो यातायात के साधनों के समन्वय की समस्या उत्पन्न हो जाती है। जिसमें परिणाम अच्छे नहीं होते। प्रो. आर. नर्कसे ने इसी कारण इस बात पर अधिक जोर दिया है कि देश के संतुलित विकास के लिये औद्योगिक संरचना की मांग का सृजन करना चाहिये। प्रो. नर्कसे संतुलित विकास सिद्धांत के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थशास्त्री है। इस प्रकार की पद्धति में किसी अर्थव्यवस्था का समुचित विकास होता है तथा नयी तकनीकी तथा स्थानीय साधनों का समुचित प्रयोग संभव हो जाता है। केवल संरचना के प्रदान करने से आर्थिक विकास नहीं होता। वास्तव में यह संरचना विभिन्न प्रकार के उत्पादन

में सहयोग करके देश के उत्पादन तथा उत्पत्ति में वृद्धि संभव करती है। जिसका प्रभाव यह होता है कि नई-नई वस्तुओं तथा विधियों की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसी को त्वरक प्रभाव कहा जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्री जैसे हर्षमैन ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है। उनके अनुसार इस प्रकार के दुर्लभ साधनों का उचित प्रयोग नहीं होता है। औद्योगिक संरचना को बनाने में इस प्रकार विकासशील राष्ट्रों में जो साधन लगाये जाते हैं वे मांग की अपेक्षा अधिक होते हैं। इनके प्रभाव से उत्पादन उचित गति से नहीं बढ़ता है। अतः इस प्रकार के अर्थशास्त्री संतुलित विकास नीति में संशोधन के पक्ष में है। दूसरी और प्रो. नर्कसे का कथन है कि यदि हम कम विकसित क्षेत्रों में संरचना नहीं देते हैं तो इससे उत्पादन में कमी आती है। और देश को हानि हो सकती है। यहां पर हमें यह भी समझना चाहिये कि असंतुलित विकास नीति से अमीर और अधिक अमीर तथा गरीब और अधिक गरीब हो जाता हैं। अथवा विकसित क्षेत्र और अधिक विकसित हो जाता है तथा अवकसित क्षेत्र और अधिक पिछड़ जाता है। दूसरी ओर संतुलित विकास नीति से कम विकसित क्षेत्र अधिक विकास करते है और वहां के गरीब निवासी के जीवन स्तर में सुधार आता है। अभाग्यवश हमारे देश में विकास के उद्देश्यों के विपरीत असंतुलन विद्यमान है और यही कारण है कि देश में कम विकसित क्षेत्र है और वहां के निवासी आर्थिक कठिनाई को सहन कर रहे हैं। यदि हमारे नियोजक इस बिंदु पर अधिक ध्यान दे तो अर्थव्यवस्था का विकास अधिक संतुलित रूप से किया जा सकता है और सामाजिक न्याय के उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। इस प्रकार इस नीति के अनुसार देश के विभिन्न क्षेत्र में समन्वित विकास संभव हो सकेगा और देश के दुर्लभ साधनों का अनुकुलतम प्रयोग भी संभव हो जायेगा। उदाहरण के लिये यदि हम ऊर्जा के क्षेत्र को देखे तो इसके अंतर्गत हमें ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों को एक साथ लेकर चलना पडेगा। तभी हम इस गम्भीर समस्या का समाधान कर सकेंगे। ऊर्जा के विभिन्न स्रोत बिजली, कोयला, हवा, आणविक, बायोगैस तथा सौर ऊर्जा आदि का समन्वित विकास करना होगा। यही बात अन्य क्षेत्रों में भी लागू होती है। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जैसे-जैसे संरचना की मांग बढ़े उसकी पूर्ति को अभी अनुपात में बढ़ाया जाये। और इस प्रकार यहां पर शिक्षा का महत्व अत्यधिक हो जाता है अर्थात संरचना के विकास के लिये विभिन्न प्रकार के तकनीकी में निपुण लोगों की आवश्यकता होगी जो न केवल संरचना के उत्पादन में मदद दें अपितु उसे बनाये रखने में भी सहायक हों। इनके अभाव में संरचना का ढ़ांचा तो खड़ा हो ही जायेगा वरन् साधारण कमी के कारण वह ठप्प हो जायेगा तथा उस पर विनियोजित की गयी करोड़ों की पूंजी एक प्रकार से व्यर्थ हो जायेगी।

5.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि कृषि तथा औद्योगिक संरचना के सृजन तथा उसके बनाये रखने में शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। यह बात विकासशील राष्ट्रों के लिये अधिक लागू होती है वहां नवशिक्षित तकनीक हाथ तथा विशेषज्ञ नयी-नयी उत्पादन पद्धतियों को अपनाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि शिक्षित वर्ग इनका समुचित तथा वैज्ञानिक प्रयोग करता है जबकि शिक्षा के अभाव में इसी सम्भावनायें कम हो जाती हैं। यदि हम शिक्षा की लागत तथा लाभ का विशलेषण करें तो यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि जिन अर्थव्यवस्थाओं अथव क्षेत्रों में शिक्षा पर अधिक व्यय हुआ है वहां पर इसका लाभ कई गुना अधिक देखने में आयेंगे। शिक्षा के कारण मांग बढ़ती है और विकास भी बढ़ता है। शिक्षा के लाभ को प्राप्त करने में विकास के स्तर का भी महत्व है।

5.7 शब्दावली

1. **सार्वजनिक वस्तु** :— सार्वजनिक वस्तुये होती हैं जो सरकार द्वारा उत्पन्न की जाती हैं तथा जिसमें व्यक्तिगत उपयोग से दूसरों की उस वस्तु की प्राप्ति में कोई उत्तर नहीं पड़ता।
2. **नव निर्माण** :— नव निर्माण का अर्थ है नये-नये आविष्कारों को प्रयोग में लाकर उत्पादन वृद्धि करना।
3. **संतुलित विकास सिद्धान्त** :— इस सिद्धान्त का अर्थ है कि उत्पादन में वृद्धि समस्त उद्योगों तथा समस्त क्षेत्रों में समान रूप से की जानी चाहिये। किसी क्षेत्र अथवा उद्योग को पीछे नहीं छोड़ना चाहिये।
4. **असंतुलित विकास सिद्धान्त** :— इसका अर्थ यह है कि किसी एक क्षेत्र या उद्योग में प्रारम्भिक अवस्था में अत्यधिक विनियोग किया जाता है और इसके प्रभाव से अन्य क्षेत्रों के विकास की गति तय होती है।

5.8 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

1. फोस्टर शैफील्ड (ऐड़ीड़)
   ऐजुकेशन इन सरल डवलैपमैन्ट : वर्ल्ड इयर बुक आफ एजुकेशन - 1974 टी. डब्ल्यू शुल्जू तथा डी. पी. चौधरी लेख
2. योगसन : आर्थिक विकास तथा संरचना (ग्लसगो प्रेस 1967)
3. ए.एस. भल्ला (ई.डी.) तकनीकी का चयन आई. एल. ओ. 1985
4. आर्थिक सर्वेक्षण — 1989
5. आर. एम. सुन्दरम् : आर्थिक नीति एवं विकास, सागे प्रकाशन - 1989

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 :— संरचना की मुख्य विशेषतायें क्या होती हैं? उनका उल्लेख कीजिए।

2 :— शिक्षा के प्रसार का औद्योगिक तथा कृषि संरचना के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है?

इकाई-5

परिशिष्ट

तालिका 5.1

सामान्य शिक्षा की प्रगति 1985-90

क्रम सं.	वितरण	1984-85		1989-90	
		संस्थाएं (संख्या)	विद्यार्थियों की संख्या (हजारों में)	संस्थाएं (संख्या)	विद्यार्थियों की संख्या (हजारों में
1.	प्राथमिक शिक्षा (कक्षा I-V) (उम्र 6-10)	519701	83933	550700	97318
2.	माध्यमिक शिक्षा (कक्षा V-VIII) (उम्र 11-14)	129789	26153	143747	32188
3.	प्राथमिक शिक्षा (कक्षा I-VIII) (उम्र 6-14)	649580	110086	694447	129506
4.	अनोपचारिक शिक्षा (कक्षा I-VIII) (उम्र 6-14)	Nil	Nil	27087	6400
5.	कुल 1 to 4 मद 3 एवं 4	649580	110086	721534	135906
6.	उच्च/उच्चत्तर माध्यमिक स्कूल कक्षा IX-XII	58834	13828	76119	19970
7.	कालेज शिक्षा (कला विज्ञान वाणिज्य)	4005	2577	4755	3814
8.	विश्वविद्यालय (Deemed University (सहित)	135	347	174	388
9.	अभियान्त्रिक महाविद्यालय	198	145	278	733
10.	पोलीटेक्निक	389	148	840	284

स्रोत:- आठवीं पंचवर्षीय योजना 1992-97 भारत सरकार, योजना आयोग, नई दिल्ली

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास

MAEC-06

खण्ड परिचय

भारतीय अर्थव्यवस्था

भारतीय अर्थव्यवस्था पर इस द्वितीय खण्ड में कुल पांच इकाइयां है। विकास के लिए आवश्यक आधारभूत संरचना के निर्माण में आ रही बाधाओं एवं अन्य समस्याओं जैसे गरीबी, बेरोजगारी, आय की असमानता, पूँजी की कमी व जनसंख्या की वृद्धि जैसी समस्याओं एवं आर्थिक विकास के साथ इन चरों की अन्तर्क्रियाओं पर इस खण्ड में आपका ध्यान आकर्षित किया जाएगा।

इकाई संख्या 6 में जनसांख्यिकीय आयाम एवं आर्थिक विकास के अन्तर्सम्बन्धों की चर्चा की गई है। जनसंख्या एवं आर्थिक विकास में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इस इकाई में जनसंख्या के विभिन्न आयामों जैसे जन्मदर, मृत्युदर, आप्रवास एवं उत्प्रवास एवं आर्थिक विकास के मध्य सम्बन्ध में भारत में दृष्टिगोचर प्रवृतियों की चर्चा की गई है। इकाई 7 में बचत निवेश के सम्बन्ध में भारत में दृष्टिगोचर प्रवृतियों की चर्चा की गई है। बचत आर्थिक विकास का आधार है बचतों के विभिन्न स्रोत होते है, इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत घरेलू बचतें है। हमारा विकास अनुभव इस बात का साक्षी है कि अन्य स्रोत विश्वसनीय नहीं होते। सार्वजनिक क्षेत्र अपनी आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरा है और बचत एवं निवेश में इसकी भूमिका उत्साहवर्द्धक नहीं रही है। बचतों का निवेश आवश्यक है इसके अभाव में विकास की ऊँची दर प्राप्त नहीं की जा सकती।

इकाई संख्या 8 में आपका परिचय पूंजी-उत्पाद अनुपात से कराया जाएगा। इसमें पूंजी-उत्पाद अनुपात का अर्थ एवं प्रकारों का अध्ययन करने के पश्चात भारत में इसकी प्रवृत्ति की चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 9 में भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या निर्धनता एवं असमानता का अध्ययन किया गया है। निर्धनता एक ऐसी समस्या है जिसे सभी अनुभव करते हैं। यह एक सापेक्ष शब्द है। हर व्यक्ति अपने से धनी व्यक्ति को देखकर अपने को गरीब समझता है। परन्तु अर्थशास्त्रियों के लिए इसका विशेष अर्थ है। निर्धनता की परिभाषा निर्धनता-रेखा के सम्बन्ध में की जाती है। निर्धनता रेखा की परिभाषा जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक न्यूनतम कैलोरी भोजन के लिए आवश्यक आय के सन्दर्भ में की गई है। इसे समय-समय पर सूचकांक के साथ बढ़ाया जाता रहा है। निर्धनता एवं असमानता के कारणों का अध्ययन करने के बाद इस इकाई में समस्या के हल के लिए कुछ सुझाव दिए गए है।

इकाई 10 में आज के युवा वर्ग के लिए सर्वाधिक ज्वलंत समस्या बेरोजगारी की चर्चा की गई है। निर्धनता की तरह बेरोजगारी की परिभाषा करना भी कठिन कार्य है। इस इकाई में आपको बेरोजगारी के स्वरूप एवं इसके लिए उत्तरदायी कारणों की जानकारी दी गई है। इकाई के अन्त में औद्योगीकरण तथा रोजगार एवं भारत सरकार की रोजगार नीति की चर्चा की गई है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. एस. सी. श्रीवास्तव (6)
बिलासपुर

डॉ. लक्ष्मी नारायण नाथूरामका (9)
जयपुर

डॉ. के. के. सक्सेना (7, 8)
आई. आई. टी. कानपुर

डॉ. जी. डी. माथुर (10)
अलवर

खण्ड-2

भारतीय अर्थव्यवस्था

इकाई 6
जनसांख्यिकीय आयाम एवं आर्थिक विकास 7-28

इकाई 7
बचत एवं निवेश के प्रतिमान 29-40

इकाई 8
पूँजी उत्पाद अनुपात एवं इसका प्रभाव 41-52

इकाई 9
भारत में निर्धनता एवं असमानता, आकार, प्रकृति, कारण तथा इसको कम करने के उपाय 53-75

इकाई 10
बेरोजगारी स्वरूप तथा आकार- उद्योगीकीकरण तथा रोजगार एवं रोजगारनीति 76-96

इकाई 6

जनसांख्यिकीय आयाम एवं आर्थिक विकास

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर प्रभाव

6.3 जनसंख्या एवं पूँजी निर्माण

6.3.1 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या आकार का प्रभाव

6.3.2 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या वृद्धि दर का प्रभाव

6.3.3 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या की आयु संरचना का प्रभाव

6.4 जनसंख्या वृद्धि का अन्य आर्थिक चरों पर प्रभाव

6.4.1 जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्य पूर्ति

6.5 जनसंख्या वृद्धि एवं उत्पादन

6.6 जनसंख्या वृद्धि एवं बेरोजगारी

6.7 मानवीय साधन तथा आर्थिक विकास

6.8 प्रवासन का आर्थिक विकास पर प्रभाव

6.8.1 आन्तरिक प्रवासन का प्रभाव

6.8.2 आप्रवासन (Immigration)

6.8.3 उत्प्रवासन (Emigration)

6.9 सारांश

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

6.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

मानव की जिज्ञासा अपने तथा अपने परिवेश के बारे में जानने की उसके उत्पत्तिकाल से रही है। वह इसके संबंध में विभिन्न उद्देश्यों को ध्यानगत रखकर किसी न किसी रूप में जानकारी एकत्रित करता रहा है। ये उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते हैं जो समय, स्थान, उद्देश्य के अनुसार बदलते रहे हैं। मानवीय इतिहास में ऐसे अनेक साक्ष्य आज भी उपस्थित हैं जो इस बात को स्पष्ट करते है कि राज्य की रुचि जनसंख्या के विभिन्न आयामों-जन्म, मृत्यु आप्रवास तथा उत्प्रवास आदि में सर्वप्रथम राज्य की सुरक्षा तथा करों के माध्यम के राजस्व एकत्रित करने में रही है। जिसके कारण जनसंख्या का लेखा रखना आवश्यक हो गया होगा। इन दोनों ही उद्देश्यों ने जनसंख्या के गुणात्मक (Qualitative) तथा परिमाणात्मक (Quantitative) पहलुओं का अध्ययन करने को बाध्य किया होगा। और इस प्रकार अध्ययन के लिए पंजीकृत जीवन समंको (Vital statistics) की आवश्यकता पड़ी होगी, जिसका

सर्वप्रथम उल्लेख[1] ईसा से 1250 वर्ष ई.पू. मिश्र के नरेश रोमेश द्वितीय के काल में मिलता है। इसके अलावा बेवालोनिया, चीन तथा हिन्द सभ्यताओं में भी इसका भरपूर उल्लेख मिलता है।[2] और आज विश्व के लगभग सभी देशों में जनगणना का कार्य किया जा रहा है, जो इसकी उपादेयता को स्वतः सिद्ध करता है।

जनसंख्या तथा आर्थिक विकास में अन्योन्याश्रित संबंध है। दोनों ही एक दूसरे के लिए कारण-प्रभाव संबंध स्थापित करते हैं। इस इकाई में हमारा जनसंख्यां के अनेक आयाम — जन्म, मृत्यु, आप्रवास तथा उत्प्रवास (Birth, Death, immigration & Emigration) किस प्रकार किसी देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करते हैं — का अध्ययन करने का प्रमुख उद्देश्य है।

6.1 प्रस्तावना

किसी राष्ट्र में राष्ट्रीय आय, मजदूरी, लगान, रोजगार आदि आर्थिक विकास सूचकांकों तथा जनसंख्या की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक संरचना, मृत्यु-दर, जन्म-दर, घनत्व आदि जनांकिकीय विकास सूचकांकों में बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। यह कहना कठिन ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है कि कब कौन साध्य है और कब साधन? दोनों ही एक दूसरे को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इस संबंध को प्रो० रिचार्ड गिल ने इन शब्दों में बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—आर्थिक विकास एक यंत्रीकृत प्रक्रिया (Mechanical Process) के साथ-साथ मानवीय उपक्रम (Human Enterprises) भी है। इसका प्रतिफल अन्ततः इसे क्रियान्वित करने वाले मनुष्यों की कुशलता, गुण एवं प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव में मनुष्य उत्पादन का साधन है जो अपनी शारीरिक, मानसिक आदि प्रकार की योग्यताओं एवं क्षमताओं को नित्य प्रति प्रयोग में लाकर संसार के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। मार्क्स तो इस संबंध में यहां तक कहता है कि मनुष्य ही समस्त उत्पादन का कारण है। वह ही केवल उत्पादक साधन है। किन्तु दूसरे ही क्षण यह भी बात उतनी ही महत्वपूर्ण है कि मानव-साधन में क्या गुण है तथा उनका प्रयोग किस प्रकार से किया जा रहा है, अर्थात श्रमिक कुशल हैं या अकुशल। प्रो० कार्बर के विचार से यह और भी स्पष्ट हो जाता है "धनी वातावरण के बीच भी समुदाय एवं राष्ट्र-निर्धन रहे हैं अथवा मिट्टी की उर्वरता तथा प्रचुर प्राकृतिक साधनों के होते हुए भी पतन की ओर अथवा गरीबी की ओर चले गये हैं केवल इसलिये की यहां मानवीय तत्व निम्न कोटि का रहा है, अथवा उसको बिगड़ जाने के लिए छोड़ दिया गया है।" इसी प्रकार का मत प्रो० ए. मुखर्जी का भी है—"किसी भी राष्ट्र की उन्नति मानवीय संसाधन संगठित करने की क्षमता पर निर्भर करती है। निःसंदेह कसी भी देश में जन-शक्ति साधन राष्ट्र की भारी पूंजी मानी जाती है। लेकिन इन साधनों का यदि समुचित उपयोग न हो और नये रोजगार के अवसर न उपलब्ध किये जायें तो साधन राष्ट्र के लिए भारस्वरूप बन जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के विकास के लिए अपनाई गई नीति में जन-शक्ति मनुष्य स्वयं साधन तथा साध्य दोनों ही है। जो कि आर्थिक विकास के चरों के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है।

पेपलिसिस, पियर्स तथा एडलेयन के शब्दों में, "साधन के रूप में मनुष्य उत्पादन क्रियाओं में अन्य साधनों के साथ संयुक्त होने के लिए उत्पादन के रूप में उपलब्ध होता है। उपभोक्ताओं के रूप में आर्थिक विकास का उद्देश्य उनकी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं की

1 Census of India, 1961, Vol. XV(UP), Part i-B, P.P. Bhatnagar
2 (i) कौटिल्य का अर्थशास्त्र, (ii) आइने अकबरी

अधिकतम प्राप्ति है। अतः किसी भी विश्लेषण में मानवीय तत्व पर इसके उत्पादन और उपभोक्ता दोनों रूपों में विचार किया जाना चाहिए।" अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम आर्थिक विकास तथा जनसंख्या विकास के आपसी संबंधों एवं प्रभावों का विस्तार से अध्ययन करें।

6.2 जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर प्रभाव

किसी भी अर्थव्यवस्था में विकास की गति प्रायः जनांकिकीय चरों (1) जनसंख्या का आकार, (2) जनसंख्या वृद्धि दर तथा (3) आयु संरचना—से बहुत हद तक प्रभावित होता है। ये घटक उत्पादन उपभोग, शुद्ध विनियोग आदि को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रभावित करते रहते हैं, जिससे कि विकास की गति पर नियन्त्रण-सा लगता रहता है। वास्तविक विनियोग की मात्रा किसी अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण प्रक्रिया को तीव्रतर गति उसी अवस्था में प्रदान कर सकते है जबकि जनसंख्या की विकास-दर तथा उसके गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों ही पहलू इसके अनुरूप हों। दूसरे शब्दों में, प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, जिले कि आर्थिक विकास का सूचकांक माना जाता है, में वृद्धि एक तो वास्तव में राष्ट्रीय आय की वृद्धि हो सकती है। दूसरे, यदि विकास यथावत् रहे और जनसंख्या प्रवास विदेशों को अधिक हो जायें, या फिर अधिक मृत्यु हो जाये, तो भी यह (प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय) अधिक होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये जनांकिकीय चर भी अर्थवयवस्था के विकास को विभिन्न दिशाओं से प्रभावित करते रहते है। इसलिये इनका विश्लेषण करना आवश्यक सा प्रतीत होता है। अतः जनसंख्या के प्रति व्यक्ति व्यक्ति आय पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन के द्वारा हम यह जान सकते है कि जनगणना आर्थिक विकास को किस प्रकार प्रभावित करती है।

इसे हम अग्रांकित तीन शीर्षकों में अलग-अलग अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए विश्लेषित कर सकते हैं।

6.3 जनसंख्या एवं पूजी निर्माण (Population & Capital Formation)

किसी भी अर्थव्यवस्था में हुई पूंजी-निर्माण को राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। अविकसित देशों में (विकासशील देशों में) पूंजीगत साधनों के अभाव के साथ-साथ कुशल एवं तकनीकी विशषज्ञों का भी अभाव देखा जाता है। प्राकृतिक साधनों को भी शोषित नहीं किया गया होता है। अतः इन अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी-निर्माण पर जनसंख्या वृद्धि का प्रतिकूल नहीं, तो अच्छा प्रभाव भी नहीं पड़ता है। इन अर्थव्यवस्थाओं में उच्च प्रजनन-दर, उच्च मृत्यु-दर, अधिक जनसंख्या स्वतः ही समस्या होती है जो कि पूंजी-निर्माण में बाधक होती हैं।

6.3.1 प्रतिव्यक्ति आय पर जनसंख्या आकार का प्रभाव (Effect of Population Size on Per capita Income)

जनसंख्या आकार तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में प्रत्यक्ष संबंध है। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में कमी, स्थिरता तथा वृद्धि देखी जा सकती है। यदि जनसंख्या स्थिर है और कुल राष्ट्रीय आय बढ़ रही है तो प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। इसके विपरीत, राष्ट्रीय आय की वृद्धि से जनसंख्या आकार वृद्धि की गति अधिक होने पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होगी। इस प्रकार, यदि दोनों ही समान गति से बढ़े तो प्रति व्यक्ति आय भी यथावत् रहेगी। इस तथ्य को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं।

तालिका 6.1

देश	सन् 1971			सन् 1991		
	जनसंख्या (करोड़ में)	कुल वास्तविक आय (करोड़ रु. में)	प्रति व्यक्ति आय (रु. में)	जनसंख्या (करोड़ में)	कुल वास्तविक आय (करोड़ रु. में)	प्रति व्यक्ति आय (रु. में)
क	10	50	5	15	90	6
ख	12	84	7	18	126	7
ग	20	180	9	30	240	8

उपर्युक्त तीनों ही अर्थव्यवस्थाओं में सन् 1991 की कुल राष्ट्रीय आय 1971 की अपेक्षा अधिक है, किन्तु जनसंख्या में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप "क", "ख" और "ग" अर्थव्यवस्थाओं की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ी है, स्थिर रही है ओर कम हुई है। इससे स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि अर्थव्यवस्था "ग" में अवनति हो रही है। अतः अर्थव्यवस्थाओं में जनसंख्या के आधार का प्रति व्यक्ति आय पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। किन्तु विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में यह प्रभाव अधिक गहन रूप से परिलक्षित होता है।

इस सन्दर्भ में कारसैंडर्स के द्वारा प्रतिपादित सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त की चर्चा अत्यन्त उपयुक्त होती है। यह सिद्धान्त उस धारणा को स्पष्ट करता है जिस पर किसी अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक साधनों, तकनीकी आदि के प्रयोग का पूर्ण शोषण हो सके जिस पर कि प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है।

अतः सर्वोत्तम जनसंख्या वह जनसंख्या है जिस पर कि किसी भी देश की प्रति व्यक्ति आय सर्वाधिक हो।

किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, यह धारणा तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Static) दशा की द्योतक है, जो कि व्यावहारिक नहीं है। व्यवहारिक जगत तो परिवर्तनीय है। दूसरे, इस सिद्धान्त की मान्यता ही है कि प्रति व्यक्ति आय का उत्पादन जनसंख्या के आकार पर निर्भर रहती है, जनसंख्या के प्रकार (Quality) पर नहीं, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि किसी भी देश का कुल उत्पादन (राष्ट्रीय आय) वहां की कार्यकारी-जनसंख्या की प्रकृति, कार्यक्षमता, आयु-संरचना, तकनीकी कुशलता आदि पर निर्भर करता है।

6.3.2 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या वृद्धि-दर का प्रभाव (Effect of Population Growth rate on Per Capita Income)

जनसंख्या वृद्धि किसी भी अर्थव्यवस्था के रहने वालों के जीवन स्तर को कई दिशाओं से प्रभावित करती है। यदि यह दर अधिक है और विनियोग की मात्रा (दर) इससे कम है तो वहां के लोगों का जीवन स्तर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के कम होने के कारण गिरेगा।

अतः हमें जनसंख्या विनियोग की आवश्यकता पड़ेगी। जनसंख्या विनियोग (Human Investment) से तात्पर्य उस विनियोग से है जिसकी आवश्यकता जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ एक स्थायी जीवन स्तर बनाये रखने के लिए पड़ती है। जबकि आर्थिक विनियोग (Economic Investment) वह विनियोग है जो जनसंख्या वृद्धि दर से अधिक राष्ट्रीय आय वृद्धि दर बनाये रखने के लिए आवश्यक है, ताकि प्रति व्यक्ति आय बढ़े और उच्चतर जीवन को प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि जनसंख्या विनियोग का संबंध जनसंख्या वृद्धि के अलावा प्रति व्यक्ति वांछित दर से होता है।

जनसंख्या में वृद्धि का प्रति व्यक्ति आय पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रो० नर्क्स ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"यदि किसी अर्थव्यवस्था में जनसंख्या में वृद्धि नहीं होती तो वह अपनी अतिरिक्त पूंजी (पूंजी निर्माण) को विद्यमान श्रमिकों को अच्छे उपकरण, मशीनें, शिक्षा तथा प्रशिक्षण देने में प्रयुक्त करेंगे। इसे गहन-विनियोग कहते हैं। इससे कुल राष्ट्रीय आय के अलावा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है। परन्तु यदि जनसंख्या बढ़ती जाती है तो सम्पूर्ण अतिरिक्त पूंजी अथवा इसका कुछ अंश अतिरिक्त श्रमिकों (जो जनसंख्या में वृद्धि के कारण फलित होंगे) को वर्तमान उपकरणों को उपलब्ध कराने में लगाना पड़ेगा। अधिक श्रमिकों को चालू प्रकार के उपकरण उपलब्ध कराना विस्तीर्ण विनियोग कहलाता है। अतः यदि जनसंख्या में वृद्धि इतनी तेज है कि समस्त अतिरिक्त पूंजी अतिरिक्त श्रमिकों को वर्तमान उपकरणों को उपलब्ध कराने में ही लग जाती है तो राष्ट्रीय आय बढ़ेगी, परन्तु प्रति व्यक्ति आय नहीं बढ़ेगी।"

अतः जनसंख्या वृद्धि का प्रति व्यक्ति आय पर दो प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा—एक तो यह अतिरिक्त पूंजी का वह भाग समाप्त कर देती है जिसे विद्यमान जनसंख्या की सज्जा सुधारने (अर्थात उन्हें अच्छे उपकरण, मशीनें, शिक्षा आदि उपलब्ध कराना) में प्रयोग में लाया जाता है, और दूसरी ओर शेष पूंजी को अधिक श्रमिकों को उपकरण उपलब्ध कराने में लगाना पड़ता है। इस प्रकार जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर को कम करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का अनुमान है कि किसी देश में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर 9% होने पर वहां वर्तमान प्रति व्यक्ति आय बनाये रखने के लिए उस देश की 2% से 5% बचतें आवश्यक है। विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि दर 25% वार्षिक है, इसलिए वर्तमान आर्थिक स्तर को बनाये रखने के लिए उस देश की जनसंख्या विनियोग के लिए 5% से 12.5% बचतों की आवश्यकता होती है। सेनगालर का मत है कि किसी भी अल्प विकसित देश को 25 वर्षों में विकसित बनाने के लिए प्रति व्यक्ति आय में 3.2% वार्षिक वृद्धि या 100 डालर से 220 डालर तक की वृद्धि के लिए राष्ट्रीय आय की 13.8% पूंजी की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार का एक अनुमान नीचे दिया जा रहा है जिसमें विभिन्न देशों को अपने राष्ट्रीय उत्पाद का निम्न प्रतिशत अपनी वर्तमान आय बनाये रखने के लिए विनियोजित करना पड़ता है।

तालिका 6.2

राष्ट्रीय आय का स्तर बनाए रखने के लिए आवश्यक निवेश

कुल राष्ट्रीय उत्पादन का भाग	देश
5% से कम	अमेरिका, नार्वे, फ्रांस, स्वीडन, डेनमार्क, प० जर्मनी, ब्रिटेन, बेल्जियम, ग्रीस, पूर्तगाल।
5-7.5%	इथोपिया, सूडान, पाकिस्तान, नाइजीरिया, इंडोनेशिया चिली।
7.5-10%	पेरू, मलेशिया, यू०ए०आर०, थाईलैंड, मैक्सिको, टर्की।
10% से अधिक	कोलम्बिया, भारत, ब्राजील, थाना, ट्यूनीशिया

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विकासशील देशों में जो कि प्रायः कृषि प्रधान है (या रहते हैं), में विनियोग के अधिक होने के बावजूद भी उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है जिसके कारण जनसंख्या वृद्धि के साथ व्यक्ति आय गिरती ही जायेगी।

इस संदर्भ में हार्वे लिबिन्स्टीन[1] (Harvey Leibenstein) का विचार है कि आर्थिक विकास के लिए किसी भी जनसंख्या वृद्धि दर के संदर्भ में, प्रत्येक देश को (विकासशील, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्र) कुछ न्यूनतम प्रयास (Minimum Effert) करना पड़ता है। "न्यूनतम प्रयास" से अभिप्राय उस विनियोग से है जो कम से कम जनसंख्या वृद्धि की दर के संदर्भ में इतना अवश्य होना चाहिए ताकि आर्थिक विकास के रास्ते में जनसंख्या संबंधी बाधाओं को हटाया जा सके। किन्तु लिबिन्स्टीन के विचारों को विकाशील देशों में व्यवहार में लाना कठिन सा प्रतीत होता है। इसका कारण है कि इन देशों में न्यूनतम स्तर के प्रयत्नों के लिए विदेशी सहायता, कुशल श्रम एवं प्रावैधिकी का अभाव होता है। इन देशों में पूंजी उपयोग में कमी लाकर एकत्रित की जा सकती है।

रिचार्ड नेल्सन (Richard Nelson) ने भी लिबिन्स्टीन से ही मिलता-जुलता विचार व्यक्त किया है। "न्यूनतम प्रयास" की ही भांति इन्होंने अपना "निम्न स्तरीय सन्तुलन-अवरोध[2] (Low Level Equilibrium Trap) सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जो कि मुख्यतः तीन समीकरणों पर आधारित है। इसके अनुसार, (1) उत्पादन फलन (Production Function) की भांति आय निर्धारण समीकरण (Income Determination Equation) में आय, पूंजी की मात्रा, जनसंख्या के आकार तथा प्रावेधिक स्तर पर निर्भर करता है। (2) शुद्ध विनियोग, बचत से निर्मित पूंजी तथा कृषि के साथ नई जमीन कृषि योग्य बनाई जाती रही है। फिर भी अच्छी भूमि की कमी पाई जाती है। अतः प्रत्येक अर्थव्यवस्था में एक ऐसी अवस्था आती है जबकि विनियोग बन्द हो जाता है। उन्हीं के शब्दों में, विनियोग न करने की एक निम्नतम सीमा होती है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना भी भूखा क्यों न हो रेल की टूटी पटरियां नहीं खा सकता है। (3) इसी प्रकार इन्होंने एक जनसंख्या वृद्धि समीकरण[3] (Population Growth Equation) प्रतिपादित किया है। जिसमें निम्न स्तरीय प्रति व्यक्ति आय वाले क्षेत्रों में अल्पकालीन परिवर्तन या वृद्धि, मृत्यु-दरों के कारण उत्पन्न होते है, जो कि प्रति व्यक्ति आय पर निर्भर करता है। उच्च स्तरीय जीवन में मृत्यु दर प्रभावहीन सा रहता है।

नेल्सन का मत है कि यह अवरोध की व्यवस्था निम्न स्थिति में सम्भव हो पाती है—(1) प्रति व्यक्ति आय के स्तर तथा जनसंख्या वृद्धि दर में गहरा सह-संबंध है। (2) प्रति व्यक्ति आय की क्षमता प्रति व्यक्ति विनियोग में वृद्धि लाने के लिए कम होती है, (3) बिना जुती हुई भूमि की दुर्लभता है, तथा (4) उत्पादन विधियां की अकुशलता। किसी भी अविकसित देश में इनको पाया जा सकता है।

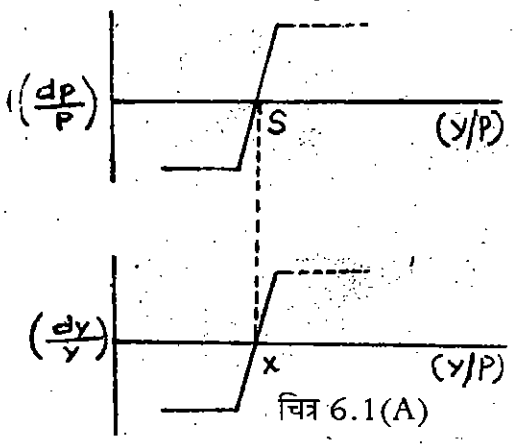

चित्र 6.1(A)

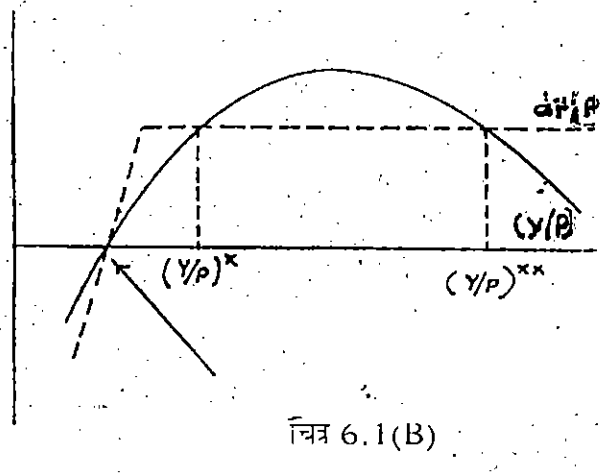

चित्र 6.1(B)

1. Leibenstein, Economic Backward and Economic Growth, New York, 1979.
2. R.R. Nelsion, A theory of Low-Equilibrium Trap, A.E.R, Dec. 1956, 894-908.
3. "In areas.... The Y/P axis" - B. Higgins-Eco. Dev, pp. 395-397.

उपर्युक्त चित्र में (dp/p), (dy/y) तथा (y/p) क्रमशः जनसंख्या वृद्धि दर आय वृद्धि दर तथा प्रात व्यक्ति आय को दर्शाते हैं। किसी भी जीवन निर्वाह स्तर पर वहां कि (dp/p) तथा (dy/y) वक्र एक दूसरे को काटते है, स्थिर संतुलन प्राप्त होगा, इस समय प्रति व्यक्तिआय (y/p) होगा। आय में वृद्धि के किसी भी प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप जनसंख्या में तेज वृद्धि होगी जिससे कि अर्थव्यवस्था पुनः निचले बिन्दु s पर संतुलन में आ जाएगा। इस प्रकार इस अवरोध (trap) से राहत पाने के लिए लिबिन्स्टीन की ही भांति जनसंख्या वृद्धि दर से आय वृद्धि दर तीव्र होनी चाहिए। यदि इस प्रकार की वृद्धि से $(y/p)^x$ प्रति व्यक्ति आय की व्यवस्था तक आसानी से पहुंचा जा सके तो बिना किसी सरकारी प्रयत्न के स्थिर साम्य बिन्दु $(y/p)^{xx}$ तक आसानी से पहुंचा जा सकता है।

अतः बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण अर्थव्यवस्था में उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है और प्रति व्यक्ति आय घटने लगती है, जो कि आगे के चित्र 6.1.c. से स्पष्ट है।

(1) जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ यदि प्राविधिक उन्नति (Technological Advancement) होती रहे, जो जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होगी और प्रति व्यक्ति आय ML वक्र के पथ पर चलेगा तथा अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार की विशिष्ट स्थिति उत्पन्न न होगी।

(2) किन्तु किसी भी प्रकार की प्राविधिक उन्नति की अनुपस्थिति में यह पथ MR होगा, जो कि क्रमशः समान प्रवृत्ति का द्योतक है।

(3) इसी प्रकार PP_1 जनसंख्या वृद्धि की अवस्था में प्राविधिक उन्नति के साथ प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि K_2K_2 के बराबर होगी अर्थात PM से बढ़कर P_1K_2 के बराबर होगी अर्थात PM से बढ़कर P_1K_2 हो जाएगी। किन्तु यदि किसी भी प्रकार की प्राविधिक उन्नति नहीं हो रही है तो प्रति व्यक्ति आय PM से घटकर P_1K_1 रह जायेगी अर्थात इसमें कमी K_1K_3 के बराबर होगी।

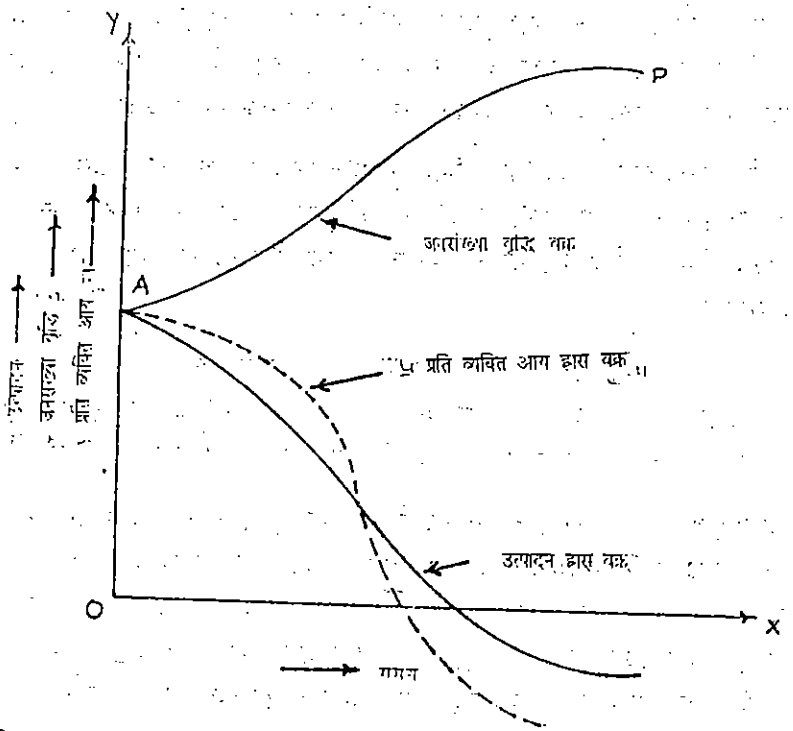

चित्र 6.1 C

प्रो० बी दत्त ने अपनी पुस्तक (The Economics of Industrialization के पृष्ठ 56) में लिखा है कि — "पूंजी संचय तथा प्राविधि के एक ऊँचे और बढ़ते हुए स्तर पर, बढ़ती हुई जनसंख्या वास्तविक उत्पादन का इसके सम्भावित स्तर पर

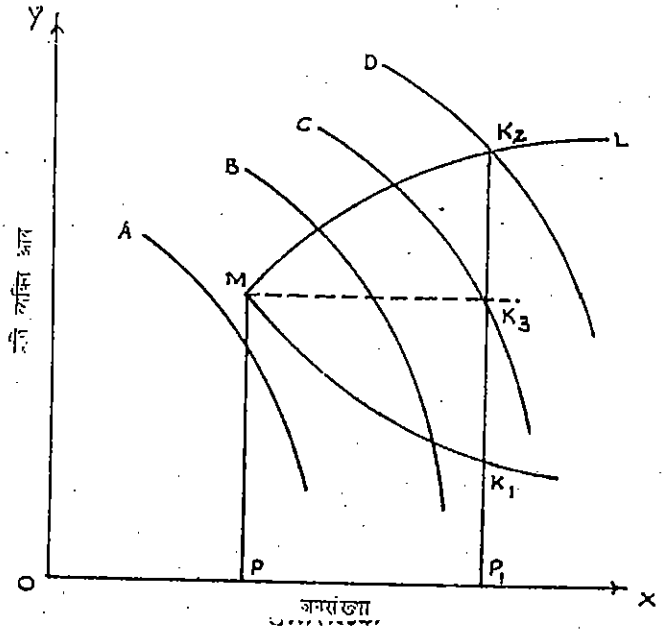

चित्र 6.2

अथवा उसके आसपास बनाये रखने में सहायता कर सकती है, और घटती हुई उन दोनों के मध्य अन्तर को बढ़ा सकती है। किन्तु दूसरी ओर बढ़ती हुई जनसंख्या की दशा में प्राविधिक उपलब्धियों का बढ़ता हुआ स्तर और पूंजी संचय में तीव्र होना आवश्यक है। यदि इन दोनों में वृद्धि नहीं हुई तो तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या एक खतरा है और तब किसी भी आर्थिक नीति को जनसंख्या नियन्त्रण नीति से संयुक्त करना आवश्यक हो जायेगा।"

प्रो० कोल एवं हूवर ने भी किसी निश्चित प्रति व्यक्ति आय को बनाये रखने के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या वृद्धि की दशा में अधिक विनियोग दर की आवश्यकता को अनुमोदित किया है। अविकसित अर्थव्यवस्थाओं की स्थिति में विनियोग के स्तर को प्रचुर मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सकता है।

क्योंकि इन देशों में कोई भी तरीका विनियोग का स्पष्ट नहीं होता है। तीव्र जनसंख्या वृद्धि-दर के फलस्वरूप, जबकि पूंजी की पूर्ति बेलोचदार है, अधिक विनियोग आवश्यक हो जाता है, जो कि श्रमिको को प्राप्त सुविधाओं को दुगुना करके किया जा सकता है।

इनका मत है कि 1930 में व्याप्त आर्थिक स्थिरता (Economic Stagnation) का भी कारण प्रचुर मात्रा में विनियोग की कमी है, जो कि कभी-कभी जनसंख्या में वृद्धि-दर की कमी का परिमाण है। किन्तु यह तर्क केवल विनियोग प्रवृत्ति की कमी की दशा में ही लागू होता है। अर्थात कीन्स की शब्दावली में जब पूंजी की सीमान्त क्षमता (Marginal Efficiency of Capital) नीचा हो। पूर्णरूपेण औद्योगीकृत राष्ट्रों में मंदी की दशा में भी जनसंख्या वृद्धि उच्च विनियोग के लिए उत्प्रेरक का कार्य करती है। जनसंख्या वृद्धि-दर के प्रति व्यक्ति उत्पादन के प्रभाव को दो प्रमुख दशाओं में विश्लेषित किया जा सकता है। प्रथम कीन्स का मत था कि उस

अर्थव्यवस्था में जहां अपेक्षाकृत आय अधिक है तथा जिसमें पूंजीगत वस्तुओं तथा श्रमिकों की पूर्ण रोजगार की समस्या सतत् बनी रहती है, पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए (पूंजीगत वस्तुओं की मांग में वृद्धि के माध्यम से) उत्प्रेरक का कार्य करेगी, जिसका परिणाम देश में आय में वृद्धि होगी। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में पूंजीगत वस्तुओं की मांग में वृद्धि जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के द्वारा की जा सकती है। दूसरी प्रकार की अर्थव्यवस्था जिसमें पूंजी की पूर्ति की कमी है तो भी प्रभावपूर्ण मांग की कमी नहीं हैं। उपभोग की अपेक्षा बचत विनियोग के माध्यम से आय वृद्धि में अधिक सहायक होगा।

दूसरे अर्थव्यवस्था में, जहां प्रभावपूर्ण मांग की समस्या नहीं है। (अर्थात या तो है ही नहीं या सरकारी प्रयत्नों के द्वारा सुलझाया जा चुका है) जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ाने के लिए पूंजी की मात्रा में कमी आ जायेगी तथा प्रति व्यक्ति आय गिरेगी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कीन्स का मत था कि दीर्घकालीन स्थैर्य (Secular Stagnation) से बचने के लिए जनसंख्या की तीव्र विकास दर लाभकारी है जो कि नीचे दिए चक्र से स्पष्ट होती है:-

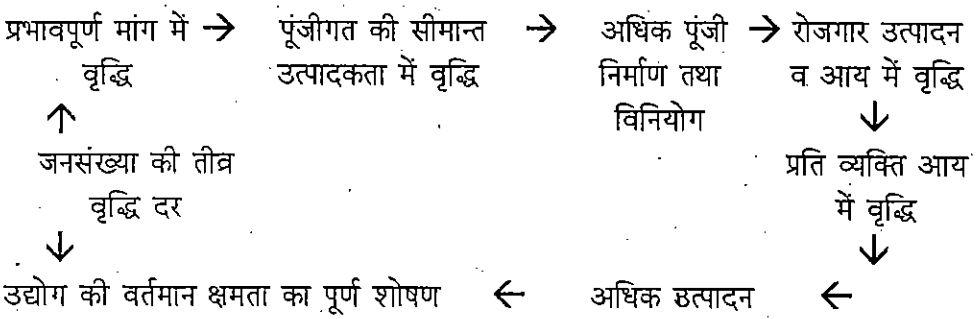

प्रो० हैन्डरसन के अनुसार "घटती हुई जनसंख्या विकसित देशों के विकास को रोक सकी है।" इसी प्रकार के विचार प्रो० मिर्डल, ए० के भी हैं– "विकासोन्मुख पूंजीवादी प्रणाली में बढ़ती जनसंख्या विकास की प्रथम अनिवार्यता है, घटती हुई जनसंख्या से विनियोजन का जोखिम बढ़ जाता है।" किन्तु ये सभी तर्क विकसित अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। अविकसित देशों के सन्दर्भ में वह तर्कसंगत नहीं है।

6.3.3 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या की आयु संरचना का प्रभाव (Effect of Age Structure of Population on Per Capita Income)

प्रत्येक देश की कार्यशील जनसंख्या (Working Population) की मात्रा, जो कि प्रायः 15 से 64 वर्ष तक के आयु वाले लोगों के द्वारा निर्मित होती है, वहां की राष्ट्रीय आय का निर्धारक तत्व माना जाता है। देश की आर्थिक प्रगति कार्यशील जनसंख्या के ऊपर निर्भर कहती है। किसी भी देश की कार्यशील जनसंख्या उस देश की मृत्यु-दर, जन्म दर आदि पर निर्भर करती है। मृत्यु-दर से प्रभाव को केवल उसी समय (कार्यशील जनसंख्या पर) देखा जा सकता है जबकि जनसंख्या में देश से बाहर साम्य है। जन्म-दर के प्रभाव को प्रो० एन्सले जे० कोल[2] के मतानुसार तीन शीर्षकों – (1) आश्रितों का भार (Burden of Dependency) (2) श्रमशक्ति में वृद्धि-दर (Growth Rate of Labour Force) (3) जनसंख्या का घनत्व (Dénsity of Population) में अध्ययन किया जा सकता है। इन तीनों ही तथ्यों के द्वारा प्रति व्यक्ति आय पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन हम अगले खण्डों में करेंगे। इन तीनों ही शीर्षकों के प्रभाव को जनसंख्या के वितरण-खंड के अन्तर्गत किया जा रहा है।

(अ) मृत्यु-दर का प्रभाव—मृत्यु-दर किसी भी देश की कार्यशील जनसंख्या हो सामाजिक

एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टिकोणों से प्रभावित करती है।

सामाजिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो भी कम मृत्यु दर के फलस्वरूप मृत्यु से उत्पन्न दु:खों, यातनाओं आदि में कमी आती है, लोगों के कार्यकाल में वृद्धि होती हैं। ज्यादा मृत्युओं के कारण ज्यादा लोग संस्कारों में करीब-करीब तेरह दिनों का कार्यकाल अनुत्पादक कार्यों में करने में व्यतीत करते हैं, जिससे भी राष्ट्रीय उत्पादन में कमी होती है चाहे यह कमी कितनी ही कम क्यों न हो पर इस प्रकार से भी श्रम कुछ दिनों तक बेकार रहता है। दूसरे, इन संस्कारों में यदि देखा जाए तो बेकार में शोकग्रस्त परिवार को कुछ धन व्यय करना पड़ता है, जो पुनः उत्पादक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार से नीची मृत्युदरों से समय, धन, श्रम आदि सभी चीजों की बचत होती है।

मृत्यु-दर के आर्थिक प्रभावों के स्पष्टीकरण के लिए हमें उस देश की विशिष्ट मृत्युदर के बारे में ज्ञान होना आवश्यक है। यदि देश में शिशु-मृत्यु दर कम है, तो आने वाले 20 वर्षों में कार्यशील जनसंख्या में वृद्धि एक निश्चित अनुपात में होगी। यद्यपि इससे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में पहले तो कमी होगी, फिर वृद्धि होगी। इसी प्रकार जन-स्वास्थ्य, आश्रितों के बढ़ते भार से गिरेगा। दूसरी तरफ यदि वृद्धि तथा अवकाश प्राप्त लोगों की मृत्यु अधिक हो रही है तो देश में आर्थिक समृद्धि बढ़ेगी। इसके कारण आश्रितों का भार प्रति परिवार घटेगा। जबकि आय स्थिर रहेगी, तेा प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। इसी प्रकार यदि देश में मृतकों की संख्या, जिनकी आयु (15-64) वर्ष के बीच है, अधिक है, अर्थात कार्यशील जनसंख्या मृत्युदर अधिक है तो राष्ट्रीय उत्पादन के गिरने से प्रति व्यक्ति आय घटेगी, पर इसमें घटी तीव्र न होगी, क्योंकि आय के साथ-साथ जनसंख्या भी घटती है। प्रजननता (Child Bearing Age 15-49 वर्ष की आयु की स्त्रियों की मृत्यु अधिक होने से जनसंख्या वृद्धि दर में कमी आयेगी तथा यह कमी करीब-करीब 15 से 25 वर्षों में प्रभावित करेगी। स्त्री मृत्यु-दर का प्रभाव किसी देश में देर से पाया जाता है। अतः आर्थिक दृष्टि से सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार के उपाय जो कि मृत्यु-दर में कमी लाने के लिए किये जाते है, वे कार्यशील जनसंख्या के स्वास्थ्य में भी सुधार करते हैं, जिससे उनकी अनुपस्थिति, कमजोरी, थकावट आदि में कमी आती है। तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन व आय में वृद्धि होती है।

इतना ही नहीं मृत्यु-दर में कमी से कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि होती है। तथा बच्चों की संख्या (या आश्रितों की संख्या में) कमी आती है। इसी प्रकार विवाहित पुरुषों की मृत्यु-दर अधिक होने से विधवाओं की संख्या में वृद्धि होती है। जिसके भरण-पोषण का भार परिवार पर पड़ता है। यहां पर यह कहना उचित ही होगा कि कार्यशील जनसंख्या की वृद्धि (मृत्यु दर से कमी के कारण) से विवाह दर में वृद्धि के फलस्वरूप जन्म-दर (अर्थात आश्रितों की संख्या) बढ़ेगी। जो कि एक-दूसरे को समायोजित कर देगा और राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर भी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि नहीं होगी।

(ब) जन्म-दर का प्रभाव—उच्च प्रजनन किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के विकास में कई प्रकार के अवरोध उत्पन्न करता है। इससे देश की जनसंख्या में कार्यकारी जनसंख्या का अनुपात, आश्रितों के अनुपात से कम होता है। इससे विनियोग की मात्रा कम होगी। यदि दो देश, जिनकी आय तथा कार्यकारी जनसंख्या समान है, की तुलना करें तो हमें मिलेगा कि कम प्रजनन-दर वाले देश में आश्रितों की संख्या कम होने के कारण बचत-क्षमता (Saving Capacity) अधिक है। यही बचत विनियोग के रूप में लगकर अगले वर्ष का राष्ट्रीय आय में वृद्धि करती है, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है। इसी बढ़ी हुई आय से पुनः बचत की मात्रा बढ़ती है। इस प्रकार विनियोग आय-वृद्धि की यह चक्र बराबर चलता रहता है।

प्रो० एन्सले, जे० कोल तथा ई० हूवर ने भारत की कार्यशील जनसंख्या पर जन्म-दर के पड़ने वाले प्रभावों को इस प्रकार अनुमानित किया है। इनका मत है कि यदि भारत की जन्म-दर में 1957 तथा 1986 के बीच 50% की कमी हो जाये तो (15-64) वर्ष की आयु-वर्ग की जनसंख्या में केवल 8% की कमी उस दशा की तुलना में होगी जबकि प्रजनन-दर तीस वर्षों तक स्थिर रहने पर होती। इसका अपना मत है कि जन्म-दर श्रम की मात्रा तथा जनसंख्या में आयु वितरण को प्रभावित करता है। विकासशील देशों में प्रजनन-दर में कमी का प्रभाव श्रम की मात्रा पर लगभग 25 वर्षों तक नहीं के बराबर होता है। प्रजनन-दर की कमी के कारण आश्रित बच्चों की संख्या कम होती है, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है। किन्तु इस प्रकार अच्छे उपभोग का प्रभाव श्रम तथा श्रम की कार्य-कुशलता में वृद्धि करेगा।

कोल तथा हूवर की भांति डा० जार्ज सी० जैदान (Dr. G.C. Jaidann) ने भी यह माना है कि यदि अविकसित देशों में 25 वर्षों में जन्म-दर 50% कम हो जाये और उसके बाद जन्म-दर को स्थिर रखा जाये तो इस अर्थव्यवस्था में निवासियों के रहन-सहन पर प्रभाव पड़ेगा।

अब हम उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय में स्थिर जनसंख्या कार्यालय के अध्ययन को देखेंगे। इसमें जनसंख्या की बनावट तथा आर्थिक विकास पर प्रजननता ह्रास के प्रभाव को दर्शाया गया है। अब मान लीजिए कि किसी विकसित देश की जनसंख्या 1000 है। तथा प्रक्षेपण (अ) में प्रजनन-दर यथा स्थिर है, जबकि प्रक्षेपण (ब) में लगभग 25 वर्षों में प्रजनन दर 50% कम हो जाती है। और उसके बाद यथास्थिर हो जाती है। प्रारम्भिक जनसंख्या एक मिलियन है। इस जनसंख्या की प्रारम्भिक जन्म-दर 44 तथा मृत्यु दर 14 प्रति हजार है। जिसके फलस्वरूप जनसंख्या प्रतिवर्ष 3 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। तथा औसत जीवन प्रत्यासा 53 वर्ष तथा सम्पूण मातृत्व काल में एक स्त्री को 6 बच्चे पैदा होते हैं। और इस प्रकार की आशा की जाती है कि आने वाले 30 वर्षों में औसत आयु 70 वर्ष के करीब हो जायेगी, जिससे कि मृत्यु-दरों में जन-स्वास्थ्य सेवाओं की वृद्धि एवं सुधार के कारण कमी होती जा रही है। यह सभी मान्यताएं दोनों ही प्रक्षेपणों के लिए लागू होती है।

तालिका 6.3

एक अर्द्ध-विकसित देश का जनसंख्या-प्रक्षेपण

(Projection of Population of an Underdeveloped Area)

आयु-वर्ग/वर्ष	0	10	20	30	40	50	60	150
0-14	454	616	870	1261	1840	2655	3848	110,700
(अ) 14-64	535	718	996	1406	2003	2901	4204	120,800
65	32	43	65	90	132	180	245	14,000
योग	**1000**	**2377**	**1931**	**2767**	**3975**	**5736**	**8297**	**246,500**
0-14	4.34	567	677	676	683	901	994	3014
(ब) 14-64	534	718	985	1287	1573	1860	2181	6613
65	32	43	65	90	132	188	245	850
(बी) योग	**1000**	**1328**	**1687**	**2053**	**2488**	**2950**	**3420**	**10477**

स्रोत—एस.सी. श्रीवास्तव जनांकिकी के प्रारूप, p.6^

उपर्युक्त दोनों ही प्रक्षेपणों में अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनों ही दशाओं में जनसंख्या के गुणात्मक पहलू का अध्ययन किया जायेगा। प्रथम 25 से 30 वर्षों में आश्रितों के भार में दोनों ही पक्षेपणों में पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है। दोनों में ही यह अन्तर प्रसार-पूर्ण है इस अन्तर के फलस्वरूप कार्यशील जनसंख्या में (जनसंख्या के कारण) पर्याप्त अन्तर आने लगता है और यह अन्तर उस समय बढ़ ही जाता है जब तक कि इनमें स्थैर्य न आ जाये। इस प्रकार अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों ही दशाओं में जनसंख्या के आयुवितरण में पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है। मध्यकालीन स्थिति में श्रम की संख्या पर भू पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। किन्तु दीर्घकाल में श्रम-घनत्व में पर्याप्त अन्तर आ जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में उच्च प्रजननता वाली जनसंख्या की अपेक्षा निम्न प्रजननता वाली जनसंख्या में आश्रितों के भार में कमी आती है। यह लगभग 30 वर्ष की अवस्था तक अधिकतम पर स्थिर हो जाता है। इसके फलस्वरूप मध्यकाल में दोनों की श्रमशक्ति में अन्तर आने लगता है जो कि लगभग 70 वर्ष में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार श्रम शक्ति के अन्तर के फलस्वरूप दोनों ही देशों की आर्थिक स्थिति में अन्तर आने लगता है। अतः अधिक प्रजननता वाली जनसंख्या में प्रति व्यक्ति आय में कमी आने लगती है।

प्रजननता दर के इस कमी के कारण धीरे-धीरे लाभ होने लगता है। प्रारम्भ में यह लाभ नाम मात्र की है, परन्तु 30 वर्षों के पश्चात यह 40% हो जाता है। 60 वर्ष के पश्चात तो यह लाभ 100% से भी अधिक हो जाता है परन्तु 150 वर्ष बाद तो इस घटी प्रजननता वाली जनसंख्या की आय में समान गति से चलती रहने वाली प्रजनन शक्ति की जनसंख्या से 6 गुनी वृद्धि हो जायेगी।

किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार प्रजननता में कमी राष्ट्र के औद्योगीकरण के साथ-साथ स्वतः आने लगती है। केवल राष्ट्र को शीघ्रातिशीघ्र औद्योगिक बनाने की आवश्यकता है। किन्तु

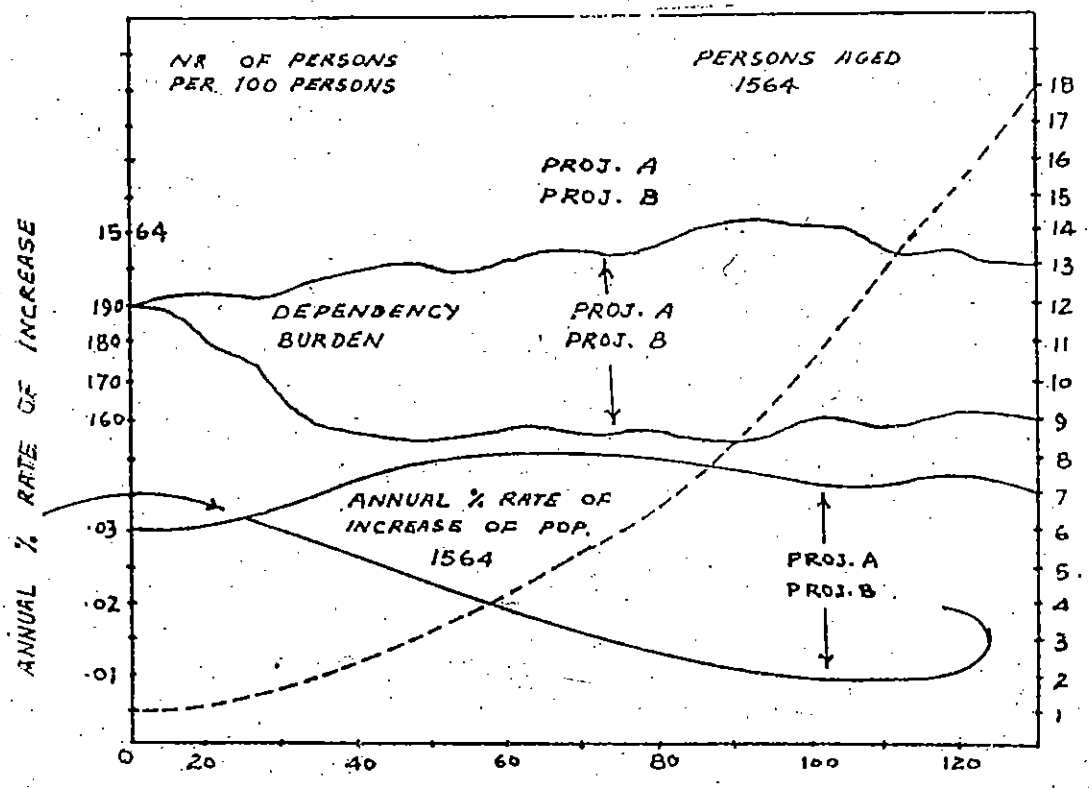

चित्र 6.4 स्रोत—एस.सी श्रीवास्तव, जनांकिकी p. 625

विकासशील राष्ट्रों में प्रजननता को समान स्तर पर रख कर भारी विनियोग सम्भव नहीं है जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि नहीं हो सकती है।

6.4 जनसंख्या वृद्धि का अन्य आर्थिक चरों पर प्रभाव

6.4.1 जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्य पूर्ति (Population Growth and Food Suppy)

जनसंख्या वृद्धि तथा खाद्य पूर्ति के संबंध में माल्थस के मत को आप देख चुके हैं। साथ ही साथ आपने यह भी देख लिया है कि 25 वर्षों के अन्तराल पर सीमित भूमि पर बढ़ते हुए जनसंख्या भार के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति खाद्य सामग्री में किस प्रकार कमी आती जाती है। इसी संदर्भ में आज भी यह देखा जाए तो स्पष्ट है कि खाद्य एवं जनसंख्या वृद्धि की दर में किसी प्रकार की समता नहीं है और यही असमानता सम्पूर्ण विश्व को भूख की ज्वाला में जलाती जा रही है। प्रो० ज्ञानचन्द के अध्ययन के अनुसार 1900 ई० से 1934 ई० के बीच जहां भारत की जनसंख्या में 21% से वृद्धि हुई वहीं कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में 11% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार एक अन्य विद्वान श्री पी.के. वादल के अनुसार 1913-14 से 1934-35 के बीच जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष औसत रूप से 1% की वृद्धि हुई किन्तु खाद्यान्नों के उत्पादन में केवल 0.65% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुमान के अनुसार वर्तमान प्रजनन दर तथा 9% की वार्षिक आय की वृद्धि के कारण 1980 तक इन विकासशील देशों की जनसंख्या में 78% वृद्धि होगी एवं खाद्यान्नों की मांग में 118% की वृद्धि होगी। यदि आय में 3% वृद्धि मानी जाये जो खाद्यान्नों की मांग में 238% वृद्धि होगी। भारतीय योजना आयोग के शब्दों में "हमारी खाद्य समस्या का प्रमुख कारण खाद्यान्न की मांग तथा पूर्ति का तत्कालीन असन्तुलन नहीं वरन् देश में खाद्यान्न की तुलना में जनसंख्या में निरन्तर अत्यधिक वृद्धि है।" विश्व खाद्य संस्था के महानिदेशक श्री ए.एच. बोरमा के शब्दों में — "अगर आबादी की बाढ़ को नियन्त्रित न किया गया तो पर्याप्त भोजन मुहैया करने की सभी आशाएं धूल में मिल जायेगीं।" इसी प्रकार विश्व खाद्य समस्या के बारे में तथाकथित विशेषज्ञ का विचार किसी को भी आश्चर्यचकित करने के लिए पर्याप्त होगा — "कालान्तर में मनुष्य को सभी जीवकोषीय पदार्थों की बड़ी कुशलता से उत्पादन करने के लिए जल और थल के सभी स्रोतों एवं साधनों को संगठित करना होगा क्योंकि यही एकमात्र उपाय है जिससे वह खाद्य की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि की उम्मीद कर सकता है।"

जनसंख्या का सबसे प्रमुख प्रभाव असन्तुलित भोजन की समस्या है। खाद्य समस्या पूर्ण अभाव की है। लेकिन असमान वितरण के कारण यह और उग्र हो गई है। दुनिया में जितना खाद्य उपलब्ध है, आज यदि उसे बराबर-बराबर बांट दिया जाये तो सभी लोग पोषक तत्वों के अभाव से पीड़ित नजर आएंगे। जोफ स्टान्सबरो के अनुसार इस समय दुनिया में 14 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की संख्या एक अरब है। इनमें से 60 करोड़ तो कभी भी वयस्क नहीं हो सकेंगे। वे विभिन्न प्रकार से काल कवलित होंगे, लेकिन उनकी मृत्यु का मुख्य कारण होगा कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन नहीं मिला। उनकी जिन्दगी की लौ जब तक टिमटिमाती है तब तक वे भूखे सोते, भूखे जागते तथा तमाम दिन भूख से संघर्ष करते रहते हैं। जैसा कि खाद्य वैज्ञानिक जार्ज ए० बोर्गस्ट्राम ने कहा है — "यह इन्सान की सबसे भयंकर विपत्ति है कि अधिकांश बच्चों की जिन्दगी मौत का भयंकर इन्तजार करने के अलावा और कुछ नहीं।

इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) का मत है कि कुपोषण का प्रभाव 5 वर्षों की आयु तक बुरी तरह प्रभावित करता है। इनका अनुमान है कि विकासशील देशों में आज 5 वर्ष से कम उम्र के 10 मिलियन बच्चे तीक्ष्ण कुपोषण 60 मिलियन सामान्य

कुपोषण तथा 120 मिलियन गुप्त एवं सामान्य कुपोषण से प्रभावित हैं। इस प्रकार लगभग समस्त शिशुओं का 50% किसी न किसी प्रकार के कुपोषण से प्रभावित है जो निश्चित रूप से इनकी अकाल मृत्यु का कारण बनेगा। इसी प्रकार तृतीय विश्व खाद्य सर्वेक्षण का मत है कि लगभग 20% लोगों को पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता तथा 60% लोगों को सही प्रकार का भोजन नहीं मिलता। विश्व बैंक के अध्यक्ष राबर्ट मैकनमारा का मत है कि विश्व में 100 मिलियन गरीब लोग हैं जो किसी न किसी प्रकार की कुपोषणता से प्रभावित हैं तथा जो न आर्थिक विकास में सहायक होते हैं ओर न ही इसके लाभ में बराबर का हिस्सा बँटाते हैं तथा जो अशिक्षा, कुपोषण रोग, ऊँची शिशु मृत्यु दर तथा नीची जीवन आकांक्षा से युक्त हैं। कुपोषण से आज विश्व की 1.2 मिलियन जनसंख्या जो 15 वर्ष से कम उम्र की है, पीड़ित है।

इसके अतिरिक्त प्रो० सुखात्मे ने अल्पविकसित एवं विकसित देशों में प्रतिदिन प्राप्त कैलोरी तथा आवश्यक कैलोरी का उल्लेख किया है जिसक अनुसार अल्पविकसित देशों में 17% तथा विकसित देशों में 120% कैलोरी शक्ति प्राप्त है। प्रोटीन आपूर्ति का प्रतिशत प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 193 तथा 303 हैं। ऐशिया तथा सुदूरपूर्व देशों में यह प्रतिशत कमशः 94 तथा 185 है जो विकसित देशों की तुलना में बहुत कम इसी प्रकार भारत में बिहार तथा मद्रास में हुए गृह सर्वेक्षणों में यह बात सामने आती है कि 17 तथा 49% घरों में पर्याप्त कैलोरी का अभाव है। प्रोटीन की मात्रा इन राज्यों में 5 तथा 34% है। इसके अलावा बहुत से ऐसे घर हैं जिनमें प्रोटीन तथा कैलोरी दोनों का ही सर्वथा अभाव है।

आज जनसंख्या का प्रभाव अपर्याप्त एवं असन्तुलित भोजन के रूप में विकासशील देशों में व्याप्त है। भरपेट भोजन यदि मिल भी जाये तो मनुष्य के निम्नतम पौष्टिक तत्वों को पूरा नहीं कर पाता। आज प्रोटीन, विटामिन आदि पोषक तत्वों के अभाव में तरह-तरह के रोग बचपन में ही हो जाते हैं जिसके कारण किसी भी देश श्रम-शक्ति में निरंतर ह्रास होता है। पोषक आहार की कमी के अन्य भी कई बड़े कारण स्पष्ट देखे जाते हैं जो कि किसी भी देश के आर्थक स्तर पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अपना प्रभाव डालते रहते हैं इसके अभाव में शारीरिक उत्पादकता तथा रोग-निरोध की क्षमता घटती जाती है जिससे अनुपस्थिति बढ़ जाती है। इसकी कमी से शरीर का विकास स्थायी रूप से रुक जाता है। कई विकासशील देशों में बारह साल की उम्र वाले बच्चों का औसत कद यूरोप के आठ साल के बच्चों के औसत कद के बराबर होता है। पोषक आहार के भारतीय विशेषज्ञ डा० सी० गोपालन के अनुसार इस देश के देहाती इलाकों के रहने वाले 80 प्रतिशत बच्चे पौष्टिक आहार की कमी के कारण बौनेपन के शिकार हैं। इसी प्रकार अमेरिकी विशेषज्ञ डा० नेविन एस० स्किमशा का मत है कि जीवन के पहले क्षणों में इसकी कमी से जीवन का विकास रुक जाता है तथा कभी-कभी तो बच्चा बदशक्ल हो जाता है। इसी प्रकार पौष्टिक आहार न मिलने से होने वाली बीमारियों के इलाज पर होने वाले खर्च के मुकाबले शुरू में ही आवश्यक पौषक तत्वों की व्यवस्था करना सस्ता होता है। बर्ग ने एक अनुमान का उल्लेख किया है : "गवाटेमाला में पौष्टिक आहार न मिलने के कारण होने वाले रोगों से पीड़ित हर रोगी को 90 दिन तक अस्पताल में रखने पर कुल 800 डालर तक खर्च बैठता है जबकि आहार में पौष्टिकता के अभाव को दूर करने पर साल भर का खर्च 7 से 10 डालर से अधिक नहीं होता है।" इसी प्रकार कुछ साल पूर्व फिलीपीन सरकार ने उत्पादन की हानि, श्रम-शक्ति की हानि और चिकित्सा तथा अंत्येष्टि पर होने वाले खर्च के आधार पर कुल हानि का जोड़ लगाने की कोशिश की थी। उसने हिसाब लगाया कि अकेले बेरी-बेरी से प्रतिवर्ष एक करोड़ दस लाख डालर की हानि होती है — यह हिसाब सिर्फ बेरी-बेरी के उन रोगियों के आधार पर लगाया गया जिनकी सरकार को जानकारी मिली।

अपौष्टिक आहार से न केवल शारीरिक विकास में कमी आती है बल्कि इससे मस्तिष्क के विकास में भी अवरोध उत्पन्न हो जाता है। कुछ मामलों में तो फिर उसे किसी तरह विकसित करना संभव नहीं होता। मानव पर आने वाली जो मुसीबतें उत्पादकता में गिरावट के जिम्मेदार हैं, उनमें से शायद यह सबसे विशाल, सबसे अधिक भयंकर और ऐसी है जो अन्य आपदाओं के मुकाबले सबसे अधिक स्थाई है। मस्तिष्क को स्थाई क्षति पहुंचने के प्रभाव यद्यपि अब तक प्रयोगशालाओं में पशुओं पर किए गए परीक्षणों तक सीमित हैं तथापि वैज्ञानिक इससे मानव मस्तिष्क पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का निर्णायक रूप से पता लगा सकने में सफल हो गए हैं। इस क्षेत्र के विशेषज्ञों में डा० नेविल एस० स्किमाशा—अध्यक्ष, पोषक तत्व एवं खाद्य विभाग, मेसाचेसेट्स टेक्नोलाजी इंस्टीट्यूट, डा० एच०एफ० इकेन्वाल्ड तथा डा० पी०सी० फ्राई विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका मत है कि इसकी कमी (पोषकता की कमी) से दिमाग के स्थाई रूप से अविकसित रह जाने का खतरा है। इससे "विभाग के विकास को आघात पहुंचने क साथ-साथ कद का बढ़ना भी जिस तरह रुक जाता है, उसके कारण आज 25 करोड़ से भी अधिक बच्चे खतरे में हैं।"

विकासशील देशों में गर्भवती एवं दूध पिलाने वाली माताओं में कुपोषक तत्व की कमी के दोहरे दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं। एक तो माता का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जाता है और दूसरे बच्चे का मानसिक विकास रुक जाता हैं और यह कमी जीवन भर किसी प्रकार के भोजन से पूरी नहीं की जा सकती हैं। मैनचेस्टर विश्वविद्यालय के जॉन डविंग तथा जीन सैण्डर्स के 150 बच्चों के 7.2 वर्ष आयु तक के परीक्षणों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि बच्चे के मस्तिष्क का विकास गर्म स्थिति के 10 सप्ताह से जन्म के दो वर्ष (From 10 Weeks Gestation to 2 Yrs. Age) तक की आयु में होता है। इस समय किसी भी प्रकार के पोषक तत्व कमी का तुरन्त एवं दीर्घकालीन प्रभाव बच्चें के मानसिक विकास पर पड़ता है। यही वह समय है जबकि मस्तिष्क बड़ा ही सूक्ष्मग्राही होता हैं तथा किसी प्रकार की कमी आसानी से दिखाई पड़ जाती है। डॉ० रोजर लेविन ने ब्रिटिश मैगजीन न्यू साइन्टिस्ट में अपने लैब "गरीबी के दोहरे मानसिक दुष्परिणाम" (poverty's Double Trap for the Brain) में लिखा है कि खाद्य एवं परिप्रेक्षीय उत्प्रेरण का अभाव (Food Deficiency and Lack of environmental Stimulation) मस्तिष्क के विकास को बहुत अंशों तक प्रभावित करते हैं। इनका मत है कि मस्तिष्क का विकास दो अवस्थाओं में होता है — एक 10 से 18 सप्ताह गर्म स्थिति में (10 to 18 Weeks of Gestation) जिसमें कोष (Cell) विकसित होता है। दूसरे 20 सप्ताह से जन्म के दो वर्ष तक (20 Weeks of Gestation to two years after birth) जिसमें कोषें तथा स्नायु तन्तुओं का आपस में संगठन होता है। इस प्रकार मस्तिष्क का विकास काल 10 सप्ताह से 2 वर्ष तक की आयु का है जिसमें बच्चा माँ पर भोजन के लिए पूर्णरूपेण आश्रित रहता है। इस अवधि में माता का किसी प्रकार कुपोषण बच्चे के मानसिक विकास को जीवन भर के लिए प्रभावित करता है। डार्विग ने इस अवधि में कुपोषण के द्वारा मानव मस्तिष्क के आकार तथा वजन में 25% की कमी पाई है। डॉ० ब्रेग को भी इसी प्रकार के प्रकार के परिणाम मिले हैं। डॉ० एडोल्फ सैवेज के मेक्सिको तथा लिनियरडो सिनिस्टेरा के कोलम्बिया के गाँवों में किए गए बच्चों के परिश्रम तथा पोषक तत्वों की कमी के परिणाम से इनकी सीखने की क्षमता, स्मरण शक्ति तथा अनुकरण करने की आदत पर पड़ता है। इन तथ्यों की प्रमाणिकता जैक्विन क्रेवियटो, रिचर्डसन आदि के परिणामों से सिद्ध हो जाती है।

अतः इन वैज्ञानिक एवं सामाजिक अनुसंधानों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जहां एक ओर तमाम शारीरिक रोग पाए जाते हैं, वहीं दूसरी ओर इसका अल्प आयु में मस्तिष्क पर पड़ने

वाला भयंकर प्रभाव भी कम नहीं है। अतः पोष्टिक तत्वों तथा पर्याप्त भोजन के अभाव से किसी भी देश के विकास में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इससे श्रम-शक्ति में कमी, शारीरिक उत्पादकता में कमी, रोग-निरोधक क्षमता में कमी के कारण स्वास्थ्य सेवाओं पर अधिक व्यय एवं अनुपस्थिति में वृद्धि होती है जो प्रगति के लिए बाधक है। यही नहीं कुपोषण का दीर्घकालीन प्रभाव बढ़ते हुए पारिवारिक भार, गिरती हुई खाद्य, वस्त्र गृह उपलब्धता के रूप में किसी देश के पूंजी निर्माण में एक निरंतर छीज का स्रोत होता है, देश का विकास अधोगति की ओर उन्मुख होता है तथा सारे सरकारी प्रयत्न क्षुधा की ज्वाला में भस्म हो जाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निश्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यदि इस प्रकार मानवीय क्षति को न रोका गया तो किसी भी विकासशील देश में विकास के सारे प्रयत्न असफल होते रहेंगे। इसलिए हर विकासशील देश को कम-से-कम खाद्यान्न के उत्पादन में शीघ्र ही आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेनी चाहिए। किन्तु इन सारे प्रयत्नों के फलस्वरूप भी खाद्यान्न उत्पादन विनियोग के अनुपात में कम ही रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुमान के अनुसार वर्तमान प्रजनन दर और 9% की वार्षिक आय वृद्धि के कारण 1980 तक इन देशों की जनसंख्या में 78% तथा खाद्यान्नों की मांग में 118% की वृद्धि होगी। यदि आयु में वृद्धि केवल 3% मानी जाए तो खाद्यान्नों की मांग में 238% से वृद्धि हो जाएगी। ऐसा हर विकासशील देश में उसकी कृषि पर निर्भरता तथा नीची उत्पादकता के कारण पाया जाता है।

इन परिस्थितियों में जनसंख्या की वृद्धि के साथ सामाजिक मदों, जैसे आवास का निर्माण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा आदि पर, विनियोग बढ़ता है जिनसे कि राष्ट्र की भौतिक सम्पदा में वृद्धि नहीं होती है। यद्यपि स्वास्थ्य एवं शिक्षा पर विनियोग के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की उत्पादकता में वृद्धि होती है, किन्तु इससे राष्ट्र के पूंजी निर्माण पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता है। विकसित राष्ट्रों में इस प्रकार की मदों पर विनियोग से राष्ट्रीय पूंजी का निमार्ण होता है, जबकि विकासशील देश में इस प्रकार का विनियोग अनुत्पादक कार्यों पर ही होता है।

विकासशील देशों में विकसित देशों की अपेक्षा अनुत्पादक जनसंख्या (15 वर्ष से कम तथा 60 वर्ष से अधिक) होने से प्रति परिवार का आश्रितता-भार अधिक हुआ करता है। हापकिन्स के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन में जहां 1952 में उत्पादकता तथा अवकाश-प्राप्त जनसंख्या (15 से 60 वर्ष तथा 60 वर्ष के ऊपर) का अनुपात 6:1 का या वहीं यह 1982 में गिरकर 4:1 के होने की संभावना है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं की संख्या की अपेक्षा उत्पादकों की संख्या में 2.9 प्रतिशत की कमी होगी जिससे जीवन स्तर के 3% से 4% गिरने की संभावना है। यही नहीं, यदि जनसंख्या-भार की गणना जनसंख्या के उत्पादन के योगदान क संदर्भ में करे तो किसी भी विकासशील देश में उत्पादन-आयु के किसी भी एक वयस्क की उपभोग की आवश्यकता। इकाई होगी, जबकि एक बच्चे की 1/3 इकाई तथा एक तूढ़े की 1/2 इकाई होगी। इस प्रकार इन विकासशील देशों की जनसंख्या में बच्चों, वयस्कों तथा बूढ़ों का प्रतिशत क्रमशः 42, 55 तथा 3 होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन देशों में उत्पादक-उपभोक्ता अनुपात 100:128 है, जबकि यह अनुपात विकसित देशों से 119 उतपादकों को 100 उपभाक्तोओं का भार वहन करना पड़ता है। इन देशों में बच्चों, वयस्कों तथा बूढ़ों का प्रतिशत क्रमशः 23: 67:10 हैं। इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप के औद्योगीकृत देशों की अपेक्षा ऐशिया के अधिकाश देशों में कार्यशील तथा आश्रितों का अनुपात अधिक (3:4) है। इस तरह ऊँची आय वाले देशों (यू०एस०ए०) की अपेक्षा विकासशील देशों की स्थिति भी कम संतोषजनक नहीं है। इसी प्रकार एक अनुमान के अनुसार विकसित देशों में विकासशील देशों की अपेक्षा राष्ट्रीय आय का कम भाग (विकासशील में 3% तथा विकसित में 01%) 15 वर्षों की आयु तक के बच्चों को मरने से बचाने के लिए किया जाता है।

6.5 जनसंख्या वृद्धि एवं उत्पादन (Population Growth and Production)

अविकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि, पिछड़ी तकनीकी आदि के कारण उत्पादन तीव्र गति से नहीं होता। यही नहीं इसके फलस्वरूप संसाधनों का पूर्णरूपेण विदोहन नहीं हो पाता, जिसके कारण उत्पादन कम होता है जिसका परिणाम है कम प्रतिव्यक्ति आय, कम प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य सुविधा, अस्वस्थ वातावरण, अकुशल श्रमिक, शिक्षा का अभाव, जो पुनः इन अर्थव्यवस्थाओं को निम्न स्तरीय आय-जाल में फंसा देता है जिससे कि इनका पुनः निकलना तभी संभव हो पाता है जबकि ये देश (लिबिस्टीन के न्यूनतम प्रयास की भांति) जनसंख्या वृद्धि से अधिक विनियोग करें जो कि ये अपने उपभोग को काटने पर ही कर सकते हैं। इन अल्पविकसित देशों में साधनों की स्वरूपता के कारण आवश्यक पूंजी व प्राविधि की कमी के कारण जनसंख्या के अनुरूप उत्पादन नहीं होता, इन देशों में जनसंख्या का उत्पादन में योगदान दो मुख्य बातों —(1) प्रति श्रमिक पूंजीगत उपकरणों की प्राप्ति एवं प्राविधिक स्तर तथा (2) जनसंख्या के गुणात्मक पक्ष या जनसंख्या की आयु-बनावट (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) पर निर्भर करता है। किन्तु प्रायः विद्वानों का मत है कि अल्प-विकसित देशों में छात्रों में अनुशासनहीनता, आय और सम्पत्ति के वितरण की विषमता, राजनैतिक अस्थिरता आदि आर्थिक विकास के प्रतिरोधों का मूल कारण जनसंख्या में वृद्धि ही है।

तालिका 6.4

जनसंख्या एवं उत्पादन वृद्धि की वार्षिक प्रतिशत दर (1954-59)

		कुल उत्पादन में वृद्धि		
जनसंख्या वृद्धि	1% से कम	1% से 3% तक	3% से 6% तक	6% से ऊपर
1	2	3	4	5
0.5% से कम	—	इंग्लैण्ड	—	—
0.5% से 1.5% तक		डेनमार्क	बर्मा, स्वीडन, डटली	यूगोस्लाविया, जापान
1.5% से	—	अर्जेन्टाइना,	यू०एस०ए० भारत	
2.5% तक		पाकिस्तान	कालम्बिया, थाईलैण्ड इंडोनेशिया, दक्षिणी कोरिया	कांगो
2.5% से ऊपर	—	—	इक्वेडोर, पेरू, ग्वाटेमाला, श्रीलंका	चीन (ताईवान) चीन (मुख्य भूमि) रोडेशियम, टर्की, ब्राजील

परन्तु कु० आर० जेड हुसैन का मत है कि जनसंख्या या इसकी वृद्धि में कहीं भी प्रति व्यक्ति आय को स्थिर रखकर आर्थिक विकास में पूर्णरूप में बाधक नहीं रही है। उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि के लिए निम्न आँकड़े प्रस्तुत किए हैं—

उपर्युक्त तालिका के अंकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि लगभग सभी अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय उत्पादन (आय) में अधिक वृद्धि हुई है। परिणामतः अधिकांश विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय में 2% की वृद्धि हुई है और चीन व ब्राजील आदि देशों में तो प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर 6% से भी अधिक हुई है किन्तु इन सबका अर्थ

यह नहीं है कि जनसंख्या में वृद्धि विकासोन्मुख देशों के विकास में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती। स्वयं कु० हुसैन ने ही लिखा है "जनसंख्या में वृद्धि अर्द्ध-विकसित देशों में जहां अन्य सहयोगी कारकों, विशेष रूप से पूंजी का अभाव होता है, विकास में दबाव उत्पन्न कर देता है।"

6.6 जनसंख्या वृद्धि एवं बेरोजगारी (Population Growth and Unemployment)

विकासशील तथा विकसित देशों में बेरोजगारी में एक विशेष प्रकार की भिन्नता पाई जाती है। विकासशील देशों में खुली बेरोजगारी, दुर्रोजगारी, सुसुप्त बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी आदि साधनों की न्यूनता तथा कृषि प्रधानता के कारण पाई जाती है। जबकि विकसित देशों में बेरोजगारी प्रभावपूर्ण मांग की कमी के कारण उत्पन्न होती है। विकासशील देशों में अन्य उत्पत्ति के साधनों के अभाव में अतिरिक्त श्रम को नहीं खपाया जा सकता है। वास्तव में इन देशों में बेरोजगारी का कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है। इन देशों में प्रति व्यक्ति आय के साथ-साथ प्रति व्यक्ति उत्पत्ति के साधनों की उपलब्धता कम होती है। यहां पर अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की उत्पादकता भी कम होती है जिसके कारण भी बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होने लगती है। इन देशों की जनसंख्या में परिवर्तन के अर्थव्यवस्था पर दो प्रभाव पड़ते हैं : प्रथम — राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय प्रायः प्रभावित होती है जिसे आय प्रभाव (Aggregate mode of Income Effect) कहते हैं, दूसरे — पूंजी-श्रम अनुपात में परिवर्तन आता है जिसे प्रतिस्थापन प्रभाव (Real Mode or Substitution Effect) कहते हैं। इसमें भारी कमी आने लगती है जिसके फलस्वरूप भी बेरोजगारी में वृद्धि होने लगती है। "इन देशों में मार्क्स-प्रकार की एवं अर्द्ध-बेकारी एवं छिपी बेकारी का पाया जाना पूंजी और आय की अपर्याप्तता के संदर्भ में स्पष्ट की जा सकती है।" भारतवर्ष में प्रतिवर्ष 3.3 मिलियन बेरोजगार और कुल श्रम शक्ति में जुड़ते जाते हैं। ऐसा अनुमान है कि भारत में 1951-81 के बीच नये बेरोजगारों की संख्या ग्रेट ब्रिटेन की आबादी की दुगुनी या संयुक्त राज्य अमेरिका की वर्तमान जनसंख्या की डेढ़ गुनी होगी। इस काल में भारत को 107 मि० लोगों की रोजगार देने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। डा० वी०के०आर०वी० राव के अनुसार "इस 107 मि० में से 67 मि० को उद्योगों में और 40 मि० को कृषि में रोजगार देने की व्यव्वस्था करनी होगी।"[2] प्रो० नर्क्स का मत है कि इन अविकसित देशों में लगभग 25 प्रतिशत जनसंख्या छिपी बेरोजगारी से ग्रसित है।

6.7 मानवीय साधन तथा आर्थिक विकास (Human resources and Economic Growth)

मानवीय साधनों का आर्थिक विकास में कैसे उपयोग किया जाए, इस संदर्भ में आपने हार्वे लिबिन्सटीन (H. Leibenstein) रिचार्ड नैल्सन (R.Nelson) कोल एण्ड हूवर (Coale & Hoover) के मतों का अध्ययन किया। यहां हम कुछ अन्य भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के मंत संक्षेप में व्यक्ति कर रहे हैं —

(a) प्रो० प्रशान्त चन्द्र महालानोबीस इस मत के हैं कि विकासशील देशों में पूंजी की अपेक्षा श्रम साधनों की प्रचुरता रहती है। इन देशों में ऐसे उद्योगों में विनियोग किया जाना चाहिए जिसमें कम पूंजी तथा अधिक श्रम लगे। इस प्रकार इन देशों में अधिक श्रमिकों को रोजगार मिल सकेगा। उसके अतिरिक्त इन्होंने पूंजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करने पर जोर दिया। जैसा कि ऊपर के पैराग्राफ में हम देश चुके हैं कि प्रो० नर्क्स इन विकासशील देशों में छिपी हुई बेरोजगारी के समर्थक हैं जिसकी श्रम शक्ति की उत्पादकता नहीं के बराबर है। यदि इसका प्रयोग अन्य घरेलू कार्य में कर लिया जाए तो 15 से 30 प्रतिशत श्रम-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

अन्त में, मानवीय साधनों में विनियोग से तात्पर्य शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य, अच्छा भोजन, आदि से है जिसमें लोगों का जीवन-स्तर सुधरे तथा उत्पादकता में वृद्धि आए। प्रो० टी० डब्ल्यू० शुल्ज ने उत्पादकता बढ़ाने के संबंध में ठीक ही कहा है, "हमारी आर्थिक प्रणाली का सबसे बड़ा लक्षण मानवीय पूंजी का विकास है।"

डा० वी०के०आर०वी० राव का भी स्पष्ट कथन है कि मानव की कुशलता एवं दक्षता पर ही आर्थिक विकास का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। प्रो० गैलब्रेथ ने शिक्षा पर विनियोग को सबसे अच्छा विनियोग बताया है क्योंकि यह उपभेग एवं विनियोजन दोनों ही है। प्रो० मार्शल का भी इसी प्रकार का मत है, "सबसे अधिक बहुमूल्य पूंजी वह है जो मनुष्यों में विनियोजित की जाती है।" दूसरे शब्दों में, "पूंजी में सर्वोत्तम पूंजी मानव पूँजी है।

6.8 प्रवासन का आर्थिक विकास पर प्रभाव (Effect of Migration on Economic Development)

किसी देश की आर्थिक विकास को उस देश का आन्तरिक तथा बहिर्प्रवास (Internal & International Migration) काफी सीमा तक प्रभावित करती है। किस प्रकार के लोग, कितनी मात्रा में देश के ग्रामीण अंचलों से शहरों की ओर प्रवासित होकर जहां शहरी संतुलन को प्रभावित कहते हैं, वहीं देश से बाहर जाने वालों तथादेश में आने वालों की संख्या राष्ट्रीय विकास सूचकांकों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। भारत में ब्रेन-ड्रेन की समस्या, शरणार्थियों की संख्या इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

6.8.1 आन्तरिक प्रवासन का प्रभाव (Impact of Internal Migration)

जहां तक आन्तरिक प्रवासन का प्रश्न है यह यद्यपि समग्र राष्ट्रीय विकास पर बहुत कम प्रभाव डालता है। परन्तु यह देश के शहरों एवं ग्रामीण अंचलों पर अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है।

ग्रामीण अंचलों से शहरों को प्रवासित होने वाली जनसंख्या की मात्रा, गुणात्मकता तथा प्रकृति जहां एक ओर उस शहर पर अतिरिक्त भार बनता है वहीं उन गांवों पर कृषि पर निर्भरता कम करता है। यही नहीं मानवीय पूंजी का भविष्य भी प्रगतिशील होता है। और प्रो० लेविस की दोहरी अर्थ व्यवस्था के विकासोन्मुख बनाता है।

6.8.2 अप्रवासन (Immigration)

आप्रवासन की मात्रा तथा गुणात्मक देश के आर्थिक संसाधनों पर अतिरिक्त भार होता है और कभी-कभी तो क्षेत्र विशेष का संतुलन भी बिगड़ने की स्थिति में आ जाता है भारत में बंगला देश से आये शरणार्थियों के लिए जहां एक ओर इनके भोजन, वस्त्र, आवास आदि की व्यवस्था करनी पड़ी और पड़ रही है, जो कि देश में लाखों वयस्कों के रोजगार के अवसर पर कुठाराघात है। हां, ऐसा आप्रवासन जो कि कुशल हो और प्रौद्योगिकी के निर्माण तथा विकास में सहायक हो, हमेशा स्वागत है। भारत में भिलाई, राउरकेला, बोकारो आदि लोह संयंत्रों में बाहर से आये इन्जीनियर्स तकनीशियन आदि की सहायता से हमें इन कारखानों की स्थापना आदि में सहायता मिली।

6.8.3 उत्प्रवासन (Emigration)

इसी प्रकार देश से बाहर जाने वालों की संख्या, गुणात्मकता आदि का भी देश की अर्थव्यवस्था पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जहां इनसे विदेशी पूंजी देश में आती रहती है, वहीं इनके ऊपर (इनको कुशल उत्पादक बनाने की आयु तक) किये गये राष्ट्रीय व्यय का लाभ देश

को न मिलकर विदेश को मिलता है। भारत के डाक्टर, इन्जीनियर्स, तकनीशियन आदि, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस आदि देशों की प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इस प्रकार बेनड्रेन की समस्या देश की प्रगति में बाधक होती है। क्योंकि इससे मानवीय पूंजी का अभाव होता है।

6.9 सारांश (Summary)

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जनसंख्या एवं आर्थिक विकास में गहन संबंध है। दोनों ही एक दूसरे के साध्य, कार्य एवं कारण तथा पर्याय कहे जा सकते हैं। दोनों ही को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह बात अर्थव्यवस्थाओं पर करती है कि वे किस साध्य एवं किस साधन के रूप में लेते हैं। किन्तु इतना सत्य है कि मानवीय साधन का महत्व अर्थव्यवस्थाओं के लिए सर्वोपरि हैं। यह केवल इतना उत्पादन का निर्णायक (Determinant) ही न रह कर उत्पादन का उद्देश्य (Object) भी है। मानवीय विकास के लिए ही सारे कार्य किये जाते हैं तो उसे उनके अनुरूप भी रहना चाहिए। इसके महत्व को श्री बेरा एनस्टेथ का शब्द बहुत ही सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है। आर्थिक विकास के लिए भौतिक अथवा प्राकृतिक साधन ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि मानवीय साधन का उपयुक्त विकास भी आवश्यक है। इस शर्त को पूरा करने में जनसंख्या पर नियन्त्रण भी आवश्यक है।

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र०1 किसी भी देश के आर्थिक विकास को जनसंख्या का विकास पर किस प्रकार प्रभावित करता है। विवेचना कीजिये।

(संकेत—हार्वे लिविन्स्टीन तथा रिचर्ड नेल्सन के विचारों को सचित्र व्याख्या दें)

प्र०2 जनसंख्या के आकार तथा आयु संरचना का किसी देश के विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख करें।

(संकेत—प्रतिव्यक्ति आय भोजन वस्त्र रोजगार आदि की स्थिति का विवेचना करके नेलसन तथा लिविन्स्टीन का उदाहरण दें)

प्र०3 जनसंख्या प्रवासन किस प्रकार देश की मानवीय पूंजी में ह्रास / वृद्धि करता है विवेचना करें।

(संकेत—प्रवासन का प्रभाव विस्तार से वर्णित करें)

प्र०4 रिचर्ड नेल्सन के निम्न स्तरीय संतुलन अवरोध का सकचत्र वर्णन करें।

प्र०5 अधोलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखें:-

(अ) लिविन्स्टीन का न्यूनतम प्रयास

(ब) आय निर्धारण समीकरण तथा जनसंख्या वृद्धि समीकरण

(स) जनसंख्या की आयु संरचना का आर्थक विकास पर प्रभाव

(द) जनसंख्या आकार का प्रति व्यक्ति आय/रोजगार/भोजन/उत्पादक पर प्रभाव

प्र०6 जनसंख्या विकास दर का देश की मानवीय पूंजी निर्माण पर पड़ने वाले प्रभावों का विस्तार से वर्णन करें।

संकेत—जनसंख्या विकास पर तथा आयु संरचना का देश में जनसंख्या संरचना का वर्णन करें)

6.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

AGRAWAL S.N. : India's Population, p.98

BOSE ASHISH : Environment and Population : Some Ecological and Demographic Implications for Development Planning in Asia, Paper Presented in the Second Asian Population Conference. Tokyo, Now. 1972, Published in APSS, No. 28 pp.

BRIGHT SINGH D. : Economics of Development, Asia Publishing House, Bomba 1962

COALE, A.J. : Population Dilemma, pp. 50-69

COALE, A.J. and HOOVER E.M. : Population Growth and Economic Development in Low Income Countries, Princeton 1958, p.232.

DANDEKAR, V.M. and RATH, N. : Poverty in India (1971), Indian, School of Political Economy.

DANDEKAR, V.M. : Presidential Address; Ind-Soc. of Agri. Conf. Ludhiana, 1967

GUNNAR, MYRDAL. : Asian Drama, Vol. II Chapter 28, Part 6, pp.1464-1470.

GOPALAN, C. : In Caloric Deficiencies and Protein Deficiencies (taken from APSS No.20, p.173)

HIGGINS, B. : Economic Development, Chaitanya Prakashan, Alld. 1962, pp.395-397.

HOPKINGS, W.A.B. : The Economics of an Aging Population, Jan. 1953, p.33.

HERZOG, J. : Investment in Social Development: Some Implication of Demographic Conditions, Second Asian Population Conference, Tokyo, Nov. 1972, APSS, No. 28, pp. 190-204.

HAUSER, P.M. : The Population Dilemma, p. 51.

GOVT. OF INDIA : Economic Survey, 1976-77, New Delhi.

JAIN, S.P. : Indian Population and Development, New Delhi, NCERT, 1977, p.180.

SRIVASTAVA, S.C. : Studies in Demography जनांकिकी के प्रारूप

KUZNETS, S. : "Demographic Aspect of Modern Economic Growth", World Population Con-

ference, 1965, Background Papers, Belgrade, WPC/WP/380, p.1.

LEIBENSTEIN : Economic Backwardness and Economic Growth, N.Y., 1957.

MEIR, G.M. and BALDWIN, R.E. : Economic Development, Bombay, A.P.H. 1957, p.6

NELSON, R.R. : 'A Theory of Low-equilibrium Trap,' A.E.W. dec. 1956, pp.894-904.

SUKHATME, P.V. : Feeding India's Growing Millions, LondLondon. A.P.H. 1965.

— : Human Calorie and Protein Needs and How Far they are Satisfied Today in B.B.P. Cox and John Peel (Eds), Resource, and Population, London, Accademic Press, 1973, p.28

SCRIMSHAW, N.S. : Arch, Environ., Health, 1919.

STANSBURRY, J. : "Kshudha Our Vikash Ki Samasya" is Spantology (Hindi) 1971, p.17.

SPENGLER, J.J. : The Population Obstacle to Economic Betterment, A.E.R., Papers and Proceeding, Mya, 1951, pp.343-54.

VILLARD, H.H. : Economic Development, Richard, N.Y., 1959, p.196.

U.N., FAO. : Population, Food Supply and Agricultural Development, Rome 1975, pp. 47-48.

— : Population, Aspects of Social Development Report of a Regional Seminar and Selected Papers, A.P.S. No.11, ESAFE, Bangkok, 1972.

— : International Social Development Review, No.2. pp-1-2.

— : Determinants and Consequences of Population Trends, U.N., 1953, 1973.

— : Economic Survey of Asia and the Far. Fast, 1973.

इकाई 7

बचत एवं निवेश के प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 बचत का अर्थ
7.3 बचतों के स्रोत
7.4 विकासशील देशों में बचत सम्बन्धी समस्या
7.5 घरेलू बचत बढ़ाने के उपाय
7.6 बचतों के बाह्य स्रोत
7.7 भारत में बचतों के स्रोत
7.8 निवेश का अर्थ
7.9 विकासशील राष्ट्रों में अधिक निवेश की आवश्यकता
7.10 भारत की विभिन्न योजना काल अवधियों में बचत की प्रवृत्ति
7.11 विभिन्नयोजना अवधियों में निवेश की प्रवृत्ति
7.12 सारांश
7.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इसके पूर्व की इकाइयों में आपने भारत में नियोजन आदि के बारे में अध्ययन किया है। किसी भी नियोजन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम लक्ष्यों के अनुसार कितने साधन जुटा पाते हैं। साधनों में सबसे महत्वपूर्ण साधन पूँजी है। इसे बचत द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतः इस इकाई में हम बचत एवं निवेश के प्रतिमान के बारे में चर्चा करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बादआप निम्न बातें जान पायेंगे :—

1. विकास अर्थशास्त्र से बचत एवं निवेश से क्या तात्पर्य है?
2. बचत के मुख्य स्रोत क्या हैं,
3. बचत को प्रभावित करने वाले तत्व कौन से हैं।
4. भारत की विभिन्न योजना काल अवधियों में बचत एवं निवेश की प्रवृत्ति क्या रही है।

7.1 प्रस्तावना

किसी भी देश की आर्थिक प्रगति में पूंजी तंत्र का सर्वाधिक महत्व होता है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए अधिक विनियोजन करना आवश्यक है। अतः स्वाभाविक है कि अधिक विनियोजन करने के लिए अतिरिक्त साधन जुटाये जाये। यह साधन हमें मुख्यतः बचत द्वारा प्राप्त होते हैं। अधिकतर बचत हम घरेलू स्रोतों द्वारा ही एकत्र कर सकते हैं। इस प्रकार विनियोग में वृद्धि करने के लिए घरेलू बचत में वृद्धि एवं बचत को गतिशील करने की आवश्यकता होती

है। जब किसी अर्थव्यवस्था में अन्य साधनों के साथ-साथ बचत तथा निवेश दोनों बढ़ते हैं तो समग्र वृद्धि दर में भी बढ़ोत्तरी होती है। उत्तरोत्तर अधिक निवेश देश की उन्नति का सूचक है। इसके अलावा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने के लिए विनियोजन का प्रकार ऐसा रखने की आवश्यकता होती है कि वर्तमान उत्पादन एवं उत्पादन क्षमता जनसंख्या वृद्धि की दर से अधिक तीव्रगति से वृद्धि की जा सके। इस प्रकार आर्थिक प्रगति के लिए बचत-निवेश एवं पूँजी-उत्पादन अनुपात आदि तत्वों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है। अतः इस इकाई में हम बचत एवं निवेश की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन करेंगे तथा इससे अगली इकाई में पूँजी-उत्पादन अनुपात के बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे।

7.2 बचत का अर्थ

मोटे रूप में बचत को अर्थशास्त्र में आय एवं उपभोग के अंतर के रूप में परिभाषित किया जाता है। अर्थात किसी वर्ष में राष्ट्र की कुल समग्र आय कितनी है तथा उसमें से उपभोग पर व्यय को घटा दिया जाए तो जो शेष बचेगा उसे बचत कहेंगे। इसे समीकरण $S = Y - C$ के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। यहां S = बचत, Y = आय एवं C = उपभोग है। इस प्रकार से बचत आय का वह भाग है जो वर्तमान उत्पादन का उपभोग न करके उसे पूँजी निर्माण या पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाया जाता है। अतः पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि करने के लिए बचत की दर में पर्याप्त वृद्धि करना आवश्यक होता है। बचत एवं देश की आर्थिक प्रगति में प्रत्यक्ष संबंध होता है क्योंकि बचत दर में वृद्धि होने पर विनियोजन एवं पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि होती है और जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

7.3 बचतों के स्रोत

कुल बचत का अधिकांश भाग हम घरेलू स्रोतों द्वारा ही एकत्र करते हैं। किसी भी अर्थ व्यवस्था में घरेलू बचत निम्न तीन स्रोतों से मिल कर बनती है :—

1. सरकार द्वारा की गयी बचत
2. परिवारों की बचत
3. व्यापारिक क्षेत्रों की बचत

सरकारी बचत सामान्यतः उस राशि को कहते हैं जो किसी वर्ष में कर आदि से होने वाली चालू आय एवं सरकारी चालू व्यय का अन्तर होती है। यदि सरकार का व्यय अधिक है एवं आय कम है तो यह बचतें ऋणात्मक होगी। अविकसित अर्थव्यवस्था में आय का निम्न स्तर, अधिक व्यय, गैर उत्पादक वस्तुओं में अधिक खर्च आदि की वजह से सरकारी क्षेत्र में बचत करने की क्षमता सीमित हो जाती है।

परिवारों की बचत राशि परिवारों की शुद्ध आय (कर आदि देने के बाद बची हुयी आय) एवं उपभोग व्यय का अन्तर होती है। विकासशील देशों में आय के निम्नतर तथा ऊँची उपभोग प्रवृत्ति की वजह से पारिवारिक बचतें अत्यन्त कम होती हैं। केवल उच्च एवं मध्यम आय वर्ग के लोगों से अपेक्षा की जाती है कि वह अधिक बचत करें परन्तु प्रदर्शनकारी प्रभाव (Demonstration Effects) के फलस्वरूप यह वर्ग विलासी उपभोग पर अधिक खर्च कर देता है।

किसी अर्थव्यवस्था के व्यापारिक समुदाय द्वारा की गई बचतें व्यापारिक क्षेत्र की बचतें कहलाती हैं। यह समुदाय मुख्यतः अधिक लाभ की आकांक्षा से व्यापार में संलग्न होता है जिसकी वजह से यह एक महत्वपूर्ण बचत स्रोत के रूप में सामने आता है।

MEC-06(15)

सरकारी बचत को सार्वजनिक बचत (Public Savings) और परिवारों तथा व्यापार से होने वाली बचत को निजी बचत (Private Savings) कहते हैं प्रायः सभी अर्थव्यवस्थाओं में निजी बचत कुल बचत का बहुत बड़ा भाग होती है। भारत में निजी बचत सम्पूर्ण बचत की लगभग 80% होती है।

7.4 विकासशील देशों में बचत सम्बन्धी समस्या

जैसा कि आपने ऊपर देखा कि बचत की मात्रा में वृद्धि करना विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास का आवश्यक तत्व है। लेकिन बचत की मात्रा में वृद्धि करने हेतु केवल अधिक बचत का उदय होना ही पर्याप्त नहीं होता वरन् उचित बचत को उपलब्ध करना तथा उसको उत्पादक विनियोजन (Productive Investment) किया जाना भी आवश्यक है। इस प्रकार विकासशील देशों में बचत के सम्बन्ध में मुख्य तीन समस्याएं उठती हैं :

1. अधिक बचत का निर्माण
2. बचत के अधिकतम भाग को प्राप्त करना तथा
3. बचत को उत्पादक विनियोजन की ओर प्रवाहित करना।

विकासशील राष्ट्रों की गम्भीर समस्या आन्तरिक बचत के निर्माण में वृद्धि करना होता है और इसके निवारण के लिए बचत की सीमाओं को विस्तृत करने की आवश्यकता है। इसके लिए आय में वृद्धि एवं उपभोग में कमी करना आवश्यक है। आय की वृद्धि उत्पादन में वृद्धि पर निर्भर करती है। "लेकिन विकासशील देशों में अल्पकाल में उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता तथा निर्धनता के कारण अधिकांश लोगों की सारी आय" उपयोग में खर्च हो जाती है जो शारीरिक निर्वाह के लिए अनिवार्य है। कुछ अर्थशास्त्री इस समस्या के निवारण के लिये यह सुझाव देते हैं कि उत्पादक विनियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि पूँजीपति-वर्ग अथवा लाभ पाने वाले वर्ग का विस्तार हो क्योंकि यह वर्ग अपनी आय का अधिकतम भाग बचाकर उत्पादक क्रियाओं में विनियोजित करने को तत्पर रहता है। परन्तु एक समाजवादी एवं कल्याणकारी राज्य में अतिरिक्त आय के बड़े भाग को लाभ पाने वाले वर्ग को नहीं दिया जा सकता क्योंकि इससे समाज में आर्थिक विषमताएं बढ़ती हैं और आर्थिक सत्ताओं का केन्द्रीयकरण होता है।

बोध प्रश्न - 1

(1) बचत का अर्थ समझाइए।

(2) अल्पविकसित देशों के सन्दर्भ में बचत की समस्या की व्याख्या कीजिए।

7.5 घरेलू बचत बढ़ाने के उपाय

विकासशील देशों में कुल बचत कम होती है अतः अब प्रश्न यह सामने आता है कि अंशतः इस बचतों को हम घरेलू स्रोत द्वारा कैसे बढ़ायें या प्रोत्साहित करें? बचतों को बढ़ावा देने के कई तरीके हैं जिनके द्वारा बचत क्रिया में तीव्रता लाई जा सकती है। वे सहायक तरीके निम्नवत् हैं :—

(1) बचत प्रयत्न-लोगों में बचत प्रवृत्ति बढ़ाकर उन्हें बचत करने को प्रोत्साहित किया जा सकता है। लोगों में बचत की प्रवृत्ति डालने के लिए सामाजिक जागरूकता व जन-प्रचार की आवश्यकता होती है जिससे बचत को अपेक्षित स्तर तक ले जाया जा सकता है। लोगों को भविष्य में अनिश्चितता के प्रति सावधान करते हुए बचत करने को कहा जा सकता है। बचत करके ब्याज द्वारा आय के साधन के रूप में भी

लोगों को बचत करने के लिये कहा जा सकता है। इसमें ऊची दर वाले सरकारी बॉड वार्षिकीय के रूप में बचत सर्टिफिकेटों को जारी करना भी बचतें जुटाने में सहायक होता है। बोनस, उपहार, लाटरी पुरूस्कार और सरकारी बॉड के क्रय पर कर की छूट देकर भी बचत को और अधिक प्रेरणा दी जा सकती है।

(2) वित्तीय संस्थाओं की प्रमुखता — पहले लोग बचत स्वर्ण, आभूषण, नकदी व भूमि के रूप में करते थे जो बचत अनुपयोगी तथा अनुत्पादक थी। आज इस बात की जरूरत है कि विकासशील अर्थव्यवस्था में ऐसे संस्थान हों जो बचतकर्ता (छोटे बड़े) को बचत के लिए विश्वास योग्य वातावरण व प्रोत्साहन दे सकें। लोगों तक वित्तीय संस्था जैसे बैंक, जीवन बीमा आदि पहुंचे जिससे लोग अपनी बचत इन वित्तीय संस्थाओं में जमा कर सकें। देहाती क्षेत्रों में बचत बैंक तथा गतिशील बचत बैंक हों, जो ग्रामीण क्षेत्र में बचत कार्य को प्रभावी ढंग से निष्पादित कर सकें। ऐसे में ग्रामीण सहकारिता की अहम् भूमिका सामने आती है।

(3) स्थनीय जरूरतों के अनुसार बचत — हर क्षेत्र में अपनी विकास की प्राथमिकतायें होती हैं जिन्हें हम स्थानीय बचत को प्राथमिकता देते हुए उन प्राथमिकताओं को पूरा कर सकते हैं। जैसे यदि ग्राम्यांचल में कोई विकास योजना चलानी है जो वह योजना उस अंचल के प्राथमिकता के अनुरूप हों तथा योजना के साथ ऋण पत्र संलग्न कर लोगें से बचत के रूप में धन जुटाया जा सकता है। इस प्रकार की ऐच्छिक बचत लोगों में बचत की आदत को बढ़ावा देती है। जो उसे क्रांतिक न्यूनतम स्तर (Critical Minimum Level) तक पहुंचा सकती है जो उस अविकसित या विकासशील अर्थव्यवस्था के उत्कर्ष (Taxation) — कराधान एक प्रमुख तथा अत्यन्त प्रभावशाली साधन है साधन हस्तान्तरण का। यह पूँजीनिर्माण में भी सहायक होता है। यह वांछित दिशाओं में उपयोग के लिये राज्य को निजी साधनों का हस्तांतरण करके और निजी क्षेत्र को कर में राहत देकर उत्पादन वृद्धियों में सहायक हो सकता है। साधन हस्तांतरण के संबंध में प्रो. लुईस का मत यह है कि अल्पविकसित देशों को अपनी आय का कम से कम 20% भाग कराधान के माध्यम से प्राप्त करना चाहिए जिसमें से 12% चालू खर्च पर तथा शेष 8% सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी के निवेश पर लगा दिया जाना चाहिए।

कराधान व्यक्तिगत आय, धन तथा व्यय पर आरोही (Progressive) प्रत्यक्ष कर को इस प्रकार लगाना चाहिए जिससे कि उनका विकास पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। अप्रत्यक्ष कर का भी कराधान में अपना स्थान है जिसके अनुसार विलास वस्तुओं पर ऊँची और उपभोग वस्तुओं पर नीची दरें होनी चाहिए। जैसे विलासिता की वस्तुओं पर आयात शुल्क उनके उपभोग को घटाता है साथ ही उत्पादक निवेश के लिये राज्य को राजस्व उपलब्ध करवाता है।

(5) सार्वजनिक उद्यमों के लाभ — योजनाबद्ध विकास की आधारभूत परिकल्पना यह है कि सार्वजनकि उद्यम अपने उत्पादक निवेश के लिये लाभ का सृजन करते रहे और उनके लाभों को पूँजी निर्माण के रूप में लाया जाए।

(6) सार्वजनिक उधार — साधनों को अनुत्पादक से उत्पादक कार्यों की ओर दिशा प्रदान करने वाला सार्वजनिक उधार एक उपयोगी साधन है। परन्तु अल्पविकसित देशों में आय तथा बचत की निम्न स्तर की वजह से इनका क्षेत्र सीमित रहता हे। नकर्से ने ऐच्छिक सार्वजनिक उधार के असफल हो जाने की दिशा में बलकृत कर्ज का सुझाव दिया है। ऐसे में संगठित वित्तीय संस्थानों की अहम् भूमिका सामने आती है।

(7) प्रकासकीय व्यय में कमी : अल्पविकसित देशों में सरकार राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा प्रशासकीय कामों पर व्यय करती है यदि प्रशासकीय अपव्यय को रोका जाय तो सरकार साधनों की बचत कर उसे उत्पादन कार्यों में लगा कर साधन निर्माण की दिशा में सही कदम उठा सकती है।

अर्थव्यवस्था की कुल बचत में आन्तरिक बचतों के अतिरिक्त विदेशी व्यापार, सहायता एवं साख के रूप में बाह्य बचतें भी प्राप्त होती हैं। अतः अब हम यह देखेंगे कि बचतों के बाह्य स्रोत क्या-क्या हो सकते हैं?

7.6 बचतों के बाह्य स्रोत

पूँजी निर्माण में घरलू साधनों को बाह्य साधनों के अनुपूरित करने की आवश्यकता होती है। ये साधन विदेशी व्यापार और विदेशी पूँजी द्वारा प्राप्त होते हैं। अर्धविकसित अर्थव्यवस्था का यह प्रमुख लक्षण है कि वह मुख्यतः कच्चा या प्राथमिक माल निर्यात करता है और बदले में विकसित अर्थ व्यवस्था से मशनरी, पूँजी पदार्थ या अर्द्धनिर्मित पदार्थ आयात करता है इससे इन देशों का भुगतान संतुलन (Balance of Payment) इनके प्रतिकूल रहता है। ऐसे में अल्प विकसित देश निर्यात वर्धन (Export promotion) और आयात स्थानापन्नता (Import Substitution) की नीति अपना कर एवं निर्यात को अधिक बढ़ावा देकर भुगतान शेष संतुलन की स्थिति सुधार सकते हैं। विदेशी पूँजी किसी भी अर्थ व्यवस्था में निजी निवेश या सार्वजनिक निवेश, ऋण, एवं अनुदान के रूप में प्राप्त होती है। ये राजस्व का एक मुख्य बाह्य स्रोत है जिन्हें शुद्ध (Net) रूप में लिया जाता है अर्थात ब्याज का भुगतान आदि करने के पश्चात्। सार्वजनिक विदेशी पूँजी कर्जों एवं अनुदानों के रूप में विदेशी सरकारों से प्राप्त होती है। साथ में संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों जैसे IBRD, IFC, IDA आदि भी इस क्षेत्र में सहायता प्रदान करती हैं। निजी विदेश पूँजी दो प्रकार की होती है - प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष निजी विदेशी पूँजी के अंतर्गत निवेशक देश को कम्पनी पूँजी आयातकारी देश में अपनी कम्पनी की एक शाखा खोलती है जिसके लिये सारे व्यय वह स्वयं करती है। अप्रत्यक्ष निजी विदेशी पूँजी के अंतर्गत विदेशी कम्पनियाँ एवं व्यक्ति देशीय कम्पनियों के शेयर, बॉड एवं ऋण-पत्र खरीदते हैं जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पूँजी देश में आती है। सर्वश्रेष्ठ यह है कि विदेशी कम्पनी के साथ सह-उपक्रम स्थापित किये जायें जिससे विदेशी पूँजी के साथ-साथ तकनीक भी अर्थव्यवस्था को उपलब्ध हो जाय।

7.7 भारत में बचतों के स्रोत

आप जानते हैं कि भारत में आर्थिक विकास के साधन के रूप में योजनाओं का सहारा लिया गया है। इस योजनाओं में आने वाले वर्षों में विभिन्न खंडों (Sector) पर कितना व्यय किया जाएगा की योजनाए बनती है। इन्हें साकार रूप देने के लिए वित्तीय साधनों की पूर्ति आवश्यक है। भारत में योजनाओं के लिए वित्तीय साधनों की पूर्ति के लिए बचतों को निम्नलिखित स्रोतों से जुटाने का प्रयत्न किया जाता है।

(1) सार्वजनिक बचते – जिनमें बजटरी (वार्षिक बजट) और सार्वजनिक उद्यमो से प्राप्त बचते शामिल होती हैं।

(2) सरकारी एवं गैर सरकारी वित्तीय संस्थाओं की बचतें जैसे भारतीय रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, साख सहकारी समितियाँ आदि शामिल हैं।

(3) निजी निगमों (Private Corporates) की बचतें।

निजी बचतें जिनमें सभी वित्तीय परिसम्पितियाँ आती हैं। इन्हें मोटे रूप से निम्न मदों म बांट सकते हैं।

(क) व्यक्तियों की तरह सम्पत्ति में वृद्धि : इसके अंतर्गत व्यक्तियों के पास रखी हुई नकद राशि, बैंक में जमा राशि, ऋण समितियों, सहकारी समितियों और बैंकिंग कंपनियों, मियादी उधार देने वाली संस्थाओं एवं निजी निगमित वित्तीय संस्थाओं की जमा में वृद्धि सम्मिलित हैं :

(ख) जीवन बीमा निगम (LIC) की निधि में वृद्धि,

(ग) भविष्य निधियों (Provident Fund) जिनमें केन्द्र तथा राज्य सरकारों की भविष्य निधियां, कर्मचारी भविष्य निधि तथा अन्य भविष्य निधियां शामिल हैं;

(घ) भारतीय यूनिट ट्रस्ट के यूनिटों, निगमित एवं सहकारी शेहर तथा ऋण पत्र।

(ङ) छोटी बचतें, कर्जे, जमा और विविध सरकारी देयताएं

(च) भौतिक एवं वास्तविक परिसम्पत्तियाँ

उपर्युक्त मदों के देखने से ऐसा लगता है कि इनकी गणना करके कुल बचत का अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन यह करना इतना आसान नहीं है। भारत जैसे विकासशील देशों में बचतों की गणना के मुख्य अवरोधक अ-मौद्रीक क्षेत्र (Non Monetized Sector) का होना है। भारत में केवल 80% अर्थव्यवस्था ही मौद्रीक क्षेत्र में आती है। इस मौद्रीक क्षेत्र में भी बहुत से लेन-देन ऐसे हैं जिनका की लेखा-जोखा नहीं रखा जाता या वे आकड़े सरकार को उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। इन्हीं करणों की वजह से भारत में बचत तथा निवेश से संबंधित आंकड़े अपूर्ण एवं असंतोषजनक हैं। भारत में मुख्य रूप से निम्न तीन संस्थाएं बचत एवं निवेश संबंधी आंकड़े एकत्र करती है—

(1) भारतीय रिजर्व बैंक (RBI)

(2) केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (CSO)

(3) National Council of Applied Econmic Research (NCAER)

इनमें से पहली दो संस्थाएं सरकारी हैं तथा तीसरी संस्था अर्ध सरकारी है। इन तीनों संस्थाओं द्वारा एक ही वर्ष के लिए बचत एवं निवेश के आंकड़े भिन्न-भिन्न होते हैं। इसका मुख्य कारण इन संस्थाओं द्वारा आय-व्यय के ढंग एवं धारणाएं एक दूसरे से भिन्न हैं।

बोध प्रश्न - 2

(1) विकासशील देशों में बचत बढ़ाने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(2) एक विकासशील देश के लिए बचतों के बाह्य स्रोत क्या क्या हो सकते हैं?

(3) भारत में बचतो के मुख्य स्रोत क्या हैं?

7.8 निवेश का अर्थ

इसके पूर्व आप बचतो के बारे में अध्ययन कर चुके हैं। इन बचतों का मुख्य उद्देश्य उन्हें अर्थ व्यवस्था में विनियोजित करना है। जैसा कि आपने प्रारम्भ में पढ़ा कि किसी देश की आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया में निवेश का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि निवेश पर राष्ट्रीय उत्पादन एवं आय की वृद्धि की दर आदि निर्भर करती है। निवेश द्वारा ही पूंजी निर्माण संभव है। यदि आंतरिक बचते जिसे घरेलू पूंजी-निर्माण भी कह सकते हैं में विदेशी विनियोग को जोड़ दिया जाए तो हमें कुल पूंजी निर्माण प्राप्त हो जाएगा। आप जानते हैं कि किसी अर्थ व्यवस्था

में उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे-प्राकृतिक साधन-भूमि एवं श्रम आदि में मनुष्य द्वारा असीमित मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकी है। लेकिन क्योंकि पूंजी मनुष्य कृत उत्पादन घटक है अतः इसे मानव प्रयासों से असीमित मात्रा तक विस्तृत किया जा सकता है। किसी निश्चित समय में यदि एक अर्थव्यवस्था में उत्पादन के ये दो साधन-प्राकृतिक एवं श्रम समिति रहते हैं तो आर्थिक प्रगति के लिए पूंजी ही ऐसा साधन बचता है जिससे वृद्धि करके राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि किसी अर्थ व्यवस्था की उत्पादन क्षमता की वृद्धि उसकी आय के उस अनुपात पर निर्भर करती है जिसे बचत के रूप में बचाकर निवेश के लिए उपयोग किया जाता है।

7.9 विकासशील राष्ट्रों में अधिक निवेश आवश्यकता

जैसा कि आप जानते हैं कि आर्थिक विकास द्वारा अल्प विकसित राष्ट्र अपने जन समुदाय के जीवन स्तर में इतना सुधार करना चाहते हैं कि कुछ काल के अंदर वे अन्य विकसित राष्ट्रों के जीवन स्तर के समान हो सके। जीवन स्तर की वृद्धि हेतु राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए और इस वृद्धि के लिए पर्याप्त पूंजी का विनियोग आवश्यक होता है। विकासशील राष्ट्रों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने हेतु प्रायः अधिक निवेश की आवश्यकता होती है, क्योंकि इन राष्ट्रों में पूंजी एवं उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली आय का अनुपात अधिक होता है। इसके निम्न कारण हो सकते हैं :—

(1) विकासशील राष्ट्रों में श्रम का बाहुल्य तथा तांत्रिक कुशलताओं की कमी होती है जिसकी वजह से छोटे-छोट यन्त्रों की सहायता से उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकना संभव होता है। पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए न कुशल श्रम, न विशेषज्ञ और न आवश्यक मशीन इनके पास उपलब्ध होते हैं जिसकी वजह से उत्पादन की लागत अधिक लेकिन आय कम उपार्जित होती है।

(2) अल्प विकसित राष्ट्रों में पूंजी का अपव्यय भी अधिक होता है। अधिकतर साधनों का उपयोग परम्परागत उद्योगों एवं आर्थिक क्रियाओं में किया जाता है जिसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों में पूंजी की इतनी अधिकता हो जाती है कि अपव्यय होता है। इसके विपरीत कुछ क्षेत्रों में पूंजी की कमी के कारण उपलब्ध सुविधाओं का पूरा उपयोग नहीं हो पाता है।

(3) विकासशील राष्ट्रों में नियोजित व्यवस्था के द्वारा विकास प्रारम्भ किया जाता है और कृषि-विकास, जनोपयोगी सेवाओं, पूंजी-प्रधान परियोजनाओं तथा नवीन उद्योगों की स्थापना को विशेष महत्व प्रदान परियोजनाओं तथा नवीन उद्योगों की स्थापना को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। इन सभी क्षेत्रों में पूंजी एवं आय का भुगतान अधिक होता है, जिसके फलस्वरूप विकास की दर बनाये रखने के लिए अधिक अर्थ साधनों को जुटाना पड़ता है।

उपर्युक्त वितरण से स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों में नियोजित विकास के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता है और विकसित राष्ट्रों के समान विकसित होने के लिए इन्हें अधिक पूंजी का विनियोजन करना चाहिए।

7.10 भारत की विभिन्न योजना काल अवधियों में बचत की प्रवृत्ति

भारत में नियोजित विकास के प्रारम्भ से ही बचत एवं पूंजी निर्माण को आर्थिक विकास का प्रमुख कारण माना गया है। हमारी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य आत्म निर्भरता, निर्धनता

उन्मूलन, समानता, रोजगार एवं उत्पादकता सुधार आदि स्वीकार किए गए हैं और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बचत एवं निवेश का महत्वपूर्ण योगदान है। बचत, निवेश, पूंजी-निर्माण, अधिक आय, अधिक रोजगार इन सभी कारकों को इस प्रकार गतिमान करना आवश्यक है कि ये एक दूसरे का कारण एवं प्रभाव क्रम से बनते रहे और अर्थव्यवस्था आर्थिक विकास के मार्ग पर सुदृढ़ता से चलती रहे। भारतीय अर्थव्यवस्था में बचत एवं निवेश का क्रम क्या रहा? इसके लिए हम विभिन्न योजना काल में इनकी क्या प्रवृत्ति रही का अध्ययन करेंगे। भारतीय योजनाओं में बचत दर तथा निवेश दर को राष्ट्रीय आय में प्रतिशत के रूप में लिया जाता है। स्वतंत्रता के बाद भारत में अन्य विकासशील देशों के समान प्रारम्भ में पर्याप्त बचते एवं निवेश की दर नहीं थी। तालिका 7.1 में दिए आंकड़ों से स्पष्ट है कि नियोजन काल के पूर्व बचत दर कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग 6% थी। प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में बचतें 6% से बढ़कर 6.5% हुई जब भी इनके बढ़ने का अनुमान 7% था। द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में बचतो के बढ़ने का अनुमान क्रमशः 9.7% एवं 11.5% तक था लेकिन वास्तविक वृद्धि क्रमशः 9.3% एवं 11.2% हो ही पाई। यह बचत वृद्धि पहली योजना से लगभग दुगनी थी। इसके पश्चात वार्षिक योजनाओं के दौरान पुनः यह बचत दर घटकर 9.5 रह गई। इन वर्षों में बचत के कम होने के मुख्य कारण देश में सूखे की स्थिति और उद्योगों में अनुप्रयोजित क्षमता का पाया जाना था। चौथी योजनाओं में बचतों का बढ़कर 13.2% होने का अनुमान था जबकि वास्तविक दर 15% हुई। इस प्रकार पहली बार चौथी योजना में वास्तविक बचते अनुमानित बचतो से ज्यादा रही। इसके बाद पांचवी योजना में बचतो की अनुमानित दर 15.7% रखी गई परन्तु वास्तविक दर 20.8 रही। छठी योजना में बचतो को 24.5% हो जाने अनुमान था लेकिन वास्तविक बचत केवल 20.1% ही रही। सप्तम योजना में कुल बचत दर 23% होने का अनुमान था लेकिन वास्तविक बचत 20.9% रही।

तालिका-7.1 भारत की विभिन्न योजनाओं में बचत की प्रवृत्ति

योजना	अवधि	सकल घरेलू बचत (योजना अवधि का औसत)			बचत का निवल राष्ट्रीय उत्पादन में प्रतिशत योजना के अन्तिम वर्ष में (बाजार कीमतो) पर	
		निजी बचते	सार्वजनिक बचते	कुल बचत (करोड रु. में)	अनुमानित	वास्तविक
योजना के पूर्व	1950-51	—	—	—	5.0	6.0
प्रथम योजना	1951-56	874	169	1043	7.0	6.5
द्वितीय योजना	1956-61	1368	273	1641	9.7	9.3
तृतीय योजना	1961-66	2185	679	2864	11.5	11.2
वार्षिक योजना	1966-69	3838	731	4569	—	9.5
चौथी योजना	1969-74	6579	1341	7920	13.2	15.0
पांचवी योजना	1974-79	14181	3830	18010	15.7	20.8
छठी योजना	1980-85	30062	6609	36671	24.5	20.1
सातवीं योजना	1985-90	54141	7601	61742	23.0	20.9
आठवीं योजना	1992-97					
नौवीं योजना	1997-2002					

स्रोत (I) Centre for MonitoringIndian Economy (CMIC) Report, 1989
(II) Plan Documents

तालिका 7.1 में विभिन्न योजना अवधि में सकल घरेलू बचत को योजना अवधि में औसत के रूप में दर्शाया गया है। यह आंकड़े CMIC की रिपोर्ट में प्रस्तुत किए गए हैं। इसमें बचतो के दो मोटे स्रोत निजी बचते एवं सार्वजनिक बचतो के रूप में लिया गया है। तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र की औसत कुल बचते 169 करोड़ रु. थी तथा निजी क्षेत्र की 874 करोड़ रु. थी। यह कुल बचतो का लगभग 16.2% एवं 83.8% था। अतः प्रारम्भ से ही हमारी अर्थ व्यवस्था में निजी बचतो का अनुपात अधिक रहा। तृतीय एवं चौथी चोजना में निजी बचत का प्रतिशत घटकर 76.6% रहा लेकिन उसके बाद पांचवी योजना में पुनः 83% के पास हो गया था। सांवती योजना के वर्ष 1987-88 तक निजी बचत का प्रतिशत 87.7% रहा है। आइए अब जरा इस बात का अध्ययन करें कि भारतीय अर्थव्यवस्था में स्रोतों के अनुसार बचत की क्या प्रवृत्ति रही है? स्रोतों के अनुसार बचतो के आंकड़े जिन्हें तालिका-7.2 में दर्शाया गया है योजना आयोग के विभिन्न प्रतिवेदनों से लिए गए हैं। तालिका-7.2 से स्पष्ट है कि भारत में अधिकांश बचते परिवारों द्वारा प्राप्त होती है और सरकारी संस्थाएं तथा निजी निगम बहुत कम बचत करते हैं। पारिवारिक बचते पहली तीन योजनाओं में निरंतर बढ़ती रही। प्रथम योजना में पारिवारिक बचत कुल राष्ट्रीय आय की 4.9% थी जो द्वितीय योजना में बढ़कर 6.3% हो गई। तृतीय योजना की स्थिति और उत्पादकता में कमी के कारण यह घटकर 7.6% रह गई। पुनः चौथी एवं पांचवी योजना में इसमें बढ़ोत्तरी हुई जिससे यह प्रतिशत क्रमशः 12.21 एवं 15.90 रहा। छठी योजना में यह प्रतिशत 14.84 रहा। सातवी योजना के वर्ष 1988 तक के आंकड़ों के अनुसार पारिवारिक बचते कुल राष्ट्रीय आय की 17.17% थी।

इसी प्रकार सरकारी बचते प्रथम योजना में 1.2% थी जो द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में बढ़कर क्रमशः 2.17% एवं 2.59% हो गई। इसके बाद वार्षिक योजनाओं तथा चौथी योजना की अवधि में यह घटकर 1.69% एवं 1.94% रह गई। पांचवी योजना में सरकारी बचते पुनः बढ़कर 4.4% हुई जो कि सभी योजनाओं की तुलना से अधिकतम थी। छठी योजना में पुनः घटकर 3.64% रह गई तथा सातवी योजना के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार इसका प्रतिशत 2.82 है। आठवीं एवं नौवीं योजना के आकड़ों के लिए योजना प्रारूप देखें।

तालिका-7.2 बचत एवं निवेश सफल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में (बाजार किमतों पर)

क्र.सं.	योजना	पारिवारिक बचते	निगमित बचते	सरकारी बचते	कुल बचते	विदेशी निवेश	कुल निवेश
1	2	3	4	5	6	7	8
1.	प्रथम योजना	4.90	0.50	1.20	6.5	0.4	6.9
2.	द्वितीय योजना	6.31	0.82	2.17	9.3	3.4	12.7
3.	तृतीय योजना	8.18	0.44	2.59	11.2	2.6	13.8
4.	वार्षिक योजनाएं	7.61	0.25	1.64	9.5	1.3	10.8
5.	चौथी योजनाएं	12.21	0.85	1.95	15.0	0.7	15.7
6.	पांचवीं योजना	15.90	0.50	4.40	20.8	0.4	20.4
7.	छठी योजना	15.84	1.63	3.64	20.1	1.5	21.6
8.	सातवीं योजना	17.17	1.83	2.82	21.82	—	23.82
9.	आठवीं योजना						
10.	नौवीं योजना						

स्रोत : (1) Five year plan Documents Planning Comission, Govt. of India.
(2) Economic Survey of the defferent years.

निगमित बचतो का प्रतिशत प्रारम्भ से ही कम रहा है। प्रथम योजना में यह 0.5% था और उसके बाद क्रमशः 0.8% 20.44%, 0.25%, 0.85% एवं 0.51% रहा। छठी योजना में इसका प्रतिफल बढ़कर 1.63 हो गया तथा सातवीं योजना में भी इसका अनुमान अधिक लगाया जा रहा है।

आर्थिक सर्वेक्षण 1987-88 के आंकड़ों के अनुसार छठी योजना की अवधि (1980-81 से 1984-85) में चालू कीमतों पर कुल बत 182972 करोड़ रु. थी - जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र की कुल बचत 33085 करोड़ रु. थी जो कि कुल बचत का 19.09% थी और निजी क्षेत्र की बचत 149887 करोड़ रु. थी जो कि कुल बचत का 81.91% थी। सातवीं योजना में कुल बचत का 77% निजी क्षेत्र से तथा लगभग 23% सावर्जनिक क्षेत्र से प्राप्त होने का अनुमान है।

7.11 विभन्न योजना अवधियों में निवेश की प्रवृत्ति

जैसा कि आप जानते हैं कि कुल निवेश में घरेलू बचत के अतिरिक्त सरकार को भी विदेशी सहायता एवं विदेशी विनियोग आदि से धन प्राप्त होता है उसे भी जोड़ा जाता है। तालिका-7.2 के अंतिम स्तम्भ में कुल निवेश सकल राष्ट्रीय आय में प्रतिशत के रूप में दर्शाया गया है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि विभिन्न योजना अवधियों में निवेश की दर में निरन्तर वृद्धि होती रही है। प्रथम योजना अवधि में निवेश सकल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में 6.9% था। दूसरी पंच वर्षीय योजना के इसे बढ़ाकर 10.7% करने का अनुमान तथा लेकिन वास्तविक वृद्धि 12.7% हुई। तसरी योजना में निवेश बढ़ाकर 15% का लक्ष्य रखा गया था। जबकि वास्तविक निवेश दर 13.8% रही। वार्षिक योजनाओं के दौरान बचत के अनुरूप निवेश भी घटा और यह केवल 10.8% रह गया। निवेश की दर में गिरावट के कारण चौथी योजना में निवेश का लक्ष्य रा.आ. को केवल 13% रखा था। लेकिन वास्तविक दर 15.7% रही। पांचवी योजना में निवेश की अनुमानित दर 16.9 रखी गई। थी लेकिन एक बार फिर बढ़ी हुई वास्तविक दर 20.4% थी। छठी योजना में निवेश 21.6% रहा। सातवीं योजना में निवेश का 22.9% होने का अनुमान है। लेकिन 1988 तक यह 23.82% था।

उपर्युक्त अध्ययन से पता चलता है कि हमारे देश में स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में बचत एवं निवेश दोनों में निरंतर वृद्धि होती रही है। इसके लिए चाहे हम CSO या RBI के आंकड़ों ने दोनों ही बचत एवं निवेश में सापेक्ष वृद्धि को बदलाते है। आज बचत एवं निवेश का प्रतिशत लगभग 23 से 24 प्रतिशत है जो काफी संतोषजनक है। यह माना जाता है कि विकासशील देशों में विकसित देशों की तुलना में बचत का स्तर कम रहता है। विश्व बैंक के वार्षिक प्रतिवेदनों में दिए आंकड़ों से ज्ञात होता है कि औद्योगिक एवं मध्य आय राष्ट्रों में बचत इनके राष्ट्रीय उत्पादन की औसतन 20% रहती है तथा अल्प आय वाले विकासशील राष्ट्रों की बचत दर लगभग 7-8% (भारत एवं चीन को छोड़ कर) रही। जापान में बचत दर लगभग 31% है। जिसके प्रमुख कारण वहां के लोगों की बचत करने का स्वभाव है। इन तथ्यों की तुलना करने पर स्पष्ट है कि भारत में भी बचत का स्तर अच्छा रहा है। पिछले वर्षों में बचत दर बढ़ने के निम्न मुख्य कारण माने जाते हैं।

(1) सरकार द्वारा आवश्यक धन योजना को लागू करना।

(2) विदेशों में बसे भारतीयों द्वारा बचत का स्थानांतरण एवं विनियोग

(3) मध्य एवं उच्च आय वर्ग के लोगों की आय में बढ़ोतरी

(4) अकृषि क्षेत्रों का गतिमान होना।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारे देश में बचत का स्तर संतोषजनक है जो उत्पादन एवं विकास की दर में आशानुसार प्रगति क्यों नहीं हो रही है? यह एक विरोधाभास हे। इसके कई कारण हो सकते हैं लेकिन मुख्यतः यह माना जाता है हमारी अर्थव्यवस्था में एक तो पूंजी-उत्पाद अनुपात अधिक है तथा दूसरे बचते अनुत्पादक क्षेत्रों में लग जाती है। इसके अलावा मूल्य वृद्धि उत्पादन का पुराना तरीका एवं अकुशल प्रबंध आदि महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही बढ़ती हुई जन संख्या द्वारा उत्पादन की सामान्य वृद्धि का उपयोग कर डालना है और विनियोजन में वृद्धि हेतु साधन उपलब्ध नहीं हो पाते।

बोध प्रश्न - 3

(1) विकास शील राष्ट्रों में अधिक निवेश की आवश्यकता क्यों है?

(2) भारतीय योजना काल में बचत एवं निवेश की प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए।

(3) "भारत में बचत दर उपयुक्त होने पर भी विकास दर संतोषजनक नहीं है।" क्या आप इससे सहमत हैं। अपना उत्तर कारण सहित स्पष्ट कीजिए।

7.12 सारांश

इस इकाई में मुख्य रूप से आपने बचत एवं निवेश के प्रतिमान एवं प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया है। प्रारम्भ में आपने बचत का अर्थ एवं मोटे रूप में उसके स्रोतों के बारे में अध्ययन किया। आपने देखा कि एक विकासशील देश में बचत से संबंधित क्या क्या समस्याएं हैं? जिनकी वजह से बचत कम होती है। अतः हमने उन उपायों की चर्चा की जिनकी बचत से घरेलू बचत को बढ़ाया जा सकता है किसी देश में घरेलू बचत के साथ कुछ बाह्य स्रोत भी कुल बचत को बढ़ाने में उपयोगी होते हैं। आपने यह भी जाना कि भारत में बचतों के मुख्य क्या स्रोत है?

बचत का उद्देश्य उसे निवेशित करना है अतः आपने निवेश के बारे में पढ़ा तथा देखा कि विकासशील राष्ट्रों में अधिक निवेश की आवश्यकता क्यों है?

अंत में हमने भारत की विभिन्न योजना अवधियों में बचत एवं निवेश की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया। हमने देखा कि किस प्रकार सार्वजनिक एवं निजी बचतों में परिवर्तन होते रहे। इस प्रकार बचत एवं निवेश को सकल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप निकाल कर अलग-अलग योजनाओं में इनकी क्या प्रवृत्ति रही का भी आपने अध्ययन किया। आपने देखा कि प्रथम योजना से सप्तम योजना काल तक बचत तथा निवेश में कुछ काल को छोड़कर उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। आजकल हम अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग 23 से 24 प्रतिशत तक बचाकर निवेश करते हैं लेकिन इसके बावजूद हम विकास की वांछनीय दर प्राप्त करने में सफल नहीं रहे हैं।

7.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एम. एल. झिंगन	विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन
शर्मा एवं वार्ष्णेय	विकास का अर्थशास्त्र एवं नियोजन
भण्डारी एवं जौहरी	भारत में आर्थिक नियोजन एवं प्रगति के सिद्धान्त
Mishra & Puri	Development Planning Theory and Practice
J. S. Uppal	India's Economic Problems An Analystic Approach

P.K. Mitra	Aggragate Savings of the Indian Economy
R.K Sinha	Economic Planning in India
Shetty S.L. & Menon K.A.	Saving and Investmet, Economic Times (New Delhi) 4,5 & 6 Aug. 1980.

इकाई 8

पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं इसका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 पूँजी-उत्पाद अनुपात का अर्थ
8.3 पूँजी-उत्पाद अनुपात के प्रकार
8.4 पूँजी-उत्पाद अनुपात की विशेषताएं
8.4.1 पूँजी-उत्पाद किन परिस्थितियों में अधिक या कम होंगे
8.5 अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजी-उत्पाद अनुपात
8.6 पूँजी-उत्पाद अनुपात के अध्ययन व प्रयोग का महत्व
8.7 भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात
8.8 विभिन्न योजना अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात
8.9 सारांश
8.10 शब्दावली
8.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इससे पूर्व आप बचत एवं निवेश की प्रवृत्तियों के बारे में अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में हम पूँजी-उत्पाद अनुपात के बारे में अध्ययन करेंगे। इसमें मुख्यतया हम देखेंगे कि पूँजी-उत्पाद का क्या तात्पर्य है तथा कई विकसित देशों में इसकी प्रवृत्ति क्या रहती है? भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात अलग-अलग योजना अवधियों में क्या रहा? इत्यादि। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बातें जान पायेंगे।

1. पूँजी-उत्पाद अनुपात किसे कहते हैं?
2. पूँजी-उत्पाद अनुपात के कौन-कौन से प्रकार हैं?
3. पूँजी-उत्पाद अनुपात किन परिस्थितियों में ज्यादा हों तथा किनमें कम
4. भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात की क्या प्रवृत्ति रही है?

8.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने बचत एवं विनियोग की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया है। बचत का मुख्य उद्देश्य उसे विनियोजित करना है तथा इससे पूँजी-निर्माण होता है। एक अर्थ-व्यवस्था के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि उसमें कितनी पूँजी लगाई गई है और उससे कुल कितना उत्पादन प्राप्त हुआ है? किसी भी देश की आर्थिक प्रगति के अध्ययन में पूँजी-निर्माण एवं उत्पादन-वृद्धि में आनुपातिक संबंध को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है। इस अनुपात से ही हम किसी अर्थव्यवस्था के पूँजी-उत्पाद अनुपात का अनुमान लगा सकते हैं।

इसके अध्ययन के आधार पर ही अर्थव्यवस्था की प्रगति का ठीक-ठीक अनुमान लगाना संभव हो सकता है। नियोजित अर्थव्यवस्थाओं के नियोजन काल में कुल कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी का अनुमान लगाने के लिए भी पूँजी-उत्पाद अनुपात सहायक सिद्ध होते हैं। विभिन्न आर्थिक विकास के मॉडलों में भी इस अनुपात को एक महत्वपूर्ण घटक माना है।

अब विभिन्न प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं कि पूँजी-उत्पाद अनुपात किसे कहते हैं तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में इसकी क्या प्रवृत्ति रही है? पूँजी-उत्पाद अनुपात ज्यादा या कम कब होते हैं? इन अनुपातों की क्या सीमाएं हैं? इन्हीं सब जिज्ञासाओं का समाधान इस इकाई में किया गया है।

8.2 पूँजी-उत्पाद अनुपात का अर्थ

पूँजी-उत्पाद अनुपात निवेश के मूल्य तथा उत्पादन के मूल्य के बीच संबंध को व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ यदि 2000 रु. के विनियोग से 1000 रु. मूल्य का उत्पादन होता है तो पूँजी-उत्पादन अनुपात 2000:1000 या 2:1 होगा। आर्थिक प्रगति के संदर्भ में पूँजी-उत्पादन अनुपात किसी निश्चित काल में पूँजी-वृद्धि एवं उसी काल की उत्पादन वृद्धि के अनुपात को कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी विशिष्ट समय में केवल पूँजी से होने वाले उत्पादन का ही अनुपात ज्ञात किया जाता है। पूँजी-उत्पादन अनुपात वास्तव में उत्पादन में लगाए गए समस्त साधनों से उत्पन्न होने वाले उत्पादन का अनुपात होता है। कुछ अर्थशास्त्री पूँजी में भूमि को भी शामिल करने के पक्ष में है क्योंकि आजकल भूमि में प्रकृति का भाग कम व मानव सुधारों का भाग अधिक होता है। लेकिन साधारणतया पूँजी एवं मानव पूँजी (श्रम) को शामिल नहीं करते हैं। इस प्रकार इस प्रकार पूँजी-उत्पाद अनुपात विनियोग उत्पादन संबंध को बताता है जिसे कुल या वृद्धिमान के रूप में ले सकते हैं।

8.3 पूँजी-उत्पाद का अनुपात के प्रकार

आइए हम अब यह देखें कि पूँजी-उत्पाद अनुपात के क्या-क्या प्रकार हैं? आर्थिक विकास के साहित्य में निम्न दो प्रकार के पूँजी-उत्पाद अनुपात पाए जाते हैं :

(1) औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (Average Capital-output Ratio)

(2) वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात (Incremental Capital-Output Ratio)

(1) औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (ACOR)

औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात किसी समय विशेष में कुल उत्पाद को कुल पूजी से संबंधित करता हैं। J. Timbergen के शब्दों में "औसत पूँजी-उत्पादन अनुपात उस सबके साथ जो अतीत में निवेश किया गया है और समस्त भाव के साथ संबंध रखता है" इसे हम निम्न सूत्र के द्वारा ज्ञात कर सकते हैं :

$$\text{औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात} = \frac{\text{अर्थव्यवस्था में कुल पूँजी का मूल्य}}{\text{अर्थव्यवस्था का कुल उत्पादन}}$$

$$= \frac{\Sigma K}{\Sigma Y}$$

यहां K = पूंजी (Capital)

Y = उत्पादन (Output)

(2) वृद्धिशील पूँजी उत्पाद अनुपात (ICOR) :-

यह अनुपात विकास आयोजन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। यह अनुपात किसी वर्ष में होने वाले पूँजी निर्माण तथा उस पूँजी निर्माण से अगले समय में उत्पादित शुद्ध उत्पादन के संबंध को बतलाता है। दूसरे शब्दों में वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) उस संबंध को व्यक्त करता है जो पूँजी के स्टाक में हुई वृद्धि, जिसे ΔK द्वारा व्यक्ति कर सकते हैं, और उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त उत्पादन में वृद्धि ΔY के बीच होता है। इसी गणना निम्नवत की जाती है :

$$\text{वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात} = \frac{\text{किसी काल में शुद्ध पूँजी-निर्माण}}{\text{उसी काल में शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि}}$$

$$= \frac{\Delta K}{\Delta Y}$$

वैसे तो किसी पूँजी-विनियोग से प्रतिफल कुछ समय बाद ही मिलता है परन्तु गणना की सुविधा के लिए हम इस संबंध को उसी काल के उत्पादन से संबंध के रूप में निकाल देते हैं।।

औसत एवं वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात को चित्र द्वारा भी समझा जा सकता है।

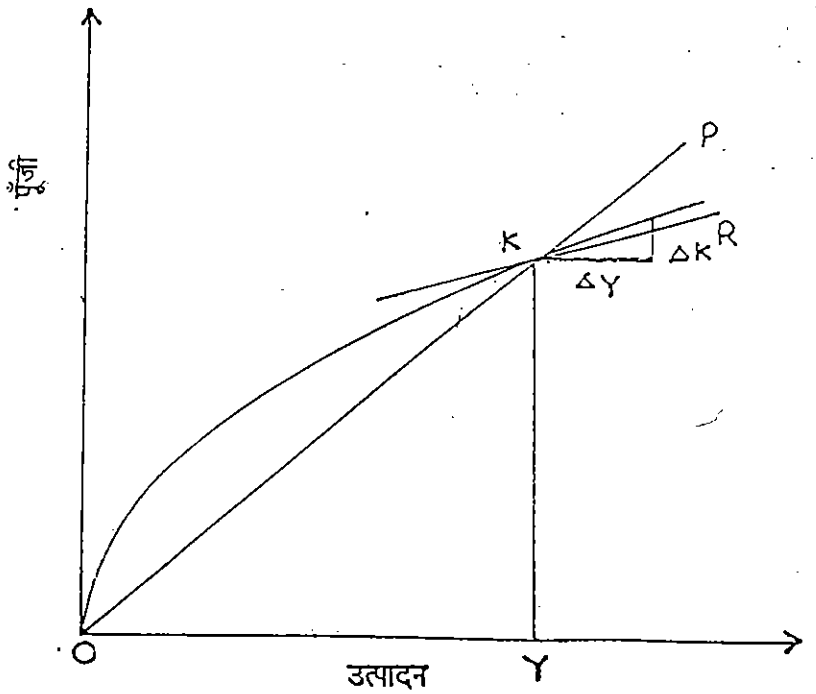

चित्र 8.1

उपर्युक्त चित्र नं. 8.1 में क्षैतिज अक्ष पर उत्पादन तथा अनुलम्ब अक्ष पर पूँजी के लिए गए हैं। पूँजी और उत्पादन के साथ संबंध स्थापित करने वाला फलन OKY है तथा OP रेखा (45^0 अक्ष पर) इस फलन को K बिंदु से काटती हुई गुजरती है। इस फलन के किसी भी बिन्दु पर औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (ACOR) को ज्ञात करने के लिए कुल पूँजी में कुल उत्पादन का भाग देने से प्राप्त हो जाएगा। अतः K बिन्दु पर ACOR =KY/OY है। तथा वृद्धिगत पूँजी-उत्पादन अनुपात (ACOR) इस फलन पर किसी भी बिन्दु पर निकाला गया ढाल (Slope) है। अतः पुनः बिंदु K पर इस फलन का ढाल $\Delta K/\Delta Y$ है। जिसे ICOR कहा जाएगा।

यहां अब एक प्रश्न और उठता है कि पूँजी-उत्पाद अनुपात को निकालने के लिए हम जिस पूँजी को लेते हैं वह घिसावट निकालकर (Depereciated) ले या बिना घिसावट निकाल कर (Undepereciated) ले। इस पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। कुजनेट घिसावट निकालकर पूँजी लेने के पक्ष में है तो लियन्तीफ बिना घिसावट की पूँजी लेने के पक्ष में हैं। लेकिन एक बात यहाँ स्पष्ट है कि अगर घिसावट निकालकर पूँजी-उत्पाद अनुपात निकाला जायेगा तो वह गिरेगा, कम मूल्य पर ही उसे निकाला जायेगा तो वह अधिक रहेगा। अब जब हम पूँजी-उत्पाद अनुपात के कम और ज्यादा होने की बात कर रहे हैं तो आपकी यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यह किन परिस्थितियों में कम या ज्यादा होते हैं? इस बात का विवेचन आगे हम इनकी विशेषताओं के अंतर्गत करेंगे।

बोध प्रश्न - 1

1. पूँजी-उत्पाद अनुपात से आप क्या समझते है?
2. पूँजी-उत्पाद अनुपात को विनियोजन का आधार क्यों बनाया जाता है?
3. औसत एवं वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात को सूत्र द्वारा समझाइये।

8.4 पूँजी-उत्पाद अनुपात की विशेषताएं

पूँजी-उत्पाद अनुपात सामान्यतः स्थिर नहीं रहते हैं। विशेषकर विकासशील राष्ट्रों में यह अनुपात निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि विकास के बढ़ते चरणों के साथ-साथ तकनीकी अभिनवीकरण भी होता रहता है और नवीन तकनीकी के उपाय से कम पूँजी पर अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न देशों में पूँजी-उत्पाद अनुपात अलग-अलग रहते हैं तथा यह देश की आर्थिक स्थिति के साथ-साथ बदलते भी रहते हैं। एक ही देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों (Sectors) में भी पूँजी उत्पाद अनुपात अलग-अलग रहते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही क्षेत्र में समयान्तर से यह अनुपात घट जाते हैं या बढ़ जाते हैं। अतः एक अनुपात एक देश के लिए किसी समय विशिष्ट के लिए ही लागू हो सकता है तथा इसे हम स्थिर नहीं मान सकते। अब हम संक्षेप में इस बात का विवेचन करें कि किन परिस्थितियों में यह अनुपात अधिक रहते हैं तथा किन परिस्थितियों में कम रहते हैं।

8.4.1 पूँजी-उत्पाद अनुपात किन परिस्थितियों में अधिक या कम होंगे :-

पूँजी-उत्पाद अनुपात निम्न परिस्थितियों में अधिक रहेंगे

(1) यदि किसी देश में औद्योगीकरण बड़े पैमाने पर शुरू किया गया हो तथा यदि में भारी उद्योगों की स्थापना हो रही हो तो यह अनुपात ज्यादा होगा। भारी उद्योगों में अधिक धन लगाया जाता है और यह आधा की जाती है कि धीरे-धीरे विनियोग कम होगा। लेकिन यदि विकास के साथ-साथ पूँजी गहन (Capital Intensive) तकनीक अपनाई जाती है तो पूँजी उत्पाद अनुपात घटेगा नहीं वरन् बढ़ता जाएगा। अमेरीकी अर्थव्यवस्था इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(2) अगर उद्योगों का फलदायक काल (Gestation Period) अधिक हो तो पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होगा।

(3) अगर किसी देश में उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार कार्य नहीं कर रहे हो अर्थात् देश में अतिरिक्त क्षमता हो जिसका उपयोग नहीं हो रहा-है तो भी पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक रहेंगे।

(4) अगर देश में विकास के लिए या अन्य किसी कारण (जैसे युद्धोपरान्त या बाढ़ व भूकम्प की बरबादी के बाद) सार्वजनिक निर्माण या सार्वजनिक सेवा उद्योगों में विनियोजन हो रहा हो तो पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होगा। कई देशों में विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में स्कूल, अस्पताल, सड़के, रेले तथा बिजली इत्यादि की सामाजिक एवं आर्थिक ऊपरी सुविधाएं प्रदान करने के उद्देश्य से, अल्प विकसित देशों को बड़े निवेश की आवश्यकता पड़ती है जिसकी वजह से पूँजी-उत्पाद अनुपात ऊँचा होता है।

(5) अल्प विकसित देशों में पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होने का एक कारण ब्याज की दर अधिक होना भी है। क्योंकि पूँजी अधिक ब्याज पर उपलब्ध होती है अतः पूँजी की कीमत अधिक लगती है और यह अनुपात ज्यादा हो जाता है।

(6) यदि उत्पत्ति में ह्रास नियम लागू हो रहा हो तो उत्पादन कम होता है जिसके कारण भी पूँजी-उत्पाद अनुपात बढ़ जाता है।

पूँजी-उत्पाद अनुपात कब कम होते है?

पूँजी उत्पाद अनुपात उस समय कम होते हैं जबकि पूँजी कम लगे और उत्पादन अधिक हो। इस प्रकार जो परिस्थितियां ऊपर व्यक्त की गई हैं उनके विपरीत स्थितियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात कम होता है। संक्षेप में यह स्थितियां इस प्रकार हैं :

(1) अगर उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार उत्पादन कर रहे हो अर्थात उत्पादन क्षमता का दुरुपयोग नहीं हो रहा हो।

(2) अगर किसी देश में उत्पादन की श्रम गहन (Labour Intensive) एवं सस्ती तकनीक अपनाई गई हो।

(3) अगर देश में कृषि व छोटे उद्योगों में अधिक विनियोजन हो रहा हो तो भी पूँजी-उत्पाद अनुपात कम रहेंगे।

(4) अगर देश में तकनीक या अन्य कारणों की वजह से श्रम उत्पादकता (Labour Productivity) अधिक हो,

(5) अगर उद्योगों का फलदायक काल शीघ्र प्रारम्भ हो रहा हो,

(6) अगर उत्पदन में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो रहा हो।

8.5 अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजी-उत्पाद अनुपात

ऊपर आपने देखा कि किन स्थितियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात कम या ज्यादा होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि किसी अल्प विकसित राष्ट्र के लिए इस अनुपात की आदर्श स्थिति क्या होनी चाहिए? संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों के ग्रुप ने अपने अध्ययन में 2:1 से लेकर 5:1 तक के अनुपात का प्रयोग किया था। प्रो. सिंगर ने अपने आर्थिक विकास के माडल में कृषि क्षेत्रों में 4:1 तथा अकृषि क्षेत्रों में 6:1 एवं औसत अनुपात 5:1 का माना है। एक अन्य विकास अर्थशास्त्री रोसन्टीन रोडान के अनुसार यह अनुपात कम से कम 3:1 तथा अधिक से अधिक 4:1 होता है। इस प्रकार डा. एच. के. मनमोहन सिंह के अनुसार देशों में इस अनुपात का प्रसार 2.9:1 तथा 4:1 के मध्य रहता है और अल्प विकसित देशों में यह अनुपात 1.5:1 और 2:1 के बीच कल्पित किया गया है। अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत है कि पूँजी-उत्पाद अनुपात पहले बढ़ता है फिर विकास की क्षमता बढ़ने पर घटता है और दीर्घकाल में कुछ अर्थव्यवस्थाओं में यह स्थिर भी हो जाता है। इन अर्थशास्त्रियों में कोलिन क्लार्क, साइमन कुजनेटस तथा लीवन्स्टीन प्रमुख है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि ये निष्कर्ष अधिकांश विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के अनुभव के आधार पर लिए गए हैं। फिर भी यह निष्कर्ष अल्पविकसित देशों के सामान्य व्यवहार को समझने में बहुत उपयोगी सिद्ध हो

सकते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय उद्योगों के संबंध में अपनी संगणनाओं तथा विकसित देशों के उद्योगों के साथ तुलना करने पर वी.वी.भट्ठ ने पाया कि दोनों ही प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी-उत्पाद अनुपात लगभग एक जैसा ही होता है। अनेक देशों का अनुभव बताता है कि यह अनुपात औसतन 3:1 तथा 4:1 के बीच रहता है।

अर्थशास्त्रियों के बीच विभिन्न चर्चाओं के आधार पर हम विकासशील देशों के बारे में दो प्रमुख निष्कर्ष निकाल सकते हैं:

(1) विकासशील देशों के अल्पकाल में कम पूँजी-उत्पाद अनुपात की स्थिति आकर्षक लग सकती है परन्तु दीर्घ काल में अधिक पूँजी-उत्पाद अनुपात को टाला नहीं जा सकता हैं फिर भी कोशिश यही रहनी चाहिए कि विकास के अन्य लक्ष्यों को साधने के साथ-साथ यह अनुपात कम रहे।

(2) विकास के साथ-साथ पूँजी-उत्पाद घट भी सकता है और बढ़ भी सकता है। विकास के साथ-साथ अगर पूँजी गहन व पूँजी विस्तार दोनों चल रहे हो तो पूँजी की अधिकता से पूँजी उत्पाद अनुपात बढ़ेगा। यह अनुपात धीरे-धीरे उत्पादकता बढ़ने पर घट भी सकता है। परन्तु जो भी प्रकृति होगी व न तो स्थायी होगी और न ही दीर्घकालीन डोमर के इस आचरण को चित्र 8.2 द्वारा स्पष्ट किया है :

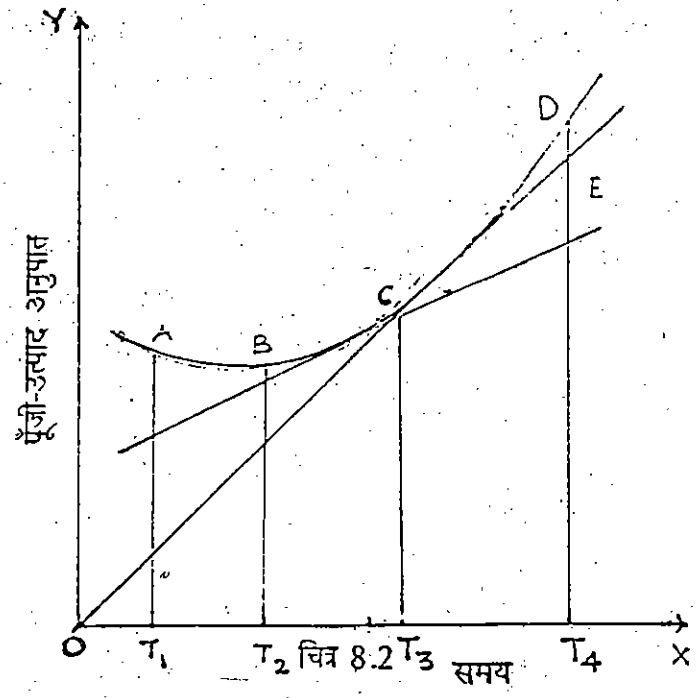

चित्र 8.2

उपर्युक्त चित्र में क्षितिज अक्ष (OX) पर समय है तथा अनुलम्ब अक्ष पर पूँजी-उत्पाद अनुपात है। पूँजी-उत्पाद अनुपात वक्र पहले घटता है और पुनः बढ़ने की प्रवृत्ति रखता है। OT_1, OT_2, OT_3 आदि समय बिन्दु हैं। अबर बिन्दु के बाद भी पूँजी-उत्पाद वक्र बनाया जाए तो वह आगे चपटा हो सकता है तथा फिर घट सकता है।

8.6 पूँजी-उत्पाद अनुपात के अध्ययन व प्रयोग का महत्व

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि पूँजी-उत्पाद अनुपात का प्रयोग हम देश में पूँजी निर्माण की मात्रा निर्धारित करने के लिए करते हैं: इस अनुपात की गणना करने में कठिनाई अवश्य होती है परन्तु इनके प्रयोग से हम अनुमानित विनियोजन द्वारा होने वाले उत्पादन की सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का इस संबंध में यह विचार है कि विकासशील राष्ट्रों में इस

अनुपात की गणना करना सम्भव नहीं होता है, क्योंकि लागत एवं उत्पादन संबंधी समंक पर्याप्त मात्रा एवं शुरू रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं। अगर अपर्याप्त समंकों के आधार पर कोई अनुपात निकाला भी गया तो उससे निकाले गए अनुमान सही नहीं होंगे। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि एक अनुपात किसी विशिष्ट समय के लिए ही लागू होता है। इससे किस प्रकार परिवर्तन हो सकते हैं इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। इन परिवर्तनों की वजह से अल्पकाल में पूँजी-उत्पाद अनुपात बहुत अस्थिर होते हैं परंतु दीर्घकालिक आयोजन में हम इनका अच्छा प्रयोग कर सकते हैं। हैरोड-डोमर* ने अपने प्रगति के माडल में इस अनुपात का प्रयोग किया है। इस मॉडल के द्वारा निर्धारित विकास की दर को प्राप्त करने के लिए पूँजी की आवश्यकता को निर्धारित करने में सहायक होता है। इसी प्रकार पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं बचत-आय अनुपात ज्ञात होने पर अर्थ-व्यवस्था की प्रगति की दर भी ज्ञात की जा सकती है। इसके विपरीत, पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं प्रगति दर ज्ञात होने पर बचत आय अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। किसी अर्थ व्यवस्था के बचत-मात्र अनुपात ज्ञात हो जाने पर उस अर्थ-व्यवस्था के लिए कितनी बाह्य सहायता की आवश्यकता होगी का अनुमान लगाया जा सकता है।

इसके अलावा पूँजी-उत्पाद अनुपात द्वारा अर्थव्यवस्था के भिन्न-भिन्न उद्योगों का क्षेत्रों में पूँजी गहनता का अनुमान लगाने के लिए भी उपयोग किया जाता है। इससे हमें नियोजन की प्राथमिकता निर्धारित करने में सहायता मिलती है। इस अनुपात के दीर्घकालीन अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि अर्थव्यवस्था के किन क्षेत्रों में निवेश की मात्रा में वृद्धि तथा किन क्षेत्रों में कमी की जानी चाहिए।

बोध प्रश्न - 2

1. पूजी-उत्पाद अनुपात किन परिस्थितियों में कम या अधिक होते है?
2. अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजी-उत्पाद अनुपात की क्या प्रकृति रहती है?

8.7 भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात

आप जानते हैं कि भारत एक कृषि प्रधान देश है अर्थात भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का प्रमुख स्थान है। राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग आधा भाग कृषि क्षेत्र से उपलब्ध होता है। हमारे देश के कृषि क्षेत्र में सामान्यतः श्रम प्रधान तकनीकी का ही उपयोग किया जाता है जिससे इस क्षेत्र में पूँजी-उत्पाद अनुपात कम रहता है। कृषि के साथ ही रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने के लिए हमारे देश में लघु एवं ग्रामीण क्षेत्र के विस्तार एवं विकास को भी प्राथमिकता दी गई है। इस क्षेत्र में भी पूँजी-उत्पादन अनुपात कम रहता है। इस प्रकार देखने से ऐसा लगता है कि भारत की राष्ट्रीय आय में ऐसे क्षेत्रों का योगदान अधिक है जिनमें पूँजी-उत्पाद अनुपात कम रहता है। लेकिन गणना करने पर जो अनुपात आता है वह ऊँचा पाया गया है। अतः अगर इस अनुपात की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन करना है तो हमें इसे विभिन्न अवधियों में देखना होगा। सर्वप्रथम हम इस अनुपात की प्रवृत्ति का अध्ययन 1951-52 से 1976-77 की समयावधि से करेंगे। इस काल के लिए प्रो. वी. के. आर. वी. राव ने अपने एक अध्ययन[1] में भारत में पूँजी उत्पाद अनुपात के बारे में जो आंकड़े प्रस्तुत किए हैं वह तालिका 8.1 में दिए गए हैं। इस तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि 1951-52 से 1959-60 के दशक में स्थिर मूल्य

---

* हैराड-माडल का मुख्य समीकरण – $GW = \sigma / Cr$ है। जिसमें GW= विकास दर (growthrate,) σ = बचत आय अनुपात एवं Cr = पूँजी-उत्पाद अनुपात (Captial output ratio) है। आदि किसी अर्थव्यवस्था में पूँजी उत्पाद अनुपात 4 है और बचत आय अनुपात 12% है तो हैराड़ सूत्र के अनुसार वृद्धि दर 12/4 = 3% होगी।

1 Rao, V.K.R.V. "Savings capital formation and National Income," Economic and Political Weekly May, 1980.

पर वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद में काफी उच्चावन (Fluctuations) होते रहे। वर्ष 1957-58 में यह अनुपात ऋणात्मक था जो यह व्यक्त करता है कि इस वर्ष स्थिर मूल्यों पर उत्पादन में कमी हुई थी। इसके बाद वर्ष 1965-66 एवं 1972-73 में भी यह अनुपात ऋणात्मक था जो सम्भवतः दोनों संदर्भ वर्षों में पाकिस्तान से युद्ध के कारण उत्पादन पर पड़े असर के कारण रहा होगा। तालिका से स्पष्ट है कि 1960 से 1977 तक भी बहुत उच्चावचन का का रहा है। क्योंकि वृद्धिगत पूँजी उत्पाद अनुपात में वर्ष-प्रतिवर्ष अधिक परिवर्तन होता रहा जिससे किसी विशेष प्रवृत्ति का बोध नहीं होता है। इस समयावधि में यदि औसत अनुपात की प्रवृत्ति का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वर्ष 1952-53 से यह अनुपात घटता चला गया। वर्ष 1956-57 के बाद से इसमें उच्चावचन होते रहे जो वर्ष 1961-62 तक चले। वर्ष 1961-62 के बाद इस अनुपात में कुछ वर्षों को छोड़ कर उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही इस प्रकार औसत पूँजी उत्पाद अनुपात में क्रमागत वृद्धि की प्रवृत्ति रही। यह इस बात का प्रतीक है कि

तालिका-8.1 - भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात

वर्ष	स्थिर मूल्य (1960-61) पर वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात	औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (चालू मूल्यों पर)
1951-52	8.00	2.71
1952-53	3.18	2.73
1953-54	1.91	2.63
1954-55	4.11	2.61
1955-56	4.91	2.60
1956-57	3.78	2.57
1957-58	(–) 14.22	2.77
1958-59	1.95	2.70
1959-60	7.50	2.74
1960-61	2.79	2.67
1961-62	4.37	2.60
1962-63	7.17	2.67
1963-64	3.61	2.67
1964-65	2.64	2.62
1965-66	(–) 4.73	2.92
1966-67	16.64	3.08
1967-68	2.47	2.99
1968-69	5.38	3.05
1969-70	3.89	3.03
1970-71	4.89	3.06
1971-72	10.18	3.11
1972-73	(–) 27.40	3.30
1973-74	4.85	3.35

वर्ष	स्थिर मूल्य (1960-61) पर वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात	औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (चालू मूल्यों पर)
1974-75	27.35	3.43
1975-76	2.72	3.42
1976-77	11.52	3.44

अर्थव्यवस्था में ऐसा विनियोग किया गया जो पूँजी-प्रधान था और जिसके परिपक्व होने में अधिक समय लगा। इसके अतिरिक्त, कृषि क्षेत्र में मानसून की परिस्थितियों में परिवर्तन होने से उत्पादन में उच्चावचन हेते रहे हैं जिससे पूँजी-उत्पाद अनुपात में परिवर्तन होता रहा। औसत पूँजी-उत्पाद का औसत प्रथम दशक में 2.67, द्वितीय दशक में 2.87 तथा तृतीय दशक के सात वर्षों में 3.33 रहा है। औसत पूँजी-उत्पाद के निरंतर वृद्धि होते रहना भविष्य के विकास के लिए अवरोधक सिद्ध हो सकता है। इसे स्थिर रखने के प्रयास किए जाने चाहिए। पूँजी की वृद्धि के उपयोग के प्रकार का अध्ययन करके ऐसे क्षेत्रों में निवेश किया जाना चाहिए जिससे उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि की जा सके।

8.8 विभिन्न योजना-अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात

अब हम पूँजी-उत्पाद का विभिन्न योजना अवधियों में विश्लेषण करेंगे। ऊपर किए गए विवेचन के अनुरूप विभिन्न अवधियों में भी पूँजी-अनुपात में काफी उच्चावचन होते रहे हैं। ये उच्चावचन विकास की प्रक्रिया तथा विनियोजन की संरचना में परिवर्तन के कारण हैं। इसके अलावा सिंचाई एवं खनिज के क्षेत्रों में भी लागत के बढ़ने एवं उत्पादन क्षमताओं की पूर्णतया एवं कुलशतम उपयोग न करने के कारण भी यह अनुपात बढ़े हैं। विभिन्न योजनाओं की अवधि में वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात तालिका 8.2 में दर्शाये गए हैं।

तालिका-8.2 भारत में विभिन्न योजना-अवधियों में वृद्धिगत सकल पूँजी-उत्पाद अनुपात (1970-71 के मूल्यों पर)

क्र. सं	योजना	अवधि	अनुमानित वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात	वास्तविक वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात
1.	प्रथम योजना	1951-52 से 1955-56	3.0	3.21
2.	द्वितीय योजना	1956-57 से 1960-61	2.3	4.13
3.	तृतीय योजना	1961-62 से 1965-66	2.6	5.42
4.	वार्षिक योजना	1966-67 से 1968-69	2.0	4.85
5.	चौथी योजना	1969-70 से 1973-74	2.0	5.68
6.	पांचवी योजना	1974-75 से 1978-79	2.5	3.82
7.	छठी योजना	1980-81 से 1984-85	5.6	5.40
8.	सातवी योजना	1985-86 से 1989-90	6.0	अनुपलब्ध

स्रोत : (1) A Technical Note on the Sixth Plan of India, Planning Commission, Govt of India July 1981

(2) A Technical Note on the Seventh Plan of India, Planning Commsission, Govt. of India, June 1986.

तालिका 8.2 से स्पष्ट है कि प्रथम योजना काल में अनुमानित वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद 3.0 था लेकिन वास्तविक अनुपात 3.21 रहा। इसी प्रकार द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में अनुमानित अनुपात 2.3 एवं 2.6 था लेकिन वास्तविक अनुपात क्रमशः 4.13 एवं 5.42 रहा। इन दोनों अवधियों में वास्तविक अनुपात अधिक था। वार्षिक योजना काल 1966-67 से 1968-69 में वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात 4.85 था। चौथी एवं पांचवी योजनाओं में पुनः अनुमानित अनुपात 2.0 एवं 2.5 था लेकिन वास्तविक अनुपात 5.68 एवं 3.82 रहा। पांचवी योजना में यह अनुपात घटा लेकिन छठी योजना में पुनः यह बढ़कर 5.40 हो गया। छठी योजना (1980-85) में विभिन्न क्षेत्र में उपलब्ध विनियोजन एवं वृद्धिगत सफल राष्ट्रीय उत्पादन के आंकड़ों के आधार पर हम अलग-अलग क्षेत्रों में पूँजी-उत्पाद अनुपात की भी गणना कर सकते हैं। यह अनुमानित आंकड़े तालिका 8.3 में प्रस्तुत हैं। तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि छठी योजना में विद्युत एवं गैस के क्षेत्रक को अनुपात में तीव्र वृद्धि होने का अनुमान था क्योंकि इस क्षेत्र में भारी पूँजी विनियोजन किया जाना था। कृषि क्षेत्र में भी इस योजना के पूर्व अनुपात 3.92 था लेकिन जिसे बढ़ाकर 4.74 अनुमानित किया गया। कृषि यन्त्रीकरण के विस्तार के कारण इस अनुपात में वृद्धि होना स्वाभाविक था। खनिज एवं निर्माण क्षेत्र में यह अनुपात 6.91 था जो कि इसके पूर्व वाले वर्षों के अनुपात 8.67 से कम था अर्थात इन क्षेत्रों में कम अनुपात होने की सम्भावना थी। छठी योजना का औसत अनुमानित अनुपात 5.67 था लेकिन इस अवधि में वास्तविक अनुपात 5.4 था। इस प्रकार पहली बार अनुमानित अनुपात से वास्तविक अनुपात कम रहा।

तालिका-8.3 छठी योजना में अनुमानित विभिन्न वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात

क्र. सं	क्षेत्रक	विनियोजन बाजार मूल्यों पर (करोड़ रु.)	वृद्धिगत सफल राष्ट्रीय उत्पादन	वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात
1.	कृषि	33,468	7,049	4.74
2.	खनिज एवं निर्माण	52,090	7,540	6.91
3.	निर्माण	1,760	1,389	1.26
4.	विद्युत एवं गैस	23,554	686	34.33
5.	परिवहन संचार एवं व्यापार	26,255	6,733	3.90
6.	अन्य क्षेत्र	21,583	4,602	4.69
	योग	1,58,710	27,999	औसत 5.67

स्रोत : A Technical Note on the Sixth Plan of India, Planning Commission, Govt. of India, July 1981.

सातवीं योजना के परिचय प्रतिवेदन में इस योजना में पूँजी-उत्पाद अनुपात 6:1 अनुमानित है। इसका तात्पर्य है कि एक इकाई के उत्पादन के लिए छः इकाई पूँजी की आवश्यकता होगी: सातवी योजना में सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 5.2: प्रतिवर्ष की वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जबकि बचत दर 26% अनुमानित है। इस योजना अवधि के बारे में विस्तृत जानकारी एवं आठवीं तथा नौवीं योजना के आंकड़ों को विद्यार्थी स्वयं संग्रह करे। इसके लिए आठवीं एवं नौवीं योजना के प्रारूप का अध्ययन करें।

इन सभी योजना अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात की प्रवृत्ति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि हमें राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि के लक्ष्य को पूरा करना है तो पूँजी-उत्पाद अनुपात को स्थिर

रखना होगा एवं बचत दर में वृद्धि करना होगा। केवल उन क्षेत्रकों में जहां आवश्यकता है इस अनुपात को अधिक रखा जा सकता है। आठवीं योजना पूरी हो चुकी है एवं नौवीं योजना 1997-2002 प्रगति पर है।

पूँजी उत्पाद अनुपात अपनी सीमाओं के बावजूद आजकल आयोजन तकनीक के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। भारत में पिछली सभी योजनाओं में इस अनुपात का प्रयोग किया गया है। इसकी गणना की विधि में भी सुधार हुआ है। इस अनुपात की पूर्वकथनीयता (Predictability) कम है परन्तु अल्पकाल की अपेक्षा दीर्घकाल में यह अधिक सार्थक परिणाम उत्पन्न करता प्रतीत होता है। यह आर्थिक विकास में पूँजी के महत्व की ओर ध्यान आकर्षित करने में विश्लेषणात्मक रूप से उपयोगी है।

बोध प्रश्न - 3

1. "आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में पूजी-उत्पाद अनुपात अधिक होता है तथा बाद में कम होता है"। भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात की प्रवृत्ति देखते हुए क्या आप इस कथन से सहमत हैं?
2. भारत में विभिन्न योजन अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात का विश्लेषण कीजिए।

8.9 सारांश

इस इकाई में आपने पूँजी उत्पाद अनुपात एवं उसके बारे में अध्ययन किया है। प्रारम्भ में हमने पूँजी-उत्पाद अनुपात के अर्थ की व्याख्या की। मोटे रूप से यह अनुपात हमें किसी अर्थ व्यवस्था के समय विशेष के लिए विनियोग एवं उत्पाद के संबंध को बताता है। इस अनुपात के मुख्य दो प्रकार होते हैं – (1) औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं (2) वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात। विकास आयोजन में वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात का अधिक महत्व है।

इसके बाद हमने उन परिस्थितियों एवं कारणों की चर्चा की जिसकी वजह से यह अनुपात किसी अर्थव्यवस्था में कम या अधिक होते हैं इसके साथ ही हमने यह भी देखा कि अल्पविकसित राष्ट्रों में इस अनुपात की क्या प्रवृत्ति रहती है तथा साधारणतया यह किस सीमा में पाए जाते हैं? संक्षेप में हमने पूँजी-उत्पाद अनुपात के अध्ययन एवं प्रयोग का क्या महत्व है की भी चर्चा की।

अंत में हमने भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात की क्या प्रवृत्ति है का अध्ययन किया। विशेषकर अलग-अलग योजना अवधियों में इस अनुपात में किस प्रकार परिवर्तन होते रहे का विश्लेषण किया। भारत की योजनाओं में इस अनुपात का बहुत महत्व रहा है।

8.10 शब्दावली

(1) Average capital outpur Ratio (ACOR)

(2) Incremental capital output Ratio (ICOR)

8.11 उपयोगी पुस्तकें

(1) एम.एल. झिंगन — विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजनश

(2) ओ.एस. श्रीवास्तव — विकास, व्यापर चक्र एवं नियोजन का अर्थशास्त्र।

(3) विष्णुदत्त नागर एवं रामप्रसाद गुप्त — आर्थिक विकास के सिद्धान्त एवं समस्याएं

(4)	आर. एल. गोयल	विकास का अर्थशास्त्र
(5)	शर्मा एवं वार्ष्णेय	विकास का अर्थशास्त्र एवं नियोजन
(6)	Mishra & Puri	Development & Planning Theory and Preach.
(7)	H.K. Manmohan Singh	Demand Theory and Economic Calculation in a Mixed Economy.
(8)	J.S. Uppal	India's Economic Problem-An Analytical Approach
(9)	J.Tinbergen	Development Planning
(10)	W.A. Lewis	Development Planning
(11)	V.V. Bhatt	Employment and Capital Formation in underdeveloped Economy

इकाई 9

भारत में निर्धनता व असमानता आकार, प्रकृति, कारण तथा इनको कम करने के उपाय

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 निर्धनता का अर्थ, आकार व प्रकृति
  9.2.1 निर्धनता-रेखा किसे कहते हैं?
  9.2.2 निर्धनता का आकार अथवा निर्धनता-अनुपात एवं प्रवृतियां (Trends)
  9.2.3 निर्धनता की प्रकृति
9.3 निर्धनता के कारण
  9.3.1 ग्रामीण निर्धनता के काररण
  9.3.2 शहरी निर्धनता के कारण
9.4 निर्धनता कम करने के सरकारी उपाय
  9.4.1 विभिन्न निर्धनता-उन्मूलन-कार्यक्रमों का संक्षिप्त परिचय व प्रगति
  9.4.2 कार्यक्रमों का मूल्यांकन व कमियाँ
9.5 निर्धनता-उन्मूलन के लिए सुझाव
9.6 असमानता का अर्थ, आकार व प्रकृति
  9.6.1 असमानता का अर्थ—आय के वितरण की असमानता
  9.6.2 आय की आसमानता का आकार व माप
  9.6.3 असमानता की प्रकृति
9.7 आय की असमानता के कारण
9.8 आय की असमानता को कम करने के संबंध में सरकारी उपाय
9.9 आय की असमानताओं को कम करने के लिए सुझाव
9.10 सारांश
9.11 शब्दावली
9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
9.13 अभ्यासों के उत्तर।

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में निर्धनता व असमानता से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा। नियोजित विकास के कई उद्देश्य होते हैं, जैसे विकास की दर को ऊँचा करना, आत्म-निर्भर विकास की ओर अग्रसर होना, निर्धनता का उन्मूलन करना, धन व आय की असमानताओं को कम करना, अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण करना, विकास में क्षेत्रीय या प्रादेशिक असंतुलन कम करना, आदि। इन उद्देश्यों में निर्धनता-उन्मूलन व आय की असमानताओं को कम करने पर सामाजिक कारणों से अधिक बल दिया जाता है। इन समस्याओं को हल करने

के लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि निर्धनता को कैसे परिभाषित किया जाता है, निर्धनता की रेखा कैसे जानी जाती है, देश में कौन लोग अधिक निर्धन हैं, निर्धनता के कारण क्या हैं और इसको दूर करने के लिए सरकार ने योजनाओं में क्या उपाय किये हैं तथा इस दिशा में क्या उपलब्धियां रही हैं? आजकल सामाजिक 'न्याय के साथ विकास' पर जोर दिया जाता है ताकि विकास के लाभ सर्वसाधारण तक पहुंच सकें। इसके लिए आर्थिक असमानता व विशेषकर आय की असमानताओं को कम करने के उपाय भी अपनाये जाते हैं। इसलिए आय की असमानता के माप की आवश्यकता होती है। साथ में असमानता के कारणों का अध्ययन किया जाता है तथा इसको कम करने के सरकारी उपायों की समीक्षा की जाती है ताकि भविष्य में असमानताओं को कम करने की दिशा में तेज गति से प्रगति की जा सके।

इस इकाई के अध्ययन से निर्धनता व असमानता के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त होगा जो नियोजन की सफलता का आंकलन करने के लिए बहुत आवश्यक माना जाता है।

9.1 प्रस्तावना

भारत में 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' के दायरे में आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया गया है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों का विकास का समुचित अवसर दिया गया है। इस प्रकार हमारे देश में दी हुई सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों के अंतर्गत बेरोजगारी, गरीबी व असमानता की समस्याओं को हल करने का प्रयास किया जा रहा है। बेरोजगार लोगों को काम देकर तथा निर्धन लोगों की आमदनी बढ़ा कर उनका जीवन-स्तर ऊँचा करने के प्रयास किये जा रहे हैं। निर्धन व्यक्तियों को परिसम्पत्तियां (assets) देने के कार्यक्रम भी लागू किये गये हैं ताकि उनके लिए स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न हो सकें। उनके लिए मजदूरी पर रोजगार देने के कार्यक्रम भी लागू किये गये हैं। सरकार ने गरीबों के कल्याण के लिए शिक्षा, चिकित्सा व पोषण के कार्यक्रम भी अपनाये हैं। इस प्रकार आर्थिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना निर्धनों की दशा सुधारने की कोशिश की जा रही है। साथ में आय की असमानता को कम करने के भी कई उपाय किये गये हैं ताकि आगे चल कर समतावादी व न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हो सके।

निर्धनता व असमानता समाज के लिए अभिशाप हैं, और सरकार का यह दायित्व है कि वह उनको दूर करने का भरसक प्रयास करें; तभी विकास के लाभ समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्राप्त हो सकते हैं। निर्धनता-उन्मूलन व असमानता कम करने से ही सामाजिक तनाव कम हो सकते हैं, श्रम की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है, जीवन-स्तर ऊँचा होता है, और देश उत्तरोत्तर नियोजित विकास के पथ पर तेजी से अग्रेसर होता जाता है। इससे लोकतंत्र की जड़ें भी मजबूत होती हैं। इन समस्याओं का स्थायी समाधान निकालने के लिए इनकी प्रकृति व कारणों पर नीचे विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

9.2 निर्धनता का अर्थ, आकार व प्रकृति

9.2.1 निर्धनता-रेखा किसे कहते है?

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 'निर्धनता-उन्मूलन' योजना के एक उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया था। विभिन्न अर्थशास्त्रियों जैसे प्रोफसेर वी. एम. दांडेकर, नीलकंठ रथ, ए.के. सेन, बी. एस. मिन्हास, प्रणव बर्धन, मोन्टेक् अहलूवालिया, आदि के भारत में निर्धनता की प्रवृत्तियों पर अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आजकल योजना आयोग की गरीबी की रेखा, गरीबी का अनुपात, आदि पर आवश्यक आंकड़े पेश करता रहता है।

भारत में निर्धनता का विचार निरपेक्ष (absolute) रूप में लिया गया है। इसे 'केलोरी की मात्रा' से जोड़ा गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति दिन 2400 केलोरी तथा शहरी क्षेत्रों

में 2100 केलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्ति निर्धन माने जाते हैं। पोषण-विशेषज्ञ विभिन्न खाद्य पदार्थों के उपभोग की केलोरी की मात्रा ज्ञात कर लेते हैं। योजना आयोग द्वारा गठित 'न्यूनतम आवश्यकता व प्रभावपूर्ण उपभोक्ता मांग पर कार्यकारी दल' (1979) ने उपभोग के इन न्यूनतम स्तरों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के लिए प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय की राशि (1973-74 के मूल्यों पर) लगभग 49 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 56.6 रुपये आंकी थी। इन्हें निर्धनता की रेखाएं माना गया था। आगे के वर्षों में कीमतों के परिवर्तनों के आधार पर ये सीमाएं बढ़ायी गयी हैं; जैसे 1983-84 के मूल्यों पर ये इस प्रकार आंकी गयी हैं :

गरीबी की रेखा (1983-84 के मूल्यों पर) ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 101.80 रुपये का लगभग 102 रुपये शहरी क्षेत्रों के लिए 117.50 रुपये का लगभग 118 रुपये नीचे व्यय करने वाले व्यक्ति निर्धनों की श्रेणी में रखे गये। स्मरण रहे कि उपर्युक्त व्यय की राशियां खाद्य-पदार्थ तथा कुछ सीमा तक गैर-खाद्य पदार्थों पर व्यय से संबंध रखती हैं, लेकिन ये न्यूनतम केलोरी की मात्रा के उपभोग की गारंटी अवश्य देती हैं। सरल रूप में इसका अर्थ इस प्रकार लगाया जायगा कि 1983-84 में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति माह लगभग 102 रुपये व्यय करने वाले व्यक्ति को 2400 केलोरी प्रति दिन उपभोग का स्तर मिल रहा था, तथा शहरी क्षेत्रों में 117.50 रुपये व्यय करने वाले व्यक्ति को 2100 केलोरी प्रति दिन उपभोग का स्तर मिल रहा था। इससे नीचे व्यय करने वाले व्यक्ति गरीब माने गये।

हमें पुनः यह ध्यान रखना होगा कि भारत में निर्धनता का विचार एक सापेक्ष (relative) विचार नहीं है। सापेक्ष विचार के अंतर्गत चोटी के 10% या 5% व्यक्तियों के औसत व्यय की तुलना निम्नतम स्तर के 10% या 5% व्यक्तियों के औसत व्यय से की जाती है। इससे उनके बीच असमानता का अनुमान तो लग जाता है, लेकिन निर्धनता का विचार 'केलोरी की मात्रा' से जोड़े जाने के कारण यह एक निरपेक्ष विचार ही माना गया है।

भारत में निर्धन व्यक्तियों की गिनती उपर्युक्त न्यूनतम प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय के आधार पर कर ली जाती है और उसका कुल जनसंख्या से अनुपात निर्धनता-अनुपात (Poverty-ratio) कहलाता है।

आजकल भारत में प्रति पांच वर्ष में राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण संगठन द्वारा संकलित, उपभोग-व्यय के आंकड़ों के आधार पर निर्धनों की संख्या ज्ञात की जाती है।

यहां पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि छठी पंचवर्षीय योजना के लिए प्रति परिवार वार्षिक व्यय की न्यूनतम राशि 3,500 रुपया आंकी गयी थी, जिससे नीचे व्यय करने वाले परिवार निर्धन माने गये थे। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में इसे बढ़ाकर 6,400 रुपया कर दिया गया; लेकिन विभिन्न आय-सीमाओं के अनुसार गरीबों को चार श्रेणियों में विभाग किया गया जो इस प्रकार है :

तालिका 9.1 गरीबों की श्रेणियां एवं आय सीमा

प्रति परिवार वार्षिक (आय-सीमाएं रुपयों में)	निर्धनों की श्रेणी
(1) 0-2265	अति दरिद्र (destitutes)
(2) 2266-3500	बहुत बहुत गरीब (very very poor)
(3) 3501-5000	बहुत गरीब (very poor)
(4) 5001-6400	गरीब (poor)

इस वर्गीकरण का प्रयोजन यह है कि साधनों के अभाव में प्रथम व द्वितीय श्रेणी के निर्धनों को लाभ पहुंचाने पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, अर्थात् निर्धनों में भी अधिक निर्धन व्यक्तियों के कल्याण की बात पहले सोची जानी चाहिए।

विश्व बैंक ने भी अत्यधिक निर्धनों (ulter-poor) का अनुमान प्रस्तुत किया है जिसमें सामान्य निर्धनता-रेखा के व्यय के 75% को इनके लिए न्यूनतम व्यय का आधार माना गया है। उदाहरण के लिए, विश्व बैंक ने 1988 के लिए भारत में 39.6% लोगों, को निर्धनता रेखा से नीचे माना है; जबकि 'आत्यधिक निर्धनों' का अनुपात 19.2% ही आंका गया है। स्वाभाविक है कि अत्यधिक निर्धनों का अनुपात सामान्य निर्धनों के अनुपात से नीचा रहेगा।

9.2.2 निर्धनता का आकार अथवा निर्धनता-अनुपात एवं प्रवृत्तियां (Trends)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न अवधियों के लिए निर्धनता-अनुपात निकालकर निर्धनता की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। उनकी विधियों में अंतर होने से उनके परिणामों में भी अंतर पाया गया है। यहां हम योजना आयोग द्वारा सातवीं पंचवर्षीय योजना के खण्ड 1 में प्रस्तुत निर्धनता के माप निम्न तालिका में दर्शाते हैं :—

तालिका 9.2 भारत में निर्धनता का आकार

वर्ष	निर्धनता-अनुपात (प्रतिशत में)			निर्धनों की संख्या (करोड़ों में)		
	ग्रामीण	शहरी	कुल	ग्रामीण	शहरी	कुल
1977-78	51.9	38.2	48.3	25.3	5.4	30.7
1984-85	39.9	27.7	36.9	22.2	5.1	27.3
1989-90 (लक्ष्य)	28.2	19.3	25.8	16.9	4.2	21.1

तालिका से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

(1) ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता की समस्या शहरी क्षेत्रों की तुलना में बहुत ज्यादा गम्भीर व पेचीदी है।

(2) 1977-78 में देश में 48% लोग निर्धन थे जो 1984-85 में घट कर 37% रह गये, एवं 1989-90 में इनके और घटकर 26% पर पहुंचने का अनुमान लगाया गया था। सातवीं योजना के अंत में निर्धनता-अनुपात लगभग 30% आंका गया है।

(3) यदि निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रम लक्ष्य के अनुरूप सफलता प्राप्त कर लें तो भी 1989-90 के अंत में भारत में 21 करोड़ व्यक्ति निर्धन आंके गये हैं। इससे समस्या गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत में निर्धनता की स्थिति में राज्यवार काफी अंतर पाये जाते है। अनुमान है कि निम्न आठ राज्यों में देश के 80% निर्धन व्यक्ति पाये जाते हैं : आंध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल। इन्हीं में देश के 70% बेरोजगार व्यक्ति भी केन्द्रित हैं।

1983-84 में जहां समस्त भारत के लिए निर्धनता का अनुपात 37.7% था, वहीं पर बिहार में यह 49.5%, मध्य प्रदेश में 46.2% व उत्तर प्रदेश में 45.3% था। लेकिन हरियाणा में यह 15.6% तथा हिमाचल प्रदेश में 13.5% पाया गया। (स्रोतः A Technical Note on the Seventh Plan of India, p. 16)

डा. मोन्टेक अहलूवालिया ने ग्रामीण-निर्धनता का अनुपात 1956-57 से 1977-78 तक के सभी वर्षों के लिए पूरे सिरीज के रूप में दिया है, लेकिन उसमें उतार-चढ़ाव होने से कोई निश्चित प्रवृति उभर कर सामने नहीं आयी है। जैसे 1956-57 में 44.5%, 1970-71 में 47.5% तथा 1977-78 में 39.1% रहा। इस प्रकार विभिन्न वर्षों में निर्धनता-अनुपात में उतार-चढ़ाव आने से कोई दीर्घकालीन प्रवृत्ति प्रगट नहीं हुई। प्रोफेसर वी. एम. दांडेकर के अनुसार ग्रामीण निर्धनता का अनुपात 1971-72 में 46% से घटकर 1983 में 44.4% पर ही आ पाया था। यह सरकारी अनुमानों से ऊँचा पाया गया है।

9.2.3 निर्धनता की प्रकृति (Nature of Poverty)

(1) **प्रमुखतया ग्रामीण** :— जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है भारत में निर्धनता का प्रकोप ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता खेतिहर भूमिहीन मजदूरों, लघु व सीमान्त कृषकों, ग्रामीण कारीगरों, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जाति के लोगों, बंधुआ मजदूरों, आदि में काफी जटिल रूप में फैली हुई है। शहरी निर्धनता पर ग्रामीणों के पलायन का प्रभाव पड़ता है।

(2) **दीर्घकालीन स्वरूप** :— यह एक अल्पकालीन समस्या न होकर दीर्घकालीन व गहन समस्या है। पीढ़ियों से लोग भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, प्रशासनिक आदि कारणों से गरीबी के नागपाश में बंधे चले आ रहे हैं, जिनसे मुक्ति पाना कोई सहज कार्य नहीं है। यह केवल आर्थिक समस्या नहीं है। इसका संबंध सामाजिक पिछड़ेपन व सामन्ती परम्पराओं से भी है। अतः समस्या के स्थायी हल के लिए सभी पक्षों पर एक साथ प्रहार करके आमूल-चूल परिवर्तन लाना होगा।

(3) **कृषिगत उत्पादन के उतार-चढ़ाव से जुड़ी ग्रामीण निर्धनता** :— भारत में प्रायः यह देखा गया है कि ग्रामीण निर्धनता का सीधा संबंध कृषिगत उत्पादन से पाया जाता है। कृषिगत उत्पादन की दृष्टि से अनुकूल वर्षों में ग्रामीण निर्धनता घट जाती है। तथा प्रतिकूल वर्षों में यह बढ़ जाती है।

(4) **यह मूलतः देश के अल्पविकास (Under development) की परिचायक है** :— भारत में श्रम-शक्ति की मांग व पूर्ति में भारी असंतुलन है। देश में आर्थिक विकास की गति धीमी है जिससे यह असंतुलन निरंतर बना रहता है, और फलस्वरूप निर्धनता ने काफी भयावह रूप धारण कर लिया है।

अतः भारत में निर्धनता की समस्या दीर्घकालीन व अत्यधिक पेचीदा समस्या है। इसका विकास की सामाजिक प्रक्रिया, आर्थिक प्रक्रिया व राजनीतिक प्रक्रिया से गहरा संबंध है। जिनको समझे बिना व बदले बिना इस समस्या का स्थायी समाधान निकाल पाना अत्यंत दुष्कर है।

बोध प्रश्न - 1

(1) भारत में 'गरीबी की रेखा' के संबंध में कौन-सा कथन सही है?

(अ) यह प्रति व्यक्ति प्रति माह न्यूनतम व्यय की वह मात्रा है जो लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति को संभव बनाती है।

(ब) यह ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति दिन न्यूनतम 2400 केलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 केलोरी प्रदान करने वाले खाद्य-पदार्थों की लागत होती है।

(स) यह प्रति व्यक्ति प्रति माह वह न्यूनतम व्यय की राशि होती है जो न्यूनतम केलोरी का उपभोग संभव बनाती है, और जिससे नीचे व्यय करने वाले लोग निर्धन माने जाते हैं। ( )

(2) सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रतिवेदन के अनुसार 1977-78, 1984-85 व 1989-90 के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निर्धनता-अनुपात व निर्धनों की संख्या लिखिए।

(3) डा. मोन्टेक अहलूवालिया तथा योजना आयोग के अनुसार भारत में निर्धनता की प्रवृत्तिया बतलाइए।

(4) भारत में निर्धनता की प्रकृति क्या है?

9.3 निर्धनता के कारण

9.3.1 ग्रामीण निर्धनता के कारण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत में अधिकांश निर्धनता गांवों में देखने को मिलती है। इसलिए सर्वप्रथम ग्रामीण निर्धनता के कारणों पर प्रकाश डाला गया है :

(1) **ग्रामीण जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि :** जनसंख्या में निरंतर वृद्धि व तेज गति से वृद्धि गरीबी की समस्या का मुख्य कारण माना गया है। भारत में ग्रामीण जनसंख्या 1951 में 36.1 करोड़ थी जो बढ़ कर 1981 में 68.4 करोड़ हो गई। 1971-81 की अवधि में यह 9 करोड़ बढ़ी। यदि 1991 के लिए ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात 85 करोड़ माना जाय तो 1999 के अन्त तक यह 99 करोड़ से अधिक होने का अनुमान है। जनसंख्या की इस प्रकार की वृद्धि से श्रम-शक्ति भी बढ़ती है जिसको पर्याप्त काम न मिल पाने से गरीबी का बढ़ना स्वाभाविक है।

(2) **कार्यशील भूजोतों का असमान वितरण व भूमि-सुधारों के क्रियान्वयन में कमी :-** भारत में भूमि-सुधारों ने कार्यशील जोतों के वितरण की असमानता को नहीं मिटाया। परिणामस्वरूप 1985-86 में भी सीमान्त जोतें (1 हैक्टेयर से कम) लगभग 58% थीं जिनमें कुल कृषित भूमि का 13% समाया हुआ था, जबकि बड़ी जोतें (10 हैक्टेयर व अधिक आकार की) 2% थीं, लेकिन उनमें कृषि भूमि का 20½% अंश था। हर बार भूजोतों की संगणना में सीमान्त जोतों की संख्या बढ़ जाती है। देश में भूमिहीनों की संख्या भी बढ़ रही है जिसे 'सर्वहाराकरण' की प्रक्रिया कह सकते हैं। अतः भूजोतों का 'सीमान्तकरण', भूमिहीनों का 'सर्वहाराकरण' व 'निर्धनीकरण' परस्पर जुड़े हुए हैं। इन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।

देश में भूमि सुधर पूर्णतया लागू न होने से बटाईदारी प्रथा (share cropping), उप-काश्तकारी, आदि विद्यमान हैं। सीलिंग से अतिरिक्त भूमि का वितरण भूमिहीनों में नहीं हो पाया है। अतः भूमि-सुधार गरीबी दूर करने की दिशा में योगदान नहीं कर पाये हैं।

(3) **कृषिगत उत्पादन में धीमी व अनियमित वृद्धि :–** योजनाकाल में कृषिगत विकास की दीर्घकालीन दर लगभग 2.7% वार्षिक रही है जो जनसंख्या की 2% वृद्धि-दर से थोड़ी अधिक है। कृषिगत उत्पादन की धीमी वृद्धि गरीबी को कम करने की दृष्टि से अपर्याप्त रही है। साथ में इसमें वार्षिक उतार-चढ़ाव भी आते रहते हैं। भारत में कृषिगत उत्पादन के तेज गति से बढ़ने पर निर्धनता में कमी आती है, तथा इसमें भारी गिरावट आने से निर्धनता में वृद्धि होती है। अभी तक वर्षा पर आश्रित क्षेत्रों में सूखी खेती की विधि विस्तृत रूप से नहीं अपनायी गयी है जिससे उसका प्रभाव गरीबी दूर करने की दृष्टि से प्रगट नहीं हुआ है।

(4) **हरित क्रान्ति का प्रभाव :–** हरित क्रान्ति के फलस्वरूप विभिन्न कृषित क्षेत्रों व विभिन्न कृषक-वर्गों के बीच असमानता बढ़ी है। यंत्रीकरण ने कुछ क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि की है। अतः हरित क्रान्ति गरीबी कम करने की दिशा में महत्वपूर्ण व स्पष्ट योगदान नहीं कर पायी है।

(5) **गाँवों में निर्धन-वर्ग द्वारा खरीदे जाने वाले खाद्य-पदार्थों की कीमतों में वृद्धि :–** स्वः धर्मनारायन ने गांवों में गरीबों द्वारा खरीदे जाने वाले खाद्य पदार्थों की कीमतों में वृद्धि का दुष्प्रभाव गरीबी पर आंका है। भूमिहीन श्रमिकों पर इसका सीधा प्रभाव आता है, और सीमान्त व लघु कृषक भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

(6) **गरीबों के लिए गांवों में कॉमन-प्रोपर्टी साधनों से मिलने वाले लाभों में भारी गिरावट :–** श्री एन. एस. जोधा व अन्य विद्वानों के अध्ययनों से पता चला है कि पहले ग्रामवासियों को चराई की कॉमन भूमि, व्यर्थ भूमि, वन, जल-साधनों, आदि के उपयोग से जो लाभ मिल जाते थे, वे अब इनके निजीकरण व व्यवसायीकरण से ठेकेदारों आदि के हाथों में चले जाने से काफी सिमट गये व संकुचित हो गये हैं जिससे गरीबी बढ़ी है।

(7) **गाँवों में जातिवाद, पिछड़ेपन व परम्परागत समाज को बोलबाला :–** गांव आज भी सामाजिक भेदभाव, ऊँच-नीच सम्प्रदायवाद, पिछड़ेपन व सामन्ती वातावरण से ग्रस्त हैं। कहीं भी समता की हवा नजर नहीं आती। समाज का उच्च वर्ग गरीबों के लिए निर्धारित कार्यक्रमों के लाभ उन तक नहीं पहुंचने देता। गरीबों में राजनीतिक संगठन की शक्ति का अभाव रहता है।

इस प्रकार विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारणों ने ग्रामीण निर्धनता को कायम रखा है। श्रम-शक्ति की कृषि पर आश्रितता बनी हुई है। ग्रामीण औद्योगीकरण का अभाव है। गाँवों में कल्याणकारी सेवाओं – शिक्षा, चिकित्सा, व पोषण का अभाव है। गाँवों का द्रुतगति से चहुंमुखी विकास ही इसका सही समाधान है।

9.3.2 शहरी निर्धनता के कारण

शहरों में भी, विशेषतया महानगरों में गंदी बस्तियों में निर्धनों की भरमार पायी जाती है। कफी संख्या में भिखारी व अन्य लोग फुटपाथों पर जीवन व्यतीत करते हैं।

वैसे शहरी निर्धनता भी सामान्य निर्धनता के कारणों से प्रभावित होती है, लेकिन इसके विशेष कारण निम्नांकित हैं :—

(1) **गाँवों से शहरों की ओर जनसंख्या का पलायन :–** ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार न मिल पाने के कारण लोग शहरों की ओर प्रस्थान करते हैं जिससे वहां भीड़भाड़ बढ़ती है, तथा आवास, शिक्षा, चिकित्सा, पेयजल, आदि पर दबाव बढ़ते हैं और निर्धनता बढ़ती है।

(2) **शहरों में भी परम्परागत घरेलू उद्योगों का पतन गरीबी को बढ़ाता है।** स्वरोजगार में लगे कारीगर मशीन-निर्मित वस्तुओं की प्रतिस्पर्ध में अपने परम्परागत रोजगार से हाथ धो बैठते हैं।

लघु व बड़ी औद्योगिक इकाइयों के रूग्ण हो जाने व उनके बंद हो जाने से श्रमिकों में बेकारी फैलने से भी शहरी निर्धनता बढ़ती है।

(3) **शहरों में श्रम-शक्ति की मांग उसकी पूर्ति से कम होने से बरोजगारी पायी जाती है।** इससे निर्धनता बढ़ती है जो दक्ष, अर्द्ध-दक्ष व पुरूष व महिला-अदक्ष श्रमिकों में पायी जा सकती है। लेकिन जिन शहरी व्यक्तियों के पास शिक्षा, परिसम्पत्ति, दक्षता व अन्य साधनों का अभाव होता है वे तो निरंतर पिसते जाते हैं, और महंगाई, सामाजिक, प्रथाओं व अभावों के शिकार होते जाते हैं। इससे उनका जीवन-स्तर घटता जाता है और वे गरीबों की श्रेणी में प्रवेश करते जाते हैं।

इस प्रकार अनेक कारणों ने मिलकर भारत में निर्धनता को बनाये रखा है। विद्वानों का यह मत सही है कि यदि निर्धनता का विचार केवल 'केलोरी की मात्रा' से न जोड़ कर लोगों की 'सभी न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं', जैसे न्यूनतम भोजन, वस्त्र, आवास, दवा, शिक्षा, मनोरंजन, आदि से जोड़ा जाय तो गरीबी की रेखा से नीचे अपने वाले का प्रतिशत व कुल संख्या आज भी अपेक्षा ऊँची जायेगी। यही कारण है कि विश्व बैंक ने अपनी 1990 की विकास-रिपोर्ट में निर्धनता के विचार को 'न्यूनतम आवश्यकताओं' से जोड़ा है, न कि केलोरी के उपभोग की न्यूनतम मात्रा से।

9.4 निर्धनता कम करने के सरकारी उपाय

9.4.1 विभिन्न निर्धनता-उन्मूलन-कार्यक्रमों का संक्षिप्त परिचय व प्रगति

योजनाकाल के प्रारम्भिक वर्षों में यह समझा गया था कि आर्थिक विकास का प्रभाव निर्धनता-उन्मूलन के रूप में प्रकट होगा। इसे 'टपकने वाला प्रभाव' (trickle-down effect) माना गया था। लेकिन जब यह प्रभाव प्रगट नहीं हुआ तो निर्धनता पर प्रहार करने के लिए विशिष्ट कार्यक्रम अपनाये गये। विकास का प्रभाव निर्धनता-उन्मूलन के रूप में इसलिए प्रगट नहीं हुआ कि सर्वप्रथम विकास की वार्षिक दर केवल 3.5% रही, जो अपर्याप्त थी, और द्वितीय विकास के लाभों का वितरण समान रूप से नहीं हो पाया क्योंकि समाज में समरूपता नहीं थी। साधन-सम्पन्न लोगों ने विकास के लाभ हथिया लिए, और साधनहीन लोग इनसे वंचित रह गये। इस कमी को दूर करने के लिए पांचवी पंचवर्षीय योजना व बाद में गरीबी व बेरोजगारी दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम चलाये गये। इनमें निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) का सर्वाधिक महत्व माना गया है। कुछ सीमा तक ट्राइसम के अंतर्गत प्रशिक्षण से भी लाभ पहुंचा है। लेकिन मजदूरी पर रोजगार देने की दृष्टि से राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) व ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम

(RLEGP) का भी महत्व है जिन्हें परस्पर मिलाकर 1989-90 में जवाहर रोजगार योजना (JRY) के रूप में अधिक व्यापक रूप से प्रारम्भ किया गया। इन कार्यक्रमों के अलावा विभिन्न क्षेत्रीय कार्यक्रमों; जैसे सूखा सम्भाव्य क्षेत्र कार्यक्रम, मरू विकास कार्यक्रम, जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम, पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम आदि का भी निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से रोजगार बढ़ाने की दृष्टि से महत्व रहा है। नीचे निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से IRDP, NREP व RLEGP का संक्षिप्त परिचय दिया गया है तथा इनकी उपलब्धियों व प्रगति का उल्लेख किया गया है।

(1) **एकीकृत (समान्वित) ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP)** :— यह निर्धनता-उन्मूलन का प्रमुख कार्यक्रम है। इसका प्रारम्भ 1976-77 में हुआ था। 1978-79 में यह 2300 विकास-खण्डों में लागू किया गया और 2 अक्टूबर 1980 से देश के समस्त 5011 खण्डों में फैला दिया गया। इसके अंतर्गत चुने हुए निर्धन परिवारों को आय-सृजन करने वाली परिसम्पत्तियाँ उपलब्ध की जाती हैं। इसके लिए सब्सिडी व कर्ज की व्यवस्था की जाती है। इससे स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं। छठी पंचवर्षीय योजना में 1500 करोड़ रु. की सब्सिडी देने का वित्तीय प्रावधान किया गया था जिसमें केन्द्र व राज्यों का हिस्सा आधा-आधा रखा गया था। साथ में 3000 करोड़ रु. तक के कर्ज सहकारी व व्यापारिक बैंकों से दिलाने का लक्ष्य रखा गया था और कुल 1½ करोड़ परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने का लक्ष्य रखा गया था। इनमें कम से कम 30% अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के शामिल किए जाने थे। निर्धनों को कृषि व सहायक क्रियाओं, ग्रामीण व कुटीर उद्योगों व सेवा-क्षेत्र की क्रियाओं के माध्यम से लाभान्वित किया जाना था।

छठी योजना में कुल विनियोग 4763 करोड़ रु. का हुआ जो 4500 करोड़ रु. के लक्ष्य से अधिक रहा। कुल लाभान्वित परिवार 1.66 करोड़ रहे जो 1.5 करोड़ के लक्ष्य से अधिक थे। प्रति परिवार विनियोग की राशि 2876 रुपये रही जिसमें सब्सिडी की मात्रा 1003 रुपये व कर्ज की मात्रा 1873 रुपये रही। इस प्रकार सब्सिडी-कर्ज का अनुपात 1:1.87 रहा।[1]

सातवीं योजना में सब्सिडी की कुल राशि 3316 करोड़ रुपये थी जो लक्ष्य से अधिक थी तथा कुल अवधि-कर्ज की मात्रा 8688 करोड़ रुपये रही जिससे 1.6 करोड़ परिवार लाभान्वित हुए। योजना के प्रथम चार वर्षों में लगभग 1.48 करोड़ परिवारों को लाभान्वित किया जा चुका था। वर्ष 1988-89 में प्रति परिवार विनियोग की राशि 4348 रुपये (पुरानों के लिए) तथा 5069 रुपये (नयों के लिए) हो गई थी।[2] इस प्रकार 'एग्राविका' से कुछ सीमा तक निर्धन वर्ग को लाभ पहुंचा है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत निर्धनों को दुधारू पशु, सिलाई की मशीनें, ऊँट गाड़ियां, खुदरा दुकानें, हथकरघा कुटी व्यवसाय व अन्य प्रकार की परिसम्पत्ति देने का प्रयास किया गया है ताकि वे अपनी आमदनी बढ़ाकर गरीबी की रेखा से ऊपर आ सकें।

(2) **राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP)** :— यह कार्यक्रम अक्टूबर 1980 से प्रारम्भ किया गया तथा अप्रैल 1981 से नियमित योजना का अंग बन गया। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष 30 से 40 करोड़ मानव-दिवस काम का सृजन करना,

1. A Review of the Agricultural credit System in India, RBI, 1989, p.746.
2. वही, पृ. 749, आगे NREP व RLEGP की प्रगति के आंकड़े भी इसी स्रोत पर आधारित हैं।

टिकाऊ सामुदायिक परिसम्पत्तियों का निर्माण करना तथा निर्धनों के पोषण-स्तर व जीवन-स्तर में सुधार करना था। छठी योजना में इस कार्यक्रम के लिए 1873 करोड़ रु. की धनराशि उपलब्ध की गई। (राज्यों का अंश 794 करोड़ रु.) तथा वास्तविक उपयोग 1843 करोड़ रु. की राशि का ही हो पाया। 1980-85 की अवधि में कुल 177.5 करोड़ मानव-दिवस के रोजगार का सृजन किया गया। सातवीं योजना में केन्द्र ने इस कार्यक्रम के लिए लगभग 3092 करोड़ रुपए व्यय किए गए और कुल 145 करोड़ मानव-दिवस का रोजगार-सृजन किया गया था।

(3) **ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP)** :— यह कार्यक्रम अगस्त 1983 में शुरू किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य प्रत्येक ग्रामीण भूमिहीन परिवार में कम सें कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक का रोजगार उपलब्ध कराना था। छठी योजना में केन्द्र द्वारा इस कार्यक्रम पर व्यय हेतु 500 करोड़ रु. निर्धारित किये गये। 1983-84 व 1984-85 में कुल 26.3 करोड़ मानव-दिवस का काम दिया गया जो लक्ष्य से कम था। सातवीं योजना में केन्द्र द्वारा इस कार्यक्रम पर व्यय हेतु 2412 करोड़ रुपए व्यय किए गए और कुल 115 करोड़ मानव-दिवस का रोजगार सृजन करने का लक्ष्य रखा गया ।

NREP व RLEPG के माध्यम से सामाजिक वानिकी, वृक्षारोपाण, स्कूल भवनों के निर्माण, लघु सिंचाई, आवास आदि पर बल दिया गया है। 1989-90 में इनका विलयन जवाहर रोजगार योजना में कर दिया गया। इसी वर्ष के लिए इस योजना पर 2625 करोड़ रु. आवंटित किये गये जिसमें केन्द्र का अंश 80% तथा राज्यों का 20% रखा गया। JRY के माध्यम से ग्रामीण निर्धन परिवारों में से प्रत्येक परिवार में से कम से कम एक व्यक्ति के लिए 100 दिन तक का कम उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया। इसमें 30% आरक्षण ग्रामीण महिलाओं के लिए किया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में जवाहर रोजगार योजना का अंतिम स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

9.4.2 कार्यक्रमों का मूल्यांकन व कमियाँ

हम ऊपर बतला चुके हैं कि निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम का स्थान सर्वोपरि माना गया है। लेकिन मजदूरी पर रोजगार उपलब्ध करके निर्धनता कम करने की दृष्टि से अन्य कार्यक्रमों, विशेषतया NREP व RLEGP, का भी महत्व स्वीकार किया गया है। इन कार्यक्रमों से लोग लाभान्वित हुए हैं, लेकिन कुछ कमियां भी सामने आयी हैं जिन्हें दूर करके उनकी उपयोगिता में वृद्धि की जानी चाहिए। हम नीचे विशेषतया IRDP की कमियों पर ध्यान आकर्षित करेंगे जिसका निर्धनता-उन्मूलन से सीधा संबंध है।

(1) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन में कई प्रकार की कमियाँ व अकुशलताएं बतलायी गयी हैं जैसे कुछ गैर-निर्धन परिवारों का चयन, दी जाने वाली परिसम्पत्तियों का स्थानीय निर्धन परिवारों की आवश्यकताओं व दक्षताओं से ताल-मेल न होना, परिसम्पत्ति का रख-रखाव न कर पाना जिससे उनके नष्ट होने का भय बना रहना, आगे-पीछे की कड़ियों का अभाव (जैसे दुधारू पशुओं के लिए चारे व पशु-आहार का अभाव तथ दूध की बिक्री के लिए विपणन का अभाव, आदि), सब्सिडी के संबंध में भ्रष्टाचार व दुरूपयोग की शिकायतें, कर्ज की वसूली में कठिनाइयाँ, आदि, आदि।

(2) एकीकृत, ग्रामीण विकास कार्यक्रम के माध्यम से दी जाने वाली सहायता व कर्ज की राशि गरीबी की रेखा से ऊपर ले जाने की दृष्टि से अपर्याप्त मानी गयी है जिससे दूसरी बार पुनः वित्तीय सहायता की मांग की गयी है।

(3) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि बहुत निर्धन व्यक्तियों को स्वरोजगार में न लगाकर मजदूरी पर रोजगार में लगाया जाय तो ज्यादा लाभकारी होगा, क्योंकि वे परिसम्पत्तियों को काम में लेने की क्षमता नहीं रखते। प्रोफेसर नीलकंठ रथ IRDP के माध्यम से निर्धनता-उन्मूलन को संभव नहीं मानते। इसमें सब्सिडी का महत्व रहने से सदैव उसके दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है। अतः पहले विकास की प्रक्रिया में 'टपकने का प्रभाव' (trickle-down effect) उत्पन्न न होने से निर्धनता-उन्मूलन में बाधा पड़ी, लेकिन विशिष्ट कार्यक्रमों के रिसाव-प्रभाव (leakage effect) की वजह से काफी धनराशि गरीबों तक नहीं पहुंच पाती और बिचौलियों में नष्ट हो जाती है। इससे वित्तीय साधनों का सदुपयोग नहीं हो पाता है।

(4) NREP व RLEGP के माध्यम से अल्पकालिक रोजगार ही मिल पाया है। अतः इन्होंने राहत-सहायता के रूप में कार्य किया है।

(5) विभिन्न कार्यक्रमों के अंतर्गत सुदृढ़ व उत्पादक परियोजनाओं का अभाव रहने से उनसे दीर्घकालीन विकास की प्रक्रिया को बल नहीं मिल पाता। उनका विकेन्द्रित नियोजन से ताल-मेल नहीं बैठाया गया है जिसके अभाव में उनके दूरगामी प्रभाव कमजोर रह गये हैं।

9.5 निर्धनता-उन्मूलन के लिए सुझाव

निर्धनता-उन्मूलन की समस्या अत्यंत जटिल व पेचीदामानी गयी है। इसका कोई सुगम हल नहीं है। भारत में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम सबसे बड़ा निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रम है जिसके क्रियान्वयन का मूल्यांकन विभिन्न समितियों, कार्यकारी दलों, संस्थाओं व अनुसंधानकर्ताओं ने किया है। इसमें इस कार्यक्रम को नई दिशा देने के कई सुझाव दिये गये हैं। सार्वजनिक लेखा-समिति (1986-87) ने लोक सभा सचिवालय की इक्कानवीं (91) रिपोर्ट (1987), जिला-नियोजन पर कार्यकारी दल की रिपोर्ट (1984), ग्रामीण विकास के प्रशासनिक प्रबन्ध की समीक्षा के लिए नियुक्त डा. जी. वी. के. राव समिति की रिपोर्ट (1985) तथा भारत में कृषिगत साख-प्रणाली की समीक्षा पर खुसरो रिपोर्ट (1989) आदि में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम की व्यापक रूप से समीक्षा की गई है और इसे अधिक सफल बनाने के लिए अनेक सुझाव दिये गये हैं।

चूँकि निर्धनता की समस्या काफी गहन व बहुआयामी है, इसलिए इसको हल करने के लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी क्षेत्रों में भारी परिवर्तन करने होंगे, तभी इस दिशा में सफलता सुनिश्चित की जा सकेगी।

कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं :—

(1) **एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम को नई दिशा प्रदान करने के लिए निम्न परिवर्तन किये जाने आवश्यक है :—**

(i) यह कार्यक्रम इस समय बिखरे हुए परिवार-आधार (family-basis) पर चलाया जा रहा है। इसके स्थान पर इसे एक सुनियोजित संसाधन-आधारित क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम के अंतर्गत चलाया जाना चाहिए। इसके लिए जिला,

खण्ड व ग्राम स्तर पर योजनाएं बनानी होंगी। इन योजनाओं में उन क्षेत्रों के आर्थिक विकास की सम्भावनाओं का पता लगाना होगा। इसके लिए प्रोजेक्ट-दृष्टिकोण अपनाना होगा। जैसे यदि कहीं पोशाक बनाने, जेम पॉलिश व कटाई, गलीचा बुनाई, आदि का काम हो सकता है तो इनके विकास पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। सभी खण्डों के लिए एक-सी योजनाएं बनाना व लागू करना नितान्त गलत व अव्यावहारिक होगा।

(ii) निर्धनों के चुनाव व उनके लिए आर्थिक क्रियाओं के चुनाव में बैंकों की भागीदारी बढ़ानी होगी। इसके लिए यह बेहतर होगा कि उनको गरीबों की एक 'मास्टर लिस्ट' पाँच वर्ष के लिए दे दी जाय और वे स्वयं यह तय करें कि किन गरीबों को किन कामों के लिए कर्ज दिया जाए ताकि वे गरीबी की रेखा से ऊपर आ सकें।

(iii) आधारभूत सुविधाओं के विकास (सड़क, जल-पूर्ति, विद्युत, आदि) पर अधिक बल दिया जाय, और कार्यक्रमों के लिए आगे-पीछे की कड़ियाँ सुनिश्चित की जाएं और उनको विकसित किया जाय जैसे दुधारू पशुओं के लिए चारा तथा आहार व दूध की बिक्री की उचित व्यवस्था, आदि।

(iv) सब्सिडी का दुरुपयोग रोकने के लिए यह कर्ज के अंतिम भुगतान के साथ समायोजित (adjust) की जाय तो उत्तम होगा। इससे कर्ज व परिसम्पत्ति पर निगाह भी बढ़ जायगी और उनकी क्षति रुकेगी।

(2) जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए 'एक परिवार एक बच्चा' को लागू करने के लिए अभियान तेज किया जाय। इसके लिए महिला व बाल-कल्याण पर अधिक ध्यान दिया जाय तथा स्त्रियों के लिए शिक्षा, चिकित्सा व रोजगार उपलब्ध कराने पर बल दिया जाय।

(3) 'बहुत बहुत गरीब' व 'अत्यधिक दरिद्र' वर्ग के लोगों के लिए, जो परिसम्पत्ति का प्रबंध करने में समर्थ न हों, उनको 'मजदूरी पर रोजगार' दिया जाय। अपाहिज, बूढ़े व कमजोर लोगों के लिए 'सामाजिक सुरक्षा' के मार्फत निःशुल्क सुविधाएं उपलब्ध करने पर जोर दिया जाय।

(4) न्यूनतम मजदूरी कानून, 1948 व बंधुआ श्रम-व्यवस्था (समाप्ति) कानून, 1976 कड़ाई से लागू किया जाय।

(5) भूमि-सुधार कानूनों को प्रभावकारी ढंग से लागू किया जाय। इससे कृषिगत उत्पादन बढ़ेगा तथा भूमि के पुनर्वितरण से समतावादी समाज-व्यवस्था की दिशा में प्रगति होगी।

(6) विकेन्द्रित नियोजन का पंचायती राज संस्थाओं से ताल-मेल बैठाया जाय ताकि योजनाओं के क्रियान्वयन में सर्वसाधारण की भागीदारी हो सके। इसके लिए 'राजनीतिक इच्छा-शक्ति' को विकसित किया जाना चाहिए।

(7) ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के परस्पर समन्वय बैठाया जाना चाहिए। वर्तमान में एक परिवार कई कार्यक्रमों के दायरे में आता है और एक क्षेत्र में कई कार्यक्रम एक-साथ संचालित हो रहे हैं जिससे काफी श्रम व अनिश्चितता की दशाएं उत्पन्न हो गई हैं।

अतः विकेन्द्रित नियोजन को अधिक कारगर बना कर धीरे-धीरे विशिष्ट कार्यक्रमों की संख्या कम करते जाना चाहिए। एक विशिष्ट राष्ट्रीय रोजगार गारंटी कार्यक्रम

को चलाने पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जो 'सुरक्षा-जाल' (sefety-net) का काम करेगा और बेकार लोगों को रोजगार की गारंटी अवश्य प्रदान करेगा।

(8) ग्रामीण निर्धनों का राजनीतिक संगठन बनाया जाना चाहिए जो उनके लिए निर्धारित साधन उन तक पहुंचाने में मदद देगा। वह उनके लिए सतत संघर्षरत भी रहेगा।

आशा है, दिये हुए आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत, निर्धनता-उन्मूल के लिए उपर्युक्त दिशाओं में प्रयास करने इस दिशा में अधिक सफलता मिल पायेगी।

बोध प्रश्न - 2

(1) ग्रामीण निर्धनता के **चार प्रमुख** कारण बताइए।

(2) क्या आप इस मत से सहमत है कि 'शहरी निर्धनता' ग्रामीण निर्धनता का विस्तार मात्र है?

(3) विकास का 'टपकने वाला प्रभाव' (trickle-down effect) स्पष्ट कीजिए।

(4) निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से एकीकृत ग्रामीण कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएं बतलाए।

(5) निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रमों में मुख्य कमियाँ क्या रही है?

(6) भारत में निर्धनता-उन्मूलन की दिशा में ठोस प्रगति के लिए कोई पांच सुझाव दीजिए।

9.6 असमानता का अर्थ, आकार व प्रकृति

9.6.1 असमानता का अर्थ – आय के वितरण की असमानता

एक देश में कई प्रकार की आर्थिक असमानताएं पायी जा सकती हैं जैसे धन के वितरण में असमानता, आय की असमानता, उपभोग व्यय में असमानता आदि। सामाजिक असमानताओं में अवसर की असमानताओं का भी उल्लेख किया जाता है और सामाजिक ऊँच-नीच का विवेचन किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य सम्पत्ति भूमि मानी जाती है और स्थायित्व के अनुसार एवं कार्यशील भूजोतों के अनुसार वितरण की असमानता का वर्णन किया जा सकता है।

प्रायः असमानता के अंतर्गत हम आय के वितरण की असमानता का विवेचन करते हैं जिसमें विभिन्न समूहों के अनुसार पारिवारिकआय का वितरण दर्शाया जाता है। विभिन्न अवधियों के लिए एक देश में पारिवारिक आय के वितरण का अध्ययन करके यह पता लगाया जा सकता है कि आय के वितरण किस दिशा में हो रहा है। इसी प्रकार एक अवधि के लिए विभिन्न देशों में आय के वितरण की तुलना की जा सकती है। अतः आजकल आर्थिक विकास के अध्ययन में आय के वितरण के अध्ययन का महत्व बढ़ गया है।

9.6.2 आय की असमानता का आकार व माप

भारत में राष्ट्रीय आय के वितरण के आंकड़े लम्बी अवधि के लिए नहीं मिलते। हमें राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के द्वारा एकत्र उपभोक्ता के व्यय के आंकड़ों का उपयोग करने से देश में उपभोग की असमानता की जानकारी होती है। भारत में व्यावहारिक आर्थिक अनुसंधान की राष्ट्रीय परिषद् (NCAER) नई दिल्ली ने भी आय, बचत व उपभोग-व्यय के अखिल भारतीय पारिवारिक सर्वेक्षण (1972) के द्वारा 1967-68 की अवधि

के लिए शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों के लिए खर्च के योग्य आय के वितरण के आंकड़े प्रकाशित किये हैं। जिनसे आय के वितरण की असमानता का अनुमान लगाया जा सकता है।

विश्व विकास रिपोर्ट, 1990 में वर्ष 1983 के लिए भारत के लिए आय की असमानता की निम्न सारणी दी गई है :

तालिका 9.3 आय की असमानता

परिवारों का प्रतिशत समूह	पारिवारिक आय में प्रतिशत अंश
निम्नतम 20%	8.1
दूसरा 20%	12.3
तीसरा 20%	16.3
चौथा 20%	22.0
सर्वोच्च 20%	41.4

1983 में चोटी के 10% के पास आय का अंश 26.7% रहा।

उपर्युक्त तालिका से 1983 के लिए भारत में आय के वितरण की असमानता अनुमान लगाया जा सकता है। निम्नतम 20% परिवारों के पास कुल पारिवारिक आय का 8% अंश पाया गया, जबकि चोटी के 20% परिवारों के पास यह अंश लगभग 41% या 2/4 पाया गया। अलग से यह सूचना भी दी गई है कि चोटी के 10% परिवारों के पास पारिवारिक आय का 26.7% (अगभग 1/4 अंश) था। इस प्रकार निम्नतम 20% परिवारों व उच्चतम 20% परिवारों के बीच आय के प्रतिशतों की असमानता का अनुपात 1:5 पाया गया।

जिनी-अनुपात (Gine ratio) :- आय के वितरण की आसमानता जानने के लिए जिनी-अनुपात ज्ञात किया जाता है। 1975-76 के लिए भारत के लिए यह 0.3844 रहा था, जो घट कर 1983 में 0.3044 पर आ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि 1975-83 की अवधि में आय के वितरण की असमानता में कुछ कमी आयी हैं जिनी-अनुपात के बढ़ने से (इसकी अधिकतम राशि 1 होती है) आय की असमानता बढ़ती है और इसके घटने से (इसकी न्यूनतम राशि शून्य होती है) आय की असमानता कम होती है।

भारत में उपभोग-व्यय की असमानता :— एस.पी. गुप्ता व के. एल. दत्ता के अनुसार 1977-78 व 1983 के लिए उपभोग-व्यय के लिए जिनी-अनुपात इस प्रकार रहे :—

तालिका 9.4 ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के लिए जिनी-अनुपात

वर्ष	ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र
1977-78	0.337	0.353
1983	0.297	0.332

इस प्रकार 1977-78 से 1983 की अवधि में उपभोग-व्यय में जिनी-अनुपात शहरी व ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में कुछ कम हुआ है। लेकिन यह ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में अधिक रहा है।

9.6.3 असमानता की प्रकृति

(1) **विकास के प्रारम्भ में असमानता :–** आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विकास के साथ-साथ आय व उपभोग की असमानता में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है क्योंकि समाज में विभिन्न वर्ग विकास के समान रूप से लाभान्वित नहीं होते। साधन-सम्पन्न वर्ग अपनी स्थिति और मजबूत कर लेता है और साधनहीन वर्ग विकास के लाभ कम मात्रा में प्राप्त कर पाता है। अतः विकास के साथ-साथ असमानता में वृद्धि हो सकती है, जिसे कम करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय करने आवश्यक हो जाते हैं।

(2) **सम्पत्ति के वितरण की असमानता आय के वितरण की असमानता से अधिक :–** हम यह भी स्मरण रखना होगा कि धन व सम्पत्ति के वितरण की असमानता का जिनी-अनुपात आय का उपभोग के वितरण की असमानता के जिनी-अनुपात से ऊँचा पाया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में कार्यशील जोतों के वितरण का जिनी-अनुपात 1985-86 में 0.5974 पाया गया जबकि 1983 में आय के वितरण का जिनी-अनुपात केवल 0.3044 ही था। अतः धन की असमानताएं आय अथवा उपभोग की असमानताओं से ऊँची पायी जाती हैं। इन दोनों में परस्पर संबंध होता है, लेकिन असमानता का अंश भिन्न-भिन्न पाया जाता है।

(3) **असमानता में निरंतरता की प्रवृत्ति :–** आर्थिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार की असमानता में बने रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि किसी आधार-वर्ष में धन की परिसम्पत्ति की असमानता को न बदला जाय तो कालान्तर में भी वह जारी रहती है, अथवा बढ़ भी सकती है। अतः असमानता को कम करने के लिए कठोर कदम उठाने पड़ते हैं, अन्यथा यह बराबर बनी रहती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्तराधिकार या विरासत की प्रथा के कारण धन का हस्तान्तरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है जिससे असमानताएं जारी रहती हैं।

बोध प्रश्न - 3

(1) असमानताएं कितनी प्रकार की होती हैं?

(2) भारत में आय की असमानता का जिनी-अनुपात लिखिए।

(3) 1983 में भारत के आय के वितरण का उल्लेख कीजिए।

(4) असमानता की प्रकृत्ति (nature) के बारे में तीन बातें लिखिए।

9.7 आय की असमानता के कारण

भारत में नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे में आर्थिक विकास किया जा रहा है। यहां कृषि, लघु उद्योग, खनन, व्यापार व परिवहन में निजी क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थव्यवस्था पूँजीवादी बाजार-प्रणाली के नियमों से काफी सीमा तक प्रभावित होती है। अतः देश में धन, आय, उपभोग, आदि की असमानताओं का पाया जाना स्वाभाविक है।

भारत में उपभोग व आय की असमानता के लिए निम्न कारण उत्तरदायी माने जा सकते है :–

(1) **ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि व पूँजीगत साधनों का असमान वितरण** :–ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि परिसम्पत्ति का मुख्य रूप होती है। योजनाकाल में कार्यशील जोतों के

वितरण में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। 1960-61 में 1 हैक्टेयर तक की सीमान्त जोतें 41% थीं और उनमें कुल कृषित भूमि का 7% अंश था। 1985-86 में सीमान्त जोतों का अंश 58% हो गया और इनमें कृषित भूमि का 13% अंश पाया गया। इसके विपरीत 10 हैक्टेयर व अधिक आकार की बड़ी जोतें 1960-61 में 5% थीं तथा उनमें कृषित भूमि का 31% अंश था। 1985-86 में इनका अंश 2% हो गया तथा इनमें कृषि भूमि का 20.5% अंश पाया गया। इस प्रकार योजनाकाल के 25 वर्षों के बाद भी भूमि का वितरण काफी असमान बना हुआ है। बड़े भूस्वामी सिंचाई, बीच, उर्वरक, साख, आदि की सुविधाओं का लाभ लघु व सीमान्त कृषकों की तुलना में ज्यादा मात्रा में उठाते हैं। हरित क्रान्ति ने भी 1966 के बाद अंतर्प्रादेशिक व अंतर्वर्गीय असमानताएं बढ़ायी हैं। भारत में कार्यशील भूजोतों के वितरण का जिनी-अनुपात 1970-71 में 0.6207 था जो 1985-86 में 0.5974 हो गया। इसमें कुछ कमी होने पर भी यह आज भी काफी ऊँचा बना हुआ है।

भारत में भूमिसुधारों का ठीक से क्रियान्वयन नहीं होने से मौखिक काश्तकारी (oral tenancy) ,फसल-बटाई, प्रथा, बंधुआ मजदूरी की प्रथा, आदि विद्यमान हैं। देहातों में ट्रैक्टर, बैल, दुधारू पशु, औजार आदि के वितरण में भी काफी असमानता पायी जाती है। कृषि आय के आय-कर-मुक्त होने से भी असमानता कायम रही है। बड़े किसान अपनी सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति के कारण ऊँचे वसूली मूल्य, उर्वरक-सब्सिडी, आदि का लाभ उठा कर अपनी आय ऊँची रखने में समर्थ हो जाते हैं, जबकि भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति बदतर होती जाती है।

(2) **औद्योगिक जगत में बड़े व्यावसायिक घरानों का परिसम्पत्तियों पर अधिकार** :— भारत में निजीक्षेत्र में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण पाया जाता है और वह योजनाकाल में बढ़ा है। 1986-87 में 10 चोटी के औद्योगिक घरानों की परिसम्पत्ति का मूल्य 18638 करोड़ रु. था जिसमें टाटा-बिड़ला घरानों का अंश लगभग आधा था। बड़ी कम्पनियों (भारतीय व विदेशी दोनों) के प्रबंधकों के वेतन, भत्ते व अन्य देय राशियाँ बहुत ऊँची होती हैं। ये देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत अधिक होती है। ये देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत अधिक होती हैं। इससे आय की असमानताएं ऊँची बनी रहती हैं।

(3) **काली मुद्रा का प्रसार** :— भारत में कर की चोरी, भ्रष्टाचार व अन्य कारणों से काली मुद्रा का प्रसार बढ़ा है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर माल्कम आदिशेशैया के अनुसार 1984-85 में यह 80 हजार करोड़ रु. हो गयी थी, जो राष्ट्रीय आय का 40% थी।

देश में एक समानान्तर अर्थव्यवस्था चल रही है जो मुद्रास्फीति, असमानता व निर्धनता को बढ़ाती है।

(4) शिक्षा के अवसरों में असमानता होने से आय की असमानता बनी रहती है। आज भी उच्च शिक्षा व उच्च नौकरियों के अवसर कुलीन व सम्भ्रान्त परिवारों को अधिक सुलभ हैं, और पिछड़ी जातियों के लिए अपेक्षाकृत सीमित हैं।

(5) बेरोजगारी, अल्परोजगार व निर्धनता की समस्याओं के बने रहने से भी असमानता बनी रहती है।

(6) देश में कोई आय-नीति नहीं है। अतः उसके अभाव में आय की असमानता बनी

रहती है। मजदूरी, ब्याज, मुनाफा व किराये में आमदनी का कोई नियमन नहीं है।

(7) मुद्रास्फीति के कारण भी आय की असमानता बढ़ती है। योजनाकाल में आम उपभोग की वस्तुओं के भाव बढ़ने से लोगों की वास्तविक आमदनी बहुत घट गई है। 1990 में रुपये की क्रयशक्ति 1960 की तुलना में लगभग 1/10 रह गयी है।

देश में बड़े व्यवसायी व उद्योगपति, राजनीतिक नेता, सरकारी अफसर, ठेकेदार व बड़े किसान अपने हितों को आगे बढ़ाने में समर्थ व सक्षम हैं, जबकि खेतिहर मजदूर घरेलू उद्योगें में संलग्न कारीगर, पिछड़ी जाति के लोग, आदि विकास की दौड़ में पिछड़ गये हैं। ऐसी स्थिति में आर्थिक असमानताओं का बढ़ना व जारी रहना स्वाभाविक है। देश में 'गरीबी की रेखा' की तो बात की जाती है, लेकिन 'सम्पन्नता की रेखा' (line of affluence) की कोई बात नहीं करता अभी तक समानता की दिशा में ठोस व कड़े कदम नहीं उठाये गये हैं।

9.8 आय की असमानता को कम करने के संबंध में सरकारी उपाय

भारत में योजनाकाल में 'समता व न्याय के साथ विकास' (growth with equity) की चर्चा की जाती है। इस संबंध में कुछप्रयास भी किये गये हैं लेकिन अभी तक इस दिशा में अपर्याप्त सफलता ही मिल पायी है। आय की असमानता को कम करने के लिए विभिन्न सरकारी उपाय इस प्रकार किये गये हैं :—

(1) **प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर, विशेषतया वैयक्तिक आयकर** :— भारत में समानता की तरफ अग्रसर होने के लिए धन-कर (wealth tax), आयकर, उपहार-कर, आदि का उपयोग किया गया है। 1999-2000 के केन्द्रीय बजट के अनुसार 1.5 लाख रुपये से अधिक की आय पर, 10% कर राशि पर सरचार्ज के अलावा आयकर की अधिकतम सीमान्त दर 30% है। देश में आयकर को कानूनी तौर पर बचा लेने व आय को छुपा कर कर की चोरी के प्रयास किये जाने से आयकर आय की असमानता को कम करने में विफल रहा है।

(2) सरकार ने व्यावसायिक व व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर छापे, तलाशियाँ, जब्तियों, चालानों व कानूनी कार्यवाही करके काला धन व काली मुद्रा को बाहर निकालने के प्रयास किये हैं और ये निरंतर जारी हैं। लेकिन इनमें प्रक्रिया बड़ी जटिल व लम्बी चलती है और समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं निकल पाता।

(3) सरकार ने भूमि का वितरण अधिक समान बनाने के लिए भूमि सीमा (Ceiling) कानून बनाये हैं, लेकिन उनका क्रियान्वयन ठीक से नहीं हो पाया है।

(4) सरकार ने एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) व ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण देने (ट्राइसम) के माध्यम से गरीबों के लिए स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न करने का प्रयास किया है तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम व ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (बाद में जवाहर रोजगार कार्यक्रम) के माध्यम से मजदूरी पर रोजगार बढ़ाया गया है। इससे रोजगार व गरीब लोगों की कुछ सीमा तक आमदनी बढ़ी है।

(5) सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों जैसे पेंशन, प्रोविडेण्ट कोष, प्रसूति-सहायता, तथा कल्याण-कार्यक्रमों जैसे शिक्षा, चिकित्सा व पोषण-कार्यक्रम चला कर लोगों को लाभ पहुंचाने के प्रयास किये गये हैं।

(6) कीमत-नियंत्रण व राष्ट्रव्यापी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अपनाकर अलग, चीनी, खाद्य-तेल, आदि की सप्लाई निर्धारित भावों पर बढ़ा कर लोगों को कुछ सीमा तक मुद्रास्फीति की चपेट एसे बचाने का प्रयास किया गया हैं लेकिन इसका प्रभाव शहरी क्षेत्रों तक विशेष रूप से सीमित रहा है।

(7) निजी क्षेत्र के एकाधिकारी प्रवृत्तियों को कम करने के लिए MRTP अधिनियम 1969 लागू किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र, सहकारी क्षेत्र व लघु क्षेत्र का विकास किया गया। परन्तु अब उदारीकरण की प्रक्रिया ये प्रयास शिथिल हो गए हैं।

इस प्रकार आय की असमानताओं को कम करने के लिए योजनाकाल में विभिन्न प्रकार के प्रयास किये गये हैं, लेकिन दिये हुए आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक ढांचे में असमानताओं को कम करने की अपनी सीमाएं व कठिनाइयां होने से उर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी है। अतः भविष्य में निम्न दिशाओं में प्रयास करने की आवश्यकता है।

9.9 आय की असमानताओं को कम करने के लिए सुझाव

बेरोजगारी, निर्धनता व असमानता के प्रश्न बहुत जटिल व पेचीदे माने गये हैं। भारत जैसे जनाधिक्य वाले विकासशील देश में इनका समुचित व संतोषजनक हल निकाल पाना लोकतांत्रिक व्यवस्था में विशेष रूप से कठिन है। फिर भी आय की असमानताओं को कम करने के लिए निम्न उपयोगी सुझावों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(1) नियोजन व विकास की व्यूहरचना में आमूल-चूल प्ररिवर्तन :— विकास की व्यूहरचना में रोजगार पर बल दिया जाना चाहिए। साधन-आधारित क्षेत्रीय नियोजन, विकेन्द्रित नियोजन, उत्पादक प्रोजेक्टों का चुनाव व समुदायिक परिसम्पतियों का निर्माण आदि एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं इन सभी में स्थानीय साधनों का उपयोग स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। इस प्रक्रिया में असमानता कम करने के बीच विद्यमान रहते हैं। केन्द्रिय नियोजन में नौकरशाही के निर्णयों का बोलबाला होने से विशेष लाभ नहीं मिल पाते। योजना के निर्माण, क्रियान्वयन, आदि में सर्वसाधारण की भागीदारी से सामाजिक परिवर्तन व पूर्ण कायापलट की दशाएं उत्पन्न होती हैं।

(2) सार्वजनिक उपक्रमों व निजी उपक्रमों में प्रबंध, पूँजी व लाभ सभी में धीरे-धीरे श्रम की साझेदारी बढ़ायी जानी चाहिए जैसा कि कुछ योरोपीय देशों जैसे फ्रांस, इटली, आदि में किया गया है। इससे औद्योगिक शक्ति बढ़ेगी और आय की समानता की दिशा में ठोस प्रगति हो पायेगी।

(3) आधुनिक टेक्नोलोजी, आन्तरिक व विदेशी प्रतिस्पर्धा, पैमाने की किफायतें प्राप्त करके अर्थव्यवस्था को अधिक कार्यकुशल, अधिक उत्पादक विकासोन्मुख व लाभकारी बनाया जाना चाहिए। इससे लोगतें कम होंगी व कीमतें भी नियमित होंगी।

(4) ग्राम व शहर की खाई कम करने के लिए ग्रामों का सर्वाधिक विकास किया जाना चाहिए। इससे ग्रामीण जनता का शहरों की तरफ पलायन रूकेगा। छोटे नगरों व कस्बों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

आशा है कि इक्कसवीं शताब्दी में भारतीय नियोजन नई दिशाओं में अग्रसर होकर गरीबी व असमानता जैसी जटिल समस्याओं का समाधान निकालने में अधिक सफलता प्राप्त कर पायेगा।

बोध प्रश्न - 4

(1) भारत में आय की असमानता के चार प्रमुख कारण लिखिए

(2) मुद्रास्फीति आय की असमानता को बढ़ाती है, स्पष्ट कीजिए।

(3) सरकार द्वारा आय की असमानता को कम करने के लिए कौन-से चार उपाय किये गये हैं?

(4) आय की असमानताओं को कम करने के लिए आप क्या सुझाव देना चाहेंगे?

(5) ऐसे कार्यक्रम बताइए जिनसे निर्धनता व असमानता दोनों पर कड़ा प्रहार सम्भव हो सकता है।,

9.10 सारांश

भारत में निर्धनता व असमानता की समस्याएं बहुत जटिल व दीर्घकालीन रूप धारण कये हुए हैं। निर्धनता की धारणा निरपेक्ष है, और इसका संबंध 'केलोरी की मात्रा' से किया गया है। वर्तमान समय में योजना आयोग के अनुसार लगभग 30% जनता गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में सीमान्त व लघु कृषक, भूमिहीन श्रमिक, ग्रामीण कारीगर, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़ी जाति के अधिकांश लोग, आदि गरीबी के शिकार हैं।

निर्धनता की समस्या सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दशाओं की देन है। सरकारी ने इसके समाधान के लिए योजनाओं में विकास-कार्यक्रम तथा विशिष्ट कार्यक्रम अपनाये हैं। इनसे कुछ लाभ मिले हैं, लेकिन भविष्य में इनकी कमियों को दूर करके तथा विकेन्द्रित नियोजन पद्धति को अपना कर निर्धनता दूर करने का प्रयास जारी रखना होगा।

असमानता धन की, आय की व व्यय आदि की हो सकती है। भारत में आय की असमानता का जिनी-अनुपात 1983 के लिए 0.3044 रहा था। आज भी असमानता का अनुपात काफी ऊँचा है। गांवों में भू-जोतों का स्वामित्व काफी असमान है। इनके संबंध में कार्यशील जोतों में असमानता का जिनी-अनुपात 1985-86 में 0.5974 पाया गया जो काफी ऊँचा था। सरकार ने असमानता कम करने के लिए प्रत्यक्ष करों का उपयोग किया है, लेकिन उनमें काफी मात्रा में कर-वंचन होने से असमानता कम करने में कठिनाई रही है। भविष्य में सम्पूर्ण नियोजन-तन्त्र को ग्रामोन्मुख व रोजगारोन्मुख बना कर इन समस्याओं पर कड़ा प्रहार करने से ही विशेष सफलता की आशा की जा सकती है।

9.11 शब्दावली

(1) **निर्धनता की रेखा (Poverty line)** :— गाँवों में प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन 2400 केलोरी तथा शहरों में 2100 केलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्ति निर्धन माने जाते हैं। व्यय की दृष्टि से 1983-84 के भावों पर गांवों में प्रति व्यक्ति प्रति माह 101.80 रुपये तथा शहरों में 117.50 रुपये से कम व्यय करने वाले व्यक्ति निर्धन माने गये हैं।

(2) **निर्धनता-अनुपात (Poverty ratio)** :— कुल निर्धन व्यक्तियों का कुल जनसंख्या से अनुपात निर्धनता-अनुपात कहलाता है। यह ग्रामणी क्षेत्रों व समस्त क्षेत्रों के अनुसार अथवा राज्यवार व विभिन्न समुदायों (अनसचित जाति, आदि) के अनुसार ज्ञात किया जा सकता है।

(3) **असमानता का जिनी-अनुपात** :— यह असमानता को ज्ञात करने के लिए कम में लिया जाता है। इसके लिए आय की पूर्ण समानता की रेखा व लॉरेन्ज वक्र के बीच की दूरी का क्षेत्रफल आय की पूर्ण समानता व आय की पूर्ण असमानता के बीच की दूरी या क्षेत्रफल का भाग दिया जाता है।

(4) **प्रत्यक्ष कर** :— य वे कर होते हैं जिनका भार करदाताओं को ही वहन करना होता है जैसे व्यक्तिगत आयकर, कम्पनी लाभ कर, धन-कर, उपहार-कर आदि। ये आय की असमानता को कम करने के लिए काम में लिये जाते हैं तथा सरकारी राजस्व बढ़ाने में भी सहायक होते हैं।

(5) **विकेन्द्रित नियोजन** :— इसे 'नीचे के नियोजन' (planning from below) भी कहते हैं। इसमें जिला, खण्ड व ग्राम स्तर पर योजनाएं बनायी जाती हैं। इससे बेरोजगारी, निर्धनता व असमानता दूर करने में विशेष मदद मिलती है।

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(1) Mishra & Puri, Indian Economy, latest Ed.

(2) L.N.Nathuramka,भारतीय अर्थशास्त्र समस्याएं, नवीनतम संस्करण

(3) D. Bandyopdhyay, Direct Intervention Programmes for Poverty Alleviation-AnAppraisal, an article in EPW, June 25, 1988, pp. A-77 to 1-88.

(4) A Review of the Agricultural Credit System in India, Report, (RBI, Bombay), 1989, ch. 21 (IRDP), Pay VIII, pp. 741-782.

9.13 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न - 1

(1) (स)

(2) ग्रामीण-निर्धनता के अनुपात

	प्रतिशत में (%)	ग्रामीण निर्धनों की संख्या (करोड़ों में)
1977-78	51.2	25.3
1984-85	39.9	22.2
1989-90	28.2	16.9

(3) डा. मोन्टेक अहलूवालिया के अनुसार 1956-57 से 1977-78 के बीच ग्रामीण निर्धनता में कोई निश्चित प्रवृत्ति नहीं। योजना-आयोग के अनुसार 1977-78 से 1989-90 के बीच निर्धनता-अनुपात में कमी।

(4) (अ) मूलतः ग्रामीण

(ब) दीर्घकालीन

(स) कृषिगत उत्पादन के उतार-चढ़ाव से जुड़ी

(द) मूलतः अल्पविकास की परिचायक।

बोध प्रश्न - 2

(1) (1) ग्रामीण जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि

(2) कार्यशील भू-जोंतों का असमान वितरण व भूमि-सुधारों के क्रियान्वयन में कमी

(3) गांवों में निर्धन-वर्ग द्वारा खरीदे जाने वालो खाद्य-पदार्थों की कीमतों में वृद्धि

(4) कृषिगत उत्पादन में धीमी व अनियमित वृद्धि

(2) हां, कुछ सीमा तक यह सही है कि क्योंकि ग्रामीण जनता के शहरों की ओर निरंतर पलायन से शहरी निर्धनता का दबाव बढ़ता है। लेकिन अन्य कारणों ने भी शहरी निर्धनता को बढ़ाया है। इस संबंध में शहरों में घरेलू उद्योगों का पतन व श्रम की पूर्ति की मांग से अधिक होना जैसे कारण गिनाये जा सकते हैं।

(3) विकास के 'टपकने वाले प्रभाव' का अर्थ है स्वयं विकास की प्रक्रिया से निर्धनता का कम होना, बेरोजगारी कम होना। भारत में यह प्रभाव कमजोर रहा क्योंकि गांवों में विभिन्न जन-समूह एक-से नहीं है, और विकास के अधिक लाभ सम्पन्न वर्ग ने हथिया लिए। इसलिए निर्धनता-उन्मूलन के लिए विशिष्ट कार्यक्रम अपनाने पड़े।

(4) (i) इससे स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न किये जाते हैं और गरीबों को कोई-न-कोई परिसम्पत्ति (asset) दी जाती है; जैसे दुधारू पशु, हथकरघा, सिलाई की मशीन आदि।

(ii) इसमें सब्सिडी व कर्ज की व्यवस्था की जाती है। जिनका अनुपात प्रायः 1:2 पाया जाता है।

(iii) आमदनी बढ़ने से लोग गरीबी की रेखा से ऊपर आ सकते हैं।

(iv) इसमें केन्द्र व राज्यों का अंश सब्सिडी या वित्तीय साधनों में आधा-आधा होता है।

(5) (i) ये परिवार-आधारित होने से संकुचित रहे हैं। इन्हें संसाधन-आधारित क्षेत्रीय नियोजन का अंग बनाया जाना चाहिए था।

(ii) इनमें प्रशासनिक दृष्टि से कई प्रकार की कमियां व दोष रहे हैं जैसे गलत परिवारों का चयन, सभी खण्डों में एक से कार्यक्रम अपनाना, स्थानीय साधनों व स्थानीय आवश्यकताओं का ध्यान न रखना, सब्सिडी का दुरूपयोग, आदि।

(iii) अवास्तविक लक्ष्य निर्धारित करना।

(vi) कार्यक्रम के आगे-पीछे की कड़ियों (linkages) पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया।

(6) (i) जिला, खण्ड व ग्राम स्तर पर प्रोजेक्ट-आधारित नियोजन तथा आर्थिक विकास,

(ii) भूमि-सुधारों का प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन

(iv) सामाजिक कल्याण संबंधी कार्यक्रमों का विस्तार— शिक्षा, चिकित्सा, पोषण, आदि।

(v) निर्धनों का राजनीतिक संगठन

बोध प्रश्न - 3

(1) (i) धन की असमानता

(ii) आय की असमानता

(iii) उपयोग-व्यय की असमानता

(iv) अवसर की असमानता

(2) 1983 के लिए आय के वितरण का जिनी-अनुपात 0.3044 रहा था।

(3) निम्नतम 20% परिवारों के पास आय का 8% या 1/12 अंश

उच्चतम 20% परिवारों के पास आय का 41% या 2/5 अंश

उच्चतम 10% परिवारों के पास आय का 27% या 1/4 अंश।

(4) (i) विकास के प्रारम्भ में इसमें बढ़ो की प्रवृत्ति

(ii) सम्पत्ति के वितरण की असमानता आय के वितरण की असमानता से अधिक

(iii) असमानता में जारी रहने या निरंतरता की प्रवृत्ति

बोध प्रश्न - 4

(1) (i) ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि व पूँजीगत साधनों का असमान वितरण

(ii) औद्योगिक जगत में बड़े व्यावसायिक घरानों का परिसम्पत्तियों पर अधिकार

(iii) कालीमुद्रा का प्रसार

(iv) देश में व्याप्त बेरोजगारी, अल्परोजगार व निर्धनता

(2) मुद्रास्फीति से धनी अधिक धनी हो जाते हैं और गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं। धनी लोग मुनाफे, ब्याज, आदि के रूप में अधिक आय जुटा लेते हैं जबकि गरीब लोगों की क्रयशक्ति काफी घट जाती है। इससे आय की असमानता घटती है। भारत में 1990 में 1960 की तुलना में रुपये का मूल्य 10 पैसे रह गया है।

(3) (i) प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर, विशेषतया वैयक्तिक आय कर का उपयोग

(ii) काली मुद्रा को बाहर निकालने के लिए छापे, तलाशियाँ, वगैरह;

(iii) स्वरोजगार व मजदूरी पर रोजगर देने के कार्यक्रमों का लागू किया जाना

(v) सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम लागू करना

(4) (i) विकास की व्यूहरचना में आमूल-चूल परिवर्तन-स्थानीय साधनों व स्थानीय आवश्यकताओं से ताल-मेल बैठाते हुए स्थानीय/विकेन्द्रित नियोजन पद्धति अपनाना व उसे रोजगारोन्मुख बनाना।

(ii) श्रमिकों को प्रबन्ध, पूँजी व लाभ सभी में भागीदारी देना

(iii) अर्थव्यवस्था आधुनिकीकरण व लागत-कुशलता बढ़ाना

(iv) ग्राम व शहर की खाई पाटना, छोटे शहरों व कस्बों का औद्योगीकरण करना।

(5) (i) नियोजन का केन्द्र ग्राम, खण्ड, जिला हो, तथा विकास का आधार रोजगार बनाया जाय।

(ii) आम उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जाय तथा मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 5% से नीची रखी जाय।

(iii) सामाजिक कल्याण — शिक्षा, चिकित्सा व पोषण पर सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके आम आदमी को विशेष लाभ पहुँचाया जाय।

इकाई 10

बेरोजगारी स्वरूप तथा आकार - उद्योगीकरण तथा रोजगार एवं रोजगारनीति

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 बेरोजगारी का स्वरूप

10.2.1 बेरोजगारी के प्रकार

10.2.2 विकसित तथा अविकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप

10.3 बेरोजगारी के कारण

10.4 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

10.5 भारत सरकार की रोजगार सम्बन्धी नीति

10.6 भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी

10.7 भारत में उद्योगीकरण तथा रोजगार

10.8 सारांश

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 उद्देश्य

भारत में प्रत्येक वर्ष रोजगार चाहने वालों की संख्या की तुलना में रोजगार के अवसर बहुत कम बढ़े हैं। भारत की जनसंख्या वृद्धि की दर पिछले कई दशकों से 2 प्रतिशत वार्षिक से अधिक रही जबकि रोजगार के अवसर धीमी गति से बढ़े यही कारण है रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत आवेदकों की संख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है। यह भी सर्वविदित ही है कि केवल शहरी एवं शिक्षित युवा ही अपना पंजीकरण करवाते हैं। एक अनुमान के अनुसार नौवीं योजना अवधि (1997-2002) में जनसंख्या 94.98 करोड़ से बढ़कर 102 करोड़ हो जाएगी। रोजगार इसी अवधि में 39.72 करोड़ से बढ़कर 45.2 करोड़ होंगे। जबकि बेरोजगारों की संख्या इस अवधि में 5.9 करोड़ तक बढ़ने का अनुमान है। अर्थात् बेरोजगारों में 1.18 करोड़ की वृद्धि प्रतिवर्ष होगी। नौवीं योजना में कुल बेरोजगार 10.6 करोड़ होने का अनुमान है।

भारत में रोजगार की औसत वार्षिक वृद्धि दर (संगठित एवं असंगठित) दोनों क्षेत्रों में 1972-78 की अवधि में 2.75% वार्षिक थी जो घटकर 1977-83 की अवधि में 1.77% रह गई। रोजगार वृद्धि की दर 1987-94 की अवधि में यह पुनः बढ़कर 2.37% वार्षिक हो गई। परन्तु संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि की दर घटी यह गिरावट सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक रही। अब यह नकारात्मक हो गई है। निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़े हैं। 1996 में इसमें 5.62% की वृद्धि हुई यह आर्थिक उदारीकरण का परिणाम है। परन्तु निजीक्षेत्र की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति

विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तुलना में काफी कम है। इस कारण सम्भव है निजी क्षेत्र भविष्य में इस वृद्धि दर को कायम न रख सकें। उदारीकरण के पाँच वर्षों में (1991-95) संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर निरन्तर घटी है। अतः इस इकाई का उद्देश्य आपको :

- बेरोजगारी के स्वरूप तथा आकार के बारे में विस्तृत जानकारी देना है
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप बेरोजगारी के विभिन्न प्रकार एवं इसके कारणों से परिचित हो सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारत एक अल्पविकसित किन्तु विकासशील देश है। हमारे देश में सारी श्रमिक संख्या रोजगार में नियोजित नहीं है। इसका एक बड़ा भाग बेरोजगारी की स्थिति में है। बेराजगारी भारत की मूलभूत एवं अत्यन्त गम्भीर समस्या है। यह सम्पूर्ण देश में बहुत व्यापक रूप में फैली हुई है और प्रतिवर्ष इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है।

हमारे देश मं बेरोजगारी का स्वरूप औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की अपेक्षा भिन्न है। लार्ड केन्स के विश्लेषण के अनुसार विकसित देशों में बेरोजगारी का मूल कारण समर्थ मांग का अभाव (Lack of effective Demand) है। इसका अर्थ यह है कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं में मशीने बेकार हो जाती है और श्रम की मांग उद्योगों के उत्पादन की मांग से कम हो जाने के कारण गिर जाती है। इस कारण केन्स ने बेरोजगारी को दूर करने के उपचारों में इस बात पर बल दिया कि देश में मन्दी को रोकने के लिए समर्थ मांग को पर्याप्त स्तर पर ऊँचा रखना होगा।

भारत में बेरोजगारी गांवों तथा शहरों में व्यापक रूप में फैली हुई है। यह समस्या शिक्षित वर्गों के बीच भी विद्यमान है और अशिक्षित वर्गों में भी व्यापक रूप में फैली हुई है। देश में काफी बड़ी संख्या में श्रमिक बेरोजगार है या अल्प-रोजगार की स्थिति में हैं। हमारे देश में ऐसे श्रमिक भी हैं जो वर्ष के कुछ महीनों में तो रोजगार में रहते हैं और शेष महीनों में बेरोजगारी का जीवन बिताते हैं।

बेरोजगारी के अनेक आर्थिक एवं सामाजिक दुष्परिणाम होते हैं। आंशिक मात्रा में बेरोजगारी की स्थिति में राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है जिसका पूंजी निर्माण, व्यापार-व्यवसाय और देश की आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सामाजिक सुरक्षा के अभाव में बेरोजगार व्यक्ति प्रायः अनेक बुराईयों-जैसे चोरी, डकैती बेईमानी शराबखोरी आदि के शिकार हो जाते हैं।

10.2 बेरोजगारी का स्वरूप

भारतीय अर्थव्यवस्था में श्रम की अधिकता है और भूमि पूंजी, उद्यम आदि का अभाव है। देश की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, भूमि पर जनभार अधिक है और जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि की दर भी ऊँची है। जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने के कारण श्रम-शक्ति में भी अतितीव्र गति से निरन्तर वृद्धि हो रही है।

भारत में बेरोजगारी के स्वरूप की जानकारी के आधार पर ही हम इसके लिए उपयुक्त नीति व उपाय के बारे में नीति निर्धारण कर सकते हैं।

हमारे देश में औद्योगिक क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा है जिसमें सीमित मात्रा में ही श्रमिकों को रोजगार मिल सकता है। परम्परागत कुटीर एवं लघु उद्योगों में रोजगार देने की मात्रा तो अधिक होता है लेकिन इनके विकास में बाधाये अधिक होने के कारण इनका विकास धीमी गति से ही हो पा रहा है।

भारत में प्रतिवर्ष श्रमशक्ति में वृद्धि हो रही है परंतु श्रम बाजार में प्रवेश करने वाले सभी नये श्रमिकों को रोजगार नहीं मिल पा रहा है। इस कारण देश में बेरोजगारी की स्थिति गम्भीर एवं जटिल होती जा रही है।

10.2.1 संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Unemployment)

भारत की बेरोजगारी देश के पिछले आर्थिक ढाँचे के साथ संबंधित है। हमारे देश में बेरोजगारी दीर्घकालिक है क्योंकि यह देश के अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के साथ गहरे तौर पर संबंधित है। देश में बचत की दर तथा पूंजी निर्माण की मात्रा विकसित देशों की तुलना में नीची है इसलिये रोजगार की मात्रा भी अल्प ही है। देश में नये काम-धन्धे एवं रोजगार की मात्रा इतनी कम है कि प्रतिवर्ष रोजगार की मात्रा में नाममात्र की वृद्धि होती है। इस कारण रोजगार की मात्रा लगभग स्थिर रहती है। निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उपलब्ध रोजगार के अवसरों में भारी अन्तर होने के कारण बेरोजगारी स्थायी या दीर्घकालिक हो गई है देश में बेरोजगारी की समस्या का समाधान तीव्र आर्थिक विकास द्वारा ही संभव है।

बेरोजगारी के प्रकार (Types of unemployment)

भारत में बेरोजगारी के निम्न प्रकार हैं एवं रूप हैं।

(i) प्रच्छन्न बेरोजगारी (Disguised unemployment)

प्रच्छन्न बेरोजगारी प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में पाई जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी में ऊपरी तौर पर तो श्रमिक काम में लगे दिखाई देते है परन्तु वास्तव में वे बेरोजगार होते हैं। इनकी यह बेरोजगारी छिपी होती है। क्योंकि इन श्रमिकों का काम में लगे होने के उपरान्त भी उत्पादन में कोई योगदान नहीं होता है। अर्थात् इन श्रमिकों का सीमान्त उत्पादन शून्य होता है। प्रा० नर्कसे के अनुसार उल्पविकसित देशों में कृषि क्षेत्र में काफी संख्या में ऐसे श्रमिक लगे होते हैं जिन्हें कृषि से हटा लिया जावे तो भी उत्पादन में किसी प्रकार की कमी नहीं होगी। इस प्रकार के श्रमिक आर्थक दृष्टि से बेरोजगार की श्रेणी में आवेंगे जबकि देखने में ये काम पर लगे हुए दिखाई देते हैं स्पष्टतः इन श्रमिकों की बेराजगारी छिंपी हुई या प्रछन्न बेरोजगारी होती है।

(ii) खुली बेरोजगारी

इस श्रेणी में श्रमिकों का वह वर्ग आता है जिन्हें किसी प्रकार का काम उपलब्ध नहीं है। काम न मिलने से यह वर्ग पूरी तरह से बेरोजगार है। इस प्रकार की बेरोजगारी ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों के बेरोजगार व्यक्ति काम की तलाश में शहरी क्षेत्रों में आते रहते हैं। शहरों में काम उपलब्ध न होने के कारण वे वहां बेरोजगारी की श्रेणी में पड़े रहते हैं। ऐसे श्रमिकों को जब तक रोजगार नहीं मिलता है इन्हें खुली बेरोजगारी की क्षेणी में माना जाता है। इस श्रेणी में अधिकतर साधारण कोटि के श्रमिक होते हैं जो उद्योग एवं कारखानों में रोजगार प्राप्त करना चाहते हैं। इस श्रेणी में शिक्षित बेरोजगार वर्ग के श्रमिक भी सम्मलित होते हैं।

(iii) शिक्षित बेरोजगारी

शिक्षित बेरोजगारी की स्थिति भी देश में अत्यन्त जटिल होती जा रही है। इस श्रेणी में वे श्रमिक आते हैं जिनको शिक्षित करने के लिए देश में आर्थिक संसाधनों का उपयोग किया गया है ओर विशेष ज्ञान शिक्षा एवं दक्षता के कारण इस प्रकार के श्रमिकों को काम करने की क्षमता अन्य साधारण श्रमिकों की अपेक्षा अधिक होती है। यह श्रमिक विशेष प्रकार के कार्य करने के योग्य होते हैं इसलिए काम के प्रति इनकी प्रत्याशाये भी भिन्न प्रकार की होती हैं।

इस श्रेणी में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिन्हें अपनी शिक्षा के अनुरूप काम नहीं मिला होता

है या उपलब्ध कार्य उनकी क्षमता से कम होता है। इस स्थिति में यह श्रमिक अल्प रोजगार की स्थिति में होते हैं देश में बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें किसी प्रकार का काम उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार के शिक्षित व्यक्ति खुली बेरोजगारी की श्रेणी में आते हैं।

देश में शिक्षा के प्रकार होने से शहरी क्षेत्रों में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस समस्या के समाधान के लिए विशेष प्रयास अपेक्षित है।

(iv) ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी

भारत में अधिकांश बेरोजगारी ग्रामीण क्षेत्रों में पाई जाती है। हमारे देश में कृषि का व्यवसाय देश वासियों का प्रमुख तथा प्रधान व्यवसाय है परन्तु यह मौसमी व्यवसाय होता है। देश के विभिन्न राज्यों में मौसमी बेरोजगारी की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। एक अनुमान के अनुसार लगभग पांच से सात माह तक ग्रामीण श्रमशक्ति का बड़ा भाग बेरोजगार रहता है। देश में कुटीर उद्योगों के पराभव के कारण कृषि क्षेत्र के श्रमिकों को अपना फालतू समय कुटीर उद्योगों में लगाने का अवसर भी समाप्त हो गया है।

हमारे देश में कृषि क्षेत्र में निरन्तर अल्प रोजगार तथा अदृश्य बेरोजगारी की विकट एवं गम्भीर समस्या है। देश में भूमि पर निर्भर कार्यशील जनसंख्या में तो निरन्तर वृद्धि हो रही है परन्तु कृषि योग्य क्षेत्र में उस परिमाण में वृद्धि नहीं हो पाई है। इसलिये कृषि में जनाधिक्य की स्थिति पैदा हो गई है। हमारे यहां कृषि में आवश्यकता से अधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। इसलिए कृषि में प्रतिव्यक्ति औसत उत्पादकता बहुत ही कम है।

10.2.2 विकसित तथा अविकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप

विकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या मूलतः व्यापार चक्र से संबंधित रहती है। इन देशों में व्यापार चक्र में मन्दी की स्थिति उत्पन्न होने पर बहुत से श्रमिक एक साथ बेकार हो जाते हैं। पूंजीवादी देशों में व्यापार चक्र के कारण बेकारी की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। इस प्रकार की बेरोजगारी अल्पकालीन होती है। आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि होने पर बेरोजगारी की स्थिति भी समाप्त हो जाती है। आर्थिक मन्दी की स्थिति में प्रभावपूर्ण मांग कम हो जाती है। मांग कम होने से उत्पादन कम कर दिया जाता है। अनेक कारखाने बन्द हो जाते हैं या उत्पादन की मात्रा कम कर दी जाती है। इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में श्रमिक बेरोजगारी हो जाते हैं।

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी का कारण आर्थिक मन्दी या प्रभावपूर्ण मांग का अभाव नहीं है। इन देशों में बेरोजगारी मूल रूप से जनशक्ति के पूर्ति पक्ष से जुड़ी हुई है। अल्पविकसित देशों में उत्पादन क्षमता तथा विकास का स्तर नीचा होता है। इस कारण यहां रोजगार के अवसर सीमित रहते है और अधिसंख्या श्रमिक बेरोजगार रहते हैं। इस प्रकार की बेकारी को दूर करने के लिए उत्पादन क्षमता में तीव्रगति से वृद्धि करनी आवश्यक है। यह तभी संभव है जब इन देशों में पूजी निर्माण में भी तेजी से वृद्धि की जाय जबकि विकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप चक्रिय बेरोजगारी होती है जो मांग में कमी आने के कारण पैदा होता है। उनका निराकरण प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करके किया जा सकता है।

भारत में बेरोजगारी का फैलाव बहुत-अधिक है। यह दीर्घकालिक स्वरूप की समस्या है। हमारे देश में बेरोजगारी जन-शक्ति के पूर्ति पक्ष से संबंधित है। देश में पूंजी निर्माण की दर बहुत नीची है और उत्पादन क्षमता भी काफी कम है। हमारे देश में बहुत बड़ी मात्रा में प्रच्छन्न बेरोजगारी विद्यमान है। कृषि अर्थव्यवस्था होने के कारण यहां अल्प रोजगार तथा मौसमी बेरोजगारी की स्थिति पाई जाती है।

हमारे देश में खुली बेरोजगारी प्रायः शहरी देशों में पाई जाती है। ग्रामों में ऐसे लोगों की

संख्या अधिक है जो सारे साल में काफी समय बेरोजगार रहते है। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाश जनसंख्या कृषि कार्य से जुड़ी रहती है जिसे मौसमी आधार पर समय-समय पर थोड़ा बहुत रोजगार मिलता रहता है। हमारे यहां बेरोजगारी की समस्या प्रमुख रूप से ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार व्यक्ति काम की तलाश में शहरों में आते रहते हैं जिससे शहरी क्षेत्र में अकुशल तथा अशिक्षित व्यक्तियों की बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न होती है।

10.3 बेरोजगारी के कारण

भारत में पिछले 50 वर्षों में नियोजित आर्थिक विकास के बावजूद बेरोजगारी की समस्या अधिक जटिल हुई है। इस दौरान जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है जिससे बहुत अधिक संख्या में नये लोग श्रम-बाजार में सम्मलित हो रहे है। योजना काल में ग्रामीण उद्योगीकरण में विशेष प्रगति नहीं हुई है। कृषि के क्षेत्र में भी नवीन विधियों का प्रयोग पिछले 35 वर्षोंसे ही सम्भव हुआ है। देश को शिक्षा नीति भी दोषपूर्ण रही है तथा सरकार के पास आर्थिक साधनों का अभाव बना रहा है। सामाजिक पिछड़ेपन के कारण श्रमिक गतिशीलता में रुकावट बनी रही है। समय-समय पर प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी बेरोजगारी की स्थिति में वृद्धि हुई है। भारत में बेरोज़गारी के प्रमुख कारण निम्न प्रकार है:

(1) जनसंख्या की तीव्रवृद्धि

(2) कृषिगत विकास का अभाव

(3) सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग का अभाव

(4) पूंजी गहन योजनाओं पर अधिक जोर

(5) शिक्षा प्रणाली के दोष

(6) निजी क्षेत्र में अनिश्चितता की स्थिति तथा सरकारी नियंत्रण

(7) रोजगार नीति व जनशक्ति नियोजन

(1) जनसंख्या की तीव्र वृद्धि

भारत में बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या है। देश में जनसंख्या 2.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है जबकि रोजगार की सुविधाएं उस दर से नहीं बढ़ रही है। अब देश में आर्थिक विकास की दर जनसंख्या की वृद्धि दर की तुलना में कम होती है तो बेरोजगारी की समस्या पैदा होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले देश में कुटीर उद्योगों के पतन के कारण रोजगार के अवसर समाप्त होते गये। अंग्रेजो के शासनकाल में देश की अर्थव्यवस्था गतिहीन बनी रही। उस काल में आधुनिक ढंग के बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना नहीं की गई इस कारण देश में रोजगार के नये अवसर बहुत सीमित मात्रा में सृजित हुए।

प्रो० सुंदरम के अनुमानों के अनुसार 1981-91 के दशक में श्रम-शक्ति में 8 करोड़ लोगों की वृद्धि हुई है। उनके अनुमान के अनुसार 1991.2001 के दस वर्षों में जनसंख्या में अधिक तीव्र वृद्धि होने के कारण श्रमशिक्त में लगभग 10 करोड़ लोगों की वृद्धि हो जावेगी। अर्थात एक करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष देश की श्रमशक्ति में जुड़ते रहेंगे। यह एक विस्फोटक स्थिति होगी।

(2) कृषिगत विकास का अभाव

देश में 1951 में नियोजन का कार्य चल रहा है। परन्तु यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। भारत में कृषिगत विकास की दर बहुत धीमी रही है। हमारे देश में कृषि विकास की दर 2% से कम हो रही है। जब तक खाद्य फसलों की पैदावार में तेजी से वृद्धि नहीं होगी तब तक कृषि एवं

गैर कृषि क्षेत्रों में रोजगार के अवसर सृजित नहीं होंगे। देश में कृषिगत विकास की धीमी गति ने बेरोजगारी की समस्या को अधिक जटिल बना दिया है।

(3) सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग का अभाव

देश में नये-नये कारखाने खुलने से रोजगार की स्थिति में सुधार होता है। सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी निवेश करने से बड़े पैमाने पर नये रोजगार के अवसर सृजित होते हैं। हमारे देश में 1965 के पश्चात् सार्वजनिक विनियोग की वार्षिक वृद्धि की दर पहले की तुलना में कम रही है। विदेशी सहायता की अनिश्चितता की स्थिति, मुद्रा स्फीति तथा 1965 व 1971 के युद्ध के कारण देश में पूंजी निवेश में धीमी गति से वृद्धि हुई है। सार्वजनिक विनियोग के कम होने के कारण रोजगार के अवसर भी पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़े हैं। सार्वजनिक विनियोग की धीमी वृद्धि दर के कारण देश में आधार ढांचे का भी पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। जिनका निजी क्षेत्र के विनियोग पर भी प्रभाव पड़ा है। सार्वजनिक तथा निजी विनियाग की वृद्धि दर धीमी रहने के कारण रोजगार के अवसर पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़ सके हैं।

(4) पूंजीगहन योजनाओं पर अधिक जोर

हमने द्वितीय पंचवर्षीय योजना से पूंजी गहन तथा आधारभूत उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया है। इसके अन्तर्गत भारी इन्जीनियरी भारी रसायन आदि उद्योगों से अधिक पूंजी निवेश किया गया किन्तु इन उद्योगों की स्थापना से रोजगार के अवसरों में अधिक वृद्धि नहीं हुई। इस प्रकार के उद्योगों की स्थापना से अल्पकाल में रोजगार के अवसर बहुत कम सृजित होते हैं। इस दौरान कुटीर लघु, एवं ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहित करने का संकल्प तो दोहराया गया परन्तु उस दिशा में सफल प्रयास नहीं किये गये। इससे बेरोजगारी की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती रही है।

(5) शिक्षा प्रणाली के दोष

हमारे देश में शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण रही है। अभी तक शिक्षा प्रणाली को आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं बनाया जा सका है। प्रारम्भ से ही शिक्षा प्रणाली में नौकरी तलाश करने वाले लोगों के वर्ग को जन्म दिया है। इससे स्वरोजगार को कभी बढ़ावा नहीं दिया गया है। इसी कारण शिक्षित बेरोजगारी की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही है। 1990 के प्रारम्भ में हाईस्कूल या इससे अधिक शिक्षा प्राप्ति शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 195 लाख से अधिक आंकी गई है। इस स्थिति को बदलने के लिए हमें व्यवसाय प्रधान शिक्षा प्रणाली का अवलम्बन करना होगा।

(6) निजी क्षेत्र में अनिश्चितता की स्थिति तथा सरकारी नियंत्रण

सरकार द्वारा निजी क्षेत्रों पर आर्थिक नियंत्रण की नीति अपनाये जाने के कारण निजी क्षेत्र हतोत्साहित हुआ है। इस कारण निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर अपेक्षा के अनुरूप सृजित नहीं हुए हैं। सरकार की राजकोषीय नीतियां निजी विनियोग को प्रोत्साहित नहीं कर पाई है। सरकार द्वारा अनेक प्रकार के औद्योगिक नियंत्रण लगाये गये हैं जिससे उन्हें अपने कार्यों का विस्तार करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है। सरकारी नियंत्रण में ढील देने की नीति अपनाने के परिणाम स्वरूप उन्हें अपने कार्यों के विस्तार का अवसर मिलेगा जिससे रोजगार के अधिक अवसर सृजित हो सकेंगे।

(7) रोजगार नीति व जन शक्ति नियोजन

हमने 1951 से देश में पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश के आर्थिक विकास का संकल्प लिया। परन्तु इन योजनाओं में देश की अधिसंख्य जनसंख्या को रोजगार देने की कोई व्यापक

तथा प्रगतिशील नीति का निर्धारण नहीं किया गया। हमने जन-शक्ति नियोजन की निरन्तर अपेक्षा की है। इसी कारण देश में रोजगार की मात्रा बढ़ने के उपरान्त भी बेरोजगारी की समस्या निरन्तर उग्र हो रही है।

10.4 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

भारत में बेरोजगारी की मात्रा का अनुमान लगाना कठिन कार्य है। आर्थिक नियोजन के बावजूद बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। बेरोजगारी की श्रेणी में बालक, युवा, प्रोढ, स्त्री पुरुष सभी समाविष्ट हैं जो शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में फैले हुए हैं। देश में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी अधिक व्यापक है। शहरों में कुशल, अकुशल, शिक्षित तथा अशिक्षित सभी वर्गों में बेरोजगारी की भयावह स्थिति है। देश में खुली बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी, अल्प रोजगार तथा प्रच्छन्न रोजगार सभी का अन्तहीन सिलसिला चला जा रहा है। सन् 1985 में विभिन्न आयु वर्गों में बेरोजगारों की स्थिति निम्न प्रकार थीं:

	आयु वर्ग	बेरोजगारी
1.	बालक तथा वृद्ध	90.20 लाख
2.	15 वर्ष की आयु तक	80.37 लाख
3.	15–59 आयुवर्ग	80.67 लाख

सातवी पंचवर्षीय योजना के दौरान बेरोजगारों की स्थिति में विशेष सुधार की आशाये नहीं हैं। सातवी योजना के दौरान 20 मिलियन अतिरिक्त रोजगार के अवसरों का सृजन करने का प्रावधान था। उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के बाद बेरोजगारी की संख्या में और वृद्धि हुई। इस शताब्दी के अन्त में भारत में कुल 10 करोड़ से अधिक व्यक्ति बेरोजगार होंगे।

सन् 1984-85 और 1989-90 के बीच रोजगार की वृद्धि की दर विभिन्न क्षेत्रों में निम्न प्रकार आंकी गई है।

तालिका 10.1

विभिन्न क्षेत्रों में 1984-85 से 1989-90 तक रोजगार वृद्धि के अनुमान

क्र०सं०	क्षेत्र	रोजगार के अवसर (मिलियन)		वृद्धि	रोजगार की वार्षिक वृद्धि
		1984.85	1989.90		प्रतिशत में
1.	कृषि	96.108	114.092	17.084	3.49
2.	खनन तथा खनिज	1.153	1.494	0.341	5.32
3.	विनिर्माण उद्योग	26.790	33.466	6.676	4.55
4.	भवन निर्माण आदि	10.427	12.624	2.197	3.90
5.	विद्युत	1.031	1.498	0.467	7.76
6.	रेलवे	1.544	1.688	0.144	1.80
7.	अन्य यातायात	9.440	11.810	2.370	4.58
8.	संवाद वहन	0.951	1.224	0.273	5.18
9.	अन्य सेवाये	39.261	49.165	9.904	4.60
	योग	186.705	227.061	40.356	3.99

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1985-90 के दौरान 40.4 मिलियन नये रोजगार के अवसर उपलब्ध कराये जा सकेंगे। इस दौरान 36.3 मिलियन नये लोग श्रम बाजार में जुड़ जावेंगे।

1985 से पूर्व देश में 7.8 मिलियन व्यक्ति बेरोजगार थे। 1985-90 के दौरान कुद 44 मिलियन से अधिक व्यक्ति बेरोजगार होंगे जबकि 1985-90 के दौरान कुल 40 मिलियन नये रोजगार के अवसर सृजित होंगे। इस प्रकार 1990 के 30 मिलियन व्यक्ति बेरोजगारी की स्थिति में रहेंगे।

इन आँकड़ों के उपरान्त भी देश में बेरोजगारी की सही स्थिति आंकलन करना अत्यधिक कठिन कार्य है सन् 1991 की जनगणना ने बेरोजगारों की स्थिति का कुछ स्पष्ट आंकलन किया है।

10.5 भारत सरकार की रोजगार संबंधी नीति

भारत सरकार ने बेरोजगारी के संबंध में 1970 में "भगवती समिति की स्थपना की थी। इस समिति ने 16 मई 1973 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें बताया गया कि 1971 में 187 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इनमें 90 लाख व्यक्तियों के पास कोई रोजगार नहीं था। 97 लाख व्यक्तियों के पास सप्ताह में मात्र 14 घण्टे का काम था अर्थात् यह भी बेरोजगारों की ही श्रेणी में आते थे। इस समिति ने बेरोजगारी को दूर करने के निम्न सुझाव दिये थे :

1. जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए लड़कों को न्यूनतम विवाह आयु 21 वर्ष तथा लड़कियों को विवाह आयु—18 वर्ष की जावे।
2. रोजगार तथा श्रम शक्ति नियोजन पर एक राष्ट्रीय आयोग गठित किया जावे।
3. काम देने की मौलिक अधिकार की योजना सम्पूर्ण देश पर लागू की जावे।
4. बेरोजगार व्यक्तियों को काम की गारंटी देने के लिए एक देशव्यापी कार्यक्रम लागू किया जावे। जो लोग रोजगार में लगे हुए हैं उनके लिए रोजगार की हानि होने पर बीमा व्यवस्था लागू की जावे।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण, सड़क निर्माण, लघु सिंचाई तथा ग्रामीण भवन निर्माण की योजनाओं को आगामी दो वर्षों में तेजी से लागू किया जावे। रोजगार कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए आवश्यक संसाधन की व्यंवस्था की जावे।
6. सप्ताह के काम के घण्टों को 48 घण्टे से घटाकर 42 घण्टे किया जावे कारखानों में सप्ताह में सात दिन पूरी क्षमता से काम होना चाहिए।
7. श्रम प्रधान उद्योगों के लिए करो में छूट और रियायत की व्यवस्था की जावे तथा बड़े-बड़े नगरों से उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जावे।
8. कृषि क्षेत्र में श्रम बचाने वाली भारी मशीनों के प्रयोग पर नियंत्रण लगाया जावे।
9. शिक्षा तथा प्रशिक्षण के क्षेत्र में वार्षिक दर से 5 लाख नौकरियों के लिए प्रबन्ध किया जावे।
10. राज्य स्तर पर रोजगार तथा श्रम शक्ति नियोजन व्यवस्था कार्यों की देखभाल के लिए पृथक विभाग स्थापित किये जावे।

भारत में सन् 1951 के पश्चात् प्रथम बार पांचवी पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी दूर करने पर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना में अधिक रोजगार उपलब्ध कराने को एक प्रमुख उद्देश्य माना गया था। इस योजना में यह भी स्वीकारा गया कि बेकार श्रम शक्ति को समुचित रूप में प्रयोग में लाने पर विकास क्षेत्र को पर्याप्त मदद मिलेगी।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए लघु सिचाई, पशुपालन, दुग्ध व्यवसाय वन, भू-संरक्षण, क्षेत्रीय विकास, वेयर-हाउसिंग, लघु उद्योग, लघु कृषक विकास, सीमान्त कृषक व खतिहर मजदूरों की विकास एजेन्सी, सूखाग्रस्त क्षेत्रों का विकास एवं सड़क परिवहन के विकास पर विशेष बल देने का निश्चय किया गया। इसके अलावा मजदूरी पर रोजगार

तथा स्वरोजगार को बढ़ावा देने के लिए ग्रामीण जलापूर्ति, प्राथमिक शिक्षा, भूमिहीनों के लिए आवासीय सुविधा, ग्रामीण विद्युतीकरण एवं ग्रामीण क्षेत्रों में एवं शहरों में भवन निर्माण को प्राथमिकता देने पर जोर दिया गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)

छठी योजनाकाल में कुल 3 करोड़ 40 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने का कार्यक्रम निश्चित किया गया। जबकि कुल बेरोजगारों की संख्या 4 करोड़ 60 लाख आंकी गई। इस योजनाकाल में रोजगार में वार्षिक वृद्धि की दर 4.2% निर्धारित की गई जबकि श्रम शक्ति में वार्षिक वृद्धि दर 2.5% अनुमानित की गई।

छठी योजना में अतिरिक्त रोजगार के अवसर सृजित करने के लिए निम्न प्रबन्ध किये गये :

(1) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के प्रत्येक खण्ड में 3000 निर्धन परिवारों को कृषि तथा गैर कृषि धन्धों में काम देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। यह ग्रामीण निर्धनता को दूर करने का कार्यक्रम है। इसमें प्रत्येक खण्ड में प्रतिवर्ष 600 परिवारों को रोजगार उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई जिससे पांच वर्षों में 3000 निर्धन परिवारों को रोजगार के अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इस कार्यक्रम में पांच वर्ष की अवधि में प्रत्येक खण्ड पर 35 लाख रु० खर्च करने का प्रावधान किया गया। छठी योजना में इस कार्यक्रम से 1.5 करोड़ परिवारों को लाभ पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया। इस कार्यक्रम के लिए योजना में 1500 करोड़ रु० तथा बैंकों से 3000 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया।

(2) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम

यह कार्यक्रम "काम के बदले अनाज" कार्यक्रम का संशोधित रूप है। इसके अन्तर्गत सुस्त मौसम में श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इसके द्वारा वर्ष में 30 से 40 करोड़ श्रम-दिवस सृजित होने की व्यवस्था की गई है।

(3) ग्रामीण युवावर्ग स्व-रोजगार प्रशिक्षण योजना

इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिवर्ष 2 लाख युवा व्यक्तियों को स्व-रोजगार का प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। इन व्यक्तियों को प्रशिक्षित करके स्व-रोजगार के लिए तैयार किया जावेगा जिससे वे स्वयं का काम-धन्धा चालू कर सके। इन प्रशिक्षित व्यक्तियों को बैंकों से कर्ज दिलवाने की भी व्यवस्था की गई। छठी योजना में इस कार्यक्रम द्वारा 9.4 लाख युवाओं को प्रशिक्षण दिया गया। इनमें से 50 प्रतिशत से अधिक स्व-रोजगार में लग गये हैं। इस कार्यक्रम का लाभ अनुसूचित जाति तथा जनजाति के व्यक्तियों को भी प्राप्त हुआ है।

(4) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भिक शिक्षा, खेतीहर मजदूरों के लिए आवासीय भूखण्ड, पेयजल आपूर्ति, सड़क निर्माण एवं स्वास्थ्य सुधार आदि की व्यवस्था करके नये नये रोजगार के अवसर सृजित करने का प्रावधान किया गया।

(5) आपरेशन फ्लड-II कार्यक्रम

इस कार्यक्रम में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में दूध की पूर्ति करने के लिए विशेष प्रयास करने का निर्णय किया गया। इस प्रकार की दुग्धविकास परियोजनाओं से दूध व्यवसाय में कार्यरत लाखों ग्रामीण परिवारों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे तथा उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

(6) ग्रामीण लघु उद्योग विकास कार्यक्रम

इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योगों का तीव्र गति से विकास करना तथा इस क्षेत्र में 90 लाख से अधिक बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया।

(7) मछली पालन विकास कार्यक्रम

मछली पालन के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए मछली कृषक विकास एजेन्सियों द्वारा मछुआरों के परिवारों को लाभ पहुंचाने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। यह एजेन्सियां देश के आन्तरिक तथा तटीय प्रदेशों में मछली उद्योग को प्रोत्साहित करने के कार्य करेगी।

(8) अनुसूचित जाति, जनजाति विकास कार्यक्रम

छठी योजनाकाल में ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए विशेष अभियान चलाने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। जिससे इन जातियों के बेरोजगार श्रमिकों को त्वरित आधार पर रोजगार में सहभागी बनाया जा सके।

(9) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम

यह कार्यक्रम सम्पूर्ण देश में सन् 1983 में लागू किया गया। इस कार्यक्रम के द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर विकसित करने के लिए टिकाऊ परिसम्पतियों का निमार्ण करने पर जोर दिया गया। इस कार्यक्रम में भूमिहीन परिवार के कम से कम एक व्यक्ति को वर्ष में 100 दिन तक का काम दिलाने का प्रावधान किया गया। इस कार्यक्रम को लागू करने के लिए केन्द्र सरकार राज्य सरकारों एवं संघीय प्रदेशों को शत-प्रतिशत अनुदान देती हैं।

(10) शिक्षित बेरोजगार व्यक्तियों के लिए स्व-रोजगार कार्यक्रम

यह कार्यक्रम 1983 में प्रारम्भ किया गया। इसमें शहरी इलाकों में रहने वाले बेरोजगार नवयुवकों को स्व-रोजगार के लिए 25 हजार रु० तक का कर्ज देने की व्यवस्था है। यह कार्यक्रम 10 लाख से कम जनसंख्या वाले शहरी क्षेत्रों में लागू किया गया है। यह कार्यक्रम जिला उद्योग केन्द्रों के द्वारा संचालित होता है।

(11) राज्य सरकारों द्वारा विशेष रोजगार कार्यक्रम

देश में मध्यप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, तथा महाराष्ट्र सरकारों द्वारा अपने राज्यों में विशेष रोजगार कार्यक्रम लागू किये गये हैं। अनेक राज्यों ने शिक्षित बेरोजगारी के लिए प्रशिक्षण व्यवस्था, वित्तीय सहायता तथा अन्य सुविधाये देने का प्रबन्ध किया है। राज्यों के अकुशल श्रमिकों को रोजगार देने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाये गये हैं। महाराष्ट्र सरकार ने 1972 से रोजगार गारंटी कार्यक्रम लागू किया है। इस कार्यक्रम मे अकुशल तथा शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिको को रोजगार के प्रबन्ध किये जाते हैं। महाराष्ट्र सरकार ने 1977 में रोजगार गारंटी कानून भी बनाया है। इसी आधार पर अन्य राज्य सरकारों ने भी बेरोजगार लोगों को रोजगार देने के कार्यक्रम बनाये हैं।

सातवी पंचवर्षीय योजना में रोजगार संबंधी नीति

सातवी योजना के प्रारम्भ में 92 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। 1985-90 के दौरान 3.9 करोड़ व्यक्ति श्रम-बाजार में जुड़ जावेंगे इस आधार पर कुल 4.82 करोड़ व्यक्तियों के लिए रोजगार के प्रबन्ध करने अपेक्षित होंगे। योजना अवधि में 4.04 करोड़ अतिरिक्त रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे। इस प्रकार 82 लाख व्यक्ति सातवी योजना के अन्त में बेरोजगार रहेंगे। इस योजना में रोजगार

की वार्षिक वृद्धि दर 3.99% रहने का अनुमान है। योजना काल में कृषि क्षेत्र में 1.8 करोड़ बेरोजगार तथा विनिर्माण क्षेत्र में 67 लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया था।

सातवी योजना में अतिरिक्त रोजगार का सृजन करने के लिए निम्न कार्यक्रम व नीतियां अपनाई गई हैं। इनके साथ ही छठी योजना में लागू किये गये कार्यक्रम सातवी योजना में भी लागू रहेंगे।

(1) कृषि क्षेत्र में सुधार के कार्यक्रम

कृषि उद्योग में सुधार करने के लिए सिंचाई सुविधाओं का पर्याप्त विकास एवं पूरा उपयोग किया गया है। सूखी खेती में नवीन तकनीक से उत्पादन, मोटे अनाज, तिलहन, चावल दालों आदि के उत्पादन में वृद्धि, भूमि सुधार के कार्यक्रम, पशुपालन, मछली पालन व वृक्षारोपण के कार्यक्रम त्वरित आधार पर लागू किये गये हैं।

(2) कृषि कार्यों के नवीन तकनीक

इनके अन्तर्गत कृषि का उत्पादन बढ़ाने के लिए उर्वरक, कीटनाशक दवाईया व कृषि से संबंधित मशीनों के उपयोग को बढ़ावा दिया गया है।

(3) लघु उद्योगों का विस्तार

सातवी योजना में लघु उद्योगों के विस्तार पर विशेष बल दिया गया जिससे ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में अधिक रोजगार के अवसर सृजित हुए हैं।

(4) भवन निर्माण

भवन निर्माण के कार्यक्रम ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में तेजी से लागू किये गये। भवन निर्माण एवं गहन रोजगार कार्यक्रम हैं जिससे काफी बड़ी मात्रा में रोजगार सृजित होते हैं।

(5) बाढ़-नियंत्रण एवं सिंचित क्षेत्र विकास

देश में बाढ़-नियंत्रण के कार्यक्रमों तथा सिंचित क्षेत्र विकास कार्यक्रमों के द्वारा रोजगार के नये अवसर सृजित किये गये हैं।

(6) परिवहन सुविधाओं का विकास

सातवी योजना में ग्रामीण तथा शहरी सड़कों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। इसके साथ ही आन्तरिक जल-परिवहन, सड़क परिवहन, समुद्री जहाजों के निर्माण आदि द्वारा नये रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत रोजगार उपलब्ध कराने के विशेष कार्यक्रम अपनाये गये हैं। देश में ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों तथा ग्रामीण रोजगार की शीघ्र परिणाम देने वाली योजना—क्रेश स्कीम आदि पर भारी मात्रा में विनियोग किया गया है। इनसे रोजगार के नये अवसरों का सृजन हुआ है। सातवी योजना में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण युवाओं के लिए स्वरोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम, शिक्षित बेरोजगारों के लिए स्व-रोजगार कार्यक्रम तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी स्कीम आदि के लागू होने से करोड़ों बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार तथा स्व-रोजगार के अवसर प्राप्त हुए हैं।

राष्ट्रीय रोजगार सेवा

भारत में राष्ट्रीय रोजगार सेवा 1965 में प्रारम्भ की गई इसके अन्तर्गत प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा अनेक रोजगार कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये। यह रोजगार कार्यालय काम की तलाश करने

वाले सभी प्रकार के व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने में सहायता करता है। इन कार्यालयों में भूतपूर्व सैनिक, अनुसूचित जाति एवं जनजाति, विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, शरीरिक रूप से अपंग व्यक्ति तथा व्यावसायिक और प्रबन्धक पदों के उम्मीदवारों को रोजगार प्राप्त करने में सहायता एवं सहयोग दिया जाता है। रोजगार कार्यालय कानून 1959 के अन्तर्गत 25 या 25 से अधिक श्रमकों को रोजगार देने वाले मालिकों को रोजगार कार्यालयों में अपने यहां के रिक्त पदों के बारे में सूचना देते रहना अनिवार्य है।

देश के समस्त रोजगार कार्यालयों तथा सभी विश्वविद्यालयों के रोजगार सूचना तथा मार्गदर्शन केन्द्रों द्वारा युवक-युवतियों को काम धन्धे से संबंधित मार्गदर्शन और रोजगार संबंधी परामर्श दिया जाता है।

शिक्षित युवक-युवतियों को लाभदायक रोजगार दिलाने की दिशा में प्रवृत करने के लिए रोजगार और प्रशिक्षण महानिदेशालय के मार्गदर्शन और आजीविका परामर्श कार्यक्रमों को विस्तृत और व्यवस्थित किया गया है। रोजगार सेवा अनुसंधान और प्रशिक्षण के केन्द्रीय संस्थान में रोजगार संबंधी मार्गदर्शन चाहने वालों को व्यवसाय संबंधी साहित्य भी उपलब्ध कराया जाता है।

भारत में बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए निम्न बिंदुओं पर विशेष ध्यान दिया जाना अपेक्षित है :

(1) योजनाओं में विनियोग के स्वरूप में परिवर्तन किया जावे।

(2) जनसंख्या की वृद्धि दर को प्रभावी रूप से नियंत्रित किया जावे।

(3) विनियोग की दर में वृद्धि की जावे।

(4) जनशक्ति का प्रभावी नियोजन किया जावे।

(5) कृषि क्षेत्र में संस्थागत परिवर्तन किये जावे।

(6) कृषि के विभिन्न सहायक धन्धों का विकास किया जावे।

(7) ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारोन्मुख नियोजन किया जावे।

(8) ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों का विस्तार किया जावे।

(9) शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन किया जावे।

(10) रोजगार प्रदान करने वाले कार्यालयों का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार किया जावे।

(11) महाराष्ट्र सरकार की रोजगार गारंटी योजना के आधार पर अन्य राज्यों में कार्यक्रम बनाये जावे।

(12) ग्रामीण औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया जावे।

(13) महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर बढ़ाये जावे।

(14) कृषि क्षेत्र में वृद्धि की जावे। लाखों एकड़ बंजर तथ बेकार पड़ी जमीन को अल्प प्रयास से कृषि योग्य बनाया जा सकता है। इससे ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि होगी।

(15) मानवीय श्रम पर अधिकाधिक बल दिया जाना चाहिए।

(16) देश में सार्वजनिक सेवाओं, प्रशासनिक सेवाओं तथा सामाजिक सेवाओं का विस्तार करना चाहिए इससे शिक्षित बेरोजगारों को रोजगार प्राप्त होगा।

10.6 भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी

हमारे देश में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी की गम्भीर समस्या है। शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी का एक कारण यह रहा है कि हमारे यहां पिछले वर्षों में जिस परिमाण में शिक्षा का विस्तार हुआ है उस तुलना में अर्थव्यवस्था का विकास नहीं हुआ है। रोजगार सेवा कार्यालयों में मैट्रिक तथा उससे ऊपर की योग्यता वाले लाखों बेरोजगार व्यक्तियों के नाम प्रतिवर्ष पंजीकृत होते रहते है। देश के लाखों शिक्षित बेरोजगार ऐसे भी हैं जिन्होंने किन्हीं कारणों से रोजगार कार्यालयों में अपने नाम पंजीकृत नहीं कराये है। इन सब का कुल योग अत्याधिक भयावह स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करता है। हमारे देश में केरल, पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में आधे से अधिक शिक्षित बेरोजगार निवास करते हैं।

1985 में शिक्षित बेरोजगारी की संख्या 47 लाख आँकी गई थी। इनमें 32 लाख मैट्रिक तथा हायर सैकेण्डरी पास बेकार व्यक्ति थे तथा 12 लाख व्यक्ति स्नातक स्तर तथा प्राविधिक डिप्लोमा डिग्री प्राप्त थे।

सातवीं योजना काल में शिक्षित बेरोजगारी की संख्या में काफी वृद्धि होने का अनुमान है। 1985 में देश में शिक्षित श्रमिकों की संख्या 3 करोड़ थी। 1990 तक यह बढ़कर 4.1 करोड़ हो गई है। इस प्रकार सातवीं योजना के दौरान 1.1 करोड़ नये शिक्षित व्यक्ति जुड़ गये हैं।

हमारे देश में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण शिक्षा नीति तथा मानव शक्ति नियोजन में समन्वय का अभाव रहा है। देश में एक ओर प्राविधिक योग्यता प्राप्त शिक्षित वर्ग के लोग बेरोजगार बने रहते हैं जबकि आर्थिक विकास के लिए आवश्यक योग्यता एवं दक्षता वाले लोगों का अभाव रहता है। देश में कम्पयूटर प्रशिक्षित व्यक्तियों, इलेक्ट्रिकल तथा मेकेनिकल इन्जीनियरों, डाक्टर, सर्जन, पेरा मेडिकल स्टाफ इलेक्ट्रीशियनों विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों तथा उच्चतम माध्यमिक विद्यालय में विज्ञान तथा गणित के अध्यापकों की कमी रहती है। जबकि स्नातक तथा स्नातकोत्तर डिग्रीधारी कला एवं वाणिज्य विषयों के शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार का अल्प रोजगार की स्थिति में अनेक वर्षों तक भटकते रहते हैं।

इस स्थिति को दूर करने के लिए माध्यमिक शिक्षा के बाद विश्वविद्यालय में जाने की प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए। दसवीं कक्षा के बाद छात्रों को व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके लिए औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान, पोलीटेकनिक व कृषि स्कूलों आदि का विस्तार करने की नीति होनी चाहिए तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिए स्वरोजगार कार्यक्रमों के अन्तर्गत लघु उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिए। नौकरियों में डिग्री की अनिवार्यता को समाप्त करना चाहिए।

10.7 भारत में उद्योगीकरण तथा रोजगार

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हमारा देश औद्योगिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ था। उस समय कुल श्रमिको का 9.3 प्रतिशत खनन तथा विनिर्माण के कार्यों में कार्यरत था। 1971 में 9.8 प्रतिशत था तथा 1981 में यह प्रतिशत बढ़कर 12.7 हो गया। 1951 से 1981 के दौरान 30 वर्षो में इसमें मात्र 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारत का 1951 के बाद औद्योगिक विकास हुआ है। औद्योगिक उत्पादन के आधार पर भारत का विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में विशिष्ट स्थान हो गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारम्भिक वर्षों में भारत में उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योगों की प्रधानता थी। इस्पात, सीमेन्ट, उर्वरक, भारी रसायन, भारी मशीनरी आदि उद्योगों का अभाव था। अतः योजना के प्रारम्भिक वर्षों में देर का औद्योगिक ढांचा काफी विकृत तथा असन्तुलित था। देश में पूजीगत उद्योगों का अभाव था। योजनाकाल में आधारभूत तथा भारी उद्योगों को

सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने के कार्यक्रम निर्धारित किये गये। 1980.81 में देश में 96,503 फैक्ट्रियों में 77.20 लाख व्यक्ति रोजगार पर नियोजित थे।

पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान औद्योगिक नियोजन के अन्तर्गत निम्नलिखित उद्देश्यों पर जोर दिया गया।

(1) सार्वजनिक क्षेत्र का तीव्र गति से विस्तार करना जिससे यह औद्योगिक क्षेत्र में प्रभुत्व की स्थिति प्राप्त कर सके।

(2) भारी आधारभूत तथा पूंजीगत उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देना।

(3) औद्योगिक विकास द्वारा क्षेत्रीय असमानताओं व असन्तुलन को दूर करना।

(4) औद्योगिक उत्पादन क्षमता में विस्तार करना।

(5) आर्थिक सत्ता के निजी हाथों के केन्द्रीयकरण को कम करना तथा एकाधिकार की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना।

(6) अर्थव्यवस्था में कुटीर तथ लघु उद्योगों के विकास पर विशेष स्थान देना।

पिछले 40 वर्षों में देश में उपभोक्ता उद्योगों के अन्तर्गत चीनी, वनस्पति, सूती वस्त्र, साईकिल आदि उद्योगों का विकास हुआ है मध्यवर्ती उद्योगों में सूत, जूट का माल, मनुष्य निर्मित रेशे; तथा पैट्रोलियम पदार्थ उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास हुआ है। आधारभूत उद्योगों में इस्पात, सीमेन्ट, उर्वरक व विद्युत आदि उद्योगों का विकास हुआ है और पूंजीगत उद्योगों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के भारी मशीनरी तथा इन्जीनियरिंग उद्योग एवं परिवहन उपकरण के उद्योगों की स्थापना की गई है। इन सभी उद्योगों की स्थापना से देश में रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई है।

देश में औद्योगिकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात 1951 के बाद प्रारम्भ हुआ। इस कार्यक्रम में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में भारी मात्रा में पूंजी निवेश किया गया है। देश में औद्योगिक आधार का अनेक क्षेत्रों में विस्तार हुआ है। आधार तथा पूंजीगत उद्योगों में आत्मनिर्भरता प्राप्त की है। औद्योगीकरण के कारण देश में प्रबन्धकीय एवं साहस उठाने वालों के एक नये वर्ग का जन्म हुआ है।

भारत की रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि का अध्ययन किया है। संगठित क्षेत्र में वे सभी प्रतिष्ठान सम्मिलित होते हैं जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र या निजी क्षेत्र के अधीन कृषि से भिन्न क्षेत्र में 10 या अधिक श्रमिक कार्य करते हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में रोजगार में औसत वार्षिक वृद्धि दर 6.0 प्रतिशत रही। यह सार्वजनिक क्षेत्र में 5.9 प्रतिशत और निजी क्षेत्र में 6.2% थी। 1966-67 और 1967.68 के दो वर्षों में सूखे और औद्योगिक क्षेत्र के प्रतिसार के कारण रोजगार की स्थिति में गिरावट गई थी इसके बाद की वार्षिक योजनाओं में रोजगार की चक्रवृद्धि की दर मात्र एक प्रतिशत रही। सार्वजनिक क्षेत्र में बेरोजगारों की वार्षिक वृद्धि दर 2.6 प्रतिशत आँकी गई जबकि इसी दौरान निजी क्षेत्र में यह वृद्धि दर नकारात्मक होकर (—) 1.3 प्रतिशत तक गिर गई। वार्षिक योजनाओं के दौरान व्यापक स्तर पर निजी क्षेत्र में श्रमिकों की छटनी के कारण रोजगार की वृद्धि नकारात्मक रही।

चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान रोजगार की स्थिति में सुधार हुआ और संगठित क्षेत्र में औसत वार्षिक वृद्धि की दर 3 प्रतिशत हो गई।

इस दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में औसत वृद्धि की दर 4.4 प्रतिशत आँकी गई जबकि निजी

क्षेत्र में यह मात्र 0.8 प्रतिशत थी। स्पष्ट है कि चौथा योजना काल में निजी क्षेत्र में रोजगार के बहुत कम अवसर उपलब्ध हुए। चौथी योजना के दौरान सरकार ने 14 बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया था इसके साथ ही कोकिंग कोल माइन्स का काम भी सरकारी क्षेत्र में ले लिया गया थ तथा अनेक बीमार सूती वस्त्र की मिलों को भी सरकार ने अपने स्वातिमत्व में ले लिया था। निजी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र में इन संस्थानों के परिवर्तन के कारण निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर कम हो गये ओर सार्वजनिक क्षेत्र के रोजगार में वृद्धि हुई सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार में 3.3 प्रतिशत की ही वृद्धि हो पाई। 1979-81 में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में रोजगार में बहुत ही धीमी गति से वृद्धि हुई। यह वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत हो रही जो कार्यकारी जनसंख्या की वृद्धि दर से बहुत कम थी।

तालिका 10.2

भारत में संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि

वर्ष	रोजगार प्राप्त श्रमिकों की सं० (लाखों में)			प्रतिशत भाग	
	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र
1961	70.50	50.40	120.90	58	42
1966	93.78	68.10	161.88	58	42
1962	100.95	65.30	166.25	61	39
1972	113.05	67.69	180.74	63	37
1974	124.86	67.94	192.80	65	33
1977	138.76	68.67	207.40	67	33
1980	150.78	72.37	223.15	68	32
1981	154.80	74.37	229.17	68	32
रोजगार की वार्षिक चक्रवृद्धि-दर %					
1961-66	+5.9	+6.2	+6.0		
1966-69	+2.6	–1.3	+1.0		
1969-74	+4.4	+0.8	+3.0		
1974-79	+3.8	+1.2	+2.8		
1979-81	+1.5	+1.5	+1.5		

स्रोत—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया बुलेटिन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1961-81 के बीच सार्वजनिक क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती रही तथा कुल रोजगार में सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार 58 प्रतिशत से बढ़कर 68 प्रतिशत हो गया। इसके विपरीत निजी क्षेत्र में रोजगार की मात्रा 42 प्रतिशत से घटकर मात्र 32 प्रतिशत रह गई स्पष्ट है कि सरकारी क्षेत्र के उद्योग संगठित क्षेत्र में कुल रोजगार के दो-तिहाई से अधिक रोजगार के अवसर की व्यवस्था कर रहे थे। जबकि निजी क्षेत्र में एक-तिहाई से कम रोजगार के अवसर उपलब्ध कराये गये थे।

उपर्युक्त तालिका के अनुसार 1961-81 के दौरान रोजगार की वार्षिक वृद्धि की दर में निरन्तर गिरावट आई है। सरकारी क्षेत्र में 1961-66 के बीच वार्षिक वृद्धि दर 5.9 प्रतिशत थी। 1966-69 में यह घट कर 2.6 प्रतिशत हो गई। 1969-74 में इसमें सुधार हुआ और यह बढ़कर 4.4 प्रतिशत उचित की गई। 1974-79 में उसमें पुनः गिरावट आई और यह 3.8 प्रतिशत रही। अगले दो वर्षों में इसका औसत मात्र 1.5 प्रतिशत ही रहा।

इसी प्रकार निजी क्षेत्र में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 1961.66 में यहां 6.2% थी यह अगले तीन वर्षों (1966-69) में नकारात्मक होकर (–) 1.3 प्रतिशत अंकित की गई। 1969.74 में इसमें सुधार हुआ जब यह बढ़कर 3.0 प्रतिशत हो गई। 1974-79 में इसमें पुनः गिरावट आई तथा यह 2.8 प्रतिशत तक घट गई। अगले दो वर्षों में इसमें काफी कमी रही और यह 1.5 प्रतिशत पर बनी रही।

सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों के कुल योग का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि 1961-66 में कुछ रोजगार में 6.0 प्रतिशत की वृद्धि आँकी गई। 1966-69 में यह वृद्धि मात्र 1.0 प्रतिशत रही। 1969-74 में इसमें सुधार हुआ जब यह बढ़कर 3.0 प्रतिशत हो गई। 1974-79 में यह वृद्धि दर गिरकर 2.8 प्रतिशत रही और अगले दो वर्ष में (1979.81) में इसमें पुनः गिरावट आई और यह 1.5 प्रतिशत ही अंकित की गई।

निम्न तालिका में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र में क्षेत्रानुसार रोजगार की वृद्धि को दर्शाया गया है।

तालिका 10.3

भारत में रोजगार की क्षेत्रानुसार वृद्धि (हजारों में)

औद्योगिक वर्गीकरण	सरकारी क्षेत्र			निजी क्षेत्र		
	रोजगार		वार्षिक	रोजगार		वार्षिक
	1961	1979	चक्रवृद्धि दर	1961	1979	चक्रवृद्धि दर
1-बागान उद्योग एवं वानिकी	180	777	8.5	670	841	1.2
2-खनन एवं खदान	129	771	10.4	550	124	–7.8
3-विनिर्माण	369	1416	7.8	3020	4433	2.1
4-निर्माण	603	1032	3.0	240	83	–5.6
5-बिजली गैस जलसम्भारण	224	634	5.9	40	34	–0.9
6-व्यापार एवं वाणिज्य	94	99	0.3	160	281	3.1
7-परिवहन एवं संचार	1724	2597	2.3	80	71	–0.6
8-सेवाये	3727	7718	4.1	280	1341	9.0
योग	**7050**	**15045**	**4.3**	**5040**	**7232**	**2.0**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1961-79 के बीच सरकारी क्षेत्र में खनन एवं खदान में सबसे अधिक 10.4 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त हुई। इसके बाद बागान एवं वानिकी में 8.5% और निर्माण उद्योग में 7.8% की वृद्धि दर आँकी गई। परिवहन एवं संचार उद्योग में केवल 2.3% की वृद्धि दर रही।

निजी क्षेत्र में सबसे अधिक वृद्धि दर सेवाओं में 9% रही किन्तु खनन एव खादान तथा विनिर्माण उद्योगों में रोजगार की स्थिति निराशाजनक रही क्योंकि इन उद्योगों में रोजगार की वृद्धि नकारात्मक आँकी गई।

1961-79 के दौरान संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर मात्र 3.45 प्रतिशत आंकी गई। देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिए यह वृद्धि दर बहुत ही निराशजनक रही। अतः यह आवश्यकता महसूस की गई कि हमें हमारी राष्ट्रीय नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहिए कि जिससे उपादन की अधिक वृद्धि दर का रोजगार की अधिक वृद्धि दर से सामजस्य स्थापित किया जा सके। उत्पादन की दर बढ़ाने के लिए विनियोग दर में तेजी से वृद्धि करने के प्रबन्ध किये जावे तथा रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध कराने के लिए आधुनिकीकरण के नाम पर श्रम बचाव मशीनरी के प्रचलन की गति को धीमा किया जाना चाहिए।

तालिका 10.4

भारत में 1971-1987 के बीच सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में रोजगार की स्थिति

(हजार में)

उद्योग	1971	1976	1981	1985	1986	1987
			सार्वजनिक क्षेत्र			
1- कृषि तथा संबंधित उद्योग	281	350	463	498	526	557
2- खनिज तथा खनन	254	719	818	974	966	942
3- विनिर्माण	862	1113	1502	1761	1815	1862
4- निर्माण उद्योग	595	992	1089	1146	1181	1184
5- बिजली गैस तथा जलापूर्ति	455	536	683	760	785	791
6- व्यापार तथा व्यवसाय	367	56	117	131	131	134
7- यातायात व संवाद वहन	2238	2418	2409	2894	2929	2972
8- सेवाये	5476	7129	8103	9106	9315	9587
योग	**11,098**	**13,322**	**15,484**	**17,269**	**17,683**	**18,028**
			निजी क्षेत्र			
1- कृषि तथा संबंधित उद्योग	824	827	858	807	822	848
2- खनिज एवं खनन	340	132	130	113	111	91
3- विनिर्माण	3940	4158	4545	4421	4448	4409
4- निर्माण उद्योग	163	94	72	70	69	58
5- बिजली गैस तथा जलापूर्ति	46	35	35	39	40	40
6- व्यापार तथा व्यवसाय	294	287	277	277	277	277
7- यातायात व संवाद वहन	94	74	60	54	54	52
8- सेवाये	1032	1238	1418	1528	1553	1588
योग	**6734**	**6844**	**7395**	**7309**	**7373**	**7369**
सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र						
योग	**17,832**	**20,717**	**22,842**	**24,578**	**25,056**	**25,397**

स्रोत—आर्थिक सर्वेक्षण — 1988-89 तथा अन्य स्रोत

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि निजी क्षेत्र की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार

के अधिक अवसर उपलब्ध हुए हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में विनिर्माण उद्योग में अत्यधिक रोजगार के अवसर सृजित हुए हैं। इसके बाद भवन निर्माण उद्योग में अधिक रोजगार सृजित हुआ है। सेवाओं में भी नये-नये रोजगार के अवसर सृजित होते रहते हैं।

निजी क्षेत्र में भी विनिर्माण उद्योगों में ही सर्वाधिक रोजगार की व्यवस्था रही है। इसके बाद सेवाओं में और कृषि उद्योग में रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त होते रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में सबसे कम रोजगार के अवसर व्यापार तथा व्यवसाय में सृजित हुए जबकि निजी क्षेत्र में यातायात तथा संवादवहन के क्षेत्र में रोजगार के अवसर कम सृजित हुए।

तालिका 10.5

भारत में रोजगार के आकार के अनुसार फैक्ट्रियों में प्रमुख लक्षण

रोजगार का आकार	फैक्ट्रियों की संख्या	रोजगार (हजार में)
0-49 श्रमिक	79,297	1,306
	(78.5)	(17.5)
50-99 श्रमिक	10,959	707
	(10.9)	(10.7)
100-199 श्रमिक	5,356	756
	(5.3)	(10.1)
200-499 श्रमिक	3,286	1,339
	(3.2)	(18.0)
500-999 श्रमिक	1,208	1,042
	(1.2)	(13.9)
1000-1999 श्रमिक	550	911
	(0.5)	(12.2)
2000-4999 श्रमिक	308	885
	(0.3)	(11.8)
5000 और अधिक श्रमिक	52	436
	(0.1)	(5.8)
योग	1,01,016	7,472
	(100.0)	(100.0)

पिछले दशक में देश में रोजगार की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ है। छठी पंचवर्षीय योजना के अन्त में लक्ष्य से अधिक रोजगार के अवसर सृजित हुए हैं। सातवी योजना में भी 4 करोड़ से अधिक रोजगार के अवसर सृजित होने का अनुमान लगाया गया है। परन्तु पिछले वर्षो की बेरोजगारों की संख्या को नई श्रम शक्ति में जोड़ने पर सातवी योजना की समाप्ति पर 82 लाख से अधिक व्यक्ति बेरोजगारी की स्थिति में रहेंगे।

रोजगार के बारे में वर्तमान स्थिति

श्री टी०एस० पपोला के अनुमान के अनुसार 1972-73 से कुल रोजगार की विकास दर में गिरावट आ रही है। छठी तथा सातवीं योजना के दौरान सकल घरेलू उत्पादन में वृद्धि होने के उपरान्त भी देश में रोजगार की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से कम रही है। कृषि क्षेत्र

में रोजगार में गिरावट आई है और ग्रामीण क्षेत्र में ग्रामीण व्यक्तियों की अन्य उद्योग व्यवसायों में काम न मिलने के कारण बेरोजगारी तथा अल्प रोजगार की मात्रा में वृद्धि हुई है। इस स्थिति में श्रमिकों को भवन निर्माण तथा खनन उद्योग में रोजगार के अवसर बदलने से कुछ राहत मिली है। 1983 से 1987-88 के दौरान देश में रोजगार में मात्र 1.55 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई है जबकि इस दौरान जनसंख्या 2.1 प्रतिशत बढ़ी है और कार्यशील जनसंख्या में इससे भी अधिक वृद्धि हुई है भारत में 1972 से 1988 तक की अवधि में रोजगार की वृद्धि की दर निम्न प्रकार थी।

तालिका 10.6

भारत में प्रमुख क्षेत्रों में रोजगार वृद्धि दर

क्षेत्र	1972-73 से 1977-78	1977-78 से 1983	1983 से 1987-88
कृषि	2.32	1.20	0.65
खनिज एवं खनन	4.68	5.58	6.16
विनिर्माण	5.10	3.75	2.10
बिजली गैस तथा जलापूर्ति	12.23	5.07	4.64
यातायात तथा संवाद वहन	4.85	6.35	2.67
अन्य सेवाए	3.67	4.69	2.50
योग	**2.82**	**2.22**	**1.55**

स्रोत—इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली-2 फरवरी 1991

80 के दशक में रोजगार की स्थिति में एक विषम समस्या यह उत्पन्न हुई कि संगठित औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर बहुत ही कम रही है। इस दशक में बिजली गैस जलापूर्ति और अन्य सेवाओं को छोड़कर संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से कम रही है। इस दशक में भूमिहीन कृषकों की संख्या में भी अपेक्षाकृत वृद्धि हुई है। इस कारण ग्रामीण क्षेत्र में खुली बेरोजगारी बढ़ी है। शहरी क्षेत्र में 1973 में खुली बेरोजगारी 2.77 प्रतिशत थी। 1987-88 में यह बढ़कर 3.77 प्रतिशत हो गई।

देश में 1990-95 के दौरान में 3 करोड़ 70 लाख नये व्यक्तियों के श्रम शक्ति में जुड़ने का अनुमान है। 1995-2000 के दौरान 4 करोड़ 10 लाख अतिरिक्त व्यक्ति श्रम शक्ति में जुड़ जावेंगे। यदि हम 1995 तक सभी रोजगार चाहने वालों को काम देने का लक्ष्य रखते हैं तो आठवी योजना में 6 करोड़ 50 लाख नये रोजगार के अवसर सृजित करने थे। सन् 2000 तक पूर्ण रोजगार देने का लक्ष्य निश्चित होता है तो 10 करोड़ 60 लाख नये रोजगार के अवसर उत्पन्न करने पड़ेंगे।

रोजगार के इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हमें रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर को आठवी योजना में 4.0 प्रतिशत प्रतिवर्ष होनी चाहिए थी। परन्तु 1983-1987 के बीच हमारे यहां रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर मात्र 1.55 प्रतिशत ही रही है। इसलिए हमें 2000 तक पूर्ण रोजगार का लक्ष्य निर्धारित करते हुए 1990-2000 में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष

से अधिक निश्चित करने के बावजूद बेरोजगारी की समस्या समाप्त नहीं होगी एवं भारतवर्ष बेरोजगारों की एक बड़ी सेना के साथ इक्कसवीं शताब्दी में प्रवेश करेगा।

10.8 सारांश

बेरोजगारी का स्वरूप तथा आकार

1. बेरोजगारी का अर्थ — बेरोजगारी का स्वरूप संचालक बेरोजगारी — बेरोजगारी के प्रकार — प्रच्छन्न बेरोजगारी — खुली बेरोजगारी — शिक्षित बेरोजगारी — ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी — विकसित तथा अविकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप — बेरोजगारी के कारण — भारत में बेरोजगारी के अनुमान
2. भारत सरकार की रोजगार संबंधी नीति — बेरोजगारी दूर करने के सुझाव — भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी
3. भारत में औद्योगीकरण एवं रोजगार — भारत में संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि — भारत में रोजगार की क्षेत्रानुसार वृद्धि — भारत में 1971-87 के बीच सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में रोजगार की स्थिति — भारत में रोजगार के आकार के अनुसार फैक्ट्रियों में प्रमुख लक्षण — रोजगार के बारे में वर्तमान स्थिति।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.	भारतीय अर्थव्यवस्था	:	ए.एन. अग्रवाल
2.	भारतीय अर्थशास्त्र	:	लक्ष्मी नारायण नाथूरामका
3.	आर्थिक विकास के सिद्धान्त एवं भारत में आर्थिक नियोजन	:	प्रो० जी.एल. गुप्ता
4.	भारतीय अर्थव्यवस्था	:	रुद्रदत्त एवं सुंदरम्
5.	भारतीय अर्थव्यवस्था	:	डा० मामोरिया एवं जैन
6.	Indian Economy	:	S.K. Ray
7.	Indian Economy Problems of Development and Planning	:	A.N. Agarwal
8.	India - Economic Information Year Book - 1989-90	:	A.N. Agarwal, Ho. Verma and R.C. Gupta.

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में बेरोजगारी की समस्या एवं समाधान पर एक विश्लेषणात्मक लेख लिखिये।

   संकेत : इसमें बेरोजगारी की समस्या तथा इसे दूर करने के उपाय का विस्तार से वर्णन करना है।

2. भारत में बेरोजगारी क कारणों पर प्रकाश डालिये। देश में इस समस्या के हल के लिए क्या प्रयास किये जा रहे हैं? इसको दूर करने क लिए आप क्या उपाय बतायेंगे?

   संकेत : इसमें बेरोजगारी के कारण लिखने हैं तथा इसे दूर करने के लिए पंच वर्षीय योजनाओं में तथा विशेष रूप से 1970 के बाद के प्रयासों का उल्लेख करना है।

PENTIUM – D:\KOTA\MEC-06\PART-10.PM!

3. भारत में ग्रामीण बेरोजगारी के स्वरूप पर प्रकाश डालिये। इस समस्या के समाधान के लिए आप क्या उपाय सुझायेंगे?

संकेत : इसमें ग्रामीण बेरोजगारी के कारण तथा ग्रामीण बेरोजगारी के सरकारी प्रयास देने हैं।

4. भारत में शिक्षित बेरोजगारी की वर्तमान स्थिति का उल्लेख कीजिये। आयोजना काल में बेरोजगारी बढ़ने के कारणों का विश्लेषण कीजिये।

संकेत : इसमें शिक्षित बेरोजगारी की स्थिति के बारे में उल्लेख करना है। योजनाकाल में जिन कारणों से बेरोजगारी बढ़ी है उन कारणों का उल्लेख करना है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास

MAEC-06

कृषि अर्थव्यवस्था 3

खण्ड परिचय

कृषि अर्थव्यवस्था

कृषि अर्थव्यवस्था पर इस खण्ड में कुल 6 इकाइयाँ हैं।

इकाई संख्या 11 में कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भूमि सुधार कार्यक्रमों का विवेचन किया गया है। इस इकाई में कृषि भूमि सम्बन्धों का अर्थ, इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन करने के बाद समय के साथ इन सम्बन्धों में हुए परिवर्तनों की चर्चा भी की गई है। इसके साथ ही भूमि सुधारों का अर्थ तथा विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों की चर्चा करने के बाद भूमि सुधारों की असंतोषजनक प्रगति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई संख्या 12 में कृषि आगतों के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। इनमें उन्नत बीज, उर्वरक, सिंचाई, पौध संरक्षण, विद्युतिकरण, कृषि यंत्र एवं कृषि ऋणों को सम्मिलित किया गया है। इकाई संख्या 13 में हरित क्रान्ति का अर्थ तथा इसके विभिन्न अवयवों का वर्णन करने के बाद हरित क्रान्ति के आर्थिक व सामाजिक प्रभावों की चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 14 में भारतीय कृषि विकास की उपलब्धियों एवं कमियों की चर्चा की गई है। नियोजन काल में कृषि की उपलब्धियों में कृषि उत्पादन में वृद्धि, कृषि का आधुनिकीकरण एवं खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्रमुख रही हैं। इसकी प्रमुख कमियों में क्षेत्रीय असंतुलन प्रमुख है। इकाई संख्या 15 में खाद्यान्न आहरण व सुरक्षित भण्डार बनाने की भारत सरकार की नीति के बारे में विवेचन किया गया है। अन्तिम इकाई संख्या 16 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर विस्तार से चर्चा की गई है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. एन. एल. अग्रवाल (11 से 13)
कृषि अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय
जोबनेर

डॉ. ए. के. सिंह (14 से 16)
जी. आई. डी. एस.
लखनऊ

खण्ड-3

कृषि अर्थव्यवस्था

इकाई 11
कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भूमि सुधार 7-29

इकाई 12
कृषि निविष्ट/कृषि आगत 30-46

इकाई 13
हरित क्रान्ति 47-55

इकाई 14
भारतीय कृषि विकास की उपलब्धियां तथा कमियाँ 56-66

इकाई 15
खाद्यान्न आहरण तथा सुरक्षित भण्डार नीति 67-77

इकाई 16
सार्वजनिक वितरण प्रणाली 78-89

सम्पादक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया

सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष.

अर्थशास्त्र विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

पाठ्य सामग्री उत्पादन

निदेशक

पाठ्य सामग्री एवं वितरण

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस सामग्री के किसी भी अंश की कोटा विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015
मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना कटरा, इलाहाबाद।

इकाई 11

कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भूमि सुधार
(Agrarian Relations and Land Reforms)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 कृषि भूमि सम्बन्ध

- 11.2.1 कृषि भूमि सम्बन्ध से तात्पर्य
- 11.2.2 कृषि भूमि सम्बन्ध के प्रकार
- 11.2.3 कृषि भूमि सम्बन्धों की समीक्षा के लिए नियुक्त कार्यकारी दल
- 11.2.4 कृषि भूमि सम्बन्धों में समय के साथ हुए परिवर्तन

11.3 भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम

- 11.3.1 भूमि सुधार कार्यक्रम से तात्पर्य
- 11.3.2 भूमि सुधार कार्यक्रमों के उद्देश्य
- 11.3.3 भूमि सुधार कार्यक्रम
  - — मध्यस्थों की समाप्ति
  - — भू-धारण पद्धति में सुधार
  - — जोत की उच्चतम सीमा नियत करना
  - — कृषि भूमि का पुनर्गठन/जोत-चकबन्दी करना
  - — सहकारी कृषि का गठन
- 11.3.4 भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन से प्राप्त लाभ
- 11.3.5 भूमि सुधार कार्यक्रमों की असंतोषजनक प्रगति के कारण

11.4 सारांश

11.5 शब्दावली

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री।

11.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास विषय के इस तृतीय खण्ड की प्रस्तुत इकाई में कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भारत में हुए भूमि सुधार कार्यक्रमों का विवेचन किया जा रहा है। प्रस्तुत अध्ययन के पश्चात् आप निम्न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे :—

* कृषि भूमि सम्बन्धों को परिभाषित करते हुए उन्हें विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकेंगे।

* कृषि भूमि सम्बन्धों में हुए परिवर्तन एवं उनसे कृषि उत्पादन पर होने वाले प्रभावों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
* भूमि सुधार कार्यक्रम से तात्पर्य एवं विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों के कारण कृषकों को प्राप्त लाभ का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
* भूमि सुधार कार्यक्रमों को अपनाने में आने वाली कठिनाईयों का ज्ञान प्राप्त करके उनके सुधार हेतु उपाय सुझावित कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाइयों में भारत में व्याप्त गरीबी एवं आय असमानता तथा कृषि श्रमिकों में व्याप्त बेरोजगारी समस्या उसकी प्रवृत्ति, बेरोजगारी का आंकलन व इस समस्या को हल करने के लिए अपनाए गए उपायों का अध्ययन आप कर चुके हैं। गरीबी एवं बेरोजगारी दोनों ही देश की प्रमुख आर्थिक समस्याएं हैं जिनके होने से देश में विकास की गति में तीव्रता नहीं आ पाई है। प्रस्तुत इकाई में कृषि भूमि सम्बन्धों एंव भूमि सुधार कार्यक्रमों का विवेचन किया जा रहा है जो, उपर्युक्त दोनों ही समस्याओं को उत्पन्न करने में सहायक रहे हैं।

कृषि भूमि सम्बन्ध तथा भूमि सुधार कार्यक्रमों एवं कृषि उत्पादन में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उचित कृषि भूमि सम्बन्ध के होने तथा भूमि सुधार कार्यक्रम अपनाने पर कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है। कृषकों को भूमि पर स्थायी स्वामित्व अधिकार प्राप्त होने, भूमि के लगान की उचित राशि निर्धारित करने तथा भूमि पर स्थायी सुधार करने के अधिकार प्राप्त होने पर उन्हें उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है। इसके विपरीत इनके अभाव में कृषकों में उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा का ह्रास होता है। प्रस्तुत इकाई में उन सभी कृषि भूमि संबंधों एवं भूमि सुधार के लिए सरकार द्वारा अपनाए गए विभिन्न कार्यक्रमों जैसे मध्यस्थों की समाप्ति, भू-धारण पद्धति में सुधार, जोत की उच्चतम सीमा नियत करना, जोत चकबन्दी आदि का अध्ययन किया जायेगा। पिछले दशक से इन क्षेत्रों में किए गए प्रयासों के कारण उत्पादन भूमि के आधारधारिक संरचना में परिवर्तन आया है तथा कृषि क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि हुई है। फलस्वरूप कृषकों को भूमि की प्रति इकाई क्षेत्र से लाभ की राशि भी अधिक प्राप्त होने लग गई है।

11.2 कृषि सम्बन्ध (Agrarian Relations)

कृषि भूमि उत्पादन का प्रमुख साधन है। पूर्व काल से ही मनुष्य एवं भूमि में प्रबल संबंध विद्यमान हैं। मनुष्य भूमि से विभन्न कृषि वस्तुओं का उत्पादन करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता आया है। भूमि की पूर्ति देश में सीमित होने के कारण प्रारंभ से ही इसके स्वामित्व संबंधी प्रश्न उठे हैं। भूमि पर स्वामित्व होने से मनुष्य को अपनी खुशहाली एवं सुरक्षितता, सुनिश्चित एवं अन्तर्निष्ठ होना लगता है। भूमि पर स्वामित्व होने वाले कृषक, अपनी भूमि पर इच्छानुसार उत्पादों का उत्पादन करके आय एवं संतोष प्राप्त करते हैं। प्राप्त आय से कृषक अपना जीवन निर्वाह उचित स्तर पर करते हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि भूमि संबंधों की महत्ता अधिक है, क्योंकि कृषि क्षेत्र राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा अंश प्रदान करता है। वर्ष 1950 में कृषि क्षेत्र, राष्ट्रीय कुल आय का 59 प्रतिशत अंश प्रदान करता था, लेकिन अन्य क्षेत्रे प्रमुखतया औद्योगिक क्षेत्र के विकास से कृषि क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में अंशदान कम होकर वर्तमान में भी 31 प्रतिशत अंश प्रदान करता है।

भार में कृषि भूमि, कृषक सम्पत्ति का एक प्रमुख अवयव है। कृषकों के पास अन्य सम्पत्ति का अभाव होता है। कृषि भूमि कृषकों में असमान रूप से वितरित है। कृषि भूमि एक ओर

ग्रामीण क्षेत्र में कृषकों को रोजगार उपलब्धि एवं जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन है लेकिन दूसरी ओर इसका असमान वितरण ही देश के ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त गरीबी एवं आय असमानता का प्रमुख कारण भी हे। ग्रामीण क्षेत्र में सामाजिक वैमनस्यता में हुई वृद्धि का प्रमुख कारण भी कृषि भूमि संबंध ही है। अतः इस खण्ड में कृषि भूमि संबंधों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

11.2.1 कृषि भूमि संबंध के तात्पर्य

कृषि भूमि संबंध उन मनुष्यों में जो भूमि के स्वामी एवं भूमि पर कार्य करके भूमि से प्राप्त उत्पादन का आपस मे विनिमय करते हैं, उनके आपसी संबंधों के घोतक होते हैं। भूमि के स्वामी कृषि भूमि एवं कृषि यन्त्रों के स्वामी होते हैं तथा दूसरी ओर अन्य मनुष्य जो उस भूमि के स्वामी नहीं होते हैं वे भू स्वामियों से प्राप्त भूमि पर कृषित करके उत्पादित उत्पादन की मात्रा को आपस में विनिमय करते हैं। विनियम विभिन्न कृषकों एवं भू-स्वामियों में विभिन्न दर से होता है। इस प्रकार भू-स्वामियों एवं भूमि पर कृषित करने वाले दोनों वर्गों में व्याप्त संबंध को कृषि भूमि संबंध से संबोधित किया जाता है।[1]

भू-स्वामियों एवं कृषकों में पाये जाने वाले इन संबंधों में बहुत विभिन्नता पाई जाती है। साथ ही उनमें पाये जाने वाले संबंधों में निरंतर परिवर्तन हाते रहते हैं। यह परिवर्तन धीमी गति से सूक्ष्म स्तर पर होते हैं, जिसके कारण आए हुए परिवर्तन पुरानी विधि में पूर्ण रूप से सम्मिलित या सलीन हो जाते हैं और उनका आभास साधारणतया नहीं होता है। अतः कृषि भूमि संबंधों का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

11.2.2 कृषि भूमि सम्बन्ध के प्रकार

कृषि भूमि संबंध प्रमुखतया तीन प्रकार के होते हैं :—

1. पूर्ण समान्तवादी सम्बन्ध (Pure Feudal Relations)

इस प्रकार के संबंधों में भूमि पर स्वामित्व पूर्णतया सामन्तों का होता है। भूमि पर कृषि करने वाले कृषक भू-स्वामियों अर्थात सामन्तों की इच्छा पर पूर्णतया आश्रित होते है।

पूर्ण समान्तवादी प्रथा को जागीरदारी प्रथा भी कहते हैं। इस प्रथा में गांव के व्यक्ति सामन्तों से भूमि प्राप्त करके कृषि करते थे और भूमि से प्राप्त उत्पादों को आपस में समझौते के अनुसार (Crop share basis) भू-स्वामी एवं कृषक बांटते थे। भूमि पर कृषि करने वाले कृषकों को आसामी कृषक (tenant farmer) कहते हैं। इन आसामी कृषकों को चरागाह भूमि के उपयोग के लिए भी भू-स्वामी को नकद अथवा प्राप्त उत्पाद के रूप में कर देना होता था। साथ ही आसामी कृषकों को सामान्तों के यहां विवाह अथवा अन्य समारोह पर भेंट या उपहार भी देनी

---

1. "Agrarian relations are the mutual relations among men as a class who exchange their activities in the process of production and exchange. In the sphere of production who owns land and agricultural implements and in the sphere of distribution and exchange the objective of production, i.e., production for use value or for exchange value determine the type of agrarian relations. However, it is very difficult to identify the pure nature of agrarian relations because in this sphere relations of production change slowly almost imperceptibly, coalescing and evermerging with old forms".

   Harihar Bhakta; Agrarian Relations and Development (Regional Study of North-West Bihar), Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. XXXVI (4), October-December 1981, p. 166.

होती थी। सामान्त वर्ग कृषकों से भूमि के उपयोग के उपलक्ष में उत्पादित फसल का 25 से 50 प्रतिशत भाग लगान से रूप में ले लेते थे और आसामी कृषकों के पास शेष बचत बहुत कम होती थी। इस प्रकार सामान्तवादी प्रथा में कृषकों का शोषण होता था। इस प्रकार के संबंध ही मनुष्य एवं भूमि में इस प्रथा की प्रमुख विशेषता होती थी। कृषकों से प्राप्त उत्पाद की मात्रा को सामन्त विक्रय करते अपना जीवन निर्वाह करते थे। यही उत्पाद बाजार में अधिशेष उत्पादन के रूप में कहलाता है। पूर्ण सामान्तवादी प्रथा में व्याप्त उपरोक्त दोषों के कारण, यह संबंध निरंतर विच्छेदन एवं विघटन की ओर अग्रसर हुए और वर्तमान में पूर्ण रूप से समाप्त हो चुके हैं।

2. पूर्ण पूँजीवादी सम्बन्ध (Pure Capitalist Relations)

इस प्रकार के संबंधों में भूमि पर स्वामित्व पूँजीपतियों अर्थात उन व्यक्तियों का होता है जो स्वयं उत्पादन में भागीदार नहीं होते हैं। भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उत्पादन की उन्नत विधियों को अपनाया जाता है। पूँजीपति भूमि से अधिक उत्पादन या आय प्राप्त के लिए उन फसलों का चुनाव करते हैं जिनकी बाजार में सर्वाधिक मांग होती है तथा जिनके लेने से लाभ अधिक प्राप्त होता है। काश्तकार भूमि पर कृषि करने के लिए पूर्णतया बाजार की आवश्यकता वाले उत्पादों के उत्पादन एवं उन्नत कृषि विधि के अपनाने के लिए भू-स्वामी की इच्छा पर आश्रित होता है।

पूंजीवादी संबंध में निम्न गुण विद्यमान होते हैं :—

(अ) उत्पादन का प्रमुख साधन भूमि पर स्वामित्व उन व्यक्तियों का होता है जो उत्पादन में स्वयं भागीदार नहीं होते हैं।

(ब) उत्पादन का प्रमुख उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है जिसके कारण भूमि पर उत्पादन करने के लिए फसलों का चुनाव बाजार की मांग के अनुसार किया जाता है।

(स) काश्तकार खेती की दृष्टि से पूँजीपति की इच्छा पर निर्भर रहता है तथा स्वयं निर्णय नहीं ले सकता है।

(द) पूँजीपति भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए नई तकनीकी विधियों के अपनाने के लिए निरंतर प्रयास करता है।

पूर्ण पूँजीवादी संबंध निरंतर अग्रसर हो रहे हैं। समाज के समृद्ध व्यक्ति अधिक कीमत पर भूमि क्रय कर लेते हैं और उस पर कृषि करवाने के लिए श्रमिकों की सहायता लेते हैं। कृषि क्षेत्र में कर के नहीं होने से भी पूँजीवादी विधि का प्रसार हुआ है। वर्तम्न में देश के प्रत्येक क्षेत्र में बड़े-बड़े कृषि फार्म पूँजीपतियों ने स्थापित कर लिये हैं जहाँ वाणिज्यिक फसलों का बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है।

3. अर्द्ध सामन्तवादी संबंध (Semi–Feudal Relations)

इस प्रकार के संबंध में भूमि या तो काश्तकार के अधिकार में अथवा उनके सीधे स्वामित्व में होती है। उत्पादक कृषकों को अपनी आवश्यकता के अनुसार विभिन्न फसलों का उत्पादन करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। यह संबंध पूर्ण सामन्तवादी प्रथा से भिन्न है इसमें कृषक भू-खण्ड का कृषि करने के दृष्टिकोण से स्वामी होता है।

कृषि भूमि संबंधों के ऐतिहासिक अध्ययन से स्पष्ट है कि पूर्ण सामान्तवादी संबंध देश में प्रायः विच्छेदित हो चुके हैं तथा पूर्ण पूँजीवादी संबंध निरंतर अग्रसर हो रहे हैं। वर्तमान में भूमि संबंध इन दोनों के मिश्रित रूप में विद्यमान है। स्वतंत्रता के पश्चात् सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति

पर विशेष बल दिया गया था। इसका प्रमुख कारण सामन्तों द्वारा कृषकों का शोषण करना, बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भूमि की आवश्यकता एवं उस पर स्वामित्व प्राप्त करने की इच्छा का होना था। ऐसा महसूस किया गया कि भूमि पर स्वामित्व प्राप्त कृषक भूमि से अधिक मात्रा में फसलों का उत्पादन कर सकते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से भी सामन्तवादी एवं अर्द्ध सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति अनिवार्य हो गई थी, क्योंकि इसके होने से समाज में व्याप्त असमानता के कारण आपसी वैमनस्यता में वृद्धि हुई है। एक तरफ तो समाज के कुछ ही व्यक्तियों के पास भूमि का अधिकांश भाग केन्द्रित था, जो उत्पादन वृद्धि में किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष रूप में भूमिका नहीं निभाते हैं बल्कि भूमि पर पराक्षयी के रूप में होते हैं। दूसरी तरफ समाज का एक बहुत बड़ा भाग जो उत्पादन वृद्धि करने में प्रत्यक्ष भूमिका निभाते हैं उन्हें भूमि पर किसी प्रकार का स्वामित्व प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार इन दोनों वर्गों में बढ़ती हुई सामाजिक असमानता की समाप्ति के लिए सामन्तवादी प्रथा का अन्त होना आवश्यक हो गया था।

अर्द्ध सामन्तवादी प्रथा के अंतर्गत कृषकों के भूमि से संस्थागत सम्बन्ध :

भूमि पर कृषि करने वाले कृषकों के स्वामित्व की दृष्टि से निम्न तीन प्रकार के संस्थागत संबंध पाये जाते हैं:

1. भू-स्वामी कृषक (Owner Cultivator)

यह वे कृषक होते होते हैं जो भूमि के स्वयं ही स्वामी होते हैं और स्वयं ही अपनी भूमि को कृषित करते हैं। भू-स्वामी कृषित भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए भूमि पर विभिन्न रूप में जैसे कुंआ बनाने, भूमि को समतल करने, बाढ़ लगाने आदि कार्यों पर पूँजी निवेश करते हैं। इस विधि में पूँजी के निवेश करने से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा अथवा आय से भू-स्वामी कृषकों को ही शत प्रतिशत लाभ होता है।

2. पट्टे पर भूमि प्राप्त भू-धारक कृषक (Lease Holder)

इस विधि में भू-धारक कृषक भू-स्वामियों से एक निश्चित समयावधि के लिए प्राप्त भूमि पर कृषि करते हैं। भू-धारक कृषक कृषि के भूमि के स्वामी नहीं होते हैं। भू-धारक प्राप्त भूमि का लगान भू-स्वामी को उनके मध्य पूर्व में निर्धारित शर्तों के अनुसार भुगतान करता है।

भू-स्वामी, भू-धारक को भूमि एक निश्चित समय जैसे एक वर्ष या दो वर्ष के लिए कृषि करने के लिए देता है और समय की समाप्ति पर भू-धारक से भूमि वापिस लेकर दूसरे काश्तकार को कृषि करने के लिए देता है। अतः इस विधि में भू-धारक कृषक प्राप्त भूमि पर स्थाई सुधार के कार्य करने जैसे कुआ बनाना, भूमि को समतल करना, पक्का घोरा बनाना आदि पर पूँजी निवेश नहीं करता है। ऐसी स्थिति में भूमि का सुधार नहीं होता है और भूमि से आय की वृद्धि नहीं हो पाती है। कृषि करने के लिए प्राप्त भूमि के समय अनिश्चितता की स्थिति में भू-धारक कृषक भूमि में गोबर की खाद भी कम से कम प्रयोग करता है क्योंकि भू-स्वामी द्वारा भू-धारक कृषक को भूमि से पृथक किये जाने की स्थिति में उसके द्वारा किये गये पूँजी निवेश का पूर्ण लाभ उसे प्राप्त नहीं होता है।

3. बटाई पर भूमि प्राप्त भू-धारक कृषक (Share Cropper)

इस विधि में भी भू-धारक कृषक भूमि का स्वामी नहीं होता है बल्कि भू-स्वामी से एक निश्चित समयावधि तक कृषि करने के लिए भूमि प्राप्त करता है। इस विधि में भू-धारक कृषक, भूमि का लगान भू-स्वामी को निश्चित राशि में नहीं देकर प्राप्त उत्पादन की मात्रा का एक भाग

के रूप में देता है। बटाई विधि में भू-धारक एवं भू-स्वामी पूर्व में हुए समझौते के अनुसार उत्पादन लागत की राशि एवं भूमि से प्राप्त विभिन्न उत्पादों की उत्पादन मात्रा को आपस में विभाजित करते हैं। अतः उपरोक्त दोनों विधियों - पट्टे पर प्राप्त भूमि एवं बटाई पर प्राप्त भूमि में लगान के भुगतान विधि में ही अन्तर होता है लेकिन अन्य सभी बातों में दोनों विधियाँ समान हैं। अतः कुछ विद्वानों ने कृषकों को दो ही श्रेणी में विभक्त किया है :

1. भू-स्वामी कृषक (Owner cultivators)
2. आसामी कृषक (Tenant cultivators)

आसामी कृषक की श्रेणी में पट्टे पर भूमि प्राप्त करने वाले एवं बटाई पर भूमि प्राप्त करने वाले दोनों ही श्रेणी के कृषक सम्मिलित होते हैं। बटाई पर भूमि देकर की जाने वाली कृषि में लगान भुगतान की निम्न दो विधियाँ होती हैं।

(अ) उत्पाद की मात्रा का 50 : 50 के अनुपात में विभाजन करना

इस विधि में प्रमुख कृषि निविष्टों – उत्पादन बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाईयां तथा सिंचाई के लिए प्रयोगित बिजली अथवा डीजल तेल के भुगतान की राशि का भू-स्वामी एवं आसामी कृषक के मध्य समान रूप से विभाजन किया जाता है तथा मानव व बैल श्रम की लागत पूर्णतया आसामी कृषक को वहन करनी होती है। भूमि का राजस्व भू-स्वामी को वहन करना होता है। उपयोगित निविष्टों के कारण भूमि से प्राप्त सभी उत्पादों एवं उनके उपोत्पाद की मात्रा का 50:50 के अनुपात में भू-स्वामी एवं आसामी कृषक में विभाजन कर लिया जाता है।

(ब) स्थिर मात्रा में भूमि का लगान भुगतान करना

इस विधि में सभी कृषि लागत (भू-राजस्व के अतिरिक्त) आसामी कृषक को वहन करनी होती है। भू-राजस्व राशि का भुगतान भू-स्वामी द्वारा सरकार को किया जाता है। तथा भूमि का लगान कृषक एवं भू-स्वामी में आपसी समझौते के अनुसार एक निश्चित राशि के रूप में अथवा उत्पादित फसल के रूप में भू-स्वामी को देना होता है। लगान की राशि उत्पादन की मात्रा से प्रभावित नहीं होती है अर्थात उत्पादन अधिक, कम एंव नहीं प्राप्त होने की सभी स्थितियों में आसामी कृषकों द्वारा समान मात्रा में भू-स्वामी को देना होता है।

उपर्युक्त दोनों ही विधियों में भूमि भू-स्वामी द्वारा कृषकों को बटाई पर दी जाती है। भूमि के बटाई पर देने की यह प्रथा भूमि की उत्पादकता में वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि एवं काश्तकारी कानूनों की अड़चन के कारण धीरे-धीरे कम होती जा रही है। वर्तमान में भूमि को बटाई पर देने की यह विधि अनेक स्थानों पर जैसे अपाहिज व्यक्तियों के स्वामित्व की भूमि, विधवाओं की भूमि, सेना में कार्यरत सैनिकों के स्वामित्व की भूमि में साधारणतया पाई जाती है। पर्याप्त सिंचाई सुविधा एवं ट्रैक्टर सुविधा वाले दीर्घ जोत कृषक भी लघु पड़ौसी कृषकों की भूमि को बटाई पर ले जाने में सक्षम होते हैं। लघु कृषक अपने पास उत्पादन साधनों की कमी के कारण अपनी भूमि को दीर्घ कृषकों को देते हैं। इस प्रकार इस विधि से दीर्घ एवं लघु जोत दोनों ही कृषकों को लाभ प्राप्त होता है।

इस प्रकार की बटाई विधि के होने से देश में अनुपस्थित भू-स्वामियों की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। ऐसा पाया गया है कि कृषि निविष्टों एवं मानव श्रम का उपयोग स्वयं के स्वामित्व वाली भूमि पर बटाई पर ली गई भूमि की अपेक्षा प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र में अधिक होता है। जिससे कृषकों को आय भी अधिक प्राप्त होती है और देश में खाद्यान्नों का उत्पादन भी अधिक होता है।

11.2.3 कृषि भूमि सम्बन्धों की समीक्षा के लिए नियुक्त कार्यकारी दल, 1972 (Task Force on Agrarian Relations)

भारत सरकार के योजना आयोग ने फरवरी 1972 में कृषि भूमि संबंधों की समीक्षा के लिए एक कार्यकारी दल की नियुक्ति श्री पी. एस. अप्पू की अध्यक्षता में की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य भूमि सुधार के अंतर्गत अपनाये गये उपायों का आलोचनात्मक समीक्षा करके वृतान्त प्रस्तुत करना था। कार्यकारी दल ने महसूस किया कि भू-धारण प्रथा में मध्यस्थों के उन्मूलन संबंधी पारित कानूनों की अनुपालना तो बृहत स्तर पर दक्षता से हुई है। लेकिन भू-धारणा सुधार एवं जोत की उच्चतम सीमा कानून अपने निर्धारित नीति से बहुत दूर है। कार्यकारी दल ने अपने वृतान्त में इसके निम्न कारण दिये हैं।

1. पारित कानूनों को लागू करने में राजनैतिक इच्छा का नहीं होना।
2. लाभान्वित होने वाले कृषक वर्ग द्वारा पारित कानूनों की अनुपालना के लिए सरकार पर आवश्यक दबाव नहीं डालना। सामाजिक एवं आर्थिक असमर्थतता के कारण अधिकांश कृषक ऐसा नहीं कर पाते हैं।
3. सरकारी अधिकारियों द्वारा भूमि सुधार कार्यक्रमों के विभिन्न पहलुओं की उपेक्षा करना क्योंकि उन्हें लगान वसूली एवं अन्य कार्य भी प्राथमिकता पर करने होते हैं।
4. घोषित नीति को कार्यान्वित करने में कानूनन अड़चनों का होना एवं प्रभावित समृद्ध वर्ग द्वारा न्यायालय से इनके कार्यान्वित में देरी करने के लिए स्थगन आदेश प्राप्त कर लेना।
5. सरकार द्वारा भूमि सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वयन करने के लिए आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान नहीं करना।
6. भूमि संबंधित अभिलेख सही एवं पूर्ण उपलब्ध नहीं होना।
7. केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार तथा विभिन्न सरकारों में भूमि सुधार कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के लिए सही तालमेल का नहीं होना, जिससे इनकी प्रगति विभिन्न राज्यों में समान नहीं है।

कार्यकारी दल ने अपने वृतान्त में उपरोक्त कमियों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए थे :—

(I) भूमि सुधार कानून में व्याप्त कमियों को दूर करना।

(II) भू-सीमा के निर्धारण के लिए नया कानून बनाना एवं उससे प्राप्त अधिशेष भूमि को भूमिहीन श्रमिकों में वितरित करना।

(III) भूमि सुधार कार्यक्रमों के कार्यान्वित करने के लिए एक पृथक प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करना एवं उसे आवश्यक अधिकार कानूनन प्रदान करना।

(IV) भूमि सुधारों को पूर्णरूप से कार्यान्वित करने एवं राजनैतिक प्रभावों को समाप्त करने के लिए कृषकों में आवश्यक चेतना जागृत करना।

11.3.4 कृषि भूमि सम्बन्धों में समय के साथ हुए परिवर्तन

वर्तमान में विद्यमान कृषि भूमि सम्बन्धों की संरचना में समय के साथ अनेक परिवर्तन हुए

हैं। यह परिवर्तन भूमि सुधार कार्यक्रमों के अपनाने के फलस्वरूप आये हैं। कृषि भूमि सम्बन्धों में समय के साथ हुए प्रमुख परिवर्तन निम्नांकित हैं :

1. लघु एवं सीमान्त कृषकों की संख्या एवं अनुपात में वृद्धि (Increase in number and proportion of small and marginal farmers)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के लागू होने के फलस्वरूप देश में लघु कृषकों (एक से दो हैक्टर भूमि का क्षेत्र) एवं सीमान्त कृषकों (एक हैक्टर से कम भूमि का क्षेत्र) की संख्या एवं उनके पास उपलब्ध भूमि के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है। दूसरी ओर दीर्घ जोत कृषकों (10 हैक्टर से अधिक भूमि का क्षेत्र) की प्रतिशतता एवं उसके पास उपलब्ध भूमि के क्षेत्रफल में कमी हुई है। तालिका 11.1 में पिछली तीन कृषि जनगणना के आंकड़े प्रदर्शित किये गये हैं जो उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं।

तालिका 11.1 विभिन्न जोत कृषकों की संख्या एवं उनके पास उपलब्ध भूमि का क्षेत्रफल

कृषक श्रेणी	संख्या (मिलियन में)		उपलब्ध जोत क्षेत्रफल (मिलियन हैक्टेयर में)	
	1970-71	1990-91	1970-71	1990-91
सीमान्त कृषक (1 हेक्टर से कम)	36 (51%)	62 (58%)	15 (9%)	25 (15%)
लघु कृषक (1-4 हेक्टर)	24 (34%)	34(33%)	49 (30%)	67 (41%)
मध्यम जोत कृषक (4-10 हेक्टर)	8 (11%)	8 (7%)	48 (30%)	45 (27%)
दीर्घ जोत कृषक (10 हैक्टर व ऊपर)	11 (4%)	2 (1%)	50 (31%)	29 (27%)
कुल	71 (100%)	106 (100%)	162 (100%)	166 (100%)

तालिका 11.1 से स्पष्ट है कि 1990-91 में लघु एवं सीमान्त जोत कृषक कुल कृषकों की संख्या का 91 प्रतिशत होते हुए भी उनके पास कुल जोत क्षेत्रफल का 56 प्रतिशत क्षेत्रफल उपलब्ध था। जबकि दीर्घजोत कृषकों की संख्या मात्र 1 प्रतिशत होने पर भी उनके पास कुल जोत क्षेत्रफल का 17 प्रतिशत भाग है। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न कृषक वर्गों के पास भूमि का वितरण समान मात्रा में ना होकर दीर्घ जोत कृषकों के पास अधिक है। उपरोक्त काल में दीर्घ जोत कृषकों के पास उपलब्ध क्षेत्र में कमी आई है लेकिन अभी भी भूमि का वितरण बहुत असमान है जिसमें सुधार लाना आवश्यक है।

2. भूमिहीन परिवारों की प्रतिशतता में कमी (Decline in the proportion of landless households)

भूमि सुधार कार्यक्रमों विशेषकर जोत की उच्चतम सीमा नीति के क्रियान्वयन से देश में भूमिहीन कृषक परिवारों की प्रतिशतता में कमी आई है। देश में जोत की उच्चतम सीमा कानून के क्रियान्वयन से प्राप्त अधिशेष भूमि को भूमिहीन परिवारों में वितरण करने से भूमिहीन कृषक परिवारों की संख्या में निरंतर कमी आई है। देश में वर्ष 1953-54 में भूमिहीन कृषक परिवार कुल परिवारों का 23.9 प्रतिशत थे। यह प्रतिशतता कम होकर 1970-71 में 9.34 रह गई।

3. जोत के औसत आकार में कमी होना (Decrease in average size of holding)

देश में जनससंख्या की वृद्धि संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन तथा भूमि की मांग की अधिकता के कारण जोत संख्या में निरंतर वृद्धि हुई है। वर्ष 1970-71 की कृषि जनगणना के अनुसार देश में कुल जोत 70.493 मिलियन थी, जो जोत अपखण्डन के कारण 1990-91 की कृषि जनगणना के अनुसार 106 मिलियन हो गई। इसके कारण जोत का औसत क्षेत्रफल 1970-71 में 2.28 हैक्टर से कम होकर 1976-77 में 2.00 हैक्टर एवं 1990-91 में मात्र 1.57 हैक्टर ही रह गया।

4. आसामी कृषकों एवं बटाई पर प्राप्त होने वाले भूमि के क्षेत्र में कमी होना (Decline in number of tenant farmers and leased in land area)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप दूसरों की भूमि को बटाई पर प्राप्त करके कृषित करने वाले आसामी कृषकों (Tenant famers) की संख्या में निरन्तर कमी आई है। मध्यस्थों की समाप्ति के लिए पारित कानूनों के फलस्वरूप बटाई पर कृषि करने वाले आसामी कृषकों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो गये हैं और वे अब भू-स्वामी कृषकों की श्रेणी में आ गये हैं। साथ ही बटाई पर दी जाने वाली भूमि के क्षेत्र में कमी आई है। पहले जो कृषक भूमि की अधिकता के कारण अधिशेष भूमि को दूसरे कृषको को बटाई पर देते थे, वे अब जोत की उच्चतम सीमा लागू होने से अपने पास सीमित क्षेत्रफल के कारण बटाई पर नहीं देते हैं। अतः बटाई पर दी जाने वाली भूमि के क्षेत्रफल में भी कमी आई है।

5. कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि (Increase in number of Agricultural Labourers)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के अपनाने से देश में लघु एवं सीमान्त कृषकों तथा कृषि श्रमिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। लघु एवं सीमान्त कृषक अपनी जोत से पर्याप्त कार्य के अभाव में बचे हुए समय में दूसरों के फार्म पर कार्य करते हैं और कृषि श्रमिकों की श्रेणी में वर्गीकृत हो जाते हैं। पूर्व में जब जोत का आकार बड़ा होता तो था, कृषकों को अपनी ही फार्म पर पर्याप्त कार्य उपलब्ध हो जाता था और उन्हें दूसरों के फार्म पर मजदूरी करने के लिए नहीं जाना पड़ता था।

देश में कृषि श्रमिकों की संख्या 1961 में 31.5 मिलियन थी जो बढ़कर 1971 में 47.1 मिलियिन हो गई। कुल श्रमशक्ति में कृषि श्रमिकों का प्रतिशत 1961 में 16.7 प्रतिशत था जो बढ़कर 1971 मे 25.7 प्रतिशत हो गया। इसके विपरीत उपरोक्त काल में कृषकों की संख्या 99.6 मिलियन से कम होकर 78.6 मिलियन ही रह गई।

6. मध्यस्थों की समाप्ति (Abolition of intermediaries)

भूमि सुधार कार्यक्रम के अपनाने से देश में सरकार एवं कृषक के मध्य में विद्यमान मध्यस्थ जैसे जमींदार एवं जागीरदार समाप्त हो गए हैं तथा काश्तकार सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गए हैं। कृषकों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार भी प्राप्त हो गये हैं। कृषक अपने स्वामित्व वाली भूमि पर स्थायी सुधार करके अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं। मध्यस्थों की समाप्ति के कारण देश के लाखों कृषक सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गए हैं।

7. कृषित एवं स्वामित्व जोत की स्थिति में परिवर्तन (Change in Operational and Ownership Holdings)

भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ भार तथा भूमि की प्राप्ति की सामाजिक इच्छा की प्रबलता के कारण, देश की विभिन्न राज्य सरकारों ने भूमि सुधार की दिशा में अनेक कानून पारित किये हैं, जिनके कारण कृषित जोत एवं स्वामित्व जोत की स्थिति में परिवर्तन हुए हैं। स्वामित्व जोत के क्षेत्रफल में वृद्धि एवं कृषित जोत क्षेत्र में कमी आई है।

11.3 भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम (Land Reforms in India)

कृषि क्षेत्र में उत्पादकता में वृद्धि लाने वाले कारकों को दो मुख्य समूहों तकनीकी एवं संस्थागत में विभाजित किया जाता है। तकनीकी कारकों में कृषि निविष्टों का उचित मात्रा में उपयोग करना सम्मिलित है जिनके कारण उत्पादकता में परोक्ष रूप से वृद्धि होती है। दूसरे वर्ग में उत्पादन वृद्धि के वे कारण आते हैं जिन्हें संस्थागत कहते हैं। इनमें प्रमुखतया भूमि सुधार कार्यक्रम सम्मिलित होते हैं। उदाहरण के लिए भूमि पर कृषकों का स्थायी स्वामित्व होने पर ही वे सिंचाई साधन का विकास कर सकते हैं। सिंचाई साधन के विकास होने पर फार्म पर उन्नत बीजों एवं उर्वरक का संतुलित मात्रा में उपयोग कर पाना संभव है। अतः तकनीकी एवं संस्थागत कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए एक दूसरे के समपूरक होते हैं।

11.3.1 भूमि सुधार कार्यक्रम से तात्पर्य

भूमि सुधार से तात्पर्य देश में भूमि व्यवस्था में उन परिवर्तनों के करने से है जिनके द्वारा भूमि व्यवस्था में सुधार करके कृषकों को भूमि की उत्पादकता बढ़ाने एवं उन्हें उचित जीवन स्तर प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। भूमि सुधार शब्द का अर्थ बड़ा विस्तृत है, जिसके अंतर्गत न केवल भूमि व्यवस्था के सुधार ही सम्मिलित हैं बल्कि भूमि सुधार कार्यक्रम में भूमि का पुनः वितरण करके भूमि का स्वामित्व कृषकों को प्रदान करना, जोत अपखण्डन को रोक कर जोत के आकार में वृद्धि करना, कृषकों की भूमि-धारण विधि में सुधार लाना, भूमि पर लगने वाले लगान की राशि में कमी करना, सहकारी कृषि एवं कृषि का पुर्नगठन, आदि सम्मिलित होते हैं। दूसरे शब्दों में भूमि सुधार के अंतर्गत भूमि पर सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति, आसामी कृषकों एवं भूमिहीनों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्रदान करना, भूमि का लगान राशि का निर्धारण करना मुख्यतया सम्मिलित होता है।

भूमि पर स्वामित्व की सामान्तवादी प्रथा, देश में लघु एवं सीमान्त जोतों के अधिक संख्या में होने, भूमि का वितरण समान नहीं होने, जोत उप विभाजन एवं अपखण्डन, कृषकों से अधिक मात्रा में लगान लेने, कृषकों को भूमि पर स्थाई अधिकार प्राप्त नहीं होने के कारण, कृषकों में उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा ह्रास होता है। फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में कम पूंजी का निवेश एवं कृषकों को कृषि क्षेत्र से कम आय एवं कम बचत राशि प्राप्त होती है। कृषकों में गरीबी भी बढ़ती है।

भूमि सुधार कार्यक्रम नया नहीं है। वर्ष 1946 में कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र में सुधार के लिए निर्णय लिया गया था कि कृषक एवं सरकार के मध्य पाए जाने वाले मध्यस्थों को समाप्त किया जाये और मध्यस्थों को भूमि के बदले क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान किया जावे। ग्राम्य सुधार समिति, 1948 ने भी सुझाव दिया था कि भूमि पर स्वामित्व कृषक का लेना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अपने वृतान्त में लिखा था कि भारत में भूमि सम्बन्धी पद्धति उचित नहीं होने से आर्थिक विकास नहीं हो रहा है।

11.3.2 भूमि सुधार कार्यक्रमों के उद्देश्य

भूमि सुधार कार्यक्रमों को गरीबी उन्मूलन, कृषि में आधुनिकीकरण तथा उत्पादकता में वृद्धि के क्षेत्र में प्रमुख तत्व माने जाते हैं। भूमि के पुनः वितरण विधि द्वारा गरीब भूमिहीनों को स्थायी सम्पदा प्राप्त होती है जिससे वे भूमि आधारित एवं अन्य सहायक उद्यम अपना सकते हैं और आय में वृद्धि कर सकते हैं। इसी प्रकार जोत चकबन्दी, भू-धारण पद्धति में सुधार भूमि अभिलेखों को सही बनाकर लघु एवं सीमान्त कृषक भी उन्नत सुधार कार्यक्रम अपनाकर अपने भूमि के क्षेत्र से कृषि उत्पादकता एवं उत्पादन की मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं।

आजादी के बाद भूमि सुधारों को ग्रामीण विकास का महत्वपूर्ण अंग माना है। इन्हें पुराने सामंतवादी सामाजिक आर्थिक ढांचे को तोड़ने का माध्यम समझा एवं यह भी अपेक्षा की गई कि इनसे कृषि उत्पादकता बढ़ेगी। गरीब कृषकों एवं कृषि मजदूरों के लिए आर्थिक विकास की मुख्य धारा से जुड़ने का मार्ग भी भूमि सुधारों को समझा गया।

भू-स्वामित्व चाहे कितने ही छोटी जोत का क्यों न हो, अपने साथ मनोवैज्ञानिक और सामाजिक मूल्य लिए हुए होता है। यह सामाजिक मूल्य केवल गरीब वर्गों का स्तर ही नहीं बढ़ाता बल्कि सामाजिक जीवन के अस्तित्व का आभास भी कराता है। इसलिए भूमि सुधार कार्यक्रमों को आर्थिक विकास का माध्यम और सामाजिक उत्थान का आधार भी माना गया है।

भूमि सुधार कार्यक्रमों के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित हैं :

1. सीमित भूमि उत्पादन-साधन का अनुकूलतम उपयोग करना

देश में भूमि सीमित मात्रा में है तथा सीमित भूमि से अधिकतम मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए इस साधन का अनुकूलतम उपयोग करना आवश्यक है। अतः आवश्यक है कि जोत की उच्चतम सीमा का निर्धारण होवे, जोत एक खण्ड में हो अथवा जोत के विभिन्न खण्ड पास पास होवे। ऐसा होने से कृषक अपने पास उपलब्ध अन्य सीमित साधन जैसे श्रम एवं पूँजी का पूर्ण उपयोग कर सकेंगे और प्रत्येक उत्पादन-साधन से उत्पादन की अधिकतम सीमान्त मात्रा प्राप्त कर सकेंगे। अतः कृषकों के पास उपलब्ध सीमित साधनों से अधिकतम मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रमों का अपनाना आवश्यक है।

2. सीमित भूमि साधन से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के इच्छुक होना

भूमि सुधार कार्यक्रमों का दूसरा प्रमुख उद्देश्य कृषकों को भूमि से अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के इच्छुक होना है। यह तब ही संभव है जब कृषकों को भूमि पर स्थायी स्वामित्व अधिकार प्राप्त होवे, भूमि का लगान अधिक राशि में नहीं होवे तथा पट्टे पर प्राप्त भूमि की शर्तें कृषकों के लिए लाभकारी होवें। यह कार्यक्रम कृषकों को भूमि के क्षेत्र पर स्थायी सुधार करने की प्रेरणा प्रदान करता है, जिससे कृषक भूमि पर अधिक राशि में पूँजी निवेश करते हैं।

3 कृषि में तकनीकी ज्ञान के विस्तार एवं उत्पादन वृद्धि में आने वाली बाधाओं को दूर करना

संक्षिप्त में भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य सरकार एवं कृषकों के मध्य में पाये जाने वाले मध्यस्थों को समाप्त करके उन कृषकों को भूमि पर स्वामित्व प्रदान करना है जो भूमि को स्वयं कृषित करते हैं।

11.3.3 भूमि सुधार कार्यक्रम

प्रमुख भूमि सुधार कार्यक्रमों को उनके उद्देश्यों के अनुसार निम्न वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(1) मध्यस्थों की समाप्ति (Abolition of Intermediaries)

भूमि सुधार के लिए किए गये प्रयासों में प्रथम कार्यक्रम मध्यस्थों की समाप्ति करने तथा भूमि का स्वामित्व जोतने वाले कृषक को प्रदान करने (Land to the tiller) का है। इसका मुख्य उद्देश्य सरकार एवं कषकों के मध्य पाए जाने वाले मध्यस्थों को समाप्त करके कृषकों को सरकार से सीधे सम्पर्क में लाने से है।

मध्यस्थ भूमि के सर्वोच्च स्वामी (सरकार) एवं भूमि पर कृषि करने वाले काश्तकारों के मध्य कार्य करने वाला वर्ग होता है यह वर्ग सरकार से नियत शर्तों पर भूमि प्राप्त करते हैं। कुछ मध्यस्थों को उनके द्वारा सरकार को प्रदान की गई सेवाओं के लिए भूमि प्राप्त होती है। मध्यस्थ भूमि के अस्थायी भू-स्वामी होते हैं। मध्यस्थ सरकार को राजस्व की नियत राशि जमा कराते हैं और भूमि को कृषकों को कृषित करने के लिए देकर उनसे लगान के रूप में काफी राशि प्राप्त करते हैं। प्राप्त लाभ से आरामप्रद एवं ऐश का जीवनयापन करते हैं। मध्यस्थ कृषकों से लगान की राशि के अतिरिक्त अन्य लागतें भी वसूल करते हैं तथा उनसे बेगार भी लेते हैं। इस प्रकार मध्यस्थ कृषकों का शोषण करते हैं।

भारत में भू धारण प्रणाली :- सरकार तथा भू-स्वामी के आपसी सम्बन्धों के आधार पर भारत में भू-धारण प्रणाली निम्न तीन प्रकार की थी –

(i) **रैयतवारी** – इसके अंतर्गत भूमि का सर्वोच्च स्वामित्व सरकार के हाथ में होता था, किंतु रैयत या भूमि के स्वामी का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध होता था। नियमित रूप से भू-राजस्व जमा करने पर भू-स्वामी को भूमि को कृषित करने, हस्तांतरित करने, बेचने अथवा बन्धक रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। भू-स्वामी कृषकों को भूमि जोतने के लिए दूसरे कृषकों को लगान पर देने अर्थात् उपपट्टेदारी (Sub leasing) पर देने की स्वतंत्रता होती है लेकिन उन्हें भूमि के कानूनन स्थायी अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। भू-स्वामी द्वार भू-राजस्व सरकार को समय पर नहीं जमा कराने की स्थिति में सरकार उस भूमि से अन्य कृषक को उचित अधिकार के साथ दे सकती थी। इस प्रकार इस विधि में कृषकों की भूमि पर मौरूसी अधिकार (Occupancy rights) ही प्राप्त थे न कि भूमि के स्थायी अधिकार प्राप्त थे।

(ii) **महलवारी** – इस पद्धति में गांव की समस्त भूमि पर गांव के किसानों का संयुक्त अधिकार होता था, और समस्त भूमि को एक इकाई मानकर लगान निर्धारित किया जाता था। प्रत्येक इकाई को महाल कहते थे। भूमि का स्वामित्व किसी एक व्यक्ति के पास न होकर पूरे ग्राम समूह के पास होते थे। भूमि का राजस्व सरकार को जमा कराने को दायित्व ग्राम के सभी कृषकों का सामूहिक रूप से होता था। प्रत्येक कृषक भूमि पर निजी रूप से खेती कर सकता था। साथ ही कृषकों को भूमि पर पैतृक अधिकार प्राप्त थे। इस प्रथा में लगान की वसूली के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न नियम प्रचलित थे।

(iii) **जमींदारी एवं जागीरदारी** – इस पद्धति में भूमि का प्रबन्ध बड़े राजा-महाराजाओं एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता था। इन्हें भूमि के प्रबंध के अधिकार सरकारी सेवा के बदले दिए जाते थे। ये जागीरदार भूमि के सर्वोच्च स्वामी नहीं होते थे। बल्कि प्रशासन का कार्य करते थे एवं कृषकों से लगान वसूल करते थे। देश में जागीरदारी एवं जमींदारी प्रथा का प्रचलन ब्रिटिश सरकार के काल में हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने देश में कृषकों की भू-राजस्व राशि के

निर्धारित, वसूली एवं इसके संशोधन में होने वाली कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए इस प्रथा को चुना था। कुछ राज्यों में जागीरदारी एवं जमींदारी प्रथा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भू-धारण प्रणालियां भी प्रचलित थी जैसे बिस्वेदारी प्रथा, मालगुजारी प्रथा, इनामदारी एवं माफीदारी प्रथा आदि।

उपर्युक्त सभी प्रकार की भू-पद्धतियों में कृषकों से भू-राजस्व उपज के एक भाग के रूप में अधिक मात्रा में वसूल किया जाता था, जिससे कृषकों के पास उपज की शेष मात्रा बहुत कम रह जाती थी। अतः वे कृषि के विकास के लिए अधिक पूँजी का कृषि क्षेत्र में निवेश नहीं कर पाते थे। साथ ही कृषकों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त नहीं होने के कारण तथा भूमि पर कृषि करने के समय की अनिश्चितता के कारण वे भूमि सुधार तथा कृषि विकास के लिए आवश्यक साधनों जैसे कुओं का निर्माण, सिंचाई के लिए पक्की नालियाँ बनाने, भूमि को समतल करने, खाद डालने आदि कार्यों पर पूँजी निवेश नहीं करते थे क्योंकि उन्हें भूमि से बेदखल किए जाने का भय बना रहता था। इन सब कारणों से कृषि उत्पादकता कम होती थी और कृषि विकास के नहीं होने से देश आर्थिक समृद्धि के क्षेत्र में अग्रसर नहीं हो पाता है। अतः स्वतंत्र भारत में भू-धृति प्रथाओं की समाप्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई।

मध्यस्थों की समाप्ति के लिए समय-समय पर सरकार पर दबाव पड़ा था, उसका प्रमुख कारण एक वर्ग विशेष के व्यक्तियों के पास भूमि के स्वामित्व का केन्द्रीकरण होने का विरोध था। मध्यस्थ वर्ग उत्पादन में वृद्धि करने में किसी प्रकार की भूमिका नहीं अदा करते हैं बल्कि भूमि पर पराश्रयी होते हैं। इस प्रथा के कारण वास्तव में भूमि को जोतने वाले कृषक भूमि के स्वामित्व अधिकार से वंचित होते हैं। अतः सामन्तवादी तथा अर्द्धसामन्तवादी प्रथा को समाप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप स्वतंत्रता के पश्चात् इन मध्यस्थों के उन्मूलन के लिए विभिन्न राज्य सरकारों ने कानून पारित किए।

मध्यस्थों की समाप्ति के लिए विभिन्न राज्यों में कानून 1950 से 1960 के दशक में पारित हुए। मध्यस्थों की समाप्ति के लिए सर्वप्रथम प्रयास उत्तर प्रदेश राज्य में किए गए तथा इसके बाद अन्य राज्यों में किए गए चूंकि भूमि सुधार क्रियान्वित करने का दायित्व राज्य सरकारों पर है, अतः विभिन्न राज्यों में पृथक कानून पारित किए गए। इन कानूनों के कारण प्रायः सभी राज्यों में मध्यस्थ समाप्त हो गए और देश के 20 मिलियन से अधिक कृषक अब सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गए हैं। तथा कृषकों को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होने लग गई हैं।

(2) भू-धारण पद्धति में सुधार (Tenancy Reforms)

भूमि सुधार कार्यक्रमों में दूसरा प्रमुख पहलू भू-धारण पद्धति में सुधार लाना है। भू-धारण के विभिन्न पहलुओं जैसे लगान राशि का निर्धारण, भूमि पर कृषि करने की अवधि की अनिश्चितता एवं भूमि के हस्तान्तरण आदि के लिए भी कानून बनाने की आवश्यकता महसूस की गई। जमींदार एवं जागीरदार वर्ग कृषकों से उत्पादित उपज की मात्रा का एक चौथाई से अधिक भाग लगान के रूप में वसूल करते थे, जिससे कृषकों के पास शेष राशि कृषि व्यवसाय में निवेश करने के लिए बहुत कम रहती थी। साथ ही जमींदार कृषकों को अपनी इच्छानुसार भूमि से बेदखल कर देते थे। जिससे कृषकों में भूमि पर कृषि करने के समय की अनिश्चितता बनी रहती थी। इस अनिश्चितता के वातावरण में कृषक भूमि पर स्थायी सुधार के उपायों के अपनाने में रुचि नहीं लेते थे। कृषकों द्वारा स्थायी सुधार कार्यों में पूँजी निवेश की गई राशि का लाभ अनेक बार भूमि से बेदखल की अवस्था में कृषकों को प्राप्त नहीं होता था। कृषक धन एवं अन्य प्रकार की आवश्यकता होने पर अपनी भूमि को अन्य व्यक्तियों एवं रिश्तेदारों को विक्रय

अथवा भेंट स्वरूप नहीं दे सकते थे। इस प्रकार उपरोक्त विषयों पर भी भू-धारण पद्धति में सुधार लाने की आवश्यकता स्वतंत्रता के उपरान्त महसूस की गई। भू-धारण सुधार कार्यक्रमों को प्रमुखतया निम्न तीन श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है, जिन्हें भू-धारण के तीन "एफ" भी कहते हैं :

1. भूमि का उचित लगान निर्धारण करना (Fixation of Fair Rent)
2. भू-धारकों के लिए भूमि पर स्वामित्व अधिकार नियत करना (Fixity of Tenure for Tenants)
3. भूमि पर प्राप्त स्वामित्व अधिकार को स्थानान्तरित करने का प्रावधान (Free Transferability of Land Rights)

उपरोक्त विषयों पर सुधार लाने हेतु विभिन्न राज्यों में वर्ष 1948 से 1955 की अवधि में कानून पारित किये गये। इनके फलस्वरूप सभी राज्यों में भूमि के लगान की राशि भूमि की किस्म के अनुसार प्रति हैक्टर भूमि पर नियत की जा चुकी है। कृषकों को अब भूमि का लगान प्राप्त उत्पादन की मात्रा के एक भाग के रूप में नहीं देना होता है बल्कि पूर्व निर्धारित एक नियत राशि ही देनी होती है। अधिक उत्पादन होने पर उसका सम्पूर्ण लाभ कृषक को ही प्राप्त होता है। इसके साथ ही सभी राज्यों के कृषकों को उनके द्वारा कृषित की जानेवाली भूमि पर स्थायी स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो गये हैं। कृषकों को अपने स्वामित्व की भूमि पर पट्टा एवं पासबुक प्राप्त हो गये हैं। साथ ही कृषक अब अपने स्वामित्व की भूमि को दूसरे काश्तकारों एवं व्यक्तियों को विक्रय कर सकते हैं या उपहार में दे सकते हैं। इस प्रकार भू-धारण सुधार कानूनों से कृषक वर्ग को लाभ प्राप्त हुआ है।

उपरोक्त कानूनों के बावजूद भी भू-धारण प्रथा में कुछ कमियाँ व्याप्त हैं। उदाहरण के लिए अनेक स्थानों पर कृषकों को भूमि मौखिक भू-धारण पद्धति से उपलब्ध कराई जाती है। भू-स्वामी कृषकों से लगान की अधिक राशि वसूल करते हैं। साथ ही विभिन्न राज्यों में भी भूमि के निर्धारित लगान की राशि में बहुत असमानता व्याप्त है।

(3) जोत की उच्चतम सीमा नियम करना (Imposition of Ceiling on Land Holdings)

देश में उपलब्ध भूमि का विभिन्न कृषकों में वितरण में बहुत असमानता व्याप्त है। वर्ष 1990-91 की कृषि जनगणना के अनुसार 58 प्रतिशत सीमान्त जोत कृषकों के पास कुल कृषित भूमि का मात्र 15 प्रतिशत क्षेत्र ही है। दूसरी ओर 1 प्रतिशत दीर्घ जोत कृषकों के पास 17 प्रतिशत भूमि का क्षेत्र है।

तालिका - 11.2 भारत में विभिन्न जोत श्रेणी के अंतर्गत क्षेत्रफल, 1990-91

जोत श्रेणी		जोत संख्या (प्रतिशत)	भूमि का क्षेत्र (प्रतिशत)
1. सीमान्त जोत	(एक हैक्टर से कम)	58	15
2. लघु जोत	(एक से चार हैक्टर)	33	41
3. मध्य जोत	(चार से दस हैक्टर)	7	27
4. दीर्घ जोत	(दस हैक्टर से अधिक)	1	17
	कुल	100	100

जोत का क्षेत्रफल कम एवं अधिक दोनों ही उत्पादन की दृष्टि से अहितकर होता है। जोत के अंतर्गत अधिक क्षेत्रफल होने तथा उत्पादन के अन्य साधन आवश्यक मात्रा में नहीं होने की अवस्था में कृषकों को भूमि का कुछ क्षेत्रफल अकृषित छोड़ना होता है। साथ ही क्षेत्रफल की अधिकता की अवस्था में दक्ष प्रबन्ध के अभाव में भूमि के प्रति इकाई क्षेत्रफल से उत्पादन कम प्राप्त होता है। जोत के अंतर्गत क्षेत्रफल के कम होने पर सिंचाई के साधन एवं अन्य स्थायी सुधारों में पूंजी का निवेश करना लाभकर नहीं होता है। ऐसी स्थिति में भी भूमि के प्रति इकाई क्षेत्रफल से उत्पादन कम प्राप्त होता है। अतः जोत की अनुकूलतम सीमा का निर्धारण करना आवश्यक है।

जोत की उच्चतम सीमा (भू-सीमा) से तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा परिवार के लिए भूमि के नियत क्षेत्र के स्वामित्व प्राप्त होने के उपरान्त अधिक भूमि रखने पर कानूनी नियंत्रण से है। भू-सीमा एक कृषक परिवार के लिए भूमि का अधिकतम क्षेत्र नियत करती है। जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित करने का उद्देश्य अनुकूलतम जोत के क्षेत्र वाले फार्मों का निर्माण करना है, जिससे प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादन अधिक प्राप्त होवे, उत्पादन लागत कम आवे एवं शुद्ध लाभ की राशि अधिक प्राप्त होवे।

भू-सीमा भूमि के पुनः वितरण का एक तरीका है। एक कृषक के पास निर्धारित सीमा से अधिक भूमि का क्षेत्र होने पर, अतिरिक्त भूमि उस कृषक से लेकर लघु एवं सीमान्त कृषकों तथा कृषि श्रमिकों में निर्धारित प्राथमिकता के आधार पर वितरित की जाती है, जिससे इस वर्ग के कृषकों की जोत को आर्थिक जोत बनाया जा सके तथा देश में भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में कमी हो सके। इस प्रकार इस भूमि सुधार कार्यक्रम द्वारा देश में कृषि जोतों के अंतर्गत व्याप्त क्षेत्रफल असमानता को कम करने का प्रयास किया जाता है।

भू-सीमा निर्धारण के लाभ

(1) भू-सीमा निर्धारण से देश में विभिन्न व्यक्तियों के पास उपलब्ध भूमि के स्वामित्व में व्याप्त असमानता समाप्त हो जाती है। एक कल्याणकारी राज्य में यह सामाजिक असमानता सर्वथा अनुपयुक्त है। इसके होने से राष्ट्र समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य के लिए अग्रसर होता है।

(2) भू-सीमा के निर्धारण से प्राप्त अतिरिक्त भूमि के क्षेत्रफल को लघु एव सीमान्त जोत कृषकों में वितरित करके उनकी जोत को आर्थिक बनाया जा सकता है। इसी प्रकार अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन श्रमिकों में वितरित करके उनकी संख्या में कमी की जा सकती है। इससे इस वर्ग के कृषकों एवं कृषि श्रमिकों में आत्म विश्वास बढ़ेगा एवं उनकी समाज में प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी।

(3) भू-सीमा के निर्धारण से दीर्घ जोत कृषकों के यहां साधारणतया उत्पादन साधनों के अभाव में कुछ क्षेत्रफल अकृषित रह जाता था, वह अघन नहीं रह पाता है। इससे देश में कृषित क्षेत्रफल एवं सघन कृषि अपनाने से कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है।

(4) भू-सीमा में निर्धारण के बाद कृषक अपनी सीमित भूमि के क्षेत्रफल पर सघन कृषि पद्धति अपनाकर आर्थिक उत्पादन एवं लाभ प्राप्त कर पाते हैं।

(5) भू-सीमा में क्रियान्वयन से समाज में दीर्घ जोत एवं लघु जोत कृषकों में व्याप्त वैमनस्यता समाप्त हो जाती है।

सीमा का निर्धारण

भू-सीमा निर्धारण का मुख्य आधार भूमि का वह क्षेत्रफल है जिससे प्राप्त आय से कृषक परिवार उचित जीवन स्तर एवं आवश्यक सुख-सुविधा प्राप्त कर सके। अतः भू-सीमा निर्धारित का स्तर एक समान नहीं होकर पृथक पृथक होता है। भूमि की विभिन्न किस्मों के लिए जोत की उच्चतम सीमा इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि सभी प्रकार की भूमि की उच्चतम सीमा करने क्षेत्रों से कृषकों को लगभग समान आय प्राप्त हो सके। समान आय का यह उद्देश्य विभिन्न प्रकार की भूमि के लिए भू-सीमा के लिए भू-सीमा हेतु जोत का समतुल्य क्षेत्र ज्ञात करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। भू-सीमा के लिए क्षेत्रफल निर्धारित करते समय निम्न कारकों को दृष्टिगत रखा जाता है :

(I) भूमि की उर्वरा शक्ति।

(II) भूमि पर उपलब्ध सिंचाई सुविधा।

(III) भूमि पर उत्पन्न की जा सकने वाली फसलें।

(IV) विभिन्न फसलों से प्रति हैक्टर प्राप्त संभावित लाभ।

(V) क्षेत्र में मौसम की प्रतिकूलता होने की संभावना का प्रतिफल।

(VI) क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व।

वर्ष 1950 से 1960 के दशक में विभिन्न राज्यों ने जोत की उच्चतम सीमा निर्धारण (Ceiling on land holdings) कानून पारित किये। इन पारित कानूनों के द्वारा विभिन्न प्रकार की भूमि पर जोत की उच्चतम सीमा का क्षेत्रफल निर्धारित किया गया। कानून के क्रियान्वयन के फलस्वरूप प्राप्त अधिशेष भूमि को लघु एवं सीमान्त कृषकों में वितरित की गई। इस प्रकार इससे लघु एवं सीमान्त जोतों के क्षेत्रफल में भी वृद्धि हुई। वर्ष 1972 में राष्ट्रीय नीति के अनुसार सभी राज्यों में जोत की उच्चतम सीमा कानून में पुनः संशोधन कररके जोत की उच्चतम सीमा पूर्व की अपेक्षा कम की गई एवं अनेक प्रकार की दी गई रियायतें वापिस ले ली गई, जिससे निर्धारित भूमि प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त हो सके।

जोत की उच्चतम सीमा कानूनों के क्रियान्वयन से प्राप्त परिणामों के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनकी प्रगति संतोषजनक नहीं है। अनुमानित क्षेत्र से बहुत कम क्षेत्रफल भूमि का अधिशेष घोषित हो पाया और घोषित अधिशेष क्षेत्रफल का मात्र एक भाग ही लघु एवं सीमान्त कृषकों में वितरण हेतु उपलब्ध हो पाया। अधिकांश भूमि का क्षेत्रफल कानून में कमियों एवं कृषकों की चतुराई से उच्चतम सीमा क्षेत्र में नही आ पाया। घोषित अधिशेष क्षेत्रफल भी न्यायालय से फैसला नहीं होने से वितरित नहीं हो सका, जो सारणी 11.3 में स्पष्ट है।

तालिका -11.3 जोत की उच्चतम सीमा कानून से प्राप्त अधिशेष भूमि का क्षेत्र

(मिलियन हैक्टर)

विवरण	भूमि का क्षेत्र
राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 16वें दौर (1960-61) के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	8.87
राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 26वें दौर (1971-72 के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	4.80

कृषि जनगणना 1970-71 के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	12.10
कृषि जनगणना 1977 के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	8.88
वर्ष 1986 तक वास्तविक अधिघोषित अधिशेष भूमि का क्षेत्रफल	2.94
प्राप्त अधिशेष भूमि में से वर्ष 1986 तक वितरित भूमि का क्षेत्रफल	1.82

इस प्रकार देश में जोत की उच्चतम सीमा कानूनों के होने के फलस्वरूप भी अब तक कुल कृषित भूमि का 2 प्रतिशत से भी कम भूमि का क्षेत्र अधिशेष घोषित हो पाया है। एक अधिकृत अनुमान के अनुसार लगभग 9 प्रतिशत भूमि सीमा निर्धारण के बाद भू-आधिक्य के रूप में उपलब्ध होनी चाहिए थी। अतः इस क्षेत्र में हुई प्रगति नगण्य है। जोत उच्चतम सीमा की असंतोषजनक प्रगति के मुख्य कारण कानून में उन धाराओं का होना है जिनका लाभ लेकर अधिकतम जोत सीमा का उल्लंघन हो रहा है, ये हैं

(I) परिवार में 5 सदस्यों से अधिक होने पर सीमा से दुगुनी भूमि रखने का प्रावधान।

(II) प्रत्येक बालिग पुत्र के लिए अलग से सीमा निर्धारण।

(III) संयुक्त परिवार के प्रत्येक शेयर होल्डर को सीमा निर्धारण के लिए अलग इकाई मानना।

(IV) बेनामी हस्तान्तरण

(V) चाय, काफी, कोको, रबर, इलायची के बागानों को सीमा से छूट।

(VI) धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाओं द्वारा सीमा से अधिक भूमि रखने की स्वीकृति तथा

(VII) सार्वजनिक निवेश द्वारा नई सिंचित भूमि पर सीमा छूट का होना

इन प्रावधानों के दुरूपयोग ने अधिकतम जोत सीमा निर्धारण कानूनों के उद्देश्यों को विफल कर दिया है।

(4) कृषि भूमि का पुनर्गठन (Agrarian Reorganization)/एवं जोत चकबंदी

भूमि सुधार के इस कार्यक्रम में जोत उपविभाजन एवं अपखण्डन की रोकथाम करना तथा जोतों का चकबंदी करना सम्मिलित होता है। देश में प्रचलित वंशागति कानून, लघु इकाई परिवारों की बढ़ती प्रबल इच्छा तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के कृषि अतिरिक्त अन्य साधन उपलब्ध नहीं होने के कारण कृषकों के पास उपलब्ध भूमि का निरन्तर अपखडन होता जा रहा है। जिससे जोत छोटी ही नहीं होती जा रही है बल्कि जोत के खण्ड एक दूसरे से काफी दूर भी होते जाते हैं। इसके कारण कृषक अपने पास उपलब्ध उत्पादन-साधनों का पूर्ण एवं दक्षता से उपयोग नहीं कर पाते हैं। उदाहरणतः उपलब्ध सिंचाई सुविधा का एक खण्ड पर पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है जबकि दूसरे खण्ड पर सिंचाई साधन का पूर्ण अभाव होता है। सभी जोत खंडों पर पूर्ण दक्षता से देखभाल करना भी संभव नहीं हो पाता है। श्रमिक तथा बैल शक्ति का भूमि के एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक जाने मे काफी समय का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार प्रति इकाई भूमि क्षेत्र से उत्पादन कम प्राप्त होता है। और प्रति इकाई भार पर उत्पादन लागत अधिक जाती है। इस प्रकार की प्रथा की समाप्ति के लिए भूमि सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत जोत चकबंदी प्रथा शुरू की गई।

जोत चकबंदी के तात्पर्य

बिखरे हुए भू-खण्डों को एकत्र करना चकबंदी कहलाता है। जोत चकबंदी में कृषकों के

खेतों का एकीकरण एवं पुनः विभाजन करना होता है, जिससे जोत के खण्डों की संख्या कम हो जावे। जोत चकबंदी में विभिन्न कृषकों को उनके जोत के अनेक खण्डों के स्थान पर समान मात्रा मे कुल भूमि का क्षेत्रफल एक ही स्थान पर देने का प्रयास किया जाता है।

जोत चंकबंदी से निम्न लाभ प्राप्त होते हैं :

(I) जोत-चकबंदी, कृषकों की सिंचाई की समस्या सुलझाने में सहायक होती है। चकबंदी करने से कृषक खेत पर कुआं बनाकर पूरे फार्म पर सिंचाई की व्यवस्था कर सकते हैं।

(II) जोत चकबंदी से जोत का एक स्थान पर क्षेत्रफल में वृद्धि होवे तो उन्नत कृषि यंत्रों का उपयोग सुगम एवं लाभकर होता है।

(III) जोत चकबंदी करने से कृषक फार्म पर उत्तम फसल चक्र अपना सकते हैं।

(IV) जोत चकबंदी में छोटे छोटे खण्डों की मेडों को तोड़ने से फार्म पर भूमि के क्षेत्र में वृद्धि होती है।

(V) जोत चकबंदी करने से खेत पर चौकीदारी करने में आसानी रहती है।

(VI) जोत चकबंदी से श्रमिकों एवं बैलों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(VII) जोत चकबंदी से कार्य पर व्यावहारिक दक्षता में वृद्धि होती है।

जोत चकबंदी के लिए सर्वप्रथम प्रयास वर्ष 1905 में स्वेच्छा के आधार पर देश के मध्यवर्ती प्रदेशों में शुरू हुई। लेकिन जोत चकबंदी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी, क्योंकि इसका आधार स्वेच्छिक था। स्वतंत्रता के उपरान्त देश में स्वेच्छा से चकबंदी के स्थान पर अनिवार्य चकबंदी पद्धति अपनाई गई। फलस्वरूप देश के सभी राज्यों (तमिलनाडु एवं केरल के अतिरिक्त) में जोत चकबंदी के लिए 1947 से 1962 के काल में कानून पारित किए गए। इन कानूनों के पारित होने के पश्चात चकबंदी के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई।

जोत चकबंदी के क्षेत्र में हुई असन्तोषजनक प्रगति के प्रमुख कारणों में निम्न प्रमुख हैं :

(I) कृषकों का पैतृक भूमि से लगाव होने से भूमि को दूसरे कृषकों से विनिमय करने की अनिच्छा होना।

(II) समान उर्वरता वाली भूमि का क्षेत्रफल उपलब्ध नहीं होना।

(III) जोत चकबंदी के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव होना।

(IV) भूमि के स्वामित्व के सभी अभिलेख उपलब्ध नहीं होना एवं

(V) जमीदारों, कृषकों एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा चकबंदी का विरोध करना एवं उनके द्वारा झूठे दावे प्रस्तुत करके कार्य की गति में रूकावट प्रदान करना।

चकबंदी की प्रगति में विभिन्न राज्यों में बहुत असमानता है। पंजाब एवं हरियाणा राज्यों में चकबंदी का कार्य पूर्ण हो चुका है, जबकि अनेक राज्यों में प्रगति का स्तर बहुत कम है। देश में पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-80) तक 44.326 मिलियन हैक्टर क्षेत्र (कुल भूमि का 25 प्रतिशत) एवं छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के अंत तक 51.8 मिलियन हैक्टर भूमि की चकबंदी की जा चुकी है जो कुल कृषित क्षेत्रफल का 33 प्रतिशत है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में अतिरिक्त 25 प्रतिशत भूमि के क्षेत्र पर चकबंदी करने का लक्ष्य रखा गया है। इन

आंकड़ों से स्पष्ट है कि चकबंदी के क्षेत्र में हुई प्रगति आशानुकूल नहीं रही है। अनेक क्षेत्रों में चकबंदी करने के पश्चात् भूमि का पुनः अपखण्डन हो गया है। अतः चकबंदी करने के साथ-साथ भविष्य में जोतों के होने वाले अपखण्डों को रोकना भी आवश्यक है।

(5) सहकारी कृषि का गठन (Organization of Cooperative Farming)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के अंतर्गत सहकारी कृषि का गठन भी प्रमुख है। इसके अंतर्गत लघु जोत कृषक सहकारी समिति बनाकर उपलब्ध उत्पादन साधनों को सम्मिलित रूप में उपयोग करके कृषि करते हैं। इसके होने से प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा पर उत्पादन-लागत कम आती है। कृषक ट्रैक्टर द्वारा भूमि की जुताई एवं सिंचाई के लिए सम्मिलित रूप से कुआ बनाकर तथा आवश्यक मात्रा में बीज एवं खाद सम्मिलित रूप से क्रय करकें उत्पादन लागत में कमी लाते हैं।

11.3.4 भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन से प्राप्त लाभ

भूमि सुधार कानूनों के विभिन्न पहलुओं के क्रियान्वयन से कृषक वर्ग एवं देश के कृषि विकास हेतु निम्न लाभ प्राप्त हुए हैं :—

(1) सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति से देश में भू-धारण की जो शोषणयुक्त प्रणाली विद्यमान थी, वह समाप्त हो गई है। कृषकों को भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त हो गये हैं। भूमि के स्वामित्व अथवा कृषि करने संबंधी व्याप्त अनिश्चितता समाप्त हो गई है। कृषक भूमि पर स्थायी सुधार हेतु पूँजी का निवेश कर रहे हैं जिससे भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हुई है।

(2) भूमि सुधारों के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादों की उत्पादन लागत में कमी हुई है। प्रति इकाई क्षेत्र से कृषक को अब पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन की मात्रा प्राप्त होती है तथा प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन मात्रा लगान के रूप में कृषक द्वारा सरकार को नहीं देना होता है। अतिरिक्त उत्पादन मात्रा से कृषक स्वयं ही लाभान्वित होता है।

(3) भूमि सुधारों के फलस्वरूप देश में कृषित क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। यह वृद्धि चारागाह क्षेत्र में कमी होने तथा परत भूमि एवं अकृष्य भूमि के क्षेत्र में कमी होने से हुई है। वर्ष 1951 से 1961 के दशक में देश में परत भूमि के क्षेत्र में 8 प्रतिशत तथा 1961 से 1971 के दशक में 23 प्रतिशत कमी आई है। कृषक अब उपलब्ध पूर्ण क्षेत्र पर कृषि करते हैं जबकि पूर्व में भूमि की अधिकता के कारण वे काफी क्षेत्र परत रखते थे।

11.3.5 भूमि सुधार कार्यक्रमों की असंतोषजनक प्रगति के कारण

भूमि सुधार कार्यक्रम कृषकों के लिए लाभकर होते हुए भी विभिन्न क्षेत्रों में इनकी प्रगति संतोषजनक नहीं है। प्रारंभ में भूमि सुधार कार्यक्रम विशेष जोश के साथ देश में शुरू किये गये, लेकिन समय के साथ अनेक कारणवश इनके क्रियान्वयन के जोश में निरन्तर कमी होती गई। वर्तमान में भूमि सुधार कार्यक्रमों को मात्र औपचारिक के रूप में अनुपालना की जा रही है। इसके प्रमुख कारण निम्नांकित हैं :

(1) भूमि सुधार कार्यक्रमों के विभिन्न पहलुओं के लिए पारित कानूनों में अनेक कमियों (Loopholes) का होना, जिसके कारण प्रभावित जमींदार, जागीरदार एवं दीर्घ जोत कृषक न्यायलय में जाकर उनके क्रियान्वयन पर स्थगन आदेश ले आते हैं। इससे क्रियान्वयन के क्षेत्र में स्थिरता आ जाती है और इसी अवधि में वे अन्य उपायों को अपनाकर कानून के चंगुल से बच निकलते हैं।

(2) भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू करने में सरकार की पूर्ण रूप से राजनैतिक अनिच्छा का होना।

(3) कृषक एवं कृषि श्रमिक वर्ग का भूमि सुधार कानूनों के प्रति जागरूक नहीं होना तथा इनके क्रियान्वयन के लिए सरकार पर दबाव नहीं डालना।

(4) राजकीय अधिकारियों का भूमि सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वयन करने के प्रति नरम रुख (Luck Warm or apathetic attitude) का होना। अनेक अधिकारी सामन्त या बड़े जमींदार वर्ग से होते हैं अतः इनके क्रियान्वयन से वे स्वयं अथवा उनके रिश्तेदार अथवा वर्ग विशेष के प्रभावित होने के भय से दिलचस्पी नहीं लेते हैं।

(5) भूमि के अधिकारों का सही अभिलेख उपलब्ध नहीं होना जिससे क्रियान्वयन में परेशानी आना। अनेक स्थानों पर अभिलेखों में भूमि एक व्यक्ति के नाम होती है लेकिन वास्तव में वह भूमि उस व्यक्ति के पास नहीं होकर दूसरे व्यक्ति के पास होती है।

(6) भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन में कानूनन अड़चनों का होना।

(7) सरकार द्वारा भूमि सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वयन में विकास के अन्य कार्यों के समान प्राथमिकता नहीं देना। भूमि सुधार कार्यक्रमों को पृथक रूप से एकल कार्यक्रम के रूप में लेना भी इसके क्रियान्वयन की गति को धीमी करते हैं।

(8) विभिन्न भूमि सुधार कानूनों को सरकार द्वारा अलग-अलग समय पर बनाने से उनमें आपस में सामन्जस्य नहीं होना, कानून पारित करने एवं क्रियान्वयन में समयान्तर का होना, भूमि सुधार कानून विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा एक रूपता में पारित नहीं करना भी इनकी प्रगति में बाधक है।

बोध प्रश्न

1. कृषि भूमि सम्बन्ध से क्या अभिप्राय है? विभिन्न प्रकार के कृषि भूमि सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
2. भूमि सुधार से क्या तात्पर्य है। भूमि सुधार कार्यक्रमों के उद्देश्य लिखिए।
3. भूमि सुधार के विभिन्न कार्यक्रमों की विवेचना कीजिए।
4. भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से कृषि भूमि सम्बन्धों में हुए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

11.4 सारांश

भूमि कृषि उत्पादन का प्रमुख साधन है। मनुष्य एवं भूमि में प्रबल सम्बन्ध विद्यमान है। कृषि भूमि सम्बन्ध, भू-स्वामी एवं काश्तकारों के आपसी सम्बन्धों का प्रतीक होते हैं।

कृषि भूमि सम्बन्ध पूर्ण सामन्तवादी, पूर्ण पूँजीवादी अर्द्धसामन्तवादी होते हैं। भूमि पर कृषि करने एवं स्वामित्व अधिकार के अनुसार कृषकों को दो श्रेणी में विभक्त किया जाता है भू-स्वामी कृषक एवं आसामी कृषक।

कृषि भूमि सम्बन्धों में निरन्तर परिवर्तन हुए हैं जिसके कारण देश में लघु एवं सीमान्त कृषकों की संख्या एवं उनके पास उपलब्ध भूमि के क्षेत्र में वृद्धि, भूमिहीन परिवारों की प्रतिशतता में कमी, जोत के औसत आकार में कमी, आसामी कृषकों की संख्या एवं उनके द्वारा कृषित क्षेत्र में कमी एवं मध्यस्थों की समाप्ति प्रमुख हैं।

भूमि सुधार कार्यक्रमों के प्रमुख अवयव मध्यस्थों की समाप्ति, भू-धारण पद्धति में सुधार, जोत की उच्चतम सीमा नियत करना, कृषि भूमि का पुर्नगठन, एवं सहकारी कृषि का अपनाना है।

11.5 शब्दावली

काश्तकारी प्रथा – लगान पर भूमि लेने या देने की प्रथा को काश्तकारी प्रथा कहते हैं।

कृषि भूमि सम्बन्ध सुधार (Agrarian Reforms) – कृषि भूमि सम्बन्ध सुधार में भूमि सुधार, काश्तकारी सुधार, कृषकों को कृषि निविष्टों एवं कृषि ऋण की पूर्ति करने, कृषि के लिए तकनीकी सलाह प्रदान करना एवं वह सभी बातें सम्मिलित होती है। जिसका कृषि विकास से सीधा सम्बन्ध होता है। अतः यह शब्द बहुत ही विस्तृत शब्द है।

भू-घृति (Land Tenure) – भू-घृति से तात्पर्य भूमि को पट्टे पर देने की शर्तों एवं अन्य परिस्थितियों के ज्ञान से हैं। भू-घृतियों में कृषि करने हेतु ली गई भूमि के अधिकार, स्वामित्व, राजस्व भुगतान आदि ज्ञान सम्मिलित होता है।

भू-धारक प्रणाली (Tenancy System) – भू-धारण प्रणाली से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसके अंतर्गत भूमि का स्वामित्व तथा भूमि के प्रति अधिकार एवं दायित्व निर्धारित होते हैं। भू-धारण प्रणाली से इस बात की जानकारी प्राप्त होती है कि भूमि का स्वामी कौन है और कृषक का भू-स्वामी से क्या सम्बन्ध होता है।

जोत की उच्चतम सीमा (Ceiling on holding) – जोत की उच्चतम सीमा से तात्पर्य किसी अधिनियम द्वारा एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि के धारण अथवा स्वामित्व पर रोक लगाना है।

जोत चकबंदी (Consolidation of holding) – भूमि विखंडन की समस्या जोतों की चकबंदी से हल की जा सकती है। इसके अन्तर्गत किसान की बिखरी हई जोतों को एक स्थान या चक में इकट्ठा करने का प्रबंध किया जाता है एवं किसानों को एक स्थान पर उनके बिखरे हुए टुकड़ों के कुल मूल्य के बराबर की इकट्ठी भूमि दी जाती है।

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

1. अग्रवाल, एन. एल., भारतीय कृषि अर्थतन्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्लाट नं. 1, झालाना सांस्थनिक क्षेत्र, जयपुर 302004, 1986, पृष्ठ 79-104.
2. Dantwala, M.L., Indian Agricultural Development Since Independence, a Collection of Essays; Oxford and IBH Publishing House, New Delhi, 1985 pp. 65-86.
3. Conference papers on changes in Agrarian Structure and Agrarian Relations in States of India Since Independence, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. XXXVI, No.4, October-December 1981, pp. 134-196.
4. Rapporteurs Report on Changes in Agrarian Structure and Agrarian Relations in States of India Since independence; Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. XXXVII, No. 1, January-March 1982, pp.. 29-33.

5. Report No. 15 of National Commission on Agriculture Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi 1976.

6. YOJANA – Fortnightly magazine, Govt. of India, New Delhi.

परिशिष्ट

इकाई-11

कृषि भूमि संबंध व भूमि सुधार

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में भूमि सुधार कार्यक्रम इस प्रकार थे।

1. जिन राज्यों ने काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा व लगान नियमन के कानून नहीं बनाए थे, उन्हें सातवीं योजना में इन कानूनों को बनाने के लिए कहा गया। अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के भूमि अधिकारों की रक्षा करने पर बल दिया गया ताकि उनसे भूमि छीनी न जा सके।
2. सीलिंग में घोषित भूमि व वितरित भूमि का अन्तर कम करने पर जोर दिया गया।
3. सीलिंग से ऊपर की अतिरिक्त भूमि जिन लोगों को मिली है, उन्हें वित्तीय सहायता देने पर जोर दिया गया। उनके लिए एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम व अन्य ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का भूमि सुधार से तालमेल बिठाया गया।
4. देश के पूर्वी भाग में चावल का उत्पादन बढ़ाने के लिए चकबंदी का काम पूरा करने पर जोर दिया गया।
5. सभी राज्यों में भूमि-रिकार्डों को नवीनतम बनाने पर पूरा ध्यान देने की आवश्यकता स्वीकार की गई। बिना मापी गई भूमि का वैज्ञानिक सर्वेक्षण कराने तथा काश्तकारों व बटाईदारों के अधिकारों के रिकार्ड बनाने पर ध्यान आकर्षित किया गया। इस कार्य में राज्य सरकारों को मदद देने, रेवेन्यू मशीनरी को सुदृढ़ करने तथा कर्मारियों को प्रशिक्षण देने और उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने पर बल दिया गया।
6. सीलिंग से ऊपर की भूमि प्राप्त करने वाले लोगों को वित्तीय सहायता देने पर जोर दिया गया ताकि वे उत्पादन बढ़ाने में सफल हो सकें।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में भूमि सुधार

आठवीं योजना में इस बात पर बल दिया गया कि वास्तविक कृषक अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हों और भूमि सुधारों से आवश्यक लाभ प्राप्त कर सकें। इस योजना में भूमि सुधार के निम्न उद्देश्य रखे गये:

(i) ग्रामीण सम्बन्धों को पुर्नगठित करके समताकारी समाज की रचना करना।

(ii) भूमि सम्बन्धों में शोषण समाप्त करना।

(iii) "भूमि उसको जोतने वाले की" का लक्ष्य प्राप्त करना।

(iv) ग्रामीण गरीब वर्ग के भूमि आधार को व्यापक करके उसकी आर्थिक सामाजिक दशा को सुधारना।

(v) कृषिगत उत्पादन व उत्पादकता में वृद्धि करना।

(vi) स्थानीय संस्थाओं में समानता का अधिक मात्रा में समावेश करना।

यह आशा की गई कि काश्तकारों व बटाईदारों के संगठन से छिपी हुई काश्तकारियों को पहचानने में मदद मिलेगी। सीलिंग से ऊपर 'सरप्लस भूमि' का पता लगाया जाना चाहिए।

कॉमन सम्पत्ति के साधनों पर पंचायतों का अधिकार स्थापित करने का प्रयास करना होगा ताकि उन पर व्यक्ति अपना अधिकार जमाने की कोशिश न करें। गरीबों को उनसे अपनी आमदनी बढ़ाने का अवसर मिलना चाहिए।

राज्यों को भूमि सुधारों में प्राप्त सफलता के सूचकांक के आधार पर केन्द्रीय सहायता के वितरण करने पर जोर दिया गया।

आशा की गई कि आठवीं योजना में व आगामी वर्षों में काश्तकारी सुधारों, सीलिंग कानूनों को लागू करने, चकबन्दी, भूमि रिकार्ड ठीक करने व गाँव के गरीबों के लिए कामन प्रोपर्टी के लाभ सुरक्षित करने पर जोर देने से भूमि सुधार कार्यक्रम का महत्व बढ़ेगा।

इकाई 12

कृषि निविष्ट / कृषि आगत
(Agricultural Inputs)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 कृषि निविष्ट (आगत)

- 12.2.1 कृषि निविष्टों की महत्ता
- 12.2.2 उन्नत बीज
- 12.2.3 उर्वरक
- 12.2.4 सिंचाई सुविधा
- 12.2.5 पौध संरक्षण उपाय
- 12.2.6 विद्युतिकरण एवं डीजल तेल
- 12.2.7 उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनों का उपयोग
- 12.2.8 कृषि ऋण

12.3 सारांश

12.4 शब्दावली

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

12.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास विषय के इस तृतीय खण्ड में कृषि से सम्बन्धित कुछ आधारभूत संकल्पनाओं जैसे कृषि भूमि सम्बन्ध, भूमि सुधार कार्यक्रम, कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आवश्यक कृषि निविष्टों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है। कृषि निविष्टों के अध्ययन के पश्चात आप निम्न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे :-

* कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आवश्यक कृषि निविष्ट कौन-कौन से हैं और प्रत्येक का कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने में क्या योगदान है?
* देश में कृषि निविष्टों के उत्पादन, माँग एवं पूर्ति की क्या स्थिति है?

12.1 प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के समय देश खाद्यान्न उत्पादन में प्रायः आत्मनिर्भरता के स्तर पर था। तत्पश्चात् देश की बढ़ती हुई जनसंख्या एवं असामयिक वर्षा, बाढ़ एवं सूखा की स्थिति ने देश में खाद्यान्नों की कमी की स्थिति उत्पन्न कर दी। फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि हेतु अनेक उपाय अपनाए गए। स्वतन्त्रता के पश्चात की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु कृषि

क्षेत्र का विस्तार किया गया। देश में कृषि क्षेत्र की सीमितता के कारण खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि का यह उपाय अर्थात् क्षेत्रफल में विस्तार करना कालान्तर में अपनाया जाना संभव नहीं है। अतः कृषि वैज्ञानिकों ने सघन कृषि उपाय अपनाने के सुझाव प्रेषित किए। विधि में सीमित भूमि के क्षेत्र द्वारा उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए आवश्यक कृषि निविष्टों का सन्तुलित स्तर तक उपयोग किया जाना सम्मिलित है। कृषि निविष्टों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिए इनके उत्पादन में वृद्धि करना एवं सन्तुलित मात्रा में सही विधि द्वारा उपयोग करना महत्वपूर्ण होता है। अतः कृषि निविष्टों के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता महसूस की गई।

12.2 कृषि निविष्ट / कृषि आगत (Agricultural Inputs)

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए निम्न दो प्रमुख विधियाँ हैं–

(1) **विस्तृत कृषि या कृषिगत क्षेत्र में विस्तार करके** (Extensive Cultivation)

इस विधि में भूमि के अधिक क्षेत्र में कृषि करके अर्थात् फसलों के अन्तर्गत कृषित क्षेत्रफल में वृद्धि करके अधिक कृषि उत्पादन प्राप्त किया जाता है। देश में स्वतंत्रता के उपरान्त की प्रथम दो पंचवर्षीय योजना काल में उत्पादन वृद्धि की यह विधि सर्वाधिक प्रयोगित की गई थी। इस विधि में उत्पादन के अन्य साधन जैसे पूँजी, श्रम, उर्वरक, आदि कम मात्रा में प्रयोग किये जाते हैं। देश में भूमि का क्षेत्र सीमित होने के कारण वर्तमान में यह विधि काम में लेना संभव नही है।

(2) **सघन कृषि या भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करके** (Intensive Cultivation)

इस विधि में उत्पादन निविष्टों को प्रति हैक्टर भूमि के क्षेत्र पर अधिकाधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है जिससे भूमि के प्रति हैक्टर क्षेत्र से अधिक कृषि उत्पादन की मात्रा प्राप्त की जाती है। तृतीय पंचवर्षीय योजना एवं उसके उपरान्त के वर्षों में कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए इस विधि को अधिक महत्व दिया गया है। अतः इस काल में नये कृषि निविष्टों का आविष्कार, उनके उपयोग की मात्रा में वृद्धि एवं उपयोग की विधि में भी सुधार हुआ है। देश में बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक मात्रा में खाद्यान्न उत्पादन करने के लिए सघन कृषि विधि ही सर्वोत्तम है। सघन कृषि इस विधि की सफलता के लिए कृषि निविष्टों का आविष्कार एवं उनके उत्पादन में वृद्धि तथा उनके उपयोग की सही विधि एवं मात्रा की जानकारी करना आवश्यक है।

इस खण्ड में विभिन्न कृषि निविष्टों के सम्बन्ध में जानकारी दी जा रही है। कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रमुख कृषि निविष्ट निम्नांकित है:

1. उन्नत बीज
2. उर्वरक
3. सिंचाई सुविधा
4. पौध संरक्षण उपाय
5. विद्युतिकरण एवं डीजल तेल
6. उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनों का उपयोग, एवं
7. कृषि ऋण

12.2.1 **कृषि निविष्टों की महत्ता :** विभिन्न कृषि निविष्टों को वैयक्तिक आधार पर उपयोग करके फार्म से उत्पादन में वृद्धि एवं अनुकूलतम लाभ का स्तर प्राप्त करना संभव नहीं है। उत्पादन में वृद्धि के लिए विभिन्न कृषि निविष्टों का संतुलित मात्रा में सम्मिलित रूप या पैकेज रूप में

उपयोग करना आवश्यक है। किसी एक निविष्ट के अधिक मात्रा में उपयोग करने तथा अन्य निविष्टों की कमी की अवस्था में, भूमि के एक इकाई क्षेत्र में फसल का अधिकतम उत्पादन या लाभ की राशि प्राप्त नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए उन्नत बीजों से अधिक मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए आवश्यक मात्रा में सिंचाई, उर्वरक एवं पौध संरक्षण उपाय भी अपनाना आवश्यक है। अनुसन्धानों के परिणामों से स्पष्ट है कि कृषि निविष्ट पैकेज के रूप में प्रयोग करने से ही अनुकूलतम लाभ प्रदान करते हैं तथा एक निविष्ट के अधिक मात्रा में प्रयोग करने एवं अन्य निविष्टों की कमी की अवस्था में अतिरिक्त लाभ प्राप्त होने के स्थान पर हानि भी हो सकती है। फार्म पर उर्वरकों के उपयोग से लाभ प्राप्त करना तभी संभव है जब फार्म पर सिंचाई के जल की उचित व्यवस्था है। सिंचाई के जल के अभाव में फार्म पर उर्वरकों एवं उन्नत बीजों का उपयोग लाभकर नहीं होता है।

12.2.2 **उन्नत बीज :** सघन कृषि विधि द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रथम आवश्यक कृषि निविष्ट उन्नत बीजों का प्रयोग करना है। उन्नत बीज कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए वर्तमान में प्रमुख स्थान रखते हैं। पूर्व में कृषक अपने फार्म या पड़ौसी कृषक के फार्म पर उत्पादित किये हुए बीज ही प्रयोग करते थे, जिससे फार्म पर उत्पादन का स्तर कम प्राप्त होता था। खाद्यान्नों की बढ़ती हुई आवश्यकता तथा वर्ष 1965-66 व 1966-67 के सूखे ने देश में कृषि क्षेत्र में क्रान्ति लाने के लिए वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित किया। फलस्वरूप अधिक उत्पादन देने वाले संकर एवं बौनी किस्मों तथा अल्पावधि में पकने वाली किस्मों का आविष्कार हुआ। इन उन्नत बीजों के उपयोग से खाद्यान्न एवं अन्य फसलों का प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादन देशी किस्म के बीजों की अपेक्षा कई गुणा अधिक प्राप्त होता है। उन्नत किस्म के बीज, आवश्यक मात्रा में उत्पादन देने के लिए उर्वरक, कीटनाशी दवाईयाँ एवं सिंचाई का पानी भी अधिक मात्रा में चाहते हैं। साथ ही उन्नत किस्म के बीज पकने में समय भी कम लेते हैं जिससे उसी भूमि के क्षेत्र से वर्ष में 3 से 4 फसलों का लेना संभव हो गया है। इस प्रकार उन्नत बीज उत्पादन में वृद्धि करने के साथ-साथ फसलों की गहनता में वृद्धि करने में भी सक्षम होते हैं। अधिक उत्पादन देने वाले बीजों का अविष्कार एवं प्रयोग, कृषि विकास की नवीन व्यूहरचना का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। इनके कारण की देश में खाद्यान्नों के उत्पादन में असाधारण गति से हुई वृद्धि को कृषि वैज्ञानिकों ने "हरित क्रान्ति" का नाम दिया है।

उन्नत बीजों के प्रसार के लिए आवश्यक है कि—

1. उन्नत बीजों का उचित मात्रा में उत्पादन करने की पर्याप्त व्यवस्था होवें।
2. उत्पादित उन्नत बीजों के प्रमाणीकरण की समुचित व्यवस्था होवें।
3. उत्पादित उन्नत बीजों के समय पर उपलब्धि के लिए पर्याप्त एवं उचित भण्डार व्यवस्था होवें, एवं
4. उत्पादित उन्नत बीजों के उचित कीमत एवं सभी स्थानों पर उपलब्धि के लिए सही विपणन व्यवस्था होवें।

उन्नत बीजों का उत्पादन (Production of Genetic Quality Seeds)

अधिक उपज देने वाली किस्मों के द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए प्रथम आवश्यकता उत्कृष्ट जननिक गुणों वाले बीजों का निरन्तर उत्पादन करना है। देश के कृषि वैज्ञानिक इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु निरन्तर अनुसंधान में लगे हुए हैं। बीज सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि वैज्ञानिकों द्वारा किये जा रहे अनुसंधानों के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित होते हैं :

1. विभिन्न फसलों की उत्पादकता में वृद्धि के लिए उन्नत बीजों का निरन्तर आविष्कार करना।
2. विभिन्न बीमारियों के प्रभाव से मुक्त किस्मों के बीजों का आविष्कार करना।
3. उन्नत बीजों की किस्मों में प्रोटीन एवं खनिजों की मात्रा में वृद्धि करना।
4. अल्पकाल में पकने वाली किस्मों के बीजों का आविष्कार करना जिससे भूमि पर वर्ष में अधिक से अधिक फसलें उत्पादित की जा सके एवं प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से अधिक खाद्यान्नों की मात्रा उत्पादित की जा सके।
5. देश में भूमि एवं जलवायु की भिन्नता के अनुसार सिंचित एवं असिंचित क्षेत्रों के लिए अलग अलग किस्मों के बीजों का आविष्कार करना।

उन्नत बीजों के उत्पादन प्रक्रम के तीन मुख्य चरण होते हैं :

(1) **प्रथम चरण-प्रजनक बीज उत्पादन करना** (Production of Nucleus or Breeder Seed)

प्रथम चरण में प्रयोगशालाओं तथा प्रयोग केन्द्रों पर पर्याप्त मात्रा में प्रजनक बीज उत्पादन करना है। देश में यह कार्य भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, कृषि विद्यालयों तथा राष्ट्रीय बीज निगम की देखरेख में होता है। इन बीजों के उत्पादन में पौध प्रजनन कार्य सही स्तर पर तथा उत्पादित बीजों में तकनीकी दृष्टि से बारीकियों के लिए परीक्षण किये गये हैं।

(2) **द्वितीय चरण - संस्थापन बीज उत्पादन करना** (Production of Foundation Seed)

बीज उत्पादन के द्वितीय चरण में उत्पादित प्रजनक बीज को संस्थापन बीज उत्पादकों को उनके अधिक मात्रा में उत्पादन करने के लिए दिया जाता है। यह विभिन्न राज्यों, बीज सहकारी समितियों तथा निजी बीज उत्पादकों के बीज वर्धन फार्मों पर राष्ट्रीय बीज निगम की तकनीकी देखरेख में तैयार किया जाता है। राष्ट्रीय बीज निगम एवं तराई विकास निगम बड़े पैमाने पर बीजों का उत्पादन एवं विपणन का कार्य कर रहे हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित आठ बड़े फार्मों पर-सूरतगढ़ एवं जेतसर (राजस्थान), जालन्धर (पंजाब), हिसार (हरियाणा), रायपुर (कर्नाटक), झासुगुड़ा (उड़ीसा), कन्नानौर (केरल) तथा मिजोहिल्स (आसाम) में भी बड़ी मात्रा में संस्थापन बीजो का उत्पादन किया जाता है। संस्थापन बीजों का काफी मात्रा में उत्पादन करके उनके अन्तिम वर्धन हेतु, बीज उत्पादकों को बीज वितरित किया जाता है।

(3) **तृतीय चरण - प्रमाणित बीजों का उत्पादन करना** (Production of Certified Seeds)

बीज उत्पादन के तृतीय चरण में उत्पादित संस्थापन बीज कृषकों को अधिक बीज उत्पादन करने के लिए दिये जाते हैं, जिससे कृषक फार्म पर इन बीजों के उपयोग से फसलों की उत्पादकता में वृद्धि करके उत्पादन की मात्रा में वृद्धि कर सके। उत्पादित प्रमाणित बीज शुद्धता तथा अंकुरण प्रतिशतता एवं अन्य मानक गुणों के अनुसार प्रमाणित किये हुए होते हैं। प्रमाणित बीजों की बुवाई करके कृषक अपने फार्म से अधिकतम उत्पादन की मात्रा प्राप्त करते हैं। प्रमाणित बीज प्रगतिशील कृषकों द्वारा अपने फार्म पर समझौते के अनुसार उत्पन्न किये जाते हैं। राज्य सरकार तथा राष्ट्रीय बीज निगम, संस्थापन बीजों को उन प्रगतिशील कृषकों को प्रमाणित बीज उत्पन्न करने के लिए देते हैं जिनके पास बीज उत्पादन के लिए आवश्यक पर्याप्त सुविधा होती है तथा उन्हें बीज उत्पादन का अनुभव होता है। राष्ट्रीय बीज निगम तथा राज्य सरकार प्रमाणित बीज पुनः उनकी किस्म अर्थात् शुद्धता एवं अंकुरण क्षमता की जाँच करके क्रय करते हैं और अगले वर्ष फसल की बुवाई के

पूर्व कृषकों को विक्रय करते हैं।

बीज प्रमाणीकरण एवं किस्म नियन्त्रण (Seed Certification and Quality Control)

बीजों की विशुद्धता बनाये रखने के लिए उत्पादित उन्नत बीजों का प्रमाणीकरण करना आवश्यक है। इस कार्य के लिए उत्पादित बीजों की विभिन्न प्रकार की जाँच की जाती है और निर्धारित स्तर से कम शुद्धता एवं अंकुरण क्षमता वाले बीजों को अलग कर दिया जाता है। अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज एवं साधारण किस्म के बीज में देखने में अन्तर प्रतीत नहीं होता। अतः धोखे की काफी संभावना होती है। व्यापारी एवं अन्य व्यवसायी लाभ कमाने की प्रवृति के कारण निम्नस्तरीय, अप्रमाणित तथा असंसाधित बीज, उन्नत एवं प्रमाणित किस्म के बीजों के नाम से विक्रय करते हैं जिससे कृषकों को आशातित मात्रा में उत्पादन प्राप्त नहीं होता है और उनमें उन्नत बीजों के प्रति अविश्वास की भावना जागृत होती है। धोखेधड़ी की इस प्रवृत्ति से कृषकों को ही नुकसान नहीं होता है बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी बहुत नुकसान होता है। अतः बीज उत्पादन के पश्चात् उनके नियंत्रण, निरीक्षण एवं प्रमाणीकरण की उचित व्यवस्था का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि कृषक को प्राप्त उन्नत बीजों में शुद्धता 70 प्रतिशत एवं अंकुरण क्षमता भी 70 प्रतिशत होवे तो कृषकों को प्राप्त बीज मात्र 49 प्रतिशत (70 x 70) उपयोगिता वाला ही प्राप्त होता है। अतः इन बीजों के उपयोग से उत्पादन लक्ष्य से आधी मात्रा ही प्राप्त होगी। उन्नत बीज उचित शुद्धता एवं अंकुरण क्षमता के साथ-साथ खरपतवार के बीजों के अपमिश्रण से रहित भी होने चाहिए।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने बीज कानून, 1968 (Seeds Act, 1968) पारित किया है, जिसके अनुसार अनेक राज्यों में बीज प्रमाणीकरण एजेन्सियां तथा बीज परीक्षण प्रयोगशालायें स्थापित की गई है। अनेक राज्यों में राष्ट्रीय बीज निगम को प्रमाणीकरण तथा संवर्धन एजेन्सी के रूप में अधिसूचित किया गया है। इस कानून के तहत अप्रमाणित बीजों की बिक्री तत्काल प्रभाव से बंद करने की व्यवस्था भी की गई है। बीज कानून की तीन प्रमुख आवश्यकताएं निम्न हैं:

1. उचित प्रमाणीकरण संस्था की स्थापना करना।
2. बीज परीक्षण प्रयोगशालाएं स्थापित करना, एवं
3. बीज कानून की धाराओं को सही प्रकार से कार्यन्वित करने के लिए कर्मचारियों को आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान करना।

बीज संसाधन, संवेष्टन एवं संग्रहण (Seed Processing, packing and Storage)

बीज उत्पादन एवं प्रमाणीकरण के पश्चात् उनका संसाधन, संवेष्टन एवं संग्रहण करना होता है क्योंकि उत्पादित बीज अगले मौसम में विभिन्न स्थानों के कृषकों द्वारा क्रय किया जाता है और फार्म पर बुवाई करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

बीज संसाधन उन्नत बीज उत्पादन का ही एक भाग है जिसमें उत्पादित बीजों का निष्कर्षण (Extraction), सुखाना (dryign), शुद्धिकरण (purifying) एवं उपचार (Treatment) कार्य सम्मिलित होता है। तत्पश्चात् बीजों का उचित संवेष्टन किया जाता है। उचित संवेष्टन के द्वारा बीजों को विभिन्न स्थानों पर आसानी से ले जाया जा सकता है तथा इससे उनमें अपमिश्रण की संभावना नहीं रहती है। बीजों के अपमिश्रण होने से कृषकों में उन्नत बीजों के प्रति अविश्वास उत्पन्न होता है जिससे उन्नत बीज कार्यक्रम के विकास में अवरोध उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् बीज संग्रहण की उचित व्यवस्था भी की जाती है। उत्पादित बीज उसी मौसम में उपयोग में नहीं

आकर अगले वर्ष या एक से दो वर्ष पश्चात् उपयोग में भी लिये जाते हैं। अतः आवश्यक है कि संग्रहण काल में बीजों की किस्म एवं अंकुरण क्षमता में समय के साथ-साथ कमी नहीं आवे। इसके लिए उन्हें आवश्यक तापक्रम एवं उचित संग्रहण स्थान पर रखा जाता है। उत्पादित उन्नत बीजों में कृषकों के द्वारा उपयोग करते समय उनमें सही गुण विद्यमान होना भी बीज विकास कार्यक्रम की सफलता का एक आवश्यक पहलू है।

बीज वितरण एवं विपणन व्यवस्था (Seed Distribution and Marketing)

कृषकों को आवश्यक मात्रा में सही समय, स्थान एवं कीमत पर उन्नत बीजों की उपलब्धि के लिए उनके वितरण एवं विपणन की समुचित व्यवस्था का होना भी आवश्यक है। इसके लिए राज्य के सभी स्थानों पर विपणन की सही एवं विश्वसनीय व्यवस्था का होना आवश्यक है जिससे कृषक बीजों की आवश्यकता होने पर आवश्यक मात्रा में क्रय करके फार्म पर उपयोग करके लाभ प्राप्त कर सके। वर्तमान में उन्नत बीजों का वितरण राष्ट्रीय बीज निगम, राज्य बीज निगम, कृषि विभाग, कृषक सहकारी समितियाँ एवं अनुज्ञापत्र विक्रेताओं द्वारा किया जाता है। इन संस्थाओं की शाखाएं छोटे-छोटे गांवों में भी होना आवश्यक है जिससे कृषकों को बीज खरीदने के लिए अधिक दूरी पर नहीं जाना पड़े एवं समय खराब नहीं होवें।

निम्न सारणी उन्नत/प्रमाणिक बीजों के वितरण की मात्रा प्रदर्शित करती है।

सारणी 12.1 भारत में प्रमाणित बीजों का वितरण

(मात्रा लाख क्विंटल में)

फसलें	1980-81	1985-86	1989-90 (लक्ष्य)
1. अनाज 19.88	31.37	55.40	
2. दलहन 1.06	2.32	13.79	
3. तिलहन	2.28	5.68	12.11
4. कपास	—	2.08	1.83
5. जूट	—	0.27	0.20
6. आलू	1.69	13.22	22.00
7. अन्य	—	0.07	—
कुल योग	25.01	55.07	107.33

सारणी से स्पष्ट है कि उन्नत बीजों के वितरण की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हुई है। यह मात्रा वर्ष 1980-81 में 25.01 लाख क्विंटल थी जो बढ़कर वर्ष 1985-86 में 55.07 लाख क्विंटल हो गई तथा वर्ष 1989-90 में 107.33 लाख क्विंटल बीज वितरण करने का लक्ष्य है।

सारणी 12.2 भारत में उन्नत किस्मों के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल प्रदर्शित करती है।

सारणी 12.2 भारत में खाद्यान्नों के उन्नत बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल

(मिलियन हैक्टर में)

खाद्यान्न	1966-67	1970-71	1975-76	1980-81	1985-86	1988-89	1995-96
धान	0.89	5.59	12.443	18.495	23.40	27.00	31.2
गेहूँ	0.54	6.48	13.458	17.387	19.02	21.00	23.2
मक्का	0.21	0.46	1.132	1.389	1.79	2.00	3.5
ज्वार	0.19	0.80	1.958	4.182	6.08	6.50	9.0
बाजरा	0.06	2.05	2.897	3.796	4.98	6.00	6.9
उन्नत किस्मों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल	1.89	15.38	31.889	45.249	55.27	62.50	75.00

खाद्यान्नों के उन्नत बीजों के अन्तर्गत वर्ष 1966-67 से क्षेत्रफल में निरन्तर वृद्धि हुई है। वर्ष 1966-67 में खाद्यान्नों की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल मात्र 1.89 मिलियन हैक्टर था, जो बढ़कर 1975-76 में 31.89 मिलियन हैक्टर 1985-86 में 55.27 मिलियन हैक्टर तथा 1988-89 में 62.50 मिलियन हैक्टर हो गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष 1995-96 तक इनके अन्तर्गत 75 मिलियन हैक्टर क्षेत्रफल होने का आंकलन है। कुल कृषित क्षेत्र का खाद्यान्नों की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल वर्ष 1966-67 में मात्र 1.20 प्रतिशत ही था, जो बढ़कर वर्ष 1970-71 में 9.28 प्रतिशत, 1980-81 में 26.16 प्रतिशत एवं वर्तमान में 35 प्रतिशत के लगभग है। विभिन्न खाद्यान्नों में चावल एवं गेहूँ की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल कुल उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल का लगभग तीन चौथाई है। उन्नत किस्मों के बीजों के उपयोग से देशी किस्म के बीजों की अपेक्षा कई गुना अधिक (गेहूँ में 2 से 2.5 गुना एवं चावल में 3 से 4 गुना) उत्पादन प्राप्त होता है।

सारणी 12.3 भारत के विभिन्न राज्यों में उन्नत किस्मों के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल तथा राज्य के समग्र कृषित क्षेत्र में उनके अन्तर्गत प्रतिशत क्षेत्रफल प्रदर्शित करती है।

सारणी 12.3 देश के विभिन्न राज्यों में उन्नत किस्म के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल

राज्य	उन्नत किस्म के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल (मिलियन हैक्टर में)		वार्षिक वृद्धि दर प्रतिशत	राज्य के समग्र कृषित क्षेत्र में उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल का प्रतिशत	
	1970-73	1980-83		1970-73	1980-83
1. आन्ध्र प्रदेश	1.03	3.85	27.38	8.06	30.31
2. बिहार	1.78	3.62	10.34	16.63	35.57
3. गुजरात	1.02	2.17	11.27	9.79	20.47
4. हरियाणा	1.05	2.36	12.48	20.75	42.67
5. कर्नाटक	0.60	1.84	20.68	5.58	16.71
6. केरल	0.27	0.35	2.96	9.12	12.15
7. मध्य प्रदेश	0.82	3.39	21.34	3.95	15.56
8. महाराष्ट्र	1.36	4.55	23.45	7.58	12.57
9. उड़ीसा	0.31	1.52	39.03	4.52	17.67
10. पंजाब	2.03	4.23	10.84	35.12	61.57
11. राजस्थान	0.79	2.23	18.23	4.78	12.31
12. तमिलनाडु	2.48	2.83	1.41	32.32	43.74
13. उत्तर प्रदेश	3.38	8.96	16.51	12.66	36.30
12. पश्चिम बंगाल	1.01	2.13	11.09	12.06	29.02

स्रोत : Agricultural Situation in India vol. XLIV, no. 2, May 1989.

विभिन्न राज्यों में उन्नत किस्म के बीजों के अन्तर्गत हुए क्षेत्रफल वृद्धि ने बहुत असमानता है। पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश एवं बिहार राज्य में कुल कृषित क्षेत्रफल के एक तिहाई भाग से अधिक क्षेत्रफल में उन्नत किस्मों की कृषि की जाती है।

उन्नत बीजों के उद्योग का विकास एवं राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना

उन्नत बीजों का महत्व देश की कृषि में योजना काल से पूर्व ही महसूस किया जा चुका था, लेकिन इनके विकास की दिशा में सही प्रयास द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल से प्रारम्भ हुआ। वर्ष 1957 में रोक फेलर संस्थान के सहयोग से भारत सरकार ने समन्वित मक्का सुधार कार्यक्रम [illegible] के इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया। खाद्य एवं कृषि संगठन ने वर्ष 1961 में [illegible] वर्ष मनाकर इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया। भारत का अन्तर्राष्ट्रीय बीज परीक्षण संघ [illegible] गया गया तथा इसका एक केन्द्र भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था, नई दिल्ली के [illegible] परीक्षण प्रयोगशाला में रखा गया। अनेक फसलों के [illegible] बाजरा, गैहूँ एवं चावल) सम्बन्धित सुधार कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। इन सबके परिणामस्वरूप वर्ष 1961 में संकर मक्का, 1964 में संकर ज्वार, 1955 में संकर बाजरा एवं 1966 में [illegible] के गैहूँ की किस्में विकसित हुई। तत्पश्चात् इनकी प्रगति में आशातीत प्रगति हुई एवं [illegible] विभिन्न फसलों की अनेक उन्नत किस्में उपलब्ध है।

संकर एवं अधिक उत्पादन देने वाली उपजाऊ किस्मों के बीजों के बहुगुणन के लिए उन्नत बीज उद्योग के विकास के लिए देश में एक नये संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप वर्ष 1963 में भारत सरकार ने उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की। इस निगम के प्रमुख उद्देश्य/कार्य निम्नांकित है--

1. देश में बीज उत्पादन उद्योग को सुदृढ़ स्थिति में स्थापित करना।
2. अनुसन्धान द्वारा तैयार किये गये अधिक उत्पादन देने वाले संस्थापन बीजों का उत्पादन करना।
3. बीज संसाधन उद्योग स्थापित करना।
4. बीजों के विस्तार हेतु विस्तार एवं शिक्षा सेवायें उपलब्ध कराना तथा बीज तकनीकी में परीक्षण देना।
5. राज्यों में बीज प्रमाणीकरण सेवा उपलब्ध कराना।
6. गुणा नियन्त्रण एवं बीज परीक्षण प्रयोगशालाएं स्थापित करना, एवं
7. उन्नत बीजों को निर्यात करना।

12.2.3 **उर्वरक :** सघन कृषि विधि द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए दूसरा प्रमुख कृषि निविष्ट उर्वरक है। प्रत्येक फसल के उत्पादन के लिए नत्रजन, फास्फोरस एवं पोटाश उर्वरक की आवश्यकता होती है। उर्वरकों के आविष्कार के पूर्व, कृषक फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए गोबर की खाद एवं हरी खाद का उपयोग किया करते थे। कृषि क्षेत्र में बढ़ती हुई खाद्यान्नों की आवश्यकता एवं गोबर की खाद की उपलब्धि में कमी के कारण, उर्वरकों का जन्म हुआ। उत्पादों के उत्पादन में वृद्धि एवं उर्वरकों के उपयोग की मात्रा में एक स्तर तक सकारात्मक सम्बन्ध विद्यमान होता है। अर्थात् उर्वरक के उचित मात्रा में उपयोग करके कृषि उत्पादों का उत्पादन अनुकूलतम स्तर तक बढ़ाया जा सकता है। उर्वरक भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि की समृद्धि में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं तथा उर्वरकों की खपत की मात्रा, देश की समृद्धि का एक सूचकांक होता है। कृषि विकास प्रक्रिया में उर्वरकों का महत्व इस तथ्य से स्पष्ट है कि इनके उपयोग की उत्पादन अनुक्रिया (Production response) अन्य कृषि निविष्टों से अधिक होती है। उर्वरकों का उपयोग उन्नत किस्मों के बीजों के साथ मिलकर उत्पादन में विशेष गति से वृद्धि करते हैं। उर्वरकों का उपयोग उन्नत किस्मों के बीजों के साथ मिलकर उत्पादन में विशेष गति से वृद्धि करते हैं। उर्वरकों का उपयोग सिंचित क्षेत्रों में अधिक होता है क्योंकि इनके उपयोग के लिए सिंचाई के जल की आवश्यकता होती है। उर्वरकों का उपयोग बारानी क्षेत्रों में भी होता है लेकिन बारानी क्षेत्रों में इनके उपयोग का स्तर कम है।

देश में उर्वरकों का उपयोग सर्वप्रथम प्रमुखतया बागान वाली फसलों में वर्ष 1920 के आसपास प्रारंभ हुआ था। इनके उपयोग की महत्वता के कारण, उर्वरकों का उपयोग धीरे-धीरे दूसरी फसलों में भी होने लग गया। वर्ष 1965-66 के उपरान्त देश में विभिन्न फसलों की उन्नत किस्मों के बीजों के आविष्कार के कारण उर्वरकों के उपयोग स्तर में द्रुतगति से वृद्धि हुई है। उन्नत बीज, उर्वरक एवं सिंचाई सुविधा कृषि उत्पादन में वृद्धि का एक त्रिस्तरीय संयोग है। इनके सम्मिलित उपयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि अधिक दर से होती है जिसे देश के वैज्ञानिकों ने हरित क्रान्ति के नाम से सम्बोधित किया है।

सारणी 12.4 देश में उर्वरकों की खपत एवं खाद्यान्न उत्पादन की मात्रा प्रदर्शित करती है:-

सारणी 12.4 भारत में उर्वरक खपत एवं खाद्यान्न उत्पादन

(मिलियन टन में)

वर्ष	उर्वरक उत्पादन	उर्वरक आयात	उर्वरक उपयोग (कुल मात्रा)	उर्वरक उपयोग (किलोग्राम प्रति हैक्टर)	खाद्यान्न उत्पादन
1950-51	NA	NA	0.069	0.55	50.92
1955-56	NA	NA	0.148	0.89	66.85
1960-61	0.150	0.419	0.306	1.793	82.02
1965-66	NA	NA	0.789	5.050	72.32
1970-71	1.059	0.629	2.207	13.610	108.42
1975-76	NA	NA	2.894	16.930	121.03
1980-81	3.005	2.759	5.516	31.820	129.59
1985-86	5.756	3.399	8.470	46.870	150.44
1986-87	7.070	2.308	8.740	57.100	143.42
1987-88	7.131	0.984	9.010	NA	138.41
1988-89	8.600	NA	11.330	NA	166.00
1989-90	NA	NA	12.3-12.5	–	175
1994-95	NA	NA	16.5-17.0	–	200-205
1995-96	11.331	4.000	13,900	70	185.1

देश में उर्वरकों की खपत वर्ष 1950-51 में मात्र 89 हजार टन थी, जो बढ़कर 1960-61 में 3.06 लाखटन, 1970-71 में 22.07 लाखटन, 1980-81 में 5.516 मिलियन टन व 1988-89 में 11-33 मिलियन टन हो गई। उर्वरकों की खपत की मात्रा में वृद्धि दर उन्नत बीजों के आविष्कार के उपरान्त के समयकाल में तीव्र गति से हुई है। वर्ष 1965-66 से 1975-76 के दशक में उर्वरक खपत की मात्रा में तीन गुना से अधिक वृद्धि तथा 75-76 से 1988-89 में 15 वर्षों में पुनः 4 गुना वृद्धि हुई है। इसी प्रकार उर्वरकों की प्रति हैक्टर खपत की मात्रा में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के वर्ष 1950-51 में उर्वरकों की खपत मात्र 0.55 किलोग्राम प्रति हैक्टर ही थी, वह बढ़कर वर्तमान में 57 किलोग्राम प्रति हैक्टर हो गई है।

उर्वरकों की खपत में प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र पर इस द्रुत गति से वृद्धि होने के फलस्वरूप भी देश में उर्वरकों की खपत विश्व के अनेक देशों की तुलना में कम है। उदाहरण स्वरूप भारत

में वर्ष 1986-87 में उर्वरक खपत की मात्रा 57.10 किलोग्राम प्रति हैक्टर की तुलना में संसार में सभी देशों की औसत खपत 90.4 किलोग्राम, अमेरिका में 92.8 किलोग्राम, रूस में 114.1 किलोग्राम, इंग्लैंड में 379.8 किलोग्राम, जापान में 427.1 किलोग्राम एवं न्यूजीलैण्ड में 621.9 किलोग्राम है। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति उर्वरक खपत भारत में वर्ष 1986-87 में मात्र 12.5 किलोग्राम ही थी, जबकि संसार का औसत 27.1 किलोग्राम, अमेरिका में 72.4 किलोग्राम, कनाडा में 85.2 किलोग्राम है। अतः स्पष्ट है कि भारत में प्रति हैक्टर भूमि क्षेत्र एवं प्रति व्यक्ति जनसंख्या पर उर्वरक खपत का स्तर विकसित देशों की अपेक्षा कम है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भी उर्वरक खपत की मात्रा में बहुत असमानता है। वर्ष 1966-67 से 1985-86 के 20 वर्षों में उर्वरकों की खपत की मात्रा में उत्तरी क्षेत्र में 25 गुना, पश्चिमी क्षेत्र में 7.5 गुना, पूर्वी क्षेत्र में 9.3 गुना एवं दक्षिणी क्षेत्र में 5 गुना वृद्धि हुई है। दूसरे शब्दों में देश में कुल उर्वरक खपत का 43.9 प्रतिशत उत्तरी क्षेत्र में, 24.3 प्रतिशत दक्षिणी क्षेत्र में, 18.2 प्रतिशत पश्चिमी क्षेत्र में एवं 13.6 प्रतिशत पूर्वी क्षेत्र में होता है। राज्योंवार भी उर्वरक खपत की मात्रा में बहुत असमानता विद्यमान है। वर्ष 1986-87 में पंजाब राज्य में उर्वरक खपत 158.5 किलोग्राम प्रति हैक्टर थी जबकि आसाम राज्य में मात्र 4.6 किलोग्राम एवं राजस्थान में 12.3 किलोग्राम प्रति हैक्टर ही थी। देश के 339 जिलों में से 200 जिलों में उर्वरक खपत राष्ट्रीय औसत स्तर से कम एवं मात्र 139 जिलों में उर्वरक खपत राष्ट्रीय औसत स्तर से अधिक है।

उर्वरकों का उत्पादन तीनों ही क्षेत्र — राजकीय, सहकारी एवं निजी क्षेत्रों में होता है। भारत सरकार इनके उत्पादन में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। इसके लिए निरन्तर नये उर्वरक कारखानों की स्थापना की जा रही है। तथा कार्यरत कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर रही है। वर्ष 1988-89 में देश में 6.4 मिलियन टन नत्रजन उर्वरक एवं 2.2 मिलियन टन फास्फोरस उर्वरक का उत्पादन हुआ है जबकि इनकी उत्पादन क्षमता क्रमशः 8.2 मिलियन टन एवं 2.7 मिलियन टन थी। पोटाश उर्वरक की पूरी मात्रा देश में आयात की जा रही है क्योंकि इसके उत्पादन के लिए आवश्यक उत्पादन सामग्री का देश में अभाव है। वर्तमान में देश में कुल उर्वरक खपत की मात्रा का घरेलू उत्पादन 90 प्रतिशत से अधिक है।

उर्वरकों की सही व्यवस्था के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है :

1. अनुसंधान द्वारा उर्वरकों के उपयोग की अनुकूलतम विधि का पता लगाना एवं प्राप्त परिणामों को प्रसार शिक्षा के माध्यम से कृषकों के फार्म तक पहुँचना, जिससे अनुसंधानों के द्वारा प्राप्त परिणामों से कृषक वर्ग पूर्ण लाभान्वित हो सके।
2. उर्वरकों के उत्पादन में वृद्धि करना एवं उनके वितरण एवं विपणन की सही व्यवस्था स्थापित करना, जिससे देश के सभी क्षेत्र के कृषकों को आवश्यक मात्रा में समय पर उर्वरक उपलब्ध हो सके।
3. उर्वरकों के उपयोग से अनुकूलतम/इष्टतम लाभ की प्राप्ति के लिए उनके लाभप्रद मात्रा का कृषकों को ज्ञान प्रदान करना। उर्वरकों का आवश्यकता से कम एवं अधिक मात्रा में उपयोग करने से कृषकों को उचित लाभ की राशि प्राप्त नहीं हो पाती है। यह उर्वरकों की मात्रा विभिन्न होती है। यह ज्ञान कृषक उर्वरकों के उपयोग से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा, उर्वरक एवं उत्पाद की कीमत ज्ञान के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही विभिन्न उर्वरकों का संतुलित मात्रा में उपयोग करने से ही फसल से अनुकूलतम उत्पादन एवं लाभ की राशि प्राप्त हो सकती है। अतः संतुलित उर्वरकों के उपयोग से सम्बन्धित ज्ञान भी कृषकों को प्रदान करना आवश्यक है।

उर्वरकों का विक्रय उत्पादकों द्वारा नियुक्त डीलरों एवं सहकारी समितियों द्वारा सरकार द्वारा निर्धारित कीमत पर किया जाता है।

12.2.4 **सिंचाई सुविधा :** कृषि उत्पादन के लिए सिंचाई के जल की सुविधा भी एक आवश्यक निविष्ट है। विभिन्न फसलों के लिए विभिन्न स्तर पर सिंचाई के जल की आवश्यकता होती है। कुछ फसलें अधिक सिंचाई सुविधा चाहती है। रबी एवं जायद के मौसम में उत्पन्न होने वाली सभी फसलों का उत्पादन पूर्ण रूप से सिंचाई सुविधा पर निर्भर करता है। जबकि खरीफ की मौसम में उत्पादन की जाने वाली फसलों को कम सिंचाई के जल की आवश्यकता होती है।

उन्नत बीज एवं उर्वरकों के आविष्कार ने सिंचाई की महत्तता को अधिक बढ़ा दिया है। उन्नत बीजों को फार्म पर अपनाने के लिए सिंचाई के जल की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। उर्वरकों के उपयोग के लिए भी सिंचाई के जल की अधिक आवश्यकता होती है। सिंचाई के जल के अभाव में उर्वरक उपयोग करना सम्भव नहीं है।

सिंचाई के प्रमुख स्रोत नहरें, कुएं एवं ट्यूबवैल तथा जलाशय है। नहरों का जल देश के कुछ ही राज्यों एवं उनके कुछ जिलों में ही है। अधिकांश क्षेत्र में कुओं एवं टयूबवेलों से सिंचाई के जल की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। कुऐं एवं टयूबवेलों से पानी चरस, रहट तथा डीजल एवं बिजली से चलने वाले पम्पसेटों के द्वारा निकाला जाता है और सिंचाई की जाती है।

योजनाकाल से पूर्व (1950-51) में देश में मात्र 22.6 मिलियन हैक्टर क्षेत्र में (कुल कृषित क्षेत्रफल का 17.4 प्रतिशत) सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी। देश में सिंचाई सुविधाओं के विकास के लिए अनेक लघु एवं बड़ी सिंचाई योजनाएं प्रारम्भ की गई। इनके फलस्वरूप वर्ष 1988-89 में 67.7 मिलियन हैक्टर (कुल कृषित क्षेत्रफल के 36.5 प्रतिशत भाग) क्षेत्र में सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो सकी है। सारणी 12.5 में देश में विभिन्न पंचवर्षीय योजना काल में विकसित सिंचाई क्षेत्रफल एवं बड़ी सिंचाई योजनाओं पर सरकार द्वारा किया गया व्यय राशि प्रदर्शित है।

सारणी 12.5 देश में सिंचाई सुविधाओं का विकास

योजना काल	सिंचित क्षेत्रफल (मिलियन हैक्टर)	बड़ी सिंचाई योजनाओं पर किया गया व्यय राशि (करोड़ रुपये)
योजना काल से पूर्व (1950-51)	22.6	—
प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)	26.26	313
द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)	29.09	428
तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)	33.61	665
तीन वार्षिक योजनाएं (1966-69)	37.10	457
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)	44.20	1354
पाँचवें पंचवर्षीय योजना (1974-79)	52.12	3434
छटी पंचवर्षीय योजना (1980-85)	65.20	8448
सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90)	78.10	14225
आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97)	90.00	28392(प्रस्तावित)

वर्तमान में देश के मात्र 36.5 प्रतिशत कृषित क्षेत्र में ही सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है और शेष कृषित क्षेत्र वर्षा पर निर्भर है। अतः वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में कृषि प्राकृतिक देन है। प्रकृति के अनुकूल वर्ष में इन क्षेत्रों से कृषि उत्पादन अधिक प्राप्त होता है जबकि अन्य वर्ष में सूखा या अकाल की स्थिति बनी रहती है। सिंचाई सुविधाओं के विकास के लिए सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है। इस काल में देश में अनेक बाँध एवं नहरों का बृहत स्तर पर निर्माण किया गया है जिससे सिंचाई क्षेत्र में वृद्धि हुई है। साथ ही कृषकों के फार्म पर सिंचाई सुविधा के विकास के लिए सरकार कृषकों को न्यूनतम व्याज दर पर ऋणसुविधा प्रदान करती है। लघु एवं सीमान्त कृषकों के फार्म पर सिंचाई सुविधा के विकास करने के लिए सरकार 25 से 33.33 प्रतिशत कुल लागत राशि का अनुदान के रूप में भी उपलब्ध कराती है।

विभिन्न राज्यों में उपलब्ध सिंचाई सुविधा के क्षेत्र में बहुत असमानता है। वर्ष 1980-83 के काल में पंजाब राज्य में 86.90 प्रतिशत समग्र कृषित क्षेत्रफल में, हरियाणा में 62.2 प्रतिशत, तमिलनाडु एवं उत्तर प्रदेश में 48 प्रतिशत, आन्ध्र प्रदेश एवं बिहार में 35 प्रतिशत समग्र कृषित क्षेत्रफल तथा गुजरात, राजस्थान, पश्चिम बंगाल एवं उड़ीसा राज्य में लगभग 25 प्रतिशत क्षेत्र में सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी। अन्य राज्यों में समग्र कृषित क्षेत्र के 10 से 15 प्रतिशत क्षेत्र में ही सिंचाई सुविधा उपलब्ध है। सिंचाई सुविधा एवं शस्य प्रतिशत में सकारात्मक सम्बन्ध पाया गया है। अधिक सिंचाई सुविधा वाले राज्यों में शस्य प्रतिशत भी अधिक (पंजाब में 163.5 प्रतिशत, हरियाणा में 151.4 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में 143.1 प्रतिशत) होती है। इन सबके कारण इन राज्यों में उत्पादकता दर एवं उत्पादन स्तर अधिक होता है।

12.2.5 **पौध संरक्षण उपाय** (Plant Protection Measures) कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए तृतीय प्रमुख कृषि निविष्ट पौध संरक्षण उपाय है। उन्नत बीज कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के साथ-साथ बीमारियों एवं कीड़ों-मकोड़ों से अधिक प्रभावित होते हैं, क्योंकि सिंचित सुविधा एवं उन्नत किस्में इनके विकास के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करते हैं। अतः विभिन्न फसलों में होने वाली बीमारियों एवं उन पर लगने वाले कीड़ों की रोकथाम के लिए पौध संरक्षण उपाय अथवा कीटनाशी, फफूंद नाशक, सूत्री कृमिनाशी एवं खरपतवार नाशी दवाईयों का उपयोग करना भी उन्नत बीज एवं उर्वरक के समान ही आवश्यक है।

पूर्व में कृषक पौध संरक्षण उपायों को कम स्तर पर अपनाते थे, क्योंकि फसलों पर कीड़ों एवं बीमारियों का प्रभाव कम होता था तथा इन दवाईयों का आविष्कार एवं उपलब्धि भी आज के परिपेक्ष्य में नगण्य था। वर्तमान में इन दवाइयों का उपयोग स्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है। उन्नत किस्मों के बीजों के अधिकाधिक उपयोग के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में बढ़ते हुए उत्पादन के कारण देश में रोगनाशी दवाईयों के उपयोग स्तर में वृद्धि होना भी आवश्यक है। देश के कृषक इनकी कीमतों की अधिकता, इनके उपयोग ज्ञान की अज्ञानता आदि कारणों से इन दवाईयों का उपयोग सिफारिश मात्रा में नहीं कर पा रहे हैं।

रोगनाशी दवाईयाँ उपयोग के अनुसार निम्न प्रकार की होती है :

1. कीटनाशी दवाईयाँ (Insecticides) जैसे बी.एच.सी., डी.डी.टी., लीनडेन, मैलाथियान, पेराथियान आदि।
2. फफूंदनाशी दवाईयाँ (Fungicides) जैसे क्यूपरस ऑक्साइड, जाइनेब, धीरम, जीरम आदि।
3. चूहा नाशक दवाईयाँ (Rodenticides) जैसे जिंक फास्फाइड, वारफरीन आदि।
4. सूत्री कृमि नाशी दवाईयाँ (Nematocides) जैसे मिथान एन सोडियम।

5. खरपतवारनाशी दवाईयाँ (Weedicides) जैसे टू-फोर-डी, प्रोपानील।
6. पौध वृद्धि नियंत्रक (Plant Growth Regulators) जैसे साइनोसेल, नेफथालीन, एसीटीक एसीड़ आदि।

वर्तमान में तकनीकी किस्म के 44 रोगनाशी दवाईयों का भारत में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन किया जा रहा है। वर्ष 1977-78 में रोगनाशी दवाईयों की उत्पादन क्षमता 74,718 टन थी, लेकिन वास्तविक उत्पादन मात्र 11,745 टन ही हुआ था। वर्तमान में इनका उत्पादन स्तर 61266 मिलियन टन है। इनके उत्पादन का स्तर उपभोग से कम होने के कारण अनेक कीटनाशी दवाईयों का देश में आयात भी किया जा रहा है।

प्रारंभ में कीटनाशी दवाईयों के उपभोग का स्तर बहुत कम था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष में (1955-56) इनका उपभोग स्तर 2.35 हजार टन ही था, जो बढ़कर 1960-61 में 8.62 हजार टन, 1970-71 में 24,314 हजार टन, 1980-81 में 53.3 हजार टन, 1983-84 में 72 हजार टन एवं 1986-87 में 73.5 हजार टन हो गया। पौध संरक्षण सुविधा प्रथम पंचवर्षीय योजना में 6.4 मिलियन हैक्टर क्षेत्र में उपयोग की गई थी जो बढ़कर 1991-92 में 72 मिलियन हैक्टर क्षेत्र तक पहुँच गई। इसी प्रकार प्रति हैक्टर कृषित क्षेत्र पर इनका उपयोग 15.9 ग्राम से बढ़कर 1979-80 में 326 ग्राम हो गया, लेकिन इनके उपभोग में इस दर से वृद्धि होने के उपरान्त भी इनका उपयोग स्तर विकसित देशों जैसे अमेरिका (1490 ग्राम प्रति हैक्टर) एवं जापान (10,790 ग्राम प्रति हैक्टर) से बहुत कम है।

कीटनाशी दवाईयों का उपयोग फसल के विकास काल में विभिन्न समय बुवाई से पूर्व, बुवाई के समय, फसल की वृद्धि के समय एवं कटाई के उपरान्त उनके संग्रहण काल में करना होता है। साथ ही इनके उपयोग करते समय उचित तकनीकी ज्ञान का होना भी आवश्यक है जिससे सही रसायन का चुनाव, उपयोग की सही विधि एवं सही समय एवं उपयोग करते समय इनसे होने वाली हानि से रक्षा की जा सके।

कीटनाशी दवाईयों का विक्रय उत्पादकों द्वारा नियुक्त डीलरों की सहायता से किया जाता है। इनके प्रतिष्ठान मुख्यतया बड़े शहरों में होते हैं जहाँ से काश्तकारों तक छोटे व्यापारियों के माध्यम से पहुँचती हैं।

12.2.6 **विद्युतिकरण एवं डीजल तेल** : कृषि क्षेत्र में विद्युत भी एक प्रमुख कृषि निविष्ट है जो गैर कृषि क्षेत्र द्वारा पूर्ति की जाती है। विद्युत का प्रमुख उपयोग सिंचाई के लिए पम्पसेट एवं ट्यूबवेल के विद्युतिकरण में किया जाता है। फसल की कटाई एवं कुट्टी की मशीनों के संचालन में भी विद्युत का उपयोग किया जाता है। हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के पश्चात् कृषि क्षेत्र में विद्युत का उपयोग बहुत बढ़ गया है। कृषि क्षेत्र में विद्युत का सर्वाधिक उपयोग सिंचाई के लिए होता है। विद्युत शक्ति के उपयोग द्वारा सिंचाई करने पर प्रति सिंचाई की लागत कम आती है तथा कम समय में अधिक क्षेत्र में सिंचाई की जा सकती है। गाँवों में विद्युत के प्रसार के फलस्वरूप फार्म पर कृषक अधिक सिंचाई के जल की आवश्यकता एवं कम समयान्तर पर सिंचाई की आवश्यकताओं वाली फसलों को कृषित करने में सक्षम हो गये हैं।

स्वतंत्रता के समय देश में मात्र 1500 गाँवों में ही विद्युत सुविधा उपलब्ध थी। योजना काल में विद्युत प्रसार की गति में तेजी आई है। ग्रामीण विद्युतिकरण निगम की स्थापना तथा राज्यों में विद्युत बोर्डों की स्थापना के पश्चात् इस क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में 3061 गाँवों (कुल गाँवों के 0.53 प्रतिशत) एवं 21008 पम्पों पर विद्युत सुविधा उपलब्ध थी, जो बढ़कर 1995-96 तक देश के 3.8 लाख गांवों (86.4% प्रतिशत गांवों) एवं 59.69 लाख पम्पों पर हो गई। विद्युतिकरण की सुविधा उपलब्ध कराने एवं उसके विकास

के लिए सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है। वर्तमान में कृषकों की विद्युत की आवश्यकता उपलब्धि से अधिक है। कृषकों को अपने फार्म पर विद्युत सुविधा प्राप्त करने के लिए कई माह तक प्रतिक्षा करना होता है। विद्युत सुविधा उपलब्ध कृषकों को भी विद्युत निरन्तर नहीं मिलकर विभिन्न समय पर प्राप्त होती है। अनुमान के अनुसार वर्ष 1995 तक देश के सभी 5 लाख गांवों तक विद्युत सुविधा पहुँचायी जा चुकी थी।

विद्युत का उत्पादन कोयला, तेल, जल एवं अणुशक्ति से होता है। जल से उपलब्ध विद्युत इनमें से सबसे सस्ती होती है। अतः सरकार जल से विद्युत उत्पन्न करने के लिए बान्ध एवं अन्य पानी रोकने के जलाशय बनाती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत का प्रसार देश में ग्रामीण विद्युतिकरण निगम की स्थापना के पश्चात् तीव्र गति से हुआ है। इस निगम की स्थापना वर्ष 1969 में श्री बी. वैंकटपेया की अध्यक्षता में की गई थी। निगम की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य राज्य विद्युत मण्डलों एवं ग्रामीण विद्युत सहकारी समितियों की ऋण सहायता करना है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक विद्युत प्रसार किया जा सके।

उपलब्ध विद्युत शक्ति का कृषि क्षेत्र में उपभोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। वर्ष 1962-63 में कुल उपलब्ध विद्युत शक्ति का 5.9 प्रतिशत अंश ही कृषि क्षेत्र में उपयोग किया जाता था जो बढ़कर 1994-95 में 32.5 प्रतिशत हो गया। कुल विद्युत उत्पादन का 60 से 70 प्रतिशत अंश औद्योगिक क्षेत्र में उपयोग होता है।

विद्युत का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में होता है। अतः विद्युत का आवश्यक मात्रा में उत्पादन करना एवं उसका प्रसार करने का पूर्ण दायित्व सरकार का होता है। इसके उत्पादक एवं उपभोक्ता के मध्य कोई मध्यस्थ नहीं होता है। अतः इस निविष्ट की पूर्ति सरकार के पूर्ण एकाधिकार में होती है। इसी कारण सरकार विद्युत की कीमत में कीमत विभेदन नीति का पालन कर पाती है। विभिन्न उपभोक्ताओं (कृषकों, उद्योगों, लघु उद्योग, व्यावसायिक एवं घरेलू उपयोग) को पृथक कीमत पर विद्युत की पूर्ति सरकार द्वारा की जाती है। सरकार कृषि क्षेत्र में विद्युत दर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम लेती है। कृषकों से सिंचाई के लिए उपयोग की गई विद्युत की कीमत सरकार मीटर के आधार पर अथवा प्रयोगित विद्युत मोटर की अश्वशक्ति के आधार पर वसूल करती है।

डीजल तेल — डीजल तेल भी कृषि क्षेत्र में एक आवश्यक शक्ति निविष्ट है। इसका उपयोग सिंचाई के लिए कुओं पर पम्प चलाने एवं जुताई एवं बुवाई के लिए ट्रैक्टर के चलाने के उपयोग में किया जाता है। अनेक स्थानों पर जहाँ विद्युत सुविधा उपलब्ध नहीं है, वहाँ पर कृषक डीजल तेल से चलने वाले पम्पसेट लगाकर कुओं से पानी उठाकर सिंचाई करते हैं। इसी प्रकार फार्म पर ट्रैक्टर द्वारा विभिन्न कृषि कार्यों जैसे भूमि की जुताई, बुवाई, भूमि को समतल करना, फसल की गहाई, कुट्टी काटने एवं उत्पादित माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवहन करने में भी डीजल तेल का उपयोग होता है। वर्तमान में विद्युत उपलब्ध कृषक भी विद्युत अनिश्चितता के कारण डीजल चालित पम्पसेट रखते हैं।

कृषि तेल में डीजल तेल की आश्यकता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। रबी की मौसम में इसकी पूर्ति की सीमितता के कारण कृषकों को राशन प्रणाली द्वारा निर्धारित कीमत पर सरकार डीजल तेल की पूर्ति करती है। अनेक बार कृषकों को समय पर डीजल तेल उपलब्ध नहीं होने से परेशानी होती है।

डीजल तेल की पूर्ति का अल्पधिकार बाजार होता है। इनकी पूर्ति की तीन प्रमुख कम्पनियाँ ही है जबकि इसके उपभोक्ता अनेक है। डीजल तेल की कीमत सरकार द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों

के लिए पृथक स्तर पर निर्धारित की जाती है। कीमत में सीमान्त अन्तर परिवहन लागत एवं चुंगी के कारण होता है।

12.2.7 **उन्नत कृषि यन्त्रों एवं मशीनों का उपयोग** : कृषि यन्त्र एवं मशीनें भी वर्तमान कृषि में प्रमुख निविष्ट है। वर्तमान में उन्नत बीजों के उपयोग, अधिक क्षेत्रफल में कृषि करने तथा बैलों की शक्ति का कम से कम उपयोग के कारण, मशीनों एवं कृषि यन्त्रों का उपयोग बढ़ गया है। उन्नत किस्मों के बीजों की बुवाई एक निश्चित गहराई तक एवं उचित समय पर करना होता है। वर्षात् की नमी का लाभ उठाने के लिए भी बुवाई शीघ्रता से करनी होती है। समय पर सिंचाई करने के लिए पम्पसेटों का उपयोग किया जाता है।

कृषि क्षेत्र में उपयोगित प्रमुख यन्त्र एवं मशीनें निम्न है :

(1) **सिंचाई हेतु डीजल एवं विद्युत शक्ति से चलने वाले पम्पसेट :** वर्तमान में सिंचाई हेतु कृषक कुओं से पानी उठाने में चरसे के स्थान पर डीजल तेल से चलने वाले अथवा विद्युत शक्ति से चलने वाले पम्प सेटों का उपयोग करते हैं। इनके उपयोग से सिंचाई की लागत में कमी आती है तथा सिंचाई अधिक क्षेत्रफल में शीघ्रता से की जा सकती है। इनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्ष 1951 में विद्युत शक्ति से चलने वाले पम्पसेट मात्र 21 हजार थे, जो बढ़कर 1982 में 4655 हजार हो गए। 1992-93 में विद्युतशक्ति से चलने वाले पम्प सेटों की संख्या 96.2 लाख हो गयी है। इसी प्रकार डीजल तेल से चलने वाले पम्पों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। इनका बाजार एकाधिकारात्मक स्पर्द्धा का (Monopolistic Competition) होता है। बाजार में विभिन्न कम्पनियों द्वारा निर्मित पम्प उपलब्ध होते हैं। इनकी कीमतें इनके निर्माताओं द्वारा तय की जाती है। सरकार इनके विस्तार के लिए ऋण सुविधा भी उपलब्ध कराती है।

2. **भूमि की जुताई एवं बुवाई के लिए ट्रैक्टर :** भूमि की जुताई, भूमि को समतल करने, बीज की बुवाई, खाद्यान्न एवं निविष्टों के परिवहन में ट्रैक्टर का उपयोग किया जाता है। ट्रैक्टर द्वारा भूमि की जुताई एवं बीज की बुवाई उचित गहराई पर समानता से होती है। ट्रैक्टर द्वारा कम समय में अधिक क्षेत्रफल में बुवाई व जुताई हो जाने से प्रति हैक्टर क्षेत्र पर लागत कम आती है। देश में ट्रैक्टरों की खपत में निरन्तर वृद्धि हो रही है। हरित क्रान्ति के पश्चात् इनकी खपत में हुई वृद्धि की दर अधिक है।

वर्ष 1951 में मात्र 8635 ट्रैक्टर कार्यरत थे, जो बढ़कर 1992-1993 में 18 लाख हो गये। वर्ष 1960 के पूर्व ट्रैक्टर का उत्पादन देश में नहीं होता था। तब इनकी पूर्ति आयात द्वारा की जाती थी। वर्ष 1973-74 के पश्चात् देश में ट्रैक्टरों का आयात बन्द कर दिया गया। ट्रैक्टरों का उत्पादन देश में वर्ष 1960 में शुरू हुआ था। वर्ष 1982-83 में 95,000 ट्रैक्टर का उत्पादन हुआ था। वर्तमान में 13 कम्पनियाँ देश में कृषि में प्रयोग हेतु ट्रैक्टरों का उत्पादन कर रही हैं। ट्रैक्टरों का आयात सर्वाधिक वर्ष 1971-72 में किया गया था। वर्तमान में देश ट्रैक्टरों का निर्यात भी कर रहा है। कृषि क्षेत्र में उपयोग हेतु ट्रैक्टरों की कीमत सरकार द्वारा नियंत्रित की जाती है।

(3) **कीटनाशक दवाईयों के उपयोग के लिए स्प्रेयर एवं डस्टर्स** : उन्नत बीजों के उपयोग के पश्चात् कृषि क्षेत्र में स्प्रेयर एवं डस्टर का उपयोग भी बढ़ गया है। उन्नत किस्म के बीज, कीट एवं बीमारियों से अधिक प्रभावित होते हैं। समृद्ध कृषक अपने फार्म पर इन यन्त्रों को क्रय करके कीटनाशी एवं अन्य दवाईयों का उपयोग करके अधिक उत्पादन प्राप्त करते हैं। जबकि लघु एवं मध्यम जोत कृषक इन यन्त्रों को किराये पर प्राप्त करके उपयोग करते हैं। वर्तमान में इनकी बढ़ती हुई आवश्यकता के कारण सरकार कृषकों को अनुदान राशि देकर, इन यन्त्रों के उपयोग को बढ़ावा दे रही है।

(4) **फसल की गहाई हेतु थ्रेसर एवं ट्रैक्टर चलित गहाई मशीन का उपयोग** : कृषि क्षेत्र में बढ़ती हुई उत्पादकता एवं उत्पादन स्तर के कारण फसल की गहाई एवं सफाई में भी थ्रेसर, विनोवर एवं ट्रैक्टर से चलित गहाई मशीन का उपयोग किया जाता है। पूर्व में कृषक खाद्यान्नों की गहाई एवं सफाई बैल एवं मानव श्रम शक्ति द्वारा किया करते थे, जिसमें समय की अधिकता के साथ-साथ लागत भी अधिक आती थी। वर्तमान में अधिकांश कृषक अपनी फसल की गहाई एवं सफाई थ्रेसर द्वारा ही कराते हैं। समृद्ध कृषक एवं अन्य व्यवसायी इनकी सेवायें फसल की कटाई के समय निर्धारित दर पर उपलब्ध कराते हैं। इनके उपयोग से कृषकों को खलिहान में अधिक समय तक गहाई के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी होती है। साथ ही समय से पूर्व होने वाली वर्षा के कारण उत्पाद को खराब होने से भी बचा लेते हैं। बाजार में शीघ्र फसल को बेचकर अच्छी कीमत भी कृषक प्राप्त कर सकते हैं।

कृषि यन्त्रों के बढ़ते उपयोग के कारण मरम्मत, पूर्जों की उपलब्धि एवं रखरखाव की सेवाओं की आवश्यकता में भी वृद्धि हुई है, जिसके कारण अनेक स्थानों पर वर्कशॉप भी स्थापित हो गये हैं। कृषि यन्त्र के खराब होने पर कृषक अपने कृषि यन्त्र एवं मशीनों को वर्कशाप में ठीक कराकर समय पर कृषि कार्य पूरा कर सकते हैं। अधिकांश मरम्मत सेवाओं के लिए स्थापित वर्कशाप निजी क्षेत्र में है। सार्वजनिक क्षेत्रों में इनका पूर्ण अभाव है। अतः कृषि क्षेत्र में बढ़ते हुए मशीनीकरण के कारण, गाँवों में वर्कशाप का होना भी आवश्यक है। कृषक अपनी मशीनों एवं कृषि यन्त्रों के खराब होने पर बिना समय खराब किए उचित कीमत पर आवश्यक पुर्जे एवं मरम्मत की सुविधा इन वर्कशाप से प्राप्त कर सकते हैं।

12.2.8 **कृषि ऋण** : कृषि उत्पादन के लिए ऋण भी महत्वपूर्ण निविष्ट है। वर्तमान में ऋण एक अपरिहार्य निविष्ट है। इसके बिना उत्पादन प्राप्त करना संभव नहीं है, क्योंकि कृषि उत्पादन के लिए आवश्यक सभी निविष्ट-उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयाँ, कृषि यन्त्र, सिंचाई हेतु विद्युत एवं डीजल तेल व मानव श्रम की प्राप्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। कृषकों के पास उपलब्ध धन नगण्य होता है, क्योंकि कृषि में बचत कम होती है। अतः कृषकों द्वारा आवश्यक धन की पूर्ति दूसरों से ऋण प्राप्त करके ही पूरी की जाती है। हरित क्रान्ति के पश्चात् कृषि क्षेत्र में ऋण की आवश्यकता पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गई है।

आवश्यक ऋण की पूर्ति के दो प्रमुख स्रोत हैं - संस्थागत (सरकार, वाणिज्यिक बैंक, सहकारी बैंक एवं समितियाँ एवं निगम) तथा गैर संस्थागत (साहूकार, रिश्तेदार, जमींदार, व्यापारी एवं अन्य)। संस्थागत ऋण अभिकरणों की महत्वता निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह अभिकरण कृषकों को कुल ऋण आवश्यकता का मात्र 7.3 प्रतिशत अंशदान वर्ष 1951-52 में प्रदान करते थे, जो बढ़कर 1961-62 में 18.7 प्रतिशत, 1971-72 में 25 प्रतिशत एवं वर्तमान में 40 प्रतिशत अंश प्रदान करते हैं। गैर संस्थागत अभिकरणों की महत्वता निरन्तर कम होती जा रही है, क्योंकि यह कृषकों से अधिक ब्याज की राशि वसूल करने के अतिरिक्त अनेक कूचालों के कारण उनका शोषण भी करते हैं। संस्थागत अभिकरण कृषकों से उचित ब्याज लेने के साथ-साथ तकनीकी सलाह भी प्रदान करते हैं।

बैंक राष्ट्रीयकरण के उपरान्त (जुलाई, 1969) कृषि क्षेत्र में ऋण की पूर्ति करने के लिए वाणिज्यिक बैंक प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं। वाणिज्यिक बैंकों ने अनेक योजनाएं भी कृषकों को आवश्यक राशि में ऋण कम ब्याज दर पर उपलब्ध कराने के लिए प्रारंभ की है जैसे अग्रणी बैंक योजना, विभेदक ब्याज दर नीति, गाँवों में राष्ट्रीयकृत बैंकों की शाखाएं स्थापित करना, आंचलिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना आदि।

बोध प्रश्न

1. कृषि उत्पादन के लिए प्रमुख कृषि निविष्ट कौन-कौन से है?
2. उन्नत बीजों के प्रसार के लिए आवश्यक पहलुओं का वर्णन कीजिए।
3. कृषि उत्पादन में उर्वरकों का योगदान स्पष्ट कीजिए।
4. उन्नत बीज, उर्वरक एवं सिंचाई सुविधा कृषि उत्पादन में वृद्धि का एक त्रिस्तरीय संयोग है। स्पष्ट कीजिए।
5. कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने में कृषि यन्त्रीकरण की महत्ता स्पष्ट कीजिए।

12.3 सारांश

वर्तमान में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए कृषि निविष्टों का संतुलित मात्रा में सही समय पर उपयोग अति आवश्यक है। इनके उपयोग से कृषि उत्पादन के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है। कृषि निविष्टों की मात्रा में हुई वृद्धि के कारण इनके उत्पादन तथा उपयोग विधि में भी परिवर्तन आया है। इनके उत्पादन में वृद्धि लाने हेतु तथा इनके उपयोग में विधि में सुधार हेतु भी अनुसंधान प्रयास जारी है।

कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रमुख कृषि निविष्ट कृषि आगत उन्नत बीज, उर्वरक, सिंचाई सुविधा, पौध संरक्षण उपाय, विद्युतीकरण एवं डीज़ल तेल, उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनें एवं कृषि ऋण हैं। कृषि के क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि हेतु इन निविष्टों को पैकेज के रूप में उचित स्तर तक उपयोग करना आवश्यक है। इनके वैयक्तिक उपयोग से उत्पादन का अनुकूलतम स्तर प्राप्त नहीं हो सकता है।

12.4 शब्दावली

कृषि निविष्ट/कृषि आगत — सामान्य रूप से ऐसी वस्तु होती है जिन्हें कृषक अपने फार्म पर उत्पादन प्रक्रिया में प्रयुक्त करने के लिए क्रय करते हैं।

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

(i) Acharya, S.S. and Agarwal, N.L., Agricultural Marketing in India, Oxford and IBH Publishing Co, New Delhi, 1987, pp. 171-220.

(ii) Kahlan A.S. and George M.V; Agricultural Marketing and Price Policies, Allied Publishers Private Limited, New Delhi, 1985, pp. 126-129.

(ii) Journals and Periodicals

(A) Agricultural Situation in India - Monthly

(B) Fertiliser News - monthly

(C) Fertilizer marketing - Quarterly

(D) Seeds and Farms Journal

(E) Indian Journal of Agricultural Economics Quarterly.

इकाई 13

हरित क्रान्ति
(Green Revolution)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 हरित क्रान्ति

- 13.2.1 हरित क्रान्ति से तात्पर्य
- 13.2.2 हरित क्रान्ति का प्रादुर्भाव
- 13.2.3 हरित क्रान्ति के अवयव
- 13.2.4 हरित क्रान्ति का कृषि क्षेत्र पर आर्थिक प्रभाव
- 13.2.5 हरित क्रान्ति का सामाजिक प्रभाव
- 13.2.6 हरित क्रान्ति का कृषि श्रम की आवश्यकता पर प्रभाव

13.3 सारांश

13.4 शब्दावली

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

13.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास विषय के इस तृतीय खण्ड की प्रस्तुत इकाई में कृषि क्षेत्र में आई हरित क्रान्ति से सम्बन्धित ज्ञान का विवेचन किया जा रहा है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे :—

* हरित क्रान्ति से क्या तात्पर्य है? हरित क्रान्ति का देश में प्रादुर्भाव किस प्रकार एवं किस समय हुआ?
* हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव कौन-कौन से हैं? विभिन्न कृषि निवेशों का हरित क्रान्ति लाने में क्या योगदान है?
* हरित क्रान्ति के कारण कृषि क्षेत्र में आए आर्थिक प्रभाव जान सकेंगे।
* हरित क्रान्ति के कारण कृषकों एवं विभिन्न क्षेत्रों के कृषि क्षेत्र में प्राप्त आय पर प्रभाव पड़ा है?
* हरित क्रान्ति के कारण कृषि श्रम की माँग एवं देश में रोजगार उपलब्धि पर होने वाले प्रभाव को जान सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

वर्ष 1965-66 व 1966-67 के सूखा ने देश में खाद्यान्न उपलब्धियों की समस्या को विषम बना दिया और उत्पन्न स्थिति ने कृषि वैज्ञानिकों के समक्ष कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए चुनौती दी। कृषि वैज्ञानिकों ने अपने अथक अनुसंधान परिणामों के फलस्वरूप उन्नत किस्म के बीज, विभिन्न उर्वरक, कीटनाशी दवाईयों एवं उन्नत कृषि यन्त्र तथा कृषि उत्पादन की नई विधि का आविष्कार किया। दूसरी ओर सरकार ने भूमिसुधार एवं कृषि क्षेत्र में आवश्यक आधार धारिक संरचनाओं में सुधार एवं विकास भी किया। अतः भूमिसुधार कार्यक्रम एवं कृषि निविष्टों एवं उचित कृषि विधि के उपयोग तथा प्रसार ज्ञान के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न (प्रमुखतया गेहूँ, चावल एवं मोटे अनाज) में तीव्र दर से वृद्धि हुई। इस खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि की हुई असाधारण दर को कृषि वैज्ञानिकों ने हरित क्रान्ति का नाम दिया। इसके कारण खाद्यान्न उत्पादन, कृषकों की आय एवं कृषि श्रम की माँग में वृद्धि हुई। प्रस्तुत इकाई में इन पहलुओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

13.2 हरित क्रान्ति (Green Revolution)

13.2.1 **हरित क्रान्ति से तात्पर्य :** हरित क्रान्ति, हरित एवं क्रान्ति शब्द के मिलने से बना है। क्रान्ति से तात्पर्य किसी घटना में द्रुतगति से परिवर्तन होने तथा उन परिवर्तनों का प्रभाव आने वाले लम्बे समय तक रहने से है। हरित शब्द कृषि फसलों का सूचक है। अतः हरित क्रान्ति से तात्पर्य कृषि उत्पादन में अल्पकाल में विशेष गति से वृद्धि का होना तथा उत्पादन की यह वृद्धि दर आने वाले लम्बे समय तक बनाये रखने से है। दूसरे शब्दों में हरित क्रान्ति से अभिप्राय: देश के सिंचित एवं असिंचित कृषि क्षेत्रों में अधिक उपज देने वाले संकर एवं बौनी किस्म के बीजों के उपयोग द्वारा कृषि उत्पादन में द्रुतगति से वृद्धि करना है। अधिक उत्पादन देने वाली किस्मों के बीजों द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करना, अथवा कृषि विकास के क्षेत्र में अपनाये जा रहे नये तकनीकी ज्ञान को ही "हरित क्रान्ति" का नाम दिया गया है।

13.2.2 **हरित क्रान्ति का प्रार्दुभाव :** भारत में हरित क्रान्ति वर्ष 1966-67 के उपरान्त काल में आई है। यह हरित क्रान्ति, कृषि क्षेत्र में नये तकनीकी ज्ञान के आविष्कार एवं प्रसार का परिणाम है। हरित क्रान्ति के जन्मदाता का श्रेय नोबल पुरस्कार विजेता प्रो० नोरमन बारलोग को जाता है।

देश में कृषि क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान का आविष्कार एवं उसका बृहत स्तर पर उपयोग, उन्नत एवं अधिक उत्पादन देने वाले संकर एवं बौने किस्म के बीजों का आविष्कार, विभिन्न उर्वरकों का अधिक मात्रा में उत्पादन एवं संतुलित मात्रा में उपयोग, सिंचाई सुविधाओं का विकास, कीटनाशक दवाईयों का उपयोग, कृषि क्षेत्र में उन्नत औजार एवं मशीनों का अधिकाधिक उपयोग, कृषि में विद्युतीकरण, कृषि क्षेत्र में ऋण का विस्तार, आदि के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप वर्ष 1966-67 के उपरान्त काल में उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। उत्पादन वृद्धि की इस असाधारण गतिदर को देश के कृषि वैज्ञानिकों ने हरित क्रान्ति का नाम दिया है। इस प्रकार हरित क्रान्ति का प्रार्दुभाव देश में वर्ष 1966-67 के उपरान्त काल में हुआ है।

13.2.3 **हरित क्रान्ति के अवयव :** हरित क्रान्ति का प्रमुख अवयव अधिक उत्पादन देने वाली बौनी एवं संकर किस्म के उन्नत बीजों का आविष्कार है। इनके आविष्कार एवं उपयोग से भूमि की उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ फार्म पर फसल गहनता में भी वृद्धि हुई है। कम समय में पकने वाली किस्मों के आविष्कार के कारण कृषक अब वर्ष में दो फसलों के स्थान पर

तीन एवं चार फसल भी लेने में सक्षम हो गये हैं। इस प्रकार प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से वर्ष में कृषि उत्पादों की प्राप्त उत्पादन मात्रा पहले की अपेक्षा कई गुना प्राप्त होने लग गई है। उन्नत किस्म के बीजों से कृषि करने के लिए सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि, उर्वरकों की खपत की मात्रा में वृद्धि, फसल संरक्षण उपाय अपनाने, कृषि कार्यों को समय एवं उचित दक्षता से पूरा करने के लिए कृषि यन्त्रों एवं मशीनों का उपयोग भी आवश्यक हो गया है। कृषि उत्पादन में वृद्धि की यह असाधारण गति, इन सभी उपायों के सम्मिलित प्रयास का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में इन उपायों के एक पैकेज के रूप में ही अपनाने से कृषि उत्पादन में यह वृद्धि दर प्राप्त हो पाई है। अतः हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव निम्न है:-

1. अधिक उपज देने वाले संकर एवं बौनी किस्मों के उन्नत बीजों का उपयोग।
2. बहुफसलीय कार्यक्रम का विस्तार।
3. उर्वरकों का उचित समय पर सिफारिश मात्रा में सन्तुलित रूप से उपयोग।
4. सिंचाई सुविधाओं का विकास।
5. फसल संरक्षण उपायों का अपनाना।
6. कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आवश्यक आधारभूत सुविधाओं जैसे कृषि ऋण की उपलब्धि, कृषि विपणन के लिए परिवहन, संग्रहण एवं मण्डी सुविधाओं का विकास, आदि।
7. कृषकों को उत्पाद की प्रेरणादायक कीमतें प्रदान करना।
8. कृषि शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान सुविधाओं का विकास।
9. कृषि क्षेत्र में विद्युत का प्रसार।

हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के पूर्व, कृषक फार्म पर उत्पादन बढ़ाने के लिए पुरानी विधियों, फार्म पर उत्पादित बीज एवं खाद तथा उत्पादन वृद्धि के अन्य साधनों का कम मात्रा में उपयोग करते थे, जिसके कारण उन्हें भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन की मात्रा कम प्राप्त होती थी। हरित क्रान्ति के कारण कृषक निश्चितता (Stagnation) की स्थिति से बाहर जाकर गतिशीलता के क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं।

13.2.4 **हरित क्रान्ति का कृषि क्षेत्र पर प्रभाव :** हरित क्रान्ति के फलस्वरूप देश के सभी क्षेत्रों के सभी जोत कृषकों को लाभ प्राप्त हुआ है। यह लाभ उनको फार्म पर प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादकता एवं आय में वृद्धि के कारण प्राप्त होता है। लेकिन यह लाभ विभिन्न कृषकों को उनके द्वारा प्रायोगित ज्ञान के स्तर की विभिन्नता के कारण समान मात्रा में प्राप्त नहीं होकर, अपनाये गये तकनीकी ज्ञान स्तर की विभिन्नता के कारण विभिन्न मात्रा में प्राप्त होता है। अधिक लाभ प्राप्त होने वाले एवं कम लाभ प्राप्त होने वाले दोनों ही प्रकार के कृषक हरित क्रान्ति के प्रति जागरूक है। आय की असमानता ने सामाजिक विषमताओं को भी जन्म दिया है। अतः यहाँ पर हरित क्रान्ति के उपरोक्त दोनों प्रकार के प्रभावों की विवेचना की जा रही है।

हरित क्रान्ति का कृषि क्षेत्र पर आने वाले प्रभाव को निम्न दो श्रेणियों में विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता है :—

1. आर्थिक प्रभाव (Economic Impact)
   - अ. कृषि उत्पादों की उत्पादकता में वृद्धि।
   - ब. कृषि उत्पादन में वृद्धि।

2. सामाजिक प्रभाव (Sociological Impact)

अ. कृषकों की व्यक्तिगत आय असमानता में वृद्धि।

ब. विभिन्न क्षेत्र के कृषकों की आय असमानता में वृद्धि।

हरित क्रान्ति का आर्थिक प्रभाव : हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि उत्पादों की प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से प्राप्त उत्पादकता एवं अल्पकाल में पकने वाली किस्मों के आविष्कार के कारण फसल गहनता में वृद्धि के कारण प्रति फार्म प्राप्त उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादों की उत्पादन लागत में कमी आई है तथा कृषकों को अपने फार्म क्षेत्र से अधिक शुद्ध लाभ की राशि प्राप्त होने लग गई है। इस प्रकार कृषकों के आर्थिक स्तर में सुधार हुआ है। इन्हें कृषि क्षेत्र में हरित क्रान्ति का आर्थिक प्रभाव कहा गया है।

(1) कृषि उत्पादों की उत्पादकता में वृद्धि :

हरित क्रान्ति का प्रथम आर्थिक प्रभाव, कृषि उत्पादों की प्रति हैक्टर भूमि के क्षेत्र से प्राप्त उत्पादकता स्तर में वृद्धि होना है। निम्न सारणी में भारत में विभिन्न फसलों की विभिन्न काल में भूमि के प्रति हैक्टर क्षेत्र से प्राप्त उत्पादकता प्रदर्शित की गई है।

सारणी - 13.1 भारत में विभिन्न फसलों की उत्पादकता

(किलोग्राम प्रति हैक्टर)

फसल	वर्ष							
	1950-51	1965-66	1969-70	1975-76	1980-81	1984-85	1985-86	1994-95
गेहूँ	663	827	1209	1410	1630	1870	2046	2550
चावल	668	--	1073	1235	1336	1417	1368	1920
ज्वार	–	–	522	591	660	713	633	780
बाजरा	–	–	426	496	458	569	344	–
मक्का	–	–	968	1203	1139	1456	1146	1490
अनाज	–	–	865	1041	1142	1285	1323	–
दलहन	–	–	531	533	473	526	544	–
मूँगफली	–	–	720	935	736	898	719	1040
कपास	88	–	122	138	132	196	197	246

Source : Indian Agriculture in Brief, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi - Various issues.

सारणी से स्पष्ट है कि हरित क्रान्ति के बाद के वर्षों में देश में विभिन्न फसलों की उत्पादकता के स्तर में विशेष दर से वृद्धि हुई है। यह वृद्धि दर खाद्यानों में अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक हुई है। गैर खाद्यान्नों वाली फसलों की उत्पादकता में वृद्धि की दर कम है। खाद्यानों में गेहूँ एवं चावल की उत्पादकता में वृद्धि की गति अन्य खाद्यान्नों जैसे ज्वार, बाजर, मक्का एवं जौ की अपेक्षा अधिक है। इसी कारण अनेक वैज्ञानिकों ने इसे हरित क्रान्ति के स्थान पर गेहूँ क्रान्ति से भी सम्बोधित किया है।

(2) कृषि उत्पादन में वृद्धि :

हरित क्रान्ति का दूसरा आर्थिक प्रभाव कृषि क्षेत्र में, कुल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होना है। हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के उपरान्त देश में कृषि उत्पादन की कुल मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि है जो सारणी 13.2 से स्पष्ट है :-

सारणी - 13.2 देश में खाद्यान्नों का उत्पादन

(मिलियन टन)

वर्ष	कुल खाद्यान्न उत्पादन	चावल उत्पादन	गेहूँ उत्पादन
1950-51	50.92	—	6.46
1960-61	82.02	—	—
1965-66	72.347	—	10.39
1970-71	108.422	42.23	23.83
1975-76	121.030	48.74	28.85
1980-81	129.590	55.63	36.31
1982-83	129.520	47.12	42.79
1983-84	152.037	60.10	45.48
1985-86	150.440	63.82	47.05
1986-87	143.420	60.56	44.32
1987-88	138.410	56.43	45.10
1990-91	176.000	75.00	55.0
1996-97	191.000	81.00	65.0
1997-98	192.004	82.03	65.9
1998-99(Estimate)	195.002	82.02	69.1

वर्ष 1965-66 के उपरान्त कुल खाद्यान्नों के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि हुई है, जिसका प्रमुख श्रेय हरित क्रान्ति को जाता है। खाद्यान्नों का उत्पादन स्तर वर्ष 1965-66 में 72.347 मिलियन टन था जो बढ़कर 1970-71 में 108.422 मिलियन टन, 1975-76 में 121.03 मिलियन टन, 1980-81 में 129-590 मिलियन टन एवं 1985-86 में 130-440 मिलियन टन हो गया। 1996-97 में कुल खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 191 मिलियन टन हो गया था जो 1998-99 में 195.2 मिलियन टन हो जाने का अनुमान है। देश में सूखा के कारण वर्ष 1986-87 एवं 1987-88 में खाद्यान्न उत्पादन में गिरावट आई है। इस प्रकार पिछले 20 वर्षों में खाद्यान्नों के उत्पादन स्तर में 100 प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई है। इस शताब्दी के अन्त तक देश की 95 करोड़ जनसंख्या के लिए खाद्यान्न आवश्यकता 200 मिलियन टन होने का अनुमान है जो आशा है कि हरित क्रान्ति के कारण प्राप्त हो सकेगी।

खाद्यान्नों के अन्तर्गत सर्वाधिक उत्पादन वृद्धि गेहूँ के उत्पादन में हुई है। गेहूँ का उत्पादन

वर्ष 1965-66 में 10.39 मिलियन टन था, वह बढ़कर 1996-97 में 65 मिलियन टन पहुँच गया अर्थात् उत्पादन में 6 गुना से अधिक वृद्धि हुई है वर्ष 1998-99 में गेंहूँ का उत्पादन 69 मिलियन टन होने की संभावना है। ऐसा संसार के इतिहास में अद्वितीय है। उपरोक्त काल में धान (चावल) एवं मोटे अनाजों के उत्पादन में भी विशेष दर से वृद्धि हुई है। दलहन एवं तिलहन फसलों के उत्पादन में विशेष वृद्धि नहीं हुई है।

13.2.5 **हरित क्रान्ति का सामाजिक प्रभाव** : हरित क्रान्ति के उपरोक्त आर्थिक प्रभावों के फलस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में निम्न सामाजिक विषमताएं भी उत्पन्न हो गई है जिनके कारण विभिन्न जोत स्तर के कृषकों एवं विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों में वैमनस्यता की भावना को बढ़ावा मिलता है। हरित क्रान्ति के सामाजिक क्षेत्र में आनेवाले कुप्रभाव निम्न दो श्रेणी में विभक्त किये गये हैं :

(1) **कृषकों की व्यक्तिगत आय असमानता में वृद्धि** :

हरित क्रान्ति के कारण वर्तमान में व्याप्त दीर्घ एवं लघु जोत कृषकों अथवा धनी एवं निर्धन वर्ग कृषकों के मध्य पाये जाने वाली आय असमानता में वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति के फलस्वरूप धनी कृषक अधिक धनी हो गये हैं और गरीब कृषक उसी आय स्तर पर रह जाने से दोनों वर्गों के कृषकों के मध्य पाई जाने वाली आय के अन्तर में वृद्धि हुई है।

वैज्ञानिकों का मानना है कि नया तकनीकी ज्ञान स्तर अथवा हरित क्रान्ति उत्पादन के पैमाने के प्रति उदासीन (Neutral to Scale) होता है। अर्थात् सभी जोत स्तर के कृषक तकनीकी ज्ञान के उपयोग से समान उत्पादकता स्तर प्राप्त कर सकते हैं। तकनीकी दृष्टिकोण से वैज्ञानिकों का यह दृष्टिकोण सही है, लेकिन संस्थागत कारणों से बड़े कृषक हरित क्रान्ति से वास्तविक परिस्थिति में अधिक लाभ प्राप्त कर पाने में सक्षम होते हैं। मध्यम एवं लघु जोत कृषकों को दीर्घ जोत कृषकों के समान मात्रा में लाभ प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार के अन्तर का प्रमुख कारण नये तकनीकी ज्ञान के उपयोग में काफी मात्रा में पूँजी का निवेश होना है। नये तकनीकी ज्ञान में उन्नत बीज, आवश्यक मात्रा में उर्वरक एवं कीटनाशी दवाईयाँ, सिंचाई के लिए विद्युत का उपयोग, उन्नत कृषि यन्त्रों की आवश्यकता, आदि के फलस्वरूप फसलों के कृषित करने पर प्रति हैक्टर व्यय राशि अधिक आती है। उत्पादन के विभिन्न निविष्ट सम्मिलित रूप में (पैकेज) उपयोग करने से ही आवश्यक उत्पादन स्तर या आय प्राप्त कराने में सक्षम होते हैं। पूँजी का इतनी अधिक मात्रा में निवेश करना, लघु एवं मध्यम जोत अथवा निर्धन कृषकों के लिए संभव नहीं होता है क्योंकि उनके पास संचय की गई धनराशि का अभाव होता है। साथ ही इन कृषकों को संस्थागत साधनों से प्रतिभूत के अभाव में आवश्यक राशि में ऋण सुविधा भी उपलब्ध नहीं हो पाती है। अतः आवश्यक राशि में धन के अभाव में हरित क्रान्ति का पूर्ण लाभ सीमान्त, लघु एवं मध्यम जोत कृषकों अथवा निर्धन कृषकों को नहीं मिल पाता है, जबकि दीर्घ जोत कृषक या धनी कृषक संस्थागत साधनों से आवश्यक राशि में ऋण प्राप्त करने में सक्षम होते हैं और उनके पास पूर्व बचत की राशि भी होती है जिन्हें वे कृषि में निवेश करके अधिक लाभ कमा पाते हैं इस प्रकार हरित क्रान्ति के कारण वास्तविक परिस्थिति में विभिन्न स्तर के कृषकों को प्राप्त होने वाले लाभ की कुल राशि में अन्तर होता है जिसके कारण धनी कृषक पूर्व की अपेक्षा अधिक धनी एवं निर्धन कृषक पहले की अपेक्षा निर्धन होने से, दोनों स्तर के कृषकों के मध्य पाये जाने वाली आय के अन्तर में निरन्तर वृद्धि हुई है। कृषक समाज धनी एवं निर्धन वर्ग में विभक्त होते जा रहा है। इस आय असमानता की बढ़ती हुई खाई ने उनमें आपस में वैमनस्यता की भावना जागृत कर दी है।

नये तकनीकी ज्ञान स्तर के उपयोग में जोखिम की अधिकता के कारण, लघु एवं निर्धन

वर्ग के कृषक जोखिम वहन क्षमता के कम होने के कारण, इस ज्ञान को देर से अपनाते हैं। जबकि दीर्घ जोत कृषक या धनी कृषक कृषि प्रसार अधिकारियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर शीघ्र अपना पाने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार नये ज्ञान को सर्वप्रथम अपनाने वाले कृषक (Early adopters), देर से अपनाने वाले (late adopters) या पिछड़े कृषकों (laggards) की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त ही नहीं करते हैं, बल्कि लाभ की राशि भी बहुत पहले प्राप्त करते हैं। अन्य कृषक जब इस ज्ञान स्तर को-अपना लेते हैं तो प्रतिस्पर्धा के बढ़ने के कारण प्रति इकाई लाभ कम होता जाता है। अतः लघु एवं निर्धन वर्ग कृषकों को लाभ कम प्राप्त होने के साथ-साथ, उन्हें लाभ देर से भी प्राप्त होता है जिससे दोनों वर्गों के कृषकों के मध्य की खाई अत्याधिक विस्तृत होती जा रही है।

(2) **विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों की आय असमानता में वृद्धि** (Regional Disparities in income of the farmers)

नये तकनीकी ज्ञान अर्थात् हरित क्रान्ति का दूसरा सामाजिक कुप्रभाव देश के विभिन्न राज्यों के कृषकों अथवा एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों की आय असमानता में वृद्धि करना है। हरित क्रान्ति का अपनाना उन ही क्षेत्रों में संभव हो सका है, जहाँ पर पर्याप्त एवं समुचित सिंचाई सुविधायें उपलब्ध है। पर्याप्त सिंचाई सुविधा नहीं होने वाले क्षेत्रों अर्थात् सूखे क्षेत्रों में उन्नत एवं संकर बीज एवं उर्वरकों का उपयोग संभव नहीं होता है। सिंचाई की सुविधा देश के सभी राज्यों एवं राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में समान नहीं है। वर्तमान में देश के 30 प्रतिशत क्षेत्र में ही सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है एवं शेष 70 प्रतिशत क्षेत्र कृषि उत्पादन के लिए वर्षा पर ही निर्भर है। उदाहरण के लिए पंजाब एवं हरियाणा राज्य में सिंचाई की सुविधा अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार राजस्थान राज्य के श्रीगंगानगर एवं कोटा जिलों में सिंचाई की पर्याप्त सुविधा नहरों के विस्तार के कारण विद्यमान है, जबकि पश्चिमी राजस्थान के जिलों में सिंचाई सुविधाओं का अभाव है। इस कारण उन राज्यों एवं क्षेत्रों के कृषकों को जहाँ पर पर्याप्त सिंचाई सुविधा विद्यमान है, आय अधिक प्राप्त होती है। तथा सुखाग्रस्त एवं कम सिंचाई वाले क्षेत्रों में हरित क्रान्ति का प्रभाव कम अथवा नगण्य है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध सिंचाई सुविधा के कारण क्षेत्रिक आय असमानता में भी वृद्धि हुई है। जो क्षेत्र पहले समृद्धशाली थे, वे हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के कारण अधिक समृद्धशाली हो गये हैं और पिछड़े राज्य/क्षेत्र अधिक पिछड़ गये हैं। इस प्रकार हरित क्रान्ति के आर्थिक प्रभाव के साथ-साथ देश में सामाजिक कुप्रभाव भी आये हैं।

देश में खाद्यान्नों की कमी एवं बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्नों की आपूर्ति में वृद्धि करने के लिए हरित क्रान्ति का आना देश के लिए वरदान साबित हुआ है। इसी हरित क्रान्ति से हम पूर्ण आशान्वित है कि आने वाले समय में उत्पादन में और अधिक वृद्धि करके बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न आवश्यकता की पूर्ति करके देश खाद्यान्न उत्पादन में आत्म-निर्भर रह सकेगा।

13.2.6 **हरित क्रान्ति का कृषि श्रम पर प्रभाव** : भारतीय कृषि में उन्नत बीज, तकनीकी ज्ञान एवं यन्त्रीकण का उपयोग पिछले दो दशकों से निरन्तर बढ़ता जा रहा है। परिणाम स्वरूप प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र की उत्पादकता एवं आय में वृद्धि हुई है। लेकिन इन सबके उपयोग से कृषि श्रम की माँग पर पड़ने वाले प्रभावों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ व्याप्त है। कुछ व्यक्तियों का मत है कि कृषि में यन्त्रीकरण को अपनाने से श्रमिकों में बेरोजगारी बढ़ती है जो कि भारत जैसे अधिक श्रमशक्ति वाले देश के लिए उचित नहीं है। अन्य व्यक्तियों का मत है कि कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने से भूमि की उत्पादकता में वृद्धि होती है जिससे श्रम की

मांग में वृद्धि होती है एवं उपलब्ध रोजगार में वृद्धि होती है। कृषि में मात्र यन्त्रीकरण अपनाने से उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है बल्कि उन्नत बीज, उर्वरक, सिंचाई के जल, कृषि में उन्नत यन्त्रों एवं नए तकनीकी ज्ञान के सम्मिलित उपयोग से उत्पादन वृद्धि होती है। अतः इस भाग में हरित क्रान्ति के भिन्न अवयवों के सामाजिक उपयोग के कारण कृषि श्रम पर आने वाले प्रभाव का वर्णन किया गया है।

हरित क्रान्ति का कृषि श्रम पर दो प्रकार का प्रभाव आता है:-

(i) **प्रत्यक्ष प्रभाव–** उन्नत बीजों के उपयोग नए तकनीकी ज्ञान तथा कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने का कृषि श्रम की आवश्यकता पर आने वाला प्रभाव धनात्मक होता है, क्योंकि कम अवधि में पकने वाली किस्मों को अपनाने से कृषक भूमि के एक इकाई क्षेत्र से वर्ष में 3 से 4 फसले सुगमता से लेकर बहुफसलीय कार्यक्रम अपना पाते हैं। इसमें फार्म पर फसल गहनता (cropping intensity) एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है। अधिक उत्पादन की मात्रा की कटाई, गहाई, ढुलाई के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के आने वाले प्रभावों को प्रत्यक्ष प्रभावों की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है क्योंकि इस प्रकार के प्रभावों को सुगमता से आकलन किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कृषि आयोग के वृतांत से स्पष्ट है कि क्षेत्र में अधिक पैदावार देने वाले उन्नत किस्मों को लेने से देशी किस्मों की अपेक्षा 30 मानव दिवस प्रति एकड प्रति वर्ष श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बहुफसलीय कार्यक्रम को एक एकड़ भूमि क्षेत्र पर अपनाने से 26 मानव दिवस श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा किए गए अध्ययनों से भी ऐसे प्रमाण प्राप्त हुए हैं। श्रम की आवश्यकता में सभी जोत कृषकों के यहां वृद्धि होती है।

(ii) **अप्रत्यक्ष प्रभाव –** उन्नत बीजों एवं कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने से कृषि श्रम की माँग पर आने वाले दूसरे प्रकार के प्रभाव को अप्रत्यक्ष श्रेणी के होते हैं। फार्म पर उन्नत बीजों को अधिक मात्रा में उपयोग करने से सिंचाई, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयों का अधिक मात्रा में उपयोग करना होता है। कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने से कृषि यन्त्रों के निर्मित करने, विक्रय करने एवं उन्हें कार्यगत रखने के लिए श्रमिकों की अधिक आवश्यकता होती है। अतः उत्पादन साधनों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिये इनके उत्पादन विपणन आदि कार्यों के लिये अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है जिससे श्रम की कुल आवश्यकता में वृद्धि होती है। इस प्रकार अतिरिक्त श्रम की मात्रा में जो वृद्धि होती है वह अप्रत्यक्ष प्रभाव की श्रेणी में आती है क्योंकि इस प्रकार के प्रभावों के आकलन का कार्य कठिन होता है।

अतः हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि श्रम की माँग में वृद्धि होती है। मांग में परिवर्तन के साथ-साथ श्रम की विभिन्न समय में होने वाली माँग की मात्रा में भी परिवर्तन होता है। श्रम की कम माँग वाले मौसम एवं अधिक माँग वाले मौसम के रूप में भी परिवर्तन होता है तथा विभिन्न महीनों में श्रमिकों की मांग की असमानता भी कम हो जाती है।

बोध प्रश्न

1. **हरित क्रान्ति** से क्या अभिप्राय है?
2. **हरित क्रान्ति** के प्रमुख अवयव कौन-कौन से है?
3. **हरित क्रान्ति** को "गेहूँ-क्रान्ति" के नाम से क्यों सम्बोधन किया जाता है?
4. **हरित क्रान्ति** के आर्थिक एवं सामाजिक प्रभावों की विवेचना कीजिए।

13.3 सारांश

हरित क्रान्ति से तात्पर्य कृषि उत्पादन में अल्पकाल में विशेष गति से वृद्धि का होना तथा यह वृद्धि दर लम्बे समय तक बने रखने से है। देश में हरित क्रान्ति का प्रार्दुभाव वर्ष 1966-67 के उपरान्त काल में हुआ है और इसके जन्मदाता का श्रेय प्रो. नारमन बोरलोग को है।

हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव-अधिक उपज देने वाले संकर एवं बौनी किस्मों के उन्नत बीज, बहुफसलीय कार्यक्रम, उर्वरकों का सन्तुलित मात्रा में उपयोग, सिंचाई सुविधाओं का विकास फसल संरक्षण उपायों का अपनाना, आधारभूत सुविधाओं का विकास करना, कृषकों को प्रेरणादायक कीमतें प्रदान करना, कृषि शिक्षा, प्रशिक्षण सुविधा एवं अनुसन्धान का विकास एवं कृषि क्षेत्र में विद्युत प्रसार का होना है।

हरित क्रान्ति के कारण निम्न दो प्रकार के आर्थिक प्रभाव कृषि क्षेत्र में आए हैं :

(i) कृषि उत्पादों की उत्पादकता में वृद्धि होना।

(ii) कृषि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होना।

इन दोनों ही प्रभावों के कारण कृषकों की आय में वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति के कारण आए सामाजिक प्रभाव भी निम्न दो प्रकार के होते है :

(i) कृषकों की व्यक्तिगत आय असमानता में वृद्धि होना।

(ii) विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों की आय असमानता में वृद्धि होना।

हरित क्रान्ति के कारण कृषि श्रम की कुल माँग में भी वृद्धि हुई है तथा कृषि श्रम के माँग के समय में भी परिवर्तन आया है।

13.4 शब्दावली

Green Revolution – Can be defined as a change from traditional farming to a production syndrome encompassing the use of high yielding grain seed genotype, chemical fertilisers, non traditional farm management techniques and modern irrigation equipment and machinery.

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

(i) अग्रवाल, एन.एल., भारतीय कृषि का अर्थतंत्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्लाट नं. 1, मालाना संस्थानिक क्षेत्र जयपुर

(ii) Indian Journal of Agricultural Economics-various issues.

इकाई 14

भारतीय कृषि विकास की उपलब्धियां तथा कमियाँ (Major Achievements of Agricultural Growth and the Deficiencies)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 नियोजन और कृषि विकास

14.2 कृषि विकास की उपलब्धियाँ

14.2.1 कृषि उत्पादन में वृद्धि

14.2.2 कृषि का आधुनिकीकरण

14.2.3 खाद्यान्न आत्मनिर्भरता

14.3 कृषि क्षेत्र में असन्तुलन व कमियाँ

14.3.1 कृषि उत्पादन की अस्थिरता

14.3.2 फसलवार असन्तुलन

14.3.3 क्षेत्रीय असंतुलन

14.3.4 कृषि विकास और सामाजिक न्याय

14.4 सारांश

14.5 शब्दावली

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.7 निबन्धात्मक प्रश्न

14.0 उद्देश्य

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार है। कुल श्रमिकों का लगभग दो-तिहाई भाग कृषि क्षेत्र से जीविकोपार्जन कर रहा है और राष्ट्रीय आय का लगभग एक-तिहाई भाग कृषि क्षेत्र से ही प्राप्त होता है। कृषि क्षेत्र की उन्नति पर देश के करोड़ों लोगों का आर्थिक भविष्य निर्भर करता है। देश के आर्थिक विकास में भी कृषि की एक महत्वपूर्ण भूमिका हैं। यह कहना अतिशियोक्ति न होगी के भारत वर्ष के लोगों की खुशहाली और भारतीय अर्थ व्यवस्था की प्रगति भारतीय कृषि के विकास के बिना सम्भव नहीं है।

कृषि के विकास को भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं में एक केन्द्रस्थ स्थान दिया गया है। योजना काल में कृषि को एक गतिशीलता प्राप्त हुयी है और कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं।

कृषि उत्पादन तेजी के साथ बढ़ा है और कृषि में आधुनिक तकनीक का काफी व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा है। फिर भी कृषि क्षेत्र में असन्तुलन, असमानता और अस्थिरता की समस्यायें बनी हुयी हैं।

इस इकाई में हम योजनोत्तर काल में भारतीय कृषि की उपलब्धियों और उसकी कमियों की व्याख्या करेंगे। कृषि विकास को आंकने के कई आधार हो सकते हैं। कृषि उत्पादन में वृद्धि की दर एक ऐसा ही प्रमुख आधार है। लेकिन कृषि क्षेत्र की उपलब्धियों को आंकने का सही और व्यापक आधार यह होगा कि हम यह देखें कि कहाँ तक कृषि क्षेत्र के विकास ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख लक्ष्यों जैसे तीव्र वृद्धि दर, आत्म निर्भरता, अधिक रोजगार, क्षेत्रीय व वर्गीय असमानताओं में कमी, आदि को प्राप्त करने में सहायता की है। हमारा यह अध्ययन इसी कसौटी को ध्यान में रखकर किया जायेगा।

इस इकाई में हम योजना काल में हुये कृषि क्षेत्र के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालेगें और उसकी कमियों की ओर संकेत करेगें। सबसे पहले हम योजनाओं में कृषि विकास की प्राथमिकता और नीति की चर्चा करेगें। उसके बाद हम आपको कृषि उत्पादन की वृद्धि दर तथा कृषि क्षेत्र की अन्य उपलब्धियों के बारे में बतायेगे। इकाई के अन्तिम खण्ड में कृषि क्षेत्र के महत्वपूर्ण असंतुलनों की ओर ध्यान आकर्षित किया जायेगा तथा कृषि विकास और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध को देखा जायेगा।

इस इकाई के अध्ययन से आपको भारतीय कृषि की मुख्य उपलब्धियों और कमियों का ज्ञान हो सकेगा तथा भावी कृषि विकास नीति के सम्बन्ध के कुछ सोचने का मौका मिलेगा।

14.1 नियोजन और कृषि विकास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारतीय कृषि एक पिछड़ी हुयी व अवरोध की स्थिति में थी। कृषि की पुरातन तकनीक सदियों से चली आ रहीं थी और औसत पैदावार बहुत कम थी। करोड़ों कृषक दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। पंचवर्षीय योजनाओं में देश के आर्थिक विकास में कृषि की प्रमुख भूमिका को स्वीकार किया गया तथा कृषि विकास के व्यापक कदम उठाये गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के पुनर्संगठन को पूरा महत्व दिया गया तथा कुल योजना परिव्यय का लगभग 37 प्रतिशत कृषि व सिंचाई के लिये आबंटित किया गया। लेकिन यह आंवटन दूसरी पंचवर्षीय योजना में केवल 21 प्रतिशत रह गया, जब औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी गयी। इस दौरान भारत की आयतित खाद्यान्न पर निर्भरता बढ़ती गयी और पुनः तीसरी योजना में कृषि और उद्योगों के सन्तुलित विकास की बात की गयी। तब से कृषि उत्पादन का विकास और ग्रामीण निर्धनता का उन्मूलन योजनाओं के मुख्य लक्ष्यों में रहे हैं, यद्यपि कृषि क्षेत्र को उतने संसाधन प्राप्त नहीं हो सके जितना कि वांछनीय था।

योजना काल के प्रारम्भ में कृषि सुधार के लिये दो प्रकार के कार्यक्रमों पर बल दिया गया। एक तो संस्थात्मक ढाँचे में परिवर्तन जिसके अन्तर्गत भूमि सुधार सहकारिता और सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपनाये गये तथा दूसरा उत्पादन वृद्धि के कार्यक्रम जिसमें तकनीकी सुधार कृषिगत क्षेत्र का विस्तार और सिंचाई की योजनाओं पर बल दिया गया।

योजना काल के प्रथम दशक में खाद्यान्न उत्पादन में लगभग 60 प्रतिशत बढ़ोतरी हुयी, जिसका प्रमुख कारण कृषि के क्षेत्र में वृद्धि था। अतः यह अनुभव किया गया कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रमों पर अधिक जोर दिया जाय। अतः तीसरी पंचवर्षीय योजना में चयनित जिलों में सघन कृषि जिला कार्यक्रम (Integrated District Development Programme)

प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत चयनित जिलों में कृषि विकास के लिये आवश्यक सुविधाओं को एक साथ उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया।

छठवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में खाद्यान्न उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुयी। 1965-66 के भयंकर दुर्भिक्ष से स्थिति और भी गम्भीर हो गयी। अतः सरकार को कृषि विकास की एक नवीन नीति सोचने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस नीति के अन्तर्गत सिंचित क्षेत्रों में उन्नतशील बीजों तथा रसायनिक खाद्य और अन्य साधन उपलब्ध कराने पर बल दिया गया तथा कृषकों को उनके उत्पादन के लिये उचित मूल्य दिलाने की नीति अपनायी गयी। यही नवीन कृषि विकास नीति आगामी वर्षों में भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण का आधार बनी। इस आधुनिक तकनीक के अपनाने से जो कृषि उत्पादन में वृद्धि हुयी इसी को हरित क्रांति के नाम से जाना जाता है जिसकी सफलता के लिये भारत को विश्वभर में सराहा गया।

14.2 कृषि विकास की उपलब्धियाँ

14.2.1 **कृषि उत्पादन में वृद्धि :** नियोजन काल में कृषि उत्पादन में उत्साहवर्धक वृद्धि हुयी है। कृषि उत्पादन का सूचनांक जो 1968-71 के औसत पर 100 था 1950 में 58.5 से बढ़कर 1985-86 में 158.4 हो गया। खाद्यान्न उत्पादन भी इस दौरान तीन गुने के लगभग बढ़ा। 1988-89 में लगभग 18.5 करोड़ टन खाद्यान्न उत्पादन की आशा है, जबकि 1950-51 में वह केवल 5.08 करोड़ टन था। 1949-50 से 1985-86 में कृषि उत्पादन की वृद्धि दर 2.64 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। खाद्यान्न तथा गैर खाद्यान्न फसलों का उत्पादन भी लगभग इसी दर से बढ़ा है। यद्यपि कृषि उत्पादन की वृद्धि दर योजना के लक्ष्यों की तुलना में कम रही है फिर भी अपने आय में वह सन्तोषजनक है और जनसंख्या वृद्धि दर से कुछ अधिक रही है। कृषि विकास की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि और भी अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है जब हम यह देखते हैं कि ब्रिटिश शासन के दौरान (1891 से 1946 के बीच) कृषि उत्पादन की वृद्धि दर केवल 0.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, खाद्यान्न उत्पादन की 0.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष और गैर खाद्यान्न फसलों की 1.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष। अन्य देशों की तुलना में भी भारत में कृषि विकास की वृद्धि दर कम नहीं पायी गयी है।

कृषि की वृद्धि दर का अध्ययन प्रायः दो कालों के आधार पर किया जाता है हरित क्रांति के पूर्व का काल और हरित क्रांति के बाद का काल। जैसा आप ऊपर देख चुके है हरित क्रांति का प्रारम्भ छठे दशक के मध्य से हुआ था। तालिका 14.1 में प्रमुख फसलों के क्षेत्र, उत्पादन तथा औसत पैदावार की वृद्धि दरें दीर्घ काल (1949-50 से 1983-84) तथा हरित क्रांति के काल (1967-68 से 1985-86) में दर्शायी गयी है। इस तालिका पर आपको गहन रूप से दृष्टि-पात करना चाहिये।

इस तालिका से जो कुछ प्रमुख बिन्दु उभरते है वह इस प्रकार है। प्रथम, हरित क्रांति काल में व उसके पूर्व के काल में कृषि की उत्पादन की वृद्धि दर लगभग समान रही है। द्वितीय, हरित क्रांति के पूर्व काल में उत्पादन वृद्धि में कृषि क्षेत्र के बढ़ने का अधिक योगदान था, जो अब कम हो गया है। तृतीय, हरित क्रांति काल में औसत पैदावार अधिक तीव्रता से बढ़ी है, जो कृषि तकनीक के परिवर्तन का द्योतक है। चतुर्थ, विभिन्न फसलों की वृद्धि दर में काफी अन्तर रहे है।

14.2.2 **कृषि का आधुनिकीकरण :** पिछले दशकों में कृषि की तकनीक और ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। कृषि क्षेत्र में आधुनिकीकरण (Modernization) और व्यापारी करण (Commercialization) की प्रवृत्तियाँ तेज हुयी है, सिंचाई की सेवाओं का काफी विस्तार

हुआ है और फसल गहनता (Cropping Intensity) बढ़ी है। जैसा कि तालिका 14.2 में दर्शाया गया है कृषि में आधुनिक साधनों जैसे नये किस्म के –

तालिका 14.1 :All-India Compound Growth Rates of Area, Production and Yield of Principal Crops

(In per cent per annum)

Crop	1949-50 to 1985-86			1949-50 to 1964-65			1967-68 to 1985-86		
	Area	Production	Yield	Area	Production	Yield	Area	Production	Yield
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
Rice	0.90	2.52	1.60	1.33	3.49	2.13	0.65	2.54	1.92
Wheat	2.73	6.00	3.18	2.68	3.99	1.27	2.41	5.64	3.15
Jowar	–0.20	1.30	1.50	0.99	2.50	1.50	–0.69	1.65	2.36
Bajra	0.23	1.87	1.65	1.08	2.34	1.24	–0.85	0.19	0.85
Maize	1.72	2.57	0.84	2.66	3.87	1.18	–0.07	0.98	1.06
Ragi	0.19	1.73	1.54	0.84	3.08	2.22	0.26	2.14	1.90
Small Millets	–0.95	–1.09	–0.14	–0.30	–0.20	0.09	–2.18	–1.84	0.35
Barley	–2.29	–0.96	1.36	–0.64	–0.28	0.36	–4.72	–3.03	1.75
Coarse Cereals	–0.04	1.36	1.27	0.90	2.23	1.29	–0.94	0.66	1.55
Total Cereals	0.79	2.98	1.85	1.30	3.24	1.68	0.31	2.97	2.21
Gram	–0.56	0.03	0.51	1.64	2.66	0.54	–0.38	–0.21	0.15
Tur (Atha)	0.70	0.51	–0.19	0.57	–1.34	–1.90	1.23	1.93	0.69
Other Pulses	0.77	0.54	–0.23	2.07	1.28	–0.77	0.76	0.96	0.20
Total Pulses	0.32	0.32	0.17	1.90	1.39	–0.22	0.44	0.65	0.29
Total Foodgrains	0.69	2.64	1.73	1.41	2.93	1.43	0.34	2.74	2.30
Sugarcane	1.90	3.00	1.15	3.27	4.26	1.12	1.58	2.70	1.11
Groundnut	1.29	1.84	0.54	4.01	4.33	0.31	0.01	0.98	0.96
Sesamum	Neg	0.45	0.51	0.14	–0.32	–0.36	–0.46	0.97	1.45
Rapeseed & Mustard	1.72	3.27	1.53	2.97	3.36	0.37	1.25	3.17	1.89
Seven Oilseeds	1.04	2.05	0.81	2.64	3.24	0.13	0.30	1.74	1.43
Coconut	–	–	–	–	–	–	0.90	0.53	–0.37
Total Oilseeds	0.96	2.00	0.71	2.69	3.11	0.20	0.23	1.65	1.28
Cotton (Lint)	0.42	2.43	2.01	2.47	4.56	2.04	0.02	2.35	2.34
Jute & Mesta	1.01	1.63	0.66	3.86	4.20	0.73	1.09	2.68	1.32
Total Fibres	0.43	2.19	1.66	2.57	4.45	1.68	0.12	2.37	2.09
Potato	3.95	5.98	1.94	4.37	4.27	–0.11	3.82	6.99	3.05
Tobacco	0.70	2.16	1.47	1.66	2.79	0.96	0.05	2.15	2.11
Total Non-foodgrains	1.12	2.62	1.11	2.52	3.54	0.93	0.62	2.55	1.48
All Crops	0.78	2.64	1.54	1.61	3.13	1.30	0.41	2.68	2.03

Neg - Negligible.

Notes : 1. Seven Oilseeds include Groundnut, Sesamum, Rapeseed & Mustard, Linseed, Castorseed, Nigerseed and Sunflower.

2. Total Oilseeds include Seven Oilseeds, Coconut & Cottonseed.

Source : Directorate of Economics and Statistics, *Area and Production of Principal Crops in India, 1985-86*, Ministry of Agriculture, New Delhi.

तालिका 14.2 कृषि विकास के कुछ चयनित आंकडे

वर्ष	प्रति हैक्टर खाद्यान्न उत्पादन (किलो ग्रा०)	फसल गहनता	शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल (लाख है०)	रसायनिक बाद की खपत (लाख टन)	उन्नतशील बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल (लाख है० में)
1950-51	522	111.0	208.5	0.7	–
1955-56	605	114.0	227.6	1.6	–
1960-61	710	114.7	246.6	5.6	–
1965-66	629	114.0	263.4	7.8	–
1970-71	872	117.7	311.0	21.6	152.8
1975-76	944	121.0	345.9	29.0	318.9
1980-81	1023	123.5	388.0	55.2	450.0
1985-86	1175	126.4*	419.6*	84.7	554.2
1996-97	191	–	800	70	750
1997-98	192.43	–	–	–	–
1998-99	195.25	–	–	–	–

स्रोत : (1)कृषि मन्त्रालय, भारत मे मुख्य फसलों का क्षेत्रफल व उत्पादन नई दिल्ली (वार्षिक)

(2) वित्त मन्त्रालय आर्थिक सर्वेक्षण, नई दिल्ली (वार्षिक)

बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाईयों का प्रयोग बहुत तेजी से चढ़ा है, विशेषकर हरित क्रांति प्रारम्भ होने के पश्चात्। कृषि क्षेत्र में मशीनों और बिजली का प्रयोग भी काफी बढ़ा है। कृषि के आधुनिकीकरण में सरकार द्वारा किये गये विभिन्न प्रयासों की एक प्रमुख भूमिका रही है जिनमें विशेष उल्लेखनीय है सिंचाई सुविधाओं का विकास कृषि अनुसंन्धान तथा प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था तथा ऋण व साधनों में वितरण व्यवस्था का प्रबन्ध यहाँ पर यह बात भी कह देना उचित होगा कि कृषि तकनीक का आधुनिकीकरण अभी कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है।

14 2.3 **खाद्यान्न आत्मनिर्भरता :** हरित क्रांति की सफलता ने भारतीय अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है देश की खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भरता (Self Sufficiency in Food grains) । पांचवे व छठे दशक में हमको बड़ी मात्रा में खाद्यान्न बाहर से मंगाना पड़ता था और उसके लिये विदेशों से आर्थिक सहायता भी लेनी पड़ती थी। लेकिन पिछले दो दशकों से हम न केवल खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गये है वरन् हमारे पास खाद्यान्न का काफी बड़ा सुरक्षित कोष भी है जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने और मूल्यों को स्थिर रखने के काम आता है।

14.3 कृषि क्षेत्र के असन्तुलन व कमियाँ

यद्यपि भारतीय कृषि की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण रही है, फिर भी उसमें काफी कमियाँ और

असन्तुलन रहे हैं, कृषि के उत्पादन में अस्थिरता रही है, औसत पैदावार भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में अभी बहुत कम है, कृषि क्षेत्र में आय व साधनों की असमानतायें बनी हुयी है तथा ग्रामीण गरीबी की समस्या गम्भीर बनी हुयी है और रोजगार के अवसरों में भी बृद्धि कम हुई है। इन कमियों में से कुछ महत्वपूर्ण बातों की चर्चा हम कुछ विस्तार से करेगें।

14.3.1 **कृषि उत्पादन की अस्थिरता :** कृषि क्षेत्र की यह एक समस्या रही है कि कृषि उत्पादन में काफी अस्थिरता रही है। किसी वर्ष तो यह समस्या काफी गम्भीर हो गयी है। उदाहरणार्थ 1965-66 में खाद्यान्न उत्पादन 723 लाख टन रहा जो पिछले वर्ष के 893 लाख टन की तुलना में लगभग 20 प्रतिशत कम था। इसी प्रकार 1979-80 का खाद्यान्न उत्पादन पिछले वर्ष की तुलना में 17 प्रतिशत कम था। 1986-87 तथा 1987-88 के वर्ष भी कृषि की दृष्टि से खराब वर्ष थे। कृषि उत्पादन के परिवर्तन मुख्यतः औसत पैदावार के परिवर्तनों के कारण होते है। एक अध्ययन के अनुसार 1971-86 के बीच खाद्यान्न की औसत पैदावार में परिवर्तनशीलता का गुणांक (Coefficient of Variation) 12.57 प्रतिशत था। कृषि उत्पादन को अस्थिरता इस बात का द्योतक है कि अभी भी हमारी कृषि मुख्यतः वर्षा पर आधारित है। सिंचाई सुविधाओं के विस्तार के बावजूद अभी कृषि क्षेत्र का कुल 30 प्रतिशत सिंचित कृषि पर आधारित है। यह भी पाया गया है कि हरित क्रांति के पश्चात के काल में कृषि उत्पादन की अस्थिरता बढ़ी है।

14.3.2 **फसलवार असंतुलन** : जैसा कि आप तालिका 1 से देखेगें विभिन्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि दरों में काफी असंतुलन रहे हैं। सर्वाधिक तीव्र वृद्धि गेहूँ के उत्पादन में हुई है, लगभग 6.00 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से। चावल का उत्पादन 2-52 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा है। मोटे आनाजों की वृद्धि दर असंतोष जनक रही है और हरित क्रांति काल में उससे पूर्व के काल की तुलना में घट गयी है। कृषि विकास में एक विशेष असंतुलन जिस पर सबका ध्यान गया है वह है दलहन की पैदावार में अवरोध की स्थिति, जिससे प्रतिव्यक्ति प्रोटीन उपलब्धि काफी कम हो गयी है। दालों का उत्पादन पिछले लगभग 20 वर्षों से 112 लाख टन के आसपास ही रहा है।

यही परिस्थिति और गैर खाद्यान्न फसलों के संदर्भ में भी देखने में आती है। सरसों को छोड़कर अन्य तिलहन फसलों के उत्पादन की दर भी काफी कम रही है। फलस्वरूप हमे कई सौ करोड़ रुपये के खाद्य तेलों का आयात करना पड़ रहा है। गन्ने और आलू की फसलों को छोड़कर अन्य और खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि भी कुछ ऐसी रही है जिसको सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता है।

14.3.3 **क्षेत्रीय असंतुलन** : कृषि विकास की एक समस्या जो बहुचर्चित रही है वह है क्षेत्रीय असंतुलन की समस्या। जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं हरित क्रांति का प्रभाव अभी कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है। तालिका 14.3 में कृषि क्षेत्र के असंतुलनों के कुछ आंकड़े दिये गये है जैसा कि आप देखेगें देश के विभिन्न क्षेत्रों व राज्यों में कृषि विकास के स्तर में काफी असमानताये हैं जो प्रति हैक्टेयर उत्पादकता, रसायनिक खादों के प्रयोग तथा सिंचाई सुविधाओं के अन्तरों से स्पष्ट होती है।

कृषि उत्पादन की वृद्धि दरों में हमको और भी अधिक अन्तर दिखायी पड़ते है। जैसा कि अग्र तालिका 14.3 से स्वयं देखेगें हरित क्रांति का प्रभाव उत्तरी भारत के कुछ प्रान्तों तक (विशेषकर पंजाब, हरियाणा, और उत्तर प्रदेश) सीमित रहा है। ये वे राज्य है जहाँ सिंचाई की अधिक सुविधायें उपलब्ध है और जहाँ गेहूँ की खेती अधिक होती है। 1960-63 और 1980-83 के बीच हुई कृषि उत्पादन की वृद्धि का आधे से अधिक योगदान केवल इन्हीं तीन राज्यों के द्वारा किया गया है। आप यह भी देखेगें

तालिका 14.3 कृषि में क्षेत्रीय असन्तुलन के आंकडे

राज्य	प्रति हैक्टर उत्पादन (रु०) 1980-83 स्थिर मूल्यों पर	1960-63 तथा 1980-83 के बीच वृद्धि दर (%) प्रतिवर्ष	1960-63 तथा 1980-83 के बीच उत्पादन वृद्धि में योगदान(%)	कुल सिंचित क्षेत्रफल(%) 1980-83	रसायनिक खाद प्रति हैक्टर (किलो) 1980-83
1. हरियाणा	1355	4.88	7.61	64.2	54
2. हिमाचल प्रदेश	—	2.23	0.53	—	—
3. जम्मू व कश्मीर	1345	4.58	1.30	40.8	27
4. पंजाब	2270	6.83	18.60	98.6	129
5. उत्तर प्रदेश	1215	3.51	25.00	45.1	52
उत्तरी क्षेत्र	1395	4.42	53.10	56.1	64
6. असम	1714	2.27	2.17	17.0	4
7. बिहार	921	0.60	1.64	33.2	20
8. उड़ीसा	888	0.37	0.68	22.7	10
9. प० बंगाल	1453	1.17	3.15	28.6	37
पूर्वी क्षेत्र	1137	0.93	7.65	27.2	20
10. गुजरात	1033	2.73	6.76	27.1	42
11. मध्य प्रदेश	604	1.34	4.63	12.6	11
12. महाराष्ट्र	694	2.10	7.17	14.2	26
13. राजस्थान	445	3.14	5.76	25.2	9
केन्द्रीय क्षेत्र	651	2.17	24.30	18.3	19
14. आंध्रप्रदेश	1266	2.33	9.20	37.1	54
15. कर्नाटक	926	1.71	3.71	17.2	37
16. केरल	2146	0.70	0.34	14.8	39
17. तमिलनाडू	1676	0.62	1.72	51.3	79
दक्षिणी क्षेत्र	1308	1.59	15.00	31.6	52
भारतवर्ष	1037	2.44	100.00	31.0	36

स्रोत : Patterns in Indian Agricultural Development G.S. Bhalla and D S. Tyagi (1989).

आप यह भी देखेंगे कि पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों के राज्यों में कृषि की वृद्धि दर बहुत कम रही है। गैर सिंचित क्षेत्रों के लिये हम अभी उस प्रकार की तकनीक विकसित नहीं कर पाये हैं जो सिंचित क्षेत्रों के लिये उपलब्ध है। सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धि के अतिरिक्त इन क्षेत्रीय असंतुलनों के अन्य कारण भी है, जिनमें संस्थागत (कृषि में उत्पादन के सम्बन्ध), जनाकिक (छोटे आकार के खेत) व प्राकृतिक (वर्षा-बाढ़, सूखा) कारण विशेष उल्लेखनीय है।

यदि आप जिला स्तर पर देखें तो आप कृषि क्षेत्र में इसी प्रकार के असन्तुलन पायेंगें, जो न केवल समूचे देश के स्तर पर है, बल्कि प्रत्येक राज्य में भी देखने को मिलते हैं, इस सम्बन्ध

में कुछ महत्वपूर्ण आंकडे तालिका 14.4 में दिये गये है। जैसा कि आप देखेगें देश के 281 जिलों, जिनका डा० भल्ला और डा० त्यागी ने अध्ययन किया था, में 89 जिलों की उत्पादकता का स्तर 1250 रुपये प्रति एकड़ से अधिक था। इन जिलों का कुल क्षेत्रफल में भाग केवल 27.3 प्रतिशत था, जबकि उत्पादन में उनका भाग 45.5 प्रतिशत था। इसके विपरीत 84 जिलों में उत्पादकता का स्तर 750 रु० प्रति हैक्टेयर से कम था और इन जिलों का उत्पादन में प्रतिशत भाग क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग का लगभग आधा ही था। आप यह भी देखेंगें कि जिला स्तर पर उत्पादकता के अन्तर आधुनिक साधनों के प्रयोग (रसायनिक खाद, ट्रैक्टर आदि) तथा सिंचाई की सुविधाओं के साथ जुड़े हुये है। अतः स्पष्ट है कि जिन क्षेत्रों और राज्यों में सिंचाई की सुविधाओं और कृषि क्षेत्र के विकास में सरकारी और व्यक्तिगत स्तर पर अधिक व्यय किया गया है, ये कृषि के क्षेत्र में अधिक उन्नतिशील है।

तालिका 14.4 जिला स्तर पर कृषि क्षेत्र की विषमतायें 1980-83

उत्पादकता रु०/हे०	कुल संख्या	क्षेत्रफल में में %/भाग	उत्पादन में प्रतिशत भाग	रसायनिक खाद (किलो०/है०)	ट्रेक्टर (प्रति हजार)	कुल सिंचित क्षेत्रफल (प्रतिशत)
उच्च 1250 तथा अधिक	89	27.3	45.5	90.7	4.3	66.2
मध्यम 750 से 1250	108	40.6	37.9	35.0	1.4	37.8
निम्न 750 से कम	84	32.1	16.6	16.1	0.8	15.4
समस्त जिले	281	100	100.0	44.1	2.0	38.3

स्रोत : G.S. Bhalla and D.S. Tyagi (1989).

14.3.4 **कृषि विकास और सामाजिक न्याय :** हरित क्रांति की सामाजिक न्याय की दृष्टि से कड़ी आलोचना उसके प्रारम्भिक वर्षों से होती रही है। अनेक विद्वानों के विचार में हरित क्रांति का लाभ बडे और सम्पन्न किसानों को मिला है और उससे ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न वर्गों में असमानतायें बढ़ी है। पर यह एक विवाद का विषय रहा है। यह सही है कि आधुनिक तकनीक को अपनाने में अधिक साधनों की आवश्यकता थी, अतः बड़े और साधन सम्पन्न कृषक, जिनकों ऋण तथा अन्य बातों की भी अपेक्षाकृत अधिक उपलब्धि रही है, नयी तकनीक को अपनाने में अन्य कृषक वर्गों से आगे रहे। लेकिन अपने आप में नवीन तकनीक पैमाने के प्रतिफल के प्रति तटस्थ है। पिछले दशकों में छोटे किसानों ने भी व्यापक स्तर पर नवीन तकनीक को अपनाया है और वह भी कृषि के विकास से लाभान्वित हुये हैं।

कृषि की नवीन तकनीक की यह भी आलोचना रही है कि इससे मशीनीकरण में वृद्धि हुई है। और रोजगार के स्तर में अधिक वृद्धि नहीं हुई है। यह सही है कि कृषि में उत्पादन वृद्धि की तुलना में रोजगार की वृद्धि सीमित दर पर हुयी है। फिर भी कुल मिलाकर कृषि में रोजगार का स्तर बढ़ा है और वास्तविक मजदूरी भी बढ़ी है, जिससे कृषि श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ है।

कृषि उत्पादन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों के बावजूद भी हम यह कह सकते हैं कि अभी भी ग्रामवासियों की औसत आर्थिक स्थिति में बहुत उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और अभी भी गांवों की लगभग 40 प्रतिशत जनता (1983-84) गरीबी की रेखा के नीचे है। इसका एक कारण तो यह है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में विशेष उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई और दूसरे कृषि

ढांचा (Agrarian Structure) मूल रूप से परिवर्तित नहीं हुआ है। यह सर्वविदित ही है कि अधिकाम जोत और भूमि के पुनर्वितरण के उपायों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली हैं। भूमि के वितरण की असामानतायें लगभग यथावत रही है। बटाई (Sub-Letting) भी मौखिक रूप से व्यापक है। इसके अतिरिक्त लघु और सीमान्त कृषकों और खेतिहर मजदूरों की संख्या में बड़ी मात्रा में वृद्धि हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में अर्द्धबेकारी और बेकारी (Under employment and unemployment) भी बढ़ी है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से कृषि विकास की उपलब्धियां काफी असंतोषजनक रही है।

14.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह ज्ञात हुआ कि भारतीय कृषि जो वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक अवरोध की स्थिति में थी, योजना काल में तीव्रता से अग्रसर हुई है। सरकार के द्वारा कृषि विकास के जो कार्यक्रम अपनाये गये और कृषिकों के श्रम और लगन से कृषि उत्पादन तीव्रता के साथ बढ़ा है और कृषि का आधुनिकीकरण और व्यापारीकरण एक सीमा तक हुआ है। कृषि के विकास के फलस्वरूप हम खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो गये है। इससे सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने तथा मूल्यों पर अंकुश रखने में भी सहायता मिली है।

इन उपलब्धियों के बावजूद भी कृषि क्षेत्र का विकास पूर्णतया संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। कृषि के विकास में अभी भी कई असंतुलन है जो कृषि के उत्पादन की अस्थिरता, तथा विभिन्न फसलों और क्षेत्रों के बीच वृद्धि दरों के अन्तरों में परिलक्षित होते है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी कृषि के विकास में कमियाँ रही है। कृषि विकास का लाभ समान रूप से सभी ग्रामीण वर्गों को नहीं मिला है। ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की समस्या बनी हुयी है हमारे कृषि के ढांचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

आगामी पंचवर्षीय योजनाओं में हमें इन असंतुलनों की ओर ध्यान देना होगा। दलहन व तिलहन की फसलों के उत्पादन को बढ़ाने के विशेष प्रयत्न करने होगें। इसी प्रकार पिछड़े क्षेत्रो और प्रान्तों, विशेषकर, असिंचित कृषि वाले क्षेत्रों में कृषि विकास कार्यक्रमों पर अधिक बल देना होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि छोटे कृषकों और खेतिहार मजदूरों की आर्थिक स्थिति में कैसे सुधार हो।

14.5 शब्दावली

कृषि का ढांचा (Agrarian Structure)

कृषि क्षेत्र में उत्पादन के साधनों का वितरण तथा उत्पादन के सम्बन्धों का स्वरूप।

नवीन कृषि विकास रणनीति (New Agricultural Strategy)

छठवें दशक के मध्य में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिये अपनायी गयी नीति जिसमें कृषि की नवीन तकनीक—उन्नतशील बीज, रसायनिक खाद, सिंचाई को बढ़ावा देने पर बल दिया गया।

हरित क्रांति (Green Revolution)

नये उन्नतशील बीजों और नवीन तकनीक के प्रयोग से कृषि उत्पादन व उत्पादकता को वृद्धि।

कृषि का आधुनिकीकरण (Agricultural Modernization)

कृषि के क्षेत्र में उत्पादन के आधुनिक साधनों और तकनीक का प्रयोग।

कृषि का व्यापारीकरण (Commercialization of Agriculture)

कृषि के क्षेत्र में साधनों के क्रय व उत्पादन की बिक्री बाजार के माध्यम से होना।

खाद्यान्न आत्मनिर्भरता (Food Self Sufficiency)

खाद्यान्न की मांग को पूरा करने के लिए देश की अपनी क्षमता।

क्षेत्रीय असंतुलन (Regional imbalances)

विभिन्न राज्यों, क्षेत्रों व जिलों में कृषि की पैदावार और वृद्धि दर में पाये जाने वाले अन्तर।

सामाजिक न्याय (Social Justice)

पिछले और कमजोर वर्गों की विकास के लाभों में समुचित भागीदारी।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए० एन० अग्रवाल, **भारतीय कृषि की समस्यायें।**

रूद्र दत्त एवं सुन्दरम, **भारतीय अर्थव्यवस्था**

G.S. Bhalla and D.S. Tyagi, *Patterns in Indian Agricultural Development - A District Level Study,* Institute for Studies in Industrial Development, New Delhi, 1989.

Sheila Bhalla, 'Trends in Employment in Indian Agriculture, Land and Asset Distribution', *Indian Journal of Agricultural Economics,* Vol.42, No. 4, October-December 1987.

B.M. Bhatia, *Indian Agriculture : A Policy Perspective,* Sage Publications, New Delhi, 1988.

P.R. Brahmanand and V.R. Panchmukhi, *The Development Process of the Indian Economy,* Himalaya Publishing House, Bombay, 1987.

Indian Council of Social Science Research, *Alternatives in Agricultural Development,* Allied Publishers, New Delhi, 1980

Indian Society of Agricultural Economics, *Indian Agricultural Development Since Independence,* New Delhi, Oxford and I.B.H., 1986.

V.K.R.V Rao, 'Some Reflections on the Problems Facing Indian Agriculture', *Indian Journal of Agricultural Economics,* Vol. 44, No. 4, October-December 1989.

14.7 निबन्धात्मक प्रश्न

(लगभग 200 शब्दों में उत्तर दें)

1. योजनाकाल में प्रारम्भ में भारतीय कृषि की अवस्था पर प्रकाश डालिये।
2. कृषि विकास की नवीन रणनीति से आप क्या समझते हैं?
3. हरित क्रांति का अर्थ और कारण बताइये।
4. योजनाकाल में कृषि विकास की क्या महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ रही है? (500 शब्द)
5. कृषि में प्रमुख क्षेत्रीय असंतुलनों व उनके कारणों पर प्रकार डालिये।
6. क्या सामाजिक न्याय की दृष्टि से भारतीय कृषि की उपलब्धियाँ संतोषजनक रही है?

इकाई 15

खाद्यान्न आहरण तथा सुरक्षित भण्डार नीति (Foodgrains Procurement and Buffer Stock Operation Policy)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 आहरण का अर्थ एवं प्रणाली

15.3 सुरक्षित भण्डार का अर्थ एवं उद्देश्य

15.4 भारत में खाद्यान्न नीति का प्रारम्भ एवं विकास

15.5 आहरण व भण्डार की प्रमुख प्रवृत्तियां

15.5.1 आहरण व भण्डार की कुल मात्रा

15.5.2 फसलवार वसूली

15.5.3 प्रान्तवार वसूली

15.6 आहरण और सुरक्षित भण्डार नीति के लाभ

15.7 आहरण और भण्डार नीति के दोष

15.8 सारांश

15.9 शब्दावली

15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न

15.0 उद्देश्य

देश की जनता के लिये आवश्यक वस्तुओं की उचित मूल्यों पर उपलब्ध कराना एक कल्याणकारी राज्य का अनिवार्य कार्य माना जाता है। भारतवर्ष में भी प्रारंभ से ही हमारे देश की सरकार ने इस ओर आवश्यक कदम उठाये हैं। इस इकाई में हम आपको आवश्यक वस्तुओं के आहरण व उनके सुरक्षित भण्डार को रखने से संबंधित नीतियों व समस्याओं के बारे में बतायेंगे। क्योंकि विवरण प्रणाली का मुख्य क्षेत्र खाद्यान्न से संबंधित रहा है अतएव हमारी चर्चा भी मुख्यतः खाद्यानों की वसूली व भण्डारण से संबंधित रहेगी। हालांकि इन नीतियों का प्रयोग आवश्यकता की अन्य वस्तुओं यथा चीनी व मिट्टी का तेल आदि की व्यवस्था के लिये भी किया जाता है.

प्रारंभ में हम आहरण तथा सुरक्षित भण्डार के विचारों का अर्थ, उद्देश्य व प्रणाली को स्पष्ट करेंगे। तत्पश्चात् भारत में इन नीतियों के प्रारम्भ व विकास की चर्चा की जायेगी। उसके

पश्चात हम आपका भारत में खाद्यान्न के आहरण व भण्डारण की प्रवृत्तियों के विभिन्न पहलुओं की जानकारी देंगे। अन्त में इन नीतियों के लाभ व दोषों की चर्चा की जायेगी। इस इकाई के अध्ययन से आपको भारत सरकार की खाद्यान्न नीति के महत्वपूर्ण पहलुओं का ज्ञान होगा, जिससे आप व आपके परिवार के लोग प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं।

15.1 प्रस्तावना

कृषि क्षेत्र की एक सामान्य विशेषता है कृषि उत्पादन में बड़े स्तर के उतार चढ़ाव जो कृषि पदार्थों के मूल्यों में उतार चढ़ाव उत्पन्न करते हैं। प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होने वाले खाद्यान्न संकट को धन लोलुप व्यापारियों की जमाखोरी और भी गम्भीर बना देती है। ऐसे समय में समाज के निर्बल वर्गों को बड़े कठिन समय का सामना करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार खाद्यान्न बाजार में हस्तक्षेप करे और मूल्यों के स्तरीकरण तथा निर्बल वर्गों के संरक्षण के लिये आवश्यक कदम उठाये।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली एक ऐसा माध्यम है जिसे द्वारा उचित मूल्यों पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुयें जनता को उपलब्ध करायी जा सकती हैं। ऐसी सार्वजनिक प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार आवश्यक वस्तुओं का आहरण करें। तथा एक सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) का निर्माण करें।

15.2 आहरण का अर्थ एवं प्रणाली

जैसा हमने अभी उल्लेख किया सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में करना आवश्यक है। यह पूर्ति व्यवस्था दो स्रोतों से की जा सकती है - आंतरिक आहरण (वसूली) के द्वारा तथा विदेशों से आयात के द्वारा। आयात विदेशी बाजारों में क्रय पर आधारित हो सकते हैं अथवा ऋण या विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त किये जा सकते हैं। हालांकि कुछ परिस्थितियों में आयात अनिवार्य हो सकते हैं, फिर भी यथासम्भव सार्वजनिक वितरण प्रणाली को आंतरिक आरण पर ही आधारित होना वांछनीय होता है। आहरण अथवा वसूली का तात्पर्य होता है कि एक पूर्वानिश्चित मात्रा में खाद्यान्न अथवा अन्य पदार्थों को खुले बाजार अथवा अनिवार्य बिक्री के आधार पर प्राप्त करना। आवश्यकता के अनुसार सरकार अपने आहरण की क्रिया को खुले बाजार में क्रय तक सीमित रख सकती है अथवा समूचे बिक्रीकृत अतिरेक (Marketed Surplus) को प्राप्त करने का प्रयास कर सकती है। यह खरीद ऐच्छिक बिक्री पर आधारित हो सकती है अथवा अनिवार्य बिक्री पर।

आहरण प्रक्रिया के कई रूप हो सकते हैं :—

(अ) एकाधिकारिक क्रय (Monopoly Purchase) जिसके अधीन क्रय करने का अधिकार केवल सरकार को होता है।

(ब) उत्पादकर्ताओं से अनिवार्य वसूली जिसके अधीन वस्तु के उत्पादनकर्ताओं को एक निश्चित मात्रा व अनुपात में वस्तु को सरकार को बेचना पड़ता है।

(स) व्यापारियों अथवा मिलों से वसूली जिसके आधीन व्यापारियों अथवा मिलों से उनके द्वारा खरीदे माल का एक निश्चित प्रतिशत सरकार को बेचना होता है।

(द) पृथम क्रय का अधिकारी जिसके द्वारा सर्वप्रथम माल सरकार को बेचा जाता है और बचा माल बाजार में बेचा जा सकता है।

(य) खुले बाजार से खरीद जिसके आधीन सरकार खुले बाजार में प्रचलित मूल्यों पर माल को खरीदती है।

समय-समय पर सरकार परिस्थिति की अनुकूलता को देखते हुए उपरोक्त एक या अधिक तरीकों से वस्तुओं का आहरण करती है।

15.3 सुरक्षित भण्डार का अर्थ व उद्देश्य

आहरण प्रक्रिया के द्वारा सरकार भण्डार जमा करती है उसका प्रयोग बाजार में पूर्ति व मूल्य की स्थिरता बनाये रखने के लिये किया जाता है। उत्पादन आधिक्य के समय सरकार वस्तुओं का आहरण करके भण्डार में वृद्धि करती है और बाजार में पूर्ति में कमी होने के समय सुरक्षित भण्डार से माल निकालकर उपलब्धि को बढ़ाती है।

सुरक्षित भण्डार रखने के कई उद्देश्य हो समते हैं :—

(क) वस्तुओं की पूर्ति तथा मूल्यों में उच्चावचनों के प्रभावों को न्यूनतम करना।

(ख) व्यापारियों द्वारा जमाखोरी व सट्टे बाजारी को नियंत्रित करना।

(ग) उपभोक्ताओं के लिये आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि की व्यवस्था करना तथा दूसरी ओर उत्पादनकर्ताओं को उचित मूल्य प्रदान करना।

(घ) जनता में सरकार की दुर्भिक्ष आदि संकटों से निपटने की क्षमता में विश्वास उत्पन्न कराना तथा अन्य सरकारी नीतियों में सहायता पहुंचाना।

सुरक्षित भण्डार शब्द का प्रयोग हम अक्सर दो अर्थों में करते हैं, जिनमें भेद करना उचित होगा। व्यापक अर्थ में सुरक्षित भण्डार समस्त प्रचालन भण्डार (Operating Stock) के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, जिससे सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिये माल प्रदान किया जाता हैं संकुचित अर्थ में सुरक्षित भण्डार का प्रयोग एक संकट कालीन भण्डार के अर्थ में किया जाता है। संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने के लिये एक न्यूनतम भण्डार रखना आवश्यक है, जिसका प्रयोग सामान्य रूप से नहीं किया जाता है। इस दृष्टि से सुरक्षित भण्डार को कुल आहरण व कुल वितरण के अन्तर के रूप में देखा जा सकता है।

15.4 भारत में खाद्यान्न नीति (Food Policy) का प्रारम्भ व विकास

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले काल में भारत सरकार की नीति स्वतंत्र व्यापार पर आधारित थी। पहली बार 1943 में बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में सरकार ने खाद्यान्न के बाजार में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया ताकि खाद्यान्न की मांग और पूर्ति में सामन्जस्य स्थापित किया जा सके तथा उनके मूल्यों को स्थिर रखा जा सके। तब वे खाद्यान्न, नीति सरकारी नीति का एक अभिन्न अंग बन गयी है, जबकि खाद्यान्न की स्थिति में काफी परिवर्तन आये हैं।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली एक कल्याणकारी राज्य की नीतियों का अंतिम अंग है, जिसका उद्देश्य है कि उपभोक्ताओं, विशेषकर निर्बल वर्गों को एक न्यूनतम निश्चित मात्रा में तथा उचित मूल्य पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें उपलब्ध करायी जाये। इन वस्तुओं का वितरण सरकार द्वारा नियंत्रित दुकानों की एक विशाल श्रृंखला के आधार पर किया जाता है जिनका सस्ते गल्ले की दुकान (Fair Price Shop) तथा राशन की दुकान (Ration Shop) कहा जाता है। आपको स्वयं इन दुकानों से अनाज, चीनी, मिट्टी का तेल आदि वस्तुयें खरीदने का अनुभव अवश्य होगा।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये सरकार को खाद्यान्नों की बड़ी मात्रा में वसूली और उनके भण्डारन की आवश्यकता हुई। केन्द्र व राज्य सरकारों ने इस उद्देश्य से विभिन्न तरीकों के द्वारा खाद्यान्न का आहरण किया, जिनका उल्लेख आपने ऊपर पढ़ा है।

खाद्यान्नों के आहरण व सुरक्षित भण्डारों की व्यवस्था की आवश्यकता पर खाद्यान्न नीति सम्बन्धित भारतीय सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों ने समय-समय पर बल दिया है। खाद्यान्न नीति समिति 1943 (Foodgrains Policy Committee) ने कम से कम 5 लाख टन के केन्द्रीय खाद्यान्न भण्डार रखने का सुझाव दिया। दुर्भिक्ष जांच आयोग 1945 (Famine Enquiry Commission) ने भी सुरक्षित भण्डार स्थापित करने का सुझाव दिया। कृषि मूल्य जांच समिति 1947 (Agricultural Prices Committee) ने यह सिफारिश की कि संकट का सामना करने व मूल्यों को स्थिरता प्रदान करने के लिये कम से कम 15 लाख टन का सुरक्षित भण्डार रखना चाहिये। खाद्यान्न नीति समिति 1948 (Foodgrains Poloicy Committee) का विचार था कि खाद्यान्नों का आयात कर एक केन्द्रीय सुरक्षित भण्डार की व्यवस्था होनी चाहिये। खाद्यान्न आहरण सीमिति 1950 (Foodgrains Procurement Committee) ने भी इस बात पर बल किया कि बाजार में सामान्य स्थिति उत्पन्न करने के लिये मनौवैज्ञानिक परिस्थिति का निर्माण एक बड़े सुरक्षित भण्डार को बनाकर किया जा सकता है।

खाद्यान्न जांच समिति 1957 (Foodgrains Enquiry Committee) का सुझाव था कि एक खाद्यान्न स्थरीकरण संगठन का निर्माण किया जाना चाहिये। जिसका प्रमुख कार्य होगा एक 20 लाख टन से सुरक्षित भण्डार की स्थापना तथा मूल्यों के स्थरीकरण के लिये उसका प्रचालन। खाद्यान्न नीति समिति 1966 (Foodgrains Policy Committee) के विचार में कम से कम 40 लाख टन के सुरक्षित भण्डार की आवश्यकता थी।

सातवें दशक के प्रारम्भ तक खाद्यान्न की स्थिति में काफी सुधार हो चुका था। लेकिन निर्बल वर्गों की आवश्यकता पूर्ति के लिये उचित मूल्यों पर खाद्यान्न की उपलब्धि बनाये रखने के लिये तथा समर्थन मूल्यों (Support Prices) को प्रदान करने के लिये बड़ी मात्रा में खाद्यान्न के आहरण और सुरक्षित भण्डार के प्रचालन की आवश्यकता बनी रही। पांचवीं योजना के लिये बनाये गये तकनीकी कार्यकारी दल ने 1976 में सिफारिश की कि सुरक्षित भण्डार का आकार 120 लाख टन का होना चाहिये।

15.5 आहरण व भण्डार की प्रमुख प्रवृत्तियां

15.5.1 आहरण के भण्डार की कुल मात्रा

तालिका 15.1 में खाद्यान्न के आहरण वितरण व भण्डार की मात्राओं को दिखाया गया है जिससे आप इनमें होने वाले परिवर्तनों का पता लगा सकते हैं। जैसा कि आप देखेंगे खाद्यान्न के आहरण की मात्रा में 1952 व 1965 के बीच काफी परिवर्तन होता रहा है। उसके पश्चात् खाद्यान्न आहरण की मात्रा क्रमशः बढ़ती गयी है और उसका स्तर कई गुना अधिक हो गया है यथा 1985 तथा 1986 में लगभग लाख टन का खाद्यान्न आहरण किया गया। आपको याद होगा 1965 के बाद का समय हरित क्रांति का काल था, जिसमें खान्न के उत्पादन व बिक्री अतिरेक में काफी वृद्धि हुई।

खाद्यान्न आहरण की बढ़ती हुयी मात्रा के कारण खाद्यान्न वितरण की मात्रा में भी भारी परिवर्तन हुआ है। 1986 में खाद्यान्न वितरण की मात्रा लगभग 156 लाख टन रही। यह भी

बात ध्यान देने योग्य है कि 1975 से पहले के अधिकांश वर्षों में खाद्यान्न वितरण की मात्रा आन्तरिक आहरण से काफी अधिक थी और वितरण व्यवस्था बनाये रखने के लिये हमें काफी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। लेकिन 1975 के पश्चात स्थिति में बहुत सुधार हुआ है और वितरण व्यवस्था लगभग पूर्ण रूपेण आंतरिक आहरण पर ही आधारित रही है।

तालिका 15.1 से आप वर्ष के अंत में भण्डार की परिस्थिति भी देख सकते हैं। 1952 व 1967 के बीच भण्डार की मात्रा में काफी उतार चढ़ाव आते रहे। तत्पश्चात् स्थिति में लगातार सुधार हुआ है। और 1972 से 1974 के तीन वर्षों को छोड़कर सुरक्षित भण्डार की मात्रा संतोषजनक रही है, जो सुधरी हुई खाद्यान्न परिस्थिति को दिखाती है।

15.5.2 फसलवार वसूली

भारत के मुख्य रूप से केवल 2 फसलों की वसूली सरकार के द्वारा की जाती है गेहूं तथा चावल। 1986 में 197.21 लाख टनों की कुल वसूली की गयी, जिसमें गहूं की वसूली थी। 105.30 लाख टन 153.5% तथा चावल की 91.43 टन 146.5%। अन्य फसलों की वसूली लगभग नगण्य थी।

15.5.3 प्रान्तवार वसूली

यदि आप प्रान्तवार फसलों की वसूली का अध्ययन करें तो पायेंगे कि कुछ इन जिन प्रांत की वसूली का अधिकांश भाग प्रदान करते हैं तालिका 15.2 में प्रान्तवार खाद्यान्न की वसूली और विवरण का ब्यौरा दिया गया है। तालिका को देखने से पता चलता है कि केवल पंजाब से 53.0% खाद्यान्न की वसूली हुई दूसरा स्थान था हरियाणा का जिसका योगदान था 16.0% तथा तीसरा स्थान था उत्तर प्रदेश का जहां से 14.1% योगदान हुआ। पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश से ही लगभग 83% वसूली हो जाती है। यह भारत के प्रमुख राज्य हैं जो हरित क्रांति से अपेक्षाकृत अधिक लाभान्वित हुए हैं और जहां पर विक्रय अतिरेक अधिक है इनको खाद्यान्न की दृष्टि से देवी उत्पादन वाले प्रान्त कहा जा सकता है।

दूसरी ओर वे प्रान्त हैं जहां खाद्यान्न उत्पादन आवश्यकता से कम है और जिनको सुरक्षित भण्डार से अधिक मात्रा में वितरण की आवश्यकता है। जैसा कि आप तालिका 15.2 में देखेंगे खाद्यान्न के वितरण की मात्रा जिन प्रान्तों में अधिक है वे हैं — पश्चिमी बंगाल, केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश। कुल वितरण का आधे से अधिक इन्हीं पांच राज्यों को प्राप्त हुआ।

तालिका 15.1

वर्षवार कुल आन्तरिक आहरण, सार्वजनिक वितरण तथा खाद्यान्नों का भण्डार 1952–1986 (हजार टन)

वर्ष	कुल आन्तरिक आहरण	कुल सार्वजनिक वितरण	वर्ष के अन्त मे कुल सुरक्षित भण्डार
1952	3477	6800	1948
1953	2094	4898	1465
1954	1130	2154	1665
1955	132	1636	921
1956	37	2028	319

वर्ष	कुल आन्तरिक आहरण	कुल सार्वजनिक वितरण	वर्ष के अन्त में कुल सुरक्षित भण्डार
1957	295	3050	1175
1958	526	3980	906
1959	1806	5164	1398
1960	1275	4937	2810
1961	541	3977	2636
1962	479	4365	2281
1963	750	5178	2259
1964	1430	8665	1016
1965	4031	10079	2079
1966	4009	14085	2216
1967	4462	13166	1956
1968	6805	10221	3991
1969	6381	9385	4453
1970	6714	8841	5569
1971	8857	7816	8137
1972	7665	11396	3443
1973	8424	11414	313
1974	5645	10790	2730
1975	9563	11253	8285
1976	12853	9174	18964
1977	9874	11729	17346
1978	11098	10183	17160
1979	13836	11663	17519
1980	1178	14993	11739
1981	12975	13014	11498
1982	15420	14768	12766
1983	15571	16206	15498
1984	18723	13326	22551
1985	20116	15799	25208
1986	19722	17595	23630
1996	19800	20500	—

Source: Bulletion of Food Statistics 1986, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi., Various Issues.

तालिका 15.2

प्रान्तवार कुल खाद्यान्न आहरण तथा वितरण, 1986

(000 टन)

प्रान्त	कुल आहरण	कुल वितरण
आन्ध्र प्रदेश	1356	1707
असम	25	757
बिहार	25	777
गुजरात	18	837
हरियाणा	3154	140
हिमाचल प्रदेश	—	80
जम्मू कश्मीर	28	268
कर्नाटक	93	1166
केरल	—	1824
मध्य प्रदेश	560	593
महाराष्ट्र	32	1773
मणिपुर	—	30
मेघालय	—	119
नागालैंड	—	130
उड़ीसा	123	296
पंजाब	10457	140
राजस्थान	136	884
सिक्किम	—	46
तमिलनाडु	843	1727
त्रिपुरा	—	141
उत्तर प्रदेश	2789	822
पश्चिम बंगाल	75	2205
अंडमान निकोबार	—	20
अरूणाचल प्रदेश	3	56
भारत	19721	17595

Source : Bulletion of Food Statistics 1986, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.

15.6 आहरण और सुरक्षित भण्डार नीति के लाभ

खाद्यान्न के आहरण, भण्डारण और वितरण के लिये उठाये गये प्रयत्नों का लाभ न केवल उपभोक्ताओं को मिला है बल्कि उससे उत्पादक वर्ग और सामान्य अर्थ व्यवस्था भी लाभान्वित हुई है। खाद्यान्न नीति के प्रमुख लाभ संक्षेप में निम्नलिखित हैं।

प्रथम, आहरण व वितरण प्रणाली के माध्यम से उत्पादन देशी वाले प्रांतों से खाद्यान्न को नियंत्रित रूप से उत्पादन की कमी वाले पान्तों को भेजा गया तथा क्षेत्रीय स्तर पर खाद्यान्न की मांग और पूर्ति में संतुलन किया गया।

दूसरे, उपभोक्ताओं को बढ़ते हुये मूल्यों के प्रभाव से एक सीमा तक सुरक्षित किया गया और उचित मूल्यों पर उनको खाद्यान्न की पूर्ति सुनिश्चित की गयी।

तीसरे, निर्धारण मूल्यों पर सरकारी खरीद के द्वारा कृषकों को आय को स्थिरता प्रदान की गयी।

चौथे, खाद्यान्न नीति से कृषि पदार्थों के मूल्यों के उच्चावचनों को रोका जा सका और व्यापारियों के द्वारा जमाखोरी को नियंत्रित किया जा सका।

पांचवे, इन नीतियों के द्वारा कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन मिला, आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति हुई और मुद्रा स्फीति के दबावों को कम किया जा सका। इस प्रकार समूची अर्थव्यवस्था पर इन नीतियों का एक हितकारी प्रभाव पड़ा।

15.7 आहरण तथा भण्डारण नीति के दोष

यद्यपि सरकार की आहरण व भण्डारण नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में काफी हद तक सफल हुई है, फिर भी उसके क्रियान्वयन में कुछ दोष नजर आये हैं। इनमें से कुछ प्रमुख दोषों की हम यहां चर्चा करें :—

(क) खाद्यान्न के क्रय व वितरण में कई संगउन और सरकारी विभाग एक साथ काम कर रहे हैं, जिनमें अक्सर तालमेल का अभाव रहता है और कभी कभी दिन प्रतिदिन के कार्य कलापों में समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(ख) वसूली और वितरण प्रणाली का प्रमुख भार केन्द्रीय सरकार के ही ऊपर है। राज्य स्तर के संगठनों की वित्तीय स्थिति कमजोर होने के कारण वे इस क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं है।

(ग) खाद्यान्नों की खरीद, रख रखाव व परिवहन के ऊपर आने वाला प्रचालन व्यय काफी अधिक है।

(घ) आहरण व भण्डारण व्यवस्था के संचालन के निये केन्द्रीय सरकार को बड़ी मात्रा में अनुदान (Subsidy) देनी पड़ती है। जिसका केन्द्रीय सरकार के बजट पर गहरा दबाव पड़ता है।

(च) अक्सर खाद्यान्नों की खरीद के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अनियमितताओं तथा भ्रष्टाचार की शिकायतें भी सुनने में आती हैं।

(छ) सरकार के पास भण्डार ग्रहों की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण अधिक मात्रा में वसूली के कार्य में बाधा आती है और साथ ही बहुत सा अनाज बर्बाद भी होता है।

(ज) खाद्यान्नों के भण्डारण व परिवहन के कार्यों में जिस स्तर के वैज्ञानिक नियोजन की आवश्यकता है, उसका अभाव है।

उपरोक्त दोषों में सुधार कर खाद्यान्न नीति की कार्य कुशलता तथा प्रभावकता को बढ़ाया जा सकता है। इस दिशा में आवश्यक प्रयत्न वांछनीय है।

15.8 सारांश

सार्वजनिक वितरण प्रणाली जिसके द्वारा जनता को उचित मूल्यों पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें उपलब्ध करायी जाती हैं, को चलाने के लिये खाद्यान्न आदि का आहरण और सुरक्षित कोष रखना आवश्यक होता है। आहरण का तात्पर्य होता है एक पूर्व निश्चित मात्रा में खाद्यान्न आदि को प्राप्त करना। यह आहरण खुले बाजार में अथवा अनिवार्य बिक्री पर सरकार यह खरीद उत्पादनकर्ताओं से कर सकती है अथवा व्यापारियों का मिल मालिकों से एक निश्चित प्रतिशित के रूप में अनिवार्य वसूली भी आवश्यकता पड़ने पर की जा सकती है।

सुरक्षित भण्डार से तात्पर्य खाद्यान्न के उस न्यूनतम भण्डार से होता है जो सरकार संकटकाल से निपटने और बाजार में पूर्ति व मूल्यों के उतार-चढ़ावों को रोकने के लिये अपने पास रखती है। बाजार में पूर्ति अधिक होने पर सरकार माल खरीद सुरक्षित कोष में वृद्धि करती है और पूर्ति की कमी होने पर अपने भण्डार से वस्तुओं को बाजार में बेच कर उनकी उपलब्धि सुरक्षित करती है।

भारत में खाद्यान्न की खरीद और उसके नियंत्रण की नीति सरकार ने सर्वप्रथम 1943 में बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष के समय अपनायी। तबसे खाद्यान्न नीति भारतीय सरकार की कल्याणकारी नीति का एक अभिन्न अंग बन गयी है। समय-समय पर खाद्यान्न नीति समितियों ने सरकार को आवश्यक सुझाव दिये हैं। 1976 में कार्यकारी दल की सिफारिश पर यह निर्णय लिया गया कि सरकार को कम से कम 120 लाख टन का सुरक्षित भण्डार रखना चाहिए।

सरकार भारतीय खाद्य निगम, खाद्य विभाग व सहकारी संस्थाओं के माध्यम से खाद्यान्न के आहरण का कार्य नियमित रूप से करती आ रही है। हालांकि आहरण की मात्रा में बदलाव आते रहे हैं, फिर भी उसकी सामान्यप्रवृति बढ़ने की है। 1986 में लगभग 200 लाख टन का खाद्यान्न आहरण किया गया।

सरकार की आहरण प्रक्रिया मुख्य रूप से गेहूं और चावल की खरीद पर आधारित है। यह आहरण भी मुख्यतः कुछ गिने चुने राज्यों से ही प्राप्त होता है जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश।

खाद्यान्न की आहरण व भण्डारण नीति से एक ओर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्नों की उपलब्धि हुई है और दूसरी ओर उत्पादन कर्ताओं को स्थिर मूल्य प्राप्त हुये हैं। इसके साथ ही आहरण व भण्डारण नीति में कुछ दोष भी देखने में आये हैं जैसे क्रय करने वाली संस्थाओं में पर्याप्त तालमेल का अभाव, व्यवस्था पर आने वाला अधिक व्यय भार, क्रय में अनियमिततायें तथा भ्रष्टाचार, भण्डारण व परिवहन के प्रबन्ध में वैज्ञानिक नियोजन का अभाव आदि। इन दोषों को दूरकर खाद्यान्न नीति को और अधिक लाभकारी बनाया जा सकता है।

15.9 शब्दावली

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System) – सरकार द्वारा जनता को उचित मूल्य पर खाद्यान्न आदि आवश्यक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था।

आहरण अथवा वसूली (Procurement) — सरकार के द्वारा पूर्व निश्चित मात्रा में खाद्यान्न अथवा अन्य पदार्थों को खुले बाजार अथवा अनिवार्य बिक्री के आधार पर क्रय करना।

बिक्रीकृत अतिरेक (Marketed Surplus) — उत्पादकों द्वारा बाजार में बेचे गये माल की मात्रा।

लेवी (Levy) — उत्पादकों, व्यापारियों अथवा मिल मालिकों से अनिवार्य रूप से माल का एक प्रतिशत प्राप्त करना।

सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) — अनाज आदि का वह न्यूनतम भण्डार जिसका प्रयोग संकटकाल से निपटने के प्रति और मूल्यों को स्थिर रखने के लिये किया जाता है।

खाद्यान्न नीति (Food Policy) — सरकार द्वारा खाद्यान्न के व्यापार मूल्यों, वितरण आदि के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की नीति।

उत्पादन बेशी वाले प्रान्त (Food Surplus States) — के प्रान्त जहां खाद्यान्न का उत्पादन आवश्यकता आवश्यकता की तुलना में अधिक है।

उत्पादन कमी वाले प्रान्त (Food Deficit States) — वे प्रान्त जहां खाद्यान्न का उत्पादन आवश्यकता से कम है।

खाद्यान्न अनुदान (Food Subsidy) — खाद्यान्न की खरीद व वितरण पर आये हुए व्यय का वह भार जो सरकार स्वयं वहन करती है।

15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए. एन. अग्रवाल, भारतीय कृषि की समस्यायें

R.N. Chopra, Evolution of Food Policy in India, Macmillan, New Delhi, 1981.

P.S. George, Government Intervention in Foodgrains Markets: Procurement and Public Distribution of Foodgrains in India, IIM. Ahmedabad 1983.

Indian Society of Agricultural Economics, Seminar of Foodgrains Buffer Stocks in India, Seminar Series VIII, Bombay.

K.C.S. Acharya, Food Security System of India : Evolution of the Buffer Stocking Policy and its Evaluation, New Delhi, 1983.

रूद्रदत्त एवं सुन्दरम, भारतीय अर्थव्यवस्था।

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. खाद्यान्न की पूर्ति में उच्च स्तर के परिवर्तनों के कारण बताइये।
2. सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ और उद्देश्य बताइये।
3. खाद्यान्न की वसूली के विभिन्न तरीके बताइये।

4. सुरक्षित भण्डार का अर्थ एवं उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

5. भारत में खाद्यान्न के क्षेत्र में सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता और औचित्य पर प्रकाश डालिये।

6. भारत में उत्पादन बेशी और उत्पादन कमी वाले 3-3 प्रमुख प्रान्तों के नाम बताइये।

7. भारत में आहरण और सुरक्षित भण्डार नीति से उपभोक्ताओं और उत्पादकों का क्या लाभ हुये हैं।

8. भारत सरकार की खाद्यान्न आहरण और भण्डारण नीति में क्या प्रमुख दोष है।

इकाई 16

सार्वजनिक वितरण प्रणाली
(Public Distribution Systems)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ एवं उद्देश्य

16.2 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय एवं विकास

16.3 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विशेषतायें

16.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र एवं सुधार

- 16.4.1 विस्तार
- 16.4.2 वस्तुओं की संख्या
- 16.4.3 खाद्यान्न वितरण की मात्रा
- 16.4.4 लाभार्थी वर्ग व क्षेत्र
- 16.4.5 आहरण तथा आयात

16.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्रियान्वयन

- 16.5.1 सुरक्षित भण्डार
- 16.5.2 भण्डारण सुविधा
- 16.5.3 गुणवत्ता तथा प्रमाणीकरण
- 16.5.4 प्रचलन लागत
- 16.5.5 अन्य समस्यायें

16.6 सारांश

16.7 शब्दावली

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

16.0 उद्देश्य

आप तथा आपके परिवारजन संभवतः सरकारी सस्ते गल्ले की दुकान से गेहूं, चीनी आदि आवश्यक वस्तुओं को खरीदते ही होंगे। आपने यह भी देखा होगा कि इन दुकानों के मूल्य निश्चित होते हैं तथा स्वतंत्र बाजार के मूल्यों से कम होते हैं। ये दुकाने सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अंग है जिसके द्वारा सरकार देश के नागरिकों की आवश्यकताओं को उचित मूल्यों पर पूरा करने का प्रयास करती है। लगभग पिछले पांच दशकों से यह सार्वजनिक वितरण प्रणाली हमारे देश की सरकार की जन कल्याणकारी नीतियों का एक महत्वपूर्ण अंग रही है।

इस इकाई में हम आपका परिचय इसी सामाजिक वितरण प्रणाली के विभिन्न पक्षों से करायेंगे। पहले हम सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ एवं उद्देश्य स्पष्ट करेंगे। उसके बाद भारत में इस प्रणाली के उदय तथा विकास के बारे में बतायेंगे। तत्पश्चात् इस प्रणाली की मुख्य विशेषतायें बतायी जायेगी। अगले खण्ड में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र व विस्तार के विभिन्न पक्षों की चर्चा की जायेगी अंतिम खण्ड में हम इस प्रणाली के क्रियान्वयन के दोष व कठिनाइयाँ बतायेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्य तथा उसके लाभकारी प्रभाव व उसके क्रियान्वयन के दोषों को भलीभांति जान पायेंगे।

16.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ एवं उद्देश्य

एक कृषि प्रधान देश में प्राकृतिक विपदाओं के कारण बाढ़ दुर्भिक्ष आदि की समस्यायें उत्पन्न होती है जिससे खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति में अक्सर कमी आ जाती है और उनके मूल्य बहुत बढ़ जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में खाद्यान्न के व्यापार को केवल निजी क्षेत्र पर नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि व्यापारी जमाखोरी और मुनाफाखोरी का सहारा लेते हैं। ऐसे में एक और कल्याणकारी सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह खाद्यान्न के बाजार में हस्तक्षेप करें और आवश्यक वस्तुओं के वितरण की एक उचित व्यवस्था करें। यही परिस्थिति सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उदय एवं अस्तित्व का कारण है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System) एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा उचित मूल्य व पर्याप्त मात्रा में सरकार के द्वारा खाद्यान्न तथा आवश्यकता की अन्य वस्तुयें जनता को विशेषकर निर्बल वर्गों को उपलब्ध करायी जाती है। यह एक लोक कल्याणकारी राज्य का आवश्यक कर्तव्य माना जाता है। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता खाद्यान्न पूर्ति के संकट व निजी व्यापार व्यवस्था के दोषों के कारण उत्पन्न होती है।

संक्षेप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्य निम्नलिखित है :—

(अ) समाज के निर्बल वर्गों के लिये खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुओं की उचित मूल्य पर व्यवस्था करना।

(ब) खराब फसल के दौरान खाद्यान्न के मूल्यों की वृद्धि को रोकना तथा व्यापारियों द्वारा मुनाफाखोरी और जमाखोरी की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना।

(स) बाजार में आवश्यक वस्तुओं की मात्रा और पूर्ति में संतुलन रखकर उनके मूल्यों की स्थिरता बनाये रखना।

(द) खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुओं की प्रति व्यक्ति एक न्यूनतम मात्रा उपलब्ध कराना तथा सभी वर्गों को एक न्यूनतम उपभोग स्तर प्रदान करना।

(य) आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की गुणवत्ता को बनाये रखना।

(र) एक सक्रिय उपभोग सहकारी आंदोलन को प्रोत्साहन देना।

एक सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार आन्तरिक बाजार से खरीद व वसूली के आधार पर तथा/अथवा आयात के द्वारा आवश्यक वस्तुओं का एक सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) बनाये। विशेष परिस्थितियों में सरकार को मूल्य नियंत्रण तथा राशन व्यवस्था का भी प्रयोग करना पड़ता है, हालांकि ये सार्वजनिक वितरण प्रणाली के आवश्यक अंग नहीं है।

16.2 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय तथा विकास

भारतवर्ष में खाद्यान्न के व्यापार में सरकार का हस्तक्षेप तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुआ। युद्ध काल में खाद्यान्न की पूर्ति में कमी आयी थी। और उसके मूल्य बढ़ने लगे थे। 1943 के बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष से परिस्थिति और भी बिगड़ गयी। इस संकटपूर्ण स्थिति का सामना करने के लिये सरकार ने खाद्यान्न पर मूल्य नियंत्रण लगाया और राशन व्यवस्था लागू की ताकि खाद्यान्न की पूर्ति उचित मूल्यों पर उपलब्ध करायी जा सके । इस प्रकार भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय हुआ जो पिछले लगभग पांच दशकों से सरकार की कल्याणकारी नीति का एक अभिन्न अंग ही हैं इस अवधि में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र व स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं, लेकिन वह भारतीय अर्थव्यवस्था का एक स्थायी अंग बनी रही है।

विभिन्न खाद्यान्न जांच समितियों ने अपने प्रतिवेदनों में एक प्रभावकारी वितरण प्रणाली की आवश्यकता पर बल दिया है। सरकार की खाद्यान्न नीति खाद्यान्न नीति, समिति 1943 की सिफारिशों पर आधारित थी। समिति ने उपलब्ध खाद्यान्न के न्यायपूर्ण वितरण पर बल दिया। सरकार ने प्रमुख खाद्यान्नों के मूल्य नियंत्रण और बड़े शहरों में राशन व्यवस्था करने का निर्णय लिया। खाद्यान्न आहरण समिति 1950 ने परिस्थिति का पुनर्मूल्यांकन किया और सार्वजनिक वितरण व्यवस्था में समन्वय की कमी की ओर ध्यान दिलाया। आगामी वर्षो में अच्छी फसलों के कारण परिस्थिति में सुधार हुआ तथा स्वतंत्र व्यापार फिर प्रारंभ किया गया।

1956 से सार्वजनिक वितरण प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया जब सरकार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार से पी. एल. 480 के अंतर्गत खाद्यान्न आयात करने का समझौता किया। खाद्यान्न जांच समिति 1957 ने भी खाद्यान्न के आयात की नीति का समर्थन किया और सस्ते गल्ले की दुकानों को जारी रखने और खाद्यान्न का एक सुरक्षित भण्डार बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना 1956-61 के दौरान सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिये 40 लाख टन के सुरक्षित भण्डार रखने की सलाह दी चौथी पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक वितरण प्रणाली को जो अभी तक मुख्यतः शहरों तक सीमित थी, ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाने की नीति अपनायी गयी।

श्री मोहन धारिया की अध्यक्षता में बनायी गयी आवश्यक, वस्तु समिति 1973 ने इस बात पर बल दिया कि सरकार को व्यापक रूप से सामान्य नागरिकों के लिए आवश्यक वस्तुओं की उचित मूल्यों पर व्यवस्था कराने की जिम्मेदारी उठानी चाहिये।

पांचवी पंचवर्षीय योजना के लिये बनाये गये कार्यकारी दल का सुझाव था कि बड़े स्तर पर इस कार्यक्रम को चलाने के लिय कम से कम 120 लाख टन का सुरक्षित भण्डार होना चाहिये। छठी योजना में आवश्यक वस्तुओं के वितरण के संबंध में चयनात्मक तथा लचीली नीति अपनाने पर बल दिया गया ताकि विभिन्न राज्य अपनी परिस्थितियों के आधार पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चला सके। सातवीं पंचवर्षीय योजना के सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विस्तार का कार्यक्रम परिवर्तित बीस सूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत रखा गया। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के पूरक के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषकर जहां पर व्यवस्था पहले नहीं थी फैलाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र तथा स्वरूप बदलता रहा है। काफी समय तक यह प्रणाली खाद्यान्न संकट से प्रभावित रही। खराब फसलों के वर्षों में उसका विस्तार होता रहा तथा अच्छे वर्षो में संकुचन हुआ। इस प्रकार सार्वजनिक वितरण

प्रणाली एक संकटकालीन व्यवस्था के रूप में चलती रही। लेकिन हरित क्रांति की सफलता के बाद खाद्यान्न परिस्थिति में सुधार हुआ है और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। अब यह प्रणाली मूल्यों के स्थिरीकरण और आवश्यक वस्तुओं को निर्बल वर्गों में उचित मूल्य पर उपलब्ध कराने की नीति का एक स्थायी अंग हो गयी है।

16.3 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विशेषतायें

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के स्वरूप को समझाने के लिये उसकी निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख उपयुक्त होगा :—

(1) इस प्रणाली में चुनी हुयी आवश्यक वस्तुओं का वितरण सस्ते गल्ले की दुकानों (Fair Price Shops) अथवा सहकारी संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है यह दुकानें सरकार के नियंत्रण व निर्देशन में सामाजिक हित के लिये कार्य करती हैं।

(2) राशनिंग वाले क्षेत्रों को छोड़कर यह व्यवस्था इस वस्तुओं के स्वतंत्र व्यापार के साथ चलती है, ताकि व्यापारियों की मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति काबू में रहे।

(3) यह व्यवस्था मुख्यतः खाद्यान्नों के वितरण तक सीमित रही है, हालांकि अन्य वस्तुओं यथा मिट्टी का तेल, सस्ता कपड़ा, आदि भी इसके द्वारा वितरित किये जाते हैं। वितरित वस्तुओं में गेहूं, चावल व चीनी की ही प्रधानता रही है।

(4) सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिये आन्तरिक आहरण (Procurement) अथवा आयात के आधार पर एक सुरक्षित भण्डार (Buffer Stocks) बनाती है, जिससे इस दुकानों पर वस्तुओं की उपलब्धि सुनिश्चित की जाती है। सरकार प्रति व्यक्ति बेची जाने वाली मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों को निर्धारित करती है।

(5) सस्ते गल्ले की दुकान पर वस्तुओं का मूल्य बाजार मूल्य से कम रहता है। मूल्यों को कम रखने के लिये सरकार को अनुदान (Subsidy) देना पड़ता है।

(6) मुख्यतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली शहरी क्षेत्रों तक सीमित रही है, लेकिन अब इसका विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में भी किया जा रहा है।

(7) सार्वजनिक वितरण प्रणाली विशेषकर आर्थिक रूप से निर्बल वर्गों की आवश्यकता पूर्ति के लिये चलायी जाती है।

(8) केन्द्र ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली का समय-समय पर पुनर्अवलोकन करने के लिए सलाहाकरी परिषद (Advisory Council) की स्थापना की है। केन्द्रीय सरकार की सलाह पर सभी राज्यों ने जिला तथा तहसील स्तर पर उपभोक्तओं की सलाहकार समितियों का भी गठन किया है, जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली के कार्यों पर नजर रखती है।

16.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र एवं विस्तार

अब हम आपको भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विभिन्न पक्षों से कुछ अधिक विस्तार में परिचय करायेंगे। आइये पहले इस व्यवस्था के क्षेत्र एवं विस्तार की स्थिति को देखें।

16.4.1 विस्तार

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रभाव उसके विस्तार के स्तर पर निर्भर करता है। जैसा कि

हम ऊपर आपको बता चुके हैं खाद्यान्न संकट के समय इस प्रणाली का विस्तार होता रहा है और अच्छी फसलों के समय संकुचन/तालिका में विभिन्न वर्षों में सस्ते गल्ले की दुकानों की संख्या को दिखाया गया है। 1971 के पश्चात सस्ते गल्ले की दुकानों की संख्या में काफी वृद्धि हुयी है और उनकी संख्या 1.21 लाख से बटकर 1987 में लगभग 3.33 लाख हो गयी। इनकी संख्या 1992 में बढ़कर 4 लाख व 31 मार्च 1995 में बढ़कर 4.32लाख हो गई। इनमें से 3/4 दुकानें ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। आच्छादित जनसंख्या में भी निरन्तर वृद्धि हुयी है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 1980 तक लगभग 90 प्रतिशत जनसंख्या को सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सुविधा उपलब्ध थी। यह आंकड़े इस अर्थ में भ्राम है कि यह वास्तविक लाभार्थियों की संख्या नहीं दर्शाते हैं। लाभार्थी भी अपनी आवश्यकता का एक अंश ही इन दुकानों से प्राप्त कर पाते हैं। आप याद करेंगे कि हम पहले भी यह कह चुके हैं कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली मुख्यतः शहरी नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। हाल के वर्षों में इस व्यवस्था को ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

तालिका 16.1

सस्ते गल्ले की दुकानों की वर्षवार संख्या 1966-1995

वर्ष	संख्या	आच्छादित जनसंख्या (लाख)
1966	1,35,977	
1967	1,42,815	
1968	1,40,402	
1969	1,38,777	
1970	1,22,038	
1971	1,21,032	2995
1972	1,65,087	4115
1973	2,00,655	4353
1974	2,21,975	4313
1975	2,40,210	4695
1976	2,36,196	5660
1977	2,38,622	5891
1978	2,38,985	6130
1979	2,43,828	6103
1980	2,75,000	6110
1981	2,83,560	
1982	2,77,672	
1983	2,48,028	

वर्ष	संख्या	आच्छादित जनसंख्या (लाख)
1984	3,02,360	—
1985	3,15,290	—
1986	3,25,081	—
1987	3,33,275	—
1992	400000	—
1995	432000	—

स्रोत :— Ministry of Agriculture, Government of India, Bulletin of Food Statistics 1996, New Delhi.

16.4.2 वस्तुओं की संख्या

1955 के आवश्यक वस्तु अधिनियम में 65 वस्तुओं की सूची रखी गयी है। वास्तव में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से कुछ ही वस्तुओं की पूर्ति की गयी है जिनमें उल्लेखनीय है गेहूं, चावल, चीनी, मिट्टी का तेल सस्ता कपड़ा, वनस्पति तथा कोयला। खाद्यान्न के वितरण पर जोर देना उचित ही या लेकिन मोटे अनाज की व्यवस्था का अभाव एक आलोचना का बिंदु है।

समय-समय पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत वस्तुओं की संख्या इस सम्बन्ध में 1973 में मोहन धारिया समिति ने सुझाव दिया था कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा निम्नलिखित वस्तुओ का वितरण होना चाहिये। मोटे अनाज, दालें, चीनी वनस्पति, दूध, सस्ता कपड़ा, जूते, मिट्टी का तेल तथा ईंधन, साबुन, स्कूल की किताबें। 1977-79 के दौरान सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वस्तुओं की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न भी किया, लेकिन उसकी अधिक सफलता नहीं मिली। अधिक संख्या में वस्तुओं की वितरण व्यवस्था करना काफी कठिन कार्य है। अतः सरकार ने कुछ चुनी हुयी वस्तुओं के वितरण प्रबन्ध पर अधिक ध्यान दिया है। यदि राज्य सरकारें चाहे तो अन्य वस्तुओं के वितरण का भी पबन्ध कर सकती है।

16.4.3 खाद्यान्न वितरण की मात्रा

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से किये जाने वाले खाद्यान्न की मात्रा उसके विस्तार पर प्रभावित होने वाले वर्गों पर प्रति व्यक्ति वितरण की मात्रा आदि तत्वों पर निर्भर करती है। उसकी मात्रा के बारे में विभिन्न विशेषज्ञों ने अलग-अलग अनुमान लगाये हैं। सस्ते गल्ले की दुकानों के किये गये खाद्यान्न के वितरण की जानकारी तालिका 16.2 में दी गयी है। बाजार की परिस्थितियों के बदलाव के अनुसार वितरित खाद्यान्न की मात्रा में परिवर्तन आते रहे हैं सातवे दशक में औसतन 110 लाख टन अनाज वितरित किया गया। आठवें दशक में यह मात्रा 160 लाख टन के लगभग हो गयी है। हरित क्रांति की सफलता और अधिक मात्रा में खाद्यान्न की वसूली के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली का यह विस्तार सम्भव हुआ है। यह बात भी आप को ध्यान में रखनी चाहिये कि कुछ खाद्यान्न उपलब्धि का एक छोटा हिस्सा (10-15 प्रतिशत) ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा बेचा जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार बिक्री किये गये कुल खाद्यान्न का लगभग 30 प्रतिशत सार्वजनिक वितरण प्रणाली से प्राप्त होता है। यहां हम आपको यह ध्यान दिलाना चाहेंगे कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली वस्तुओं के स्वतन्त्र बाजार

की अनुपूरक ही है और विशेषकर वह निर्धन वर्गों की आवश्यकता को पूरा करती है। इस दृष्टि से उसका महत्व कम नहीं है।

तालिका 16.2

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से वर्षवार बेची गयी खाद्यान्न की मात्रा 1960 से 1996

(हजार टन)

वर्ष	खाद्यान्न की मात्रा	अनाज की शुद्ध उपलब्धि का प्रतिशत
1960	4,937	8.2
1961	3,977	6.2
1962	4,365	6.6
1963	5,178	8.0
1964	8,665	12.5
1965	10,099	13.7
1966	14,089	21.7
1967	13,166	19.8
1968	10,221	13.4
1969	9,385	12.3
1970	8,841	11.1
1971	7,816	9.3
1972	11,396	13.2
1973	11,414	14.0
1974	10,790	12.2
1975	11,253	14.0
1976	9,174	10.9
1977	11,729	13.2
1978	10,163	10.2
1979	11,663	11.2
1980	14,993	16.0
1981	13,014	12.4
1982	14,766	13.8
1983	16,206	15.5
1984	13,326	11.4
1985	15,799	13.9
1986	17,595	14.5
1996	20500	—

स्रोत :— Ministry of Agriculture, Government of India, Bulletin of Food Statistics 1996, New Delhi.

16.4.4 लाभार्थी वर्ग व क्षेत्र

आइये अब हम यह देखें कि किस सीमा तक सार्वजनिक वितरण प्रणाली दुर्बल वर्गों को सुरक्षा पहुंचाने में सफल रही है। इस प्रणाली का कार्य क्षेत्र केवल निर्धन वर्गों तक सीमित नहीं रहा है। वैसे भी सामान्य व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण जनसंख्या का अधिकांश भाग लाभार्थी वर्ग में आ जाता है। फलस्वरूप सबसे दुर्बल वर्ग की आवश्यकता पूर्ति का उद्देश्य पूर्ण रूप से पूरा नहीं हो पाता। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि इस कार्यक्रम में मुख्यतः गेहूं चावल व चीनी का वितरण किया गया है और मोटे अनाज व सस्ते कपड़े आदि की व्यवस्था पर कम ध्यान दिया गया है।

सार्वजनिक प्रणाली का लाभ अधिकांशतः नगरी क्षेत्रों विशेषकर बड़े शहरों को प्राप्त हुआ है इसका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। एक अध्ययन के अनुसार 1977 में कुल खाद्यान्न वितरण का लगभग 70 प्रतिशत शहरी क्षेत्रों को प्राप्त हुआ और कल 30 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों को।

इसके अलावा एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली से बटने वाले अनाज का अधिक लाभ पश्चिमी बंगाल महाराष्ट्र तमिलनाडु, कर्नाटक व केरल को अधिक मिला है, जो आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत विकसित राज्य है। हालांकि यह बात सही है कि खाद्यान्न की दृष्टि से ये घाटे वाले राज्य हैं।

16.4.5 आहरण तथा आयात

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र व प्रभावकता इस बात पर निर्भर करती है कि किसी सीमा तक सरकार वस्तुओं की मात्रा को जुटा पाती है। आंतरिक (Internal Procurement) तथा यातात (Import) तालिका 16.3 में विभिन्न वर्षों में आन्तरिक आहरण तथा आयात की मात्राओं को दिखाया गया है। जैसा कि आप इन आंकड़ों से देखेंगे कि प्रारम्भ में बड़ी सीमा तक खाद्यान्न का वितरण आयात के ऊपर निर्भर था। हरित क्रांति की सफलता के बाद आयात की मात्रा में काफी कमी आयी है और अब सार्वजनिक वितरण प्रणाली आंतरिक आहरण पर भी मुख्यतः निर्भर है।

तालिका 16.3

खाद्यान्न का आहरण, आयात एवं सार्वजनिक वितरण 1960-1996

(हजार टन)

वर्ष	आहरण	आयात	सार्वजनिक वितरण
1960	1,275	5,137	4,937
1961	541	3,495	3,977
1962	479	3,640	4,365
1963	750	5,556	5,178
1964	1,430	6,226	8,665
1965	4,031	7,462	10,079
1966	4,009	10,358	14,085

वर्ष	आहरण	आयात	सार्वजनिक वितरण
1967	4,462	8,672	13,166
1968	6,805	5,694	10,221
1969	6,381	3,872	9,385
1970	6,714	3,631	8,841
1971	8,857	2,054	7,816
1972	7665	445	11,396
1973	8,424	3,614	11,414
1974	5,645	4,674	10,790
1975	9,563	7,407	11,253
1976	12,853	6,515	9,174
1977	9,874	555	11,729
1978	11,098	—	10,163
1979	13,836	—	11,663
1980	11,178	48	14,993
1981	12,975	855	13,014
1982	15,419	2,091	14,768
1983	15,571	4,104	16,206
1984	18,723	2,369	13,326
1985	20,116	—	15,799
1986	19,721	—	17,595
1993	281000	3100	164000
1995	225000	400	153000
1996	198000	1300	205000

स्रोत – कृषि मंत्रालय, भारत सरकार, (Bulletin of Food Statistics Various Issues)।

खाद्यान्नों की वसूली का कम भारतीय खाद्य निगम प्रमुख रूप से करता है। इसके अतिरिक्त सरकारों के खाद्य व सार्वजनिक पूर्ति विभागों तथा नियमों और सहकारी संघों के द्वारा भी खाद्यान्न की वसूली का कार्य किया जाता है। सरकार निश्चित मूल्यों पर इन संस्थाओं के द्वारा किसानों से तथा व्यापारियों से माल खरीदती है। अगली इकाई में हम अधिक विस्तार में आन्तरिक आहरण के विभिन्न पहलुओं से आपका परिचय करायेंगे।

16.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्रियान्वयन

अब हम भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्रियान्वयन व उसकी आलोचनात्मक व्यवस्था करेंगे। अधिकांश आलोचकों का यह विचार रहा है कि सामाजिक वितरण प्रणाली सामान्य जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने में पूरी तरह सफल रही है। इसका प्रमुख कारण है सरकार के पास वस्तुओं की अपर्याप्त व अतिरिक्त पूर्ति। सरकार ने अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुये जनता की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने का उत्तरदायित्व नहीं लिया है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली स्वतंत्र बाजार के अनुपूरक के रूप में ही चलायी जा रही है। यह कहा जा सकता है कि यह प्रणाली एक स्थायी असंतुलन का रूप ले चुकी है। खाद्यान्न के संकट को समय सार्वजनिक प्रणाली के बिक्री का स्तर बढ़ जाता है, लेकिन अच्छी फसल के वर्षों में घट जाता है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने से संबंधित कुछ बातों का जिक्र हम नीचे कर रहे हैं :—

16.5.1 सुरक्षित भण्डार

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से बांटे गये खाद्यान्न की मात्रा सरकार के पास उपलब्ध सुरक्षित भण्डार पर निर्भर करती है। 1970 के पूर्व खाद्यान्न की पैदावार अधिक नहीं थी और सरकार की आहरण प्रणाली भी अधिक विस्तृत नहीं थी, अतः कुल आन्तरिक आहरण का स्तर बहुत अधिक नहीं रहा। दूसरी तरफ खाद्यान्न के आयात के लिये विदेशी मुद्रा की उपलब्धि भी अधिक नहीं थी। अतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिये सरकार के पास अधिक स्तर का सुरक्षित भण्डार नहीं था। 1960 व 1967 के नीचे कुछ भण्डार 23-23 टन के लगभग रहा। तत्पश्चात सुरक्षित भण्डार लाख स्थिति में सुधार हुआ है। हाल के वर्षों में उसकी मात्रा 200 लाख टन से अधिक रही है, जो खाद्यान्न पूर्ति की सुधारी स्थिति को दिखाता है।

16.5.2 भण्डारण सुविधा

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को बड़े स्तर पर चलाने में एक कठिनाई अच्छी भण्डारण सुविधा का अभाव रहा है। पिछले वर्षों में भण्डारण सुविधा (Warehousing Facilities) में काफी वृद्धि हुई है। 1987 में केन्द्र व राज्य सरकारों को सम्मिलित भण्डारण सुविधा 135.72 लाख टन हो गयी थी। फिर भी फसल के बाजार में जाने के दौरान भण्डारण सुविधा का अभाव उत्पन्न हो जाना। फलस्वरूप एक बड़ी मात्रा में अनाज बर्बाद हो जाता है। 1993-94 में यह बढ़कर 350.00 लाख टन हो गयी है।

16.5.3 गुणवत्ता तथा प्रमाणीकरण

सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वांछित स्तर की गुणवत्ता तथा प्रमाणीकरण का अभाव रहा है। फलस्वरूप सस्ते गल्ले की दुकानों में उपलब्ध अनाज की किस्म संतोषजनक नहीं रही है। यही कारण है कि लोग खुले बाजार से अनाज खरीदना पसंद करते हैं।

16.5.4 प्रचलन लागत

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने में काफी बड़े स्तर की प्रचालन लागत (Operational Costs) आती है। प्रशासनिक लागतों के अतिरिक्त परिवहन तथा भण्डारण आदि पर सरकार को काफी व्यय करना पड़ता है पर इसके अतिरिक्त बर्बादी और चोरी आदि का भार भी वहन करना पड़ता है। एक अनुमान के अनुसार लागत खरीद मूल्य का लगभग 32 प्रतिशत

थी। राशन की दुकानों पर निर्गत मूल्यों (Issue Price) को निम्न रखने के लिये सरकार का बड़ी मात्रा में अनुदान (Subsidy) देना पड़ता है, जिसका स्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

16.5.5 अन्य समस्यायें

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जो अध्ययन किये गये हैं, उन्होंने राशन की दुकानों की कार्य प्रणाली में अनेक प्रकार के दोषों और अनुचित तरीकों की तरफ ध्यान दिलाया है। इन दुकानों को चलाने वाले व्यापारियों पर सरकार का पूर्ण अंकुश नहीं रहता है। बहुत से राशन कार्ड जाली होते हैं और वह माल खुले बाजार व ऊंचे दामों पर बेच दिया जाता है। इन दुकानों पर उपलब्ध पूर्ति भी कम तथा अनिश्चित रहती है। जिससे उपभोक्ताओं में असंतोष रहता हैं दुकानों के हिसाब किताब से भी हेरा-फेरी की जाती है। इन दुकानों पर सरकार का नियंत्रण बहुत प्रभावकारी नहीं है। दूसरी ओर व्यापारी सीमित व अनिश्चित पूर्ति कम कमीशन, खराब माल की पूर्ति और सीमित लाभ आदि कठिनाइयों की शिकायत करते हैं।

16.6 सारांश

जनता को, विशेषकर आर्थिक रूप से निर्बल वर्गों को उचित मूल्यों पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से उनका वितरण किया जाता है। भारत में खाद्यान्न के व्यापार में हस्तक्षेप का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुआ जो अब पिछले लगभग पांच दशकों से सरकार की कल्याणकारी नीति का एक अभिन्न अंग बन गयी है हालांकि उससे क्षेत्र व स्वरूप में परिवर्तन होते रहे हैं।

लगभग 1970 तक खाद्यान्न की तंगी की स्थिति बनी हुयी थी। अतः सरकार आन्तरिक वसूली और आयात के आधार पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाती थी। लेकिन उसका विस्तार बहुत अधिक नहीं था। तत्पश्चात् हरित क्रांति की सफलता से स्थिति में काफी सुधार हुआ। फलस्वरूप सरकार द्वारा अनाज की वसूली बढ़ी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। इस समय देश में लगभग 4.32 लाख सस्ते गल्ले की दुकाने हैं, जिनके माध्यम से लगभग 205 लाख टन का खाद्यान्न बेचा जाता है।

यद्यपि सार्वजनिक वितरण प्रणाली ने खाद्यान्न के मूल्यों को नियंत्रित रखने और जनता को उनकी उपलब्धि कराने में सराहनीय योगदान दिया है, फिर भी यह प्रणाली आलोचनाओं और दोषों से मुक्त नहीं हैं। सरकार के साधन सीमित होने के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली का आधार सीमित रहा है और वह जनसंख्या की आवश्यकता का एक थोड़ा हिस्सा ही पूरा कर पाती है। मुख्यतः यह प्रणाली शहरी क्षेत्रों के मध्यम वर्गों की आवश्यकता को पूरा करती है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली अप्रर्याप्त व अनिश्चित पूर्ति की समस्या से ग्रसित है। इसके अतिरिक्त खरीद और बिक्री के स्तर पर अनेक अनुचित तरीकों का प्रयोग होता है, जिससे उपभोक्ताओं को कठिनाई व हानि होती है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने में सरकार को काफी व्यय भी वहन करना पड़ता है, जिसका दबाव उसके बजट पर पड़ता है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अधिक प्रभावक व लाभकारी बनाने के लिए वह आवश्यक होगा कि उसके क्षेत्र व स्तर में विस्तार किया जाय, उस पर आने वाले व्यय में कटौती की जाये और उसमें व्याप्त दोषों को दूर किया जाये।

16.7 शब्दावली

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System) सरकार के द्वारा

जनता को उचित मूल्यों पर खाद्यान्न आदि आवश्यक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था।

आहरण या वसूली (Procurement) – सरकार के द्वारा पूर्व निश्चित मात्रा में खाद्यान्न आदि को खुले बाजार से अथवा उत्पादन को अनिवार्य बिक्री के आधार पर क्रय करना।

सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) – वस्तुओं का यह भंडार जिसका प्रयोग संकट काल से निपटने तथा मांग और पूर्ति में संतुलन करने के लिये किया जाता है।

खाद्यान्न नीति (Food Policy) – सरकार की खाद्यान्न के व्यापार मूल्यों वितरण आदि के क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति।

खाद्यान्न अनुदान (Food Subsidy) – खाद्यान्न की खरीद व वितरण पर आये व्यय का वह भाग जो सरकार स्वयं वहन करती है।

निर्गत मूल्य (Issue Price) – वह मूल्य जो सरकार को सस्ते मूल्य गल्ले की दुकानों से माल बेचने के लिये निर्धारित करती है।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए. एन. अग्रवाल, **भारतीय कृषि की समस्यायें**

रूद्रदत्त एवं सुन्दरम्, **भारतीय अर्थव्यवस्था**

Bhatia, B.M., *India's Food Problems and Policy Since Independence*, Somaiyya, Bombay, 1970.

Dholakia, N. and Khurana, R.K, *Public Distribution System*, Oxford & IBH, New Delhi, 1979.

Misra, B., *Economics of Public Distribution System in Foodgrains*, Ashish, New Delhi, 1985.

Prasad Kamta, Scope and Functioning of the Public Distribution System in India, in A.K. Singh et. al. (Ed.), *Economic Policy and Planning in India*, Sterling, New Delhi, 1984.

16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ व उद्देश्य बताइये।
2. भारत जैसे देशों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।
3. भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की मुख्य विशेषतायें बताइये।
4. सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र व विस्तार की उपयुक्तता पर आप के विचार बताइये।
5. सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्रियान्वयन की मुख्य सीमायें व दोष बताइये।
6. आपको सस्ते गल्ले की दुकान से माल खरीदने में क्या-क्या कठिनाइयां आयी हैं।
7. सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुधारने के लिए अपने सुझाव दीजिये।

NOTES

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

क्षेत्रीय आर्थिक विकास एवं नियोजन

MAEC-06

भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना 4

खण्ड-4

उद्योग एवं व्यापार

पृष्ठ सं०

इकाई 17
भारत में औद्योगिक विकास की प्रवृति एवं समस्याएं 9-16

इकाई 18
कृषि व उद्योग के मध्य व्यापार शर्तें 17-28

इकाई 19
भारत में क्षेत्रीय विषमताएं 29-46

इकाई 20
भारत में संतुलित औद्योगिक विकास की नीतियां 46-63

इकाई 21
भारतवर्ष में बहुराष्ट्रीय निगम 64-73

इकाई 17

भारत में औद्योगक विकास की प्रवृति एवं समस्याएं

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व औद्योगिक विकास : ऐतिहासिक सिंहावलोकन

17.3 नियोजन एवं औद्योगिक विकास

17.3.1 प्रथम योजना (1951-56)

17.3.2 द्वितीय योजना (1956-61)

17.3.3 तृतीय योजना (1961-66)

17.3.4 तीन वार्षिक योजनाएं (1966-69)

17.3.5 चतुर्थ योजना (1969-74)

17.3.6 पांचवी योजना (1974-79)

17.3.7 छठी योजना (1979-85)

17.3.8 सातवीं योजना (1985-90)

17.3.9 आठवीं योजना (1992-97)

17.4 विकास के मार्ग में बाधाएं

17.5 सारांश

17.6 शब्दावली

17.7 कुछ उपयोगी-पुस्तकें

17.0 उद्देश्य

अर्थव्यवस्था के विकास में उद्योगों की अहम् भूमिक होती है। इसलिए इसके विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाओं एवं विकास की प्रवृति का ज्ञान अर्थशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- जान सकेंगे कि उद्योगों के सन्दर्भ में भारत की क्या स्थिति थी?
- योजनाओं के क्रियान्वयन के परिणाम स्वरूप औद्योगिक विकास की क्या स्थिति रही?
- औद्योगिक विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाओं से परिचित हो जाएंगे।

17.1 प्रस्तावना

किसी भी देश के औद्योगिक विकास का ज्ञान विकास की भावी रणनीति बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए योजनाबद्ध विकास के द्वारा भारत में किए गए प्रयासों की दिशा एवं इसके मार्ग में आ रही बाधाओं का ज्ञान जरूरी है। इस हेतु केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा उपलब्ध कराए गए आंकड़ों के साथ-साथ केन्द्रीय खान ब्यूरो, रिर्जव बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, बजटपूर्व आर्थिक सर्वेक्षण एवं योजनाओं का अध्ययन किया जाएगा। इस विश्लेषण में आपको औद्योगिक तेजी एवं मन्दी के कारणों एवं विकास के मार्ग में आ रही बाधाओं की जानकारी दी जाएगी।

17.2 स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व औद्योगिक विकास : एतिहासिक सिंहावलोकन

प्राचीन भारत में बहुत उन्नत घरेलू उद्योग थे। रायल कमीशन ने लिखा था कि, ''आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में जब असम्य जनतातियां निवास करती थीं, भारत उन दिनों अपने शासकों के धन वैभव एवं कारीगरों की कलाकृतियों के लिए जाना जाता था।'' आप सभी परिचित हैं कि भारत में निर्मित ढ़ाका की मलमल विश्व प्रसिद्ध थीं। प्रो. वेबर ने लिखा है, "In the production of delicate woven fabrics, in the mixing of colours, the working of metals and precious stones, the preparation of essences and in all manner of technical arts has from early times enjoyed a world wide celebraty." हिन्दू शासकों के अन्तिम दिनों में भारतीय उद्योगों का पतन आरम्भ हुआ एवं पठान शासकों के समय अत्यधिक बढ़ गया वह कुछ सीमा तक मुगल शासनकाल में स्थिर हुआ। मुगलों के शासन काल में कई नगर एवं कस्बे अपने घरेलू उद्योगों के लिए प्रसिद्ध हुवे जैसे ढ़ाका की मलमल, हाथीदांत के लिए मुर्शिदाबाद, जयपुर का संगमरमर उद्योग, गाजीपुर का इत्र एवं लखनऊ की वेलवेट इत्यादि। भारत के बढ़ते वैभव ने विदेशी व्यापारियों को अपनी ओर आकर्षित किया। सबसे पहले पुर्तगाली आए फिर डच तथा अन्त में अंग्रेज एवं फ्रेंच व्यापारी भारत आए। फ्रेन्च एवं अंग्रेजों की दुश्मनी में अन्ततः अंग्रेज व्यापारी विजयी हुवे। अंग्रेजों ने भारतीय माल को यूरोपीय बाजारों में बेचा एवं मुनाफा कमाया।

इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ होने पर अंग्रेज व्यापारियों एवं ईस्ट इंण्डिया कम्पनी के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब भारत उनके उद्योगों के लिए कच्चामाल निर्यात करने के लिए एक महत्वपूर्ण स्थान बन गया। इसके साथ ही यहां की विशाल जनसंख्या उन्हें अपने उद्योगों के लिए भावी बाजार के रूप में नजर आने लगी। बाद में स्वतंत्र छोड़ो की नीति (Policy of Laissez faire) के फैल हो जाने एवं बार-बार पड़ने वाले अकाल के परिणाम स्वरूप अकाल आयोगों द्वारा भारत के औद्योगिकीकरण पर बल दिया गया। इसके बाद राजनीतिक पुनर्जागरण के युग में भी भारत में स्वदेशी उद्योगों की नींव रखी। परन्तु राजकीय समर्थन व सहयोग न मिलने से यह अधिक आगे न बढ़ सके। प्रथम विश्वयुद्ध के समय (1914-18) भारत को अपने उद्योगों के विकास के लिए नए अवसर मिले। 1916 में भारतीय उद्योग आयोग की स्थापना की गई जिसने भारत में औद्योगिकीकरण की सम्पूर्ण संभावनाओं का अध्ययन किया। आयोग ने उद्योगों को राजकीय प्रोत्साहन देने की वकालत की। जहाँ प्रथम विश्वयुद्ध के समय भारत में उद्योगों का विकास हुआ वही मन्दी के समय युद्ध उपरान्त उन्हें धक्का लगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ के साथ ही भारत में उद्योगों को पुनः गति मिली परन्तु अधिक उत्साह जनक परिणाम सामने नहीं आए। इस अविध में राजकीय अथवा सरकारी

विभागों की मांग बढ़ने एवं निजी क्षेत्र की क्रय क्षमता में वृद्धि होने से औद्योगिक उत्पादों की मांग बढ़ी। उद्योगों का विकास हुआ परन्तु विश्व के अन्य देशों में औद्योगिक प्रगति के मुकाबले यह नगण्य था। भारत में कुछ उद्योगों जैसे सूती वस्त्र स्टील, तेल, मशीन टूल्स, विद्युत सामग्री, औजार एवं पुर्जे ऊनी वस्त्र, होजरी, जूते, चमड़े का सामान आदि में संतोषजनक वृद्धि हुई। वस्तुतः स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत एक पिछड़ा हुआ देश ही था।

17. 3 नियोजन एवं औद्योगिक विकास

अब हम विभिन्न योजनाओं में औद्योगिक प्रगति की चर्चा करेंगे।

17.3.1 प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)

प्रथम योजना की अवधि में औद्योगिक उत्पादन ने गति पकड़ी। औद्योगिक उत्पादन सूचकांक (1951-100) प्रथम योजना की समाप्ति पर 121.9 था। इस प्रकार योजना अवधि में उत्पादन 22% बढ़ा। यह उद्योगों की प्रस्तावित क्षमता का पूरा उपयोग करने एवं क्षमता में विस्तार करने से सम्भव हो सका। कई नए उद्योग की इस योजना अवधि में प्रारम्भ किए गए। इस योजना अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करने के साथ साथ निजीक्षेत्र को भी सहायता उपलब्ध कराई कई। विद्युत उत्पादन क्षमता जो 1950-51 में मात्र 2.3 मिलियन किलोवाट थी योजना के अन्त में 3.4 मिलियन किलोवाट हो गई। सूती वस्त्र, रबड़, सल्फयूरिक एसिउ, कास्टिकसोड़ा, अमोनियम सल्फेट, सीमेन्ट, खाद्य तेल, साईकलों अदि का उत्पादन बढ़ा।

17.3.2 द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)

प्रथम योजना में प्रारम्भ औद्योगिक विकास की दर द्वितीय योजना में जारी रही। आपको स्मरण होगा कि द्वितीय योजना में भारी उद्योगों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी। परन्तु औद्योगिक कच्चे माल की कमी के कारण उद्योगों की विकास दर में कुछ गिरावट आई। सूती वस्त्र उद्योग की समस्याओं के लिए सरकार ने एक अलग समिति गठित की। 1951-55 की अवधि में जहां औद्योगिक विकास की औसत दर 5.5% थी वही 1956 में यह 8.6% 1957 में 3.5% एवं 1958 में गिरकर 1.5% वार्षिक रह गई। 1959 में औद्योगिक उत्पादन सूचकांक 151 हो गया। जो पिछले वर्ष के मुकाबले 8.2% वृद्धि का द्योतक था। इस वृद्धि का कारण आयातों को उदार बनाकर अधिक मात्रा में कच्चे माल की पूर्ति, आन्तरिक मांग में वृद्धि, नई औद्योगिक वातावरण का उन्नत होना था। 1960 में पिछले वर्ष की तुलना में उत्पादन 12.1% बढ़ा तथा सूचकांक 170.3 हो गया। इस प्रकार योजना अवधि में 39.1% वृद्धि दर्ज की गई।

17.3.3 तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)

तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष 1961-62 में औद्योगिक वृद्धि का लक्ष्य 14 प्रतिशत रखा गया परन्तु वास्तविक दर 4.6% ही प्राप्त हो सकी। औद्योगिक कच्चेमाल की अनुपलब्धता के कारण लक्ष्य को प्राप्त करने में कठिनाई आयी। विदेशी कच्चेमाल का उपयोग करने वाले उद्योगों में समस्या रही क्योंकि विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के कारण आयातों पर प्रतिबन्ध रहे। इसके अतिरिक्त उर्जा व यातायात क्षेत्र में धीमी प्रगति का प्रभाव भी देखने में आया। इन सभी बाधाओं के बावजूद नए-नए क्षेत्रों में उद्योग लगाए गए।

औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (1960=100) 1965 में 153.7 हो गया।

औद्योगिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं जैसे यातायात, उर्जा, सीमेन्ट, कोयला स्टील आदि क्षेत्रों का तेजी से विकास हुआ। इन सभी तत्वों के अतिरिक्त सरकारों द्वारा विभिन्न राजकोषीय रियायतें व सुविधाएं भी औद्योगिक प्रगति के लिए जिम्मेदार थी।

17.3.4 तीन वार्षिक योजनाएं (1966-69)

1966 में औसत औद्योगिक उत्पादन सूचकांक 1965 के स्तर से कम हो गया एवं 1967 में यह 151.4 रह गया। देश के सम्मुख गम्भीर सूखे एवं विदेशी विनिमय संकट के चलते कच्चे माल की उपलब्धता में कमी आई। कुछ उद्योगों को उर्जा संकट के कारण बिजली नहीं मिली। परन्तु 1968 में इसमें कुछ सुधार आया व सूचकांक 161.1 हो गया। सरकार की कड़ी लाइसेन्सिंग नीति भी उद्योगों के मार्ग का रोड़ा बन गई।

17.3.5 चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)

योजना में छुट्टी के बाद 1969 तथा 1970 के वर्षों में औद्योगिक उत्पादन ने फिर गति पकड़ी। 1970 में औद्योगिक उत्पादन (1960=100) सूचकांक 180.7 हो गया। उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए उदार आयातों की नीति का अनुसरण किया गया। कन्ट्रोल की कीमतों में कुछ छूट से वातावरण में सुधार आया। औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति के तहत उद्योगों के लिए व्यापक नीति निर्माण हुआ। इनकी समस्याओं के लिए सरकार द्वारा विभिन्न अध्ययन दल बनाए गए। चतुर्थ योजना में औसत वृद्धि दर 4.1% रही जो लक्ष्य से लगभग आधी थी। उद्योगों की क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो पाया।

17.3.6 पॉचवी योजना (1974-79)

पॉचवी योजना में औद्योगिक विकास की दर अधिक ऊँची तो नहीं रही फिर भी इसमें गति आई। 1974 में यह दर 4% रही। औद्योगिक उत्पादन सूचकांक (1970=100) 1974 में 114.3 तथा 1975 में 119.7 हो गया। सरकार द्वारा विद्युत, स्टील, कोयला आदि क्षेत्रों के विकास के लिए किए गए प्रयासों से औद्योगिक विकास को बल मिला। औद्योगिक लाइसेंन्सिंग नीति में कुछ उदारीकरण की नीति को अपनाया गया। उद्योगों की स्थापित क्षमता का पूरा उपयोग करने पर बल दिया गया। 1977 में औद्योगिक उत्पादन 5.3% बढ़ा। कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया गया। 1977 में सूचकांक बढ़कर 140 हो गया। परन्तु बाद में कुछ राज्यों में विद्युत संकट गहरा होने, कोयले की आपूर्ति में बाधा आने तथा यातायात सम्बन्धी समस्याओं एवं औद्योगिक अशान्ति से औद्योगिक विकास की गति अवरुद्ध हो गई।

17.3.7 छठी योजना (1980-85)

औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकांक (आधार 1970 = 100) में छठी योजना अवधि में निरन्तर वृद्धि हुई। आँकड़ों के आधार पर देखा जाय तो यह 1980 में 150.7 से बढ़कर 1981 में 164.6, 1982 में 172, 1983 में 179.7 तथा 1984 में 189.3 हो गया। इस वृद्धि की मुख्य वजह इसके तीन प्रमुख घटकों में लगातार वृद्धि होना है। खान एवं खनन का सूचकांक 144.2 से बढ़कर योजना अवधि में 240 हो गया। विनिर्माण एवं विद्युत उत्पादन के सूचकांको में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। औद्योगिक क्षेत्र का कार्य निष्पादन अच्छा होने के पीछे आधारभूत संरचना के क्षेत्रों का श्रेष्ठ कार्य निष्पादन उत्तदायी था। सीमेन्ट, विद्युत परिवहन आदि क्षेत्रों के साथ-साथ कृषि क्षेत्र में श्रेष्ठ प्रदर्शन से औद्योगिक मांग बढ़ी। औद्योगिक श्रमिकों की स्थिति में सुधार से औद्योगिक शान्ति बनी रही। इन्हीं सभी कारणों से औद्योगिक क्षेत्र का प्रदर्शन अच्छा रहा।

यह प्रदर्शन और भी श्रेष्ठ रहता यदि कुछ बाधाएं उपस्थित नहीं होती। उदाहरणार्थ कुछ अति महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योगों जैसे बिजली, कोयला स्टील में मांग तथा पूर्ति में भारी अन्तराल बना रहा। पंजाब में हालात चिन्ताजनक रहे। पश्चिम बंगाल में जूट मिलों की हड़ताल, बन्दरगाहों पर गोदी कर्मचारियों की हड़ताल एवं आधुनिकीकरण की धीमी रफ्तार इसके लिए उत्तरदायी थी। इसी अवधि में औद्योगिक उत्पादन सूचकांक को अधिक विस्तृत बनाया गया जिससे देश की औद्योगिक क्षेत्र की सही तस्वीर सामने आ सके। 1980-81 के दशक में औद्योगिक प्रगति 1970 के दशक की तुलना में श्रेष्ठ रही।

17.3.8 सातवीं योजना (1985-90)

सातवीं योजना में औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (1980-81=100) के आधार पर वृद्धि दर 8.7% रही। यह सूचकांक 1984-85 में 130.9 से बढ़कर 1985-86 में 142, 1986-87 में 155.1 1987-88 में 166.4, 1988-89 में 181.1 तथा 1989-90 में 188.1 हो गया। विभिन्न उद्योगों में वृद्धि दर को चार क्षेत्रों में विभाजित कर 1553 उद्योंगो की स्थिति इस प्रकार रही।

तालिका 17.1

चुने हुए क्षेत्रों में वृद्धि दर (सातवीं योजना)

	उद्योग समूह	भार	पिछले वर्ष की तुलना में % वृद्धि	
			1988-89	1989-90
1.	आधारभूत उद्योग	36.36	10.8	4.7
2.	उपभोक्ता टिकाऊ उद्योग	2.20	19.3	0.8
3.	उपभोक्ता गैर टिकाऊ उद्योग	19.56	2.8	5.9
4.	पूँजीगत सामान	11.32	9.0	9.1
5.	मध्यवर्ती वस्तुएं	16.10	13.2	2.2
6.	सभी उद्योग	85.54	9.8	5.1

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण भारत सरकार वर्ष 1989-90 पृष्ठ 53

सांतवी योजना में औद्योगिक उत्पादन में विनिर्माण क्षेत्र की औसत वृद्धि दर (1980-81=100) 9.9% रही। इसमें भी विद्युत मशीने, रसायन एवं रसायन उद्योगों की वृद्धि दर क्रमशः 25.8% व 11.7% रही। इन दोनों उद्योग समूहों ने औद्योगिक वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। छठी योजना की तुलना में सातवीं योजना में औसत वार्षिक वृद्धि ऊँची रही। औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर संतोषजनक होने के पीछे निम्नलिखित तत्व उत्तरदायी थे।

1. लाइसेन्सिंग के लिए जरूरी क्षेत्रों एवं प्रक्रियाओं में परिवर्तन।
2. तकनीकी का आयात।
3. पूँजीगत साज सामान का अधिक आयात
4. स्थापित क्षमता का बेहतर उपयोग।

5. कई उद्योगों में उत्पादों का वृहत आधार।

6. उदारीकरण की नीति जैसे एम.आर.टी.पी. अधिनियम के तहत् सम्पति सीमा में वृद्धि, लाइसेंन्सिग से मुक्ति की सीमा बढ़ाकर 50 करोड़ रुपया निर्धारित करना, गैर एम. आर.टी.पी. एवं गैर फेरा कम्पनियों को पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने पर लाइसेन्स से मुक्ति, इत्यादि।

7. सार्वजनिक क्षेत्र का कार्य निष्पादन - 31 मार्च 1991 को सार्वजनिक उपक्रमों कुल संख्या 246 थी। भारत सरकार के इन उपक्रमों में कुल विनियोग 113,234 करोड़ रुपए था। इनमें से 236 कार्यरत थे जिनमें 101,702 करोड़ रु. की पूँजी विनियोजित थी एवं 23 लाख कर्मचारी कार्यरत थे। इनमें से 131 उद्योगों में 5731 करोड़ रुपए का शुद्ध लाभ अर्जित किया तथा 109 उद्योगों को 3064 करोड़ रुपए का घाटा हुआ।

8. राज्य के स्तर पर लगभग 1100 राजकीय उपक्रम थे जिनमें लगभग 50,000 करोड़ रुपए की पूँजी लगी हुई थी। इनमें से अधिकांश की स्थिति चिन्ताजनक थी।

इस प्रकार सातवीं योजना में औद्योगिक विकास संतोषजनक रहा। इस योजना में उद्योगों पर 19708 करोड़ रुपए केन्द्र सरकार एवं शेष राज्य सरकारों द्वारा व्यय किया। जाना था। इस पर वास्तविक व्यय चालू कीमतों पर 26295 करोड़ रुपए हुआ।

17.3.9 आठवीं योजना 1992-97

1980 के दशक में प्राप्त उपलब्धियों को मजबूत करने के उद्देश्य से आठवीं योजना में आर्थिक सुधार प्रारम्भ करते हुए सरकार ने निजीकरण एवं उदारीकरण की प्रक्रिया अपनाई। उद्योगों की सरकार पर निर्भरता कम करने के कई प्रयास किए गए। इन सुधारों का लक्ष्य भारतीय उद्योगों को विश्व प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार करना है।

1991 में भारत सरकार ने नई औद्योगिक नीति की घोषणा की एवं सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रिजर्व उद्योगों की संख्या 29 से घटाकर 17 कर दी। उद्योगों को विश्व प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार करने की दृष्टि से नियंत्रणों में छूट दी गई। औद्योगिक क्रियाकलापों में निजी क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया गया एवं यह स्पष्ट किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र अब आधारभूत एवं महत्वपूर्ण उद्योगों तक ही सीमित रहेगा। उद्योगों को विस्तार व आधुनिकीकरण के लिए छूट दी जाएगी व उनकी बजट सहायता पर निर्भरता कम की जाएगी। लौह धातु उद्योग की भविष्य में विकास सम्भावनाएं प्रबल हैं इसी तरह पूँजीगत माल समान में विदेशी सहयोग से तकनीकी के आधुनिकीकरण पर ध्यान दिया जाएगा। इलेक्ट्रोनिक उद्योगों में भारत में अभी तक वांछित प्रगति नहीं हुई है। उदारीकरण की प्रक्रिया से इसमें गति आएगी। उर्वरक उद्योग में अभी तक सरकारी नियंत्रण एवं क़ीमत निर्धारण प्रतिबन्धों के कारण वांछित प्रगति नहीं हो सकी। शक्कर के क्षेत्र में भारत अब आत्मनिर्भर हो चुका है। इसके उत्पादन बढ़ाने व निर्यात पर बल दिया जाएगा। सूती वस्त्र के क्षेत्र में आधुनिकीकरण के साथ-साथ हथकरघा क्षेत्र में उच्च मूल्य उत्पादों को तैयार कर निर्यातोन्मुख बनाया जाएगा।

आठवीं योजना में वृद्धि दर 5.6 प्रतिशत रहने का लक्ष्य है। इसमें विनिर्माण क्षेत्र में वृद्धि दर 7.3 एवं निर्यातों में 13.6 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य है। लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए वृद्धि दर का लक्ष्य अधिक रखा गया है। लघु एवं कुटीर उद्योगों में बढ़ती रूग्णता पर भी चिन्ता व्यक्त की गई।

नौवीं योजना में औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक एवं विकास लक्ष्यों का अध्ययन कर विद्यार्थी अपने ज्ञान में नवीनतम जानकारी का समावेश करे।

17.4 विकास के मार्ग में बाधाएं

भारत में औद्योगिक विकास का मार्ग समतल नहीं है। पिछले वर्षों में भारतीय उद्योग पतियों ने कई उतार-चढ़ाव देखें हैं। मुख्य बाधाओं को इन शीर्षकों में रखा जा सकता है।

(1) उर्जा की समस्या — भारत उर्जा के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही पिछड़ा रहा। औद्योगिकरण के कारण तथा कृषि में बढ़ते उर्जा उपयोग के कारण उर्जा की मांग तेजी से बढ़ी परन्तु इसकी आपूर्ति में कुछ धीमी प्रगति के कारण मांग एवं पूर्ति के बीच अन्तराल लगातार बढ़ता रहा। सरकार के पास संसाधनों की कमी व उत्पादन एवं वितरण में भारी छीजत के कारण विद्युत क्षेत्र सरकार के लिए घाटे का सौदा रहा। हाल ही वर्षों में भारत सरकार ने विद्युत उत्पादन एवं वितरण के लिए नियामक आयोग गठित करने का सुझाव दिया। राजस्थान सरकार द्वारा अपने राज्य में राज्य विद्युत नियामक आयोग का गठन कर दिया गया है। अब विद्युत क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी पर बल दिया जा रहा है। भारत सरकार इसके लिए कई विदेशी कम्पनियों से समझौता कर चुकी है।

(2) कुशल श्रमिकों की समस्या — भारत में श्रम शक्ति अकुशल एवं अधिकांश श्रमिक अशिक्षित है। इसके कारण उद्योगों के विकास में बाधा आती है।

(3) अच्छी किस्म की मशीनरी की उपलब्धता की समस्या।

(4) कच्चे माल की कमी — कुछ उद्योगों को छोड़कर भारत में औद्योगिक कच्चेमाल की कमी का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उपलब्ध कच्चे माल की किस्म भी घटिया है। इस कमी को पूरा करने के लिए उद्योगों को आयातित माल पर निर्भर रहना पड़ता है।

(5) वित्त की समस्या — वित्त के अभाव में उद्योगों की स्थापना व आधुनिकीकरण नहीं हो सकता। भारत में उद्योगों के आधुनिकीकरण के लिए भारी पूँजी विनियोग की आवश्यकता है। यहाँ का पूँजी बाजार अविकसित है। यद्यपि उदारीकरण के इस दौर में भारतीय पूँजी बाजार ने अपने आपको कुछ हद तक तैयार किया है फिर भी छोटे निवेशकों का विश्वास पूँजी बाजार में अभी नहीं लौटा है। ऐसी स्थिति में शेयर व ऋणपत्र बेचने में कठिनाई होती है एवं उद्योगों की राज्य पर निर्भरता अधिक है।

(6) औद्योगिक श्रमिकों में अनुशासन की कमी के कारण भारतीय उद्योगों को श्रमदिवसों का अत्यधिक नुकसान उठाना पड़ता है। इससे हम उत्पादन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकते।

(7) ऊँची लागतें — भारतीय श्रमिकों की अकुशलता पूँजी की ऊँची लागत, घटिया कच्चामाल तथा उत्पादन में होने वाली रूकावटों से औद्योगिक माल की लागत अधिक आती है। इससे हमारे उद्योगपति उच्च क्वालिटी वाले माल का उत्पादन नहीं कर पाते। वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक पाते। परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे वे रूग्ण हो जाते है एवं इसमें विनियोजित पूँजी डूब जाती है।

17.5 सारांश

भारतीय उद्योगें की विकास यात्रा काफी सुखद नहीं रही है। पिछले पचास वर्षों

में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर 5 प्रतिशत से भी कम रही है। इस लिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस वृद्धि दर पर चिन्ता व्यक्त की है एवं वे रोजगार के घटते अवसरों से भी चिन्तित है। अब भविष्य में भारतीय उद्योगों को विश्व प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार करना होगा। सरकार ने बीमा क्षेत्र में विदेशी कम्पनियों के प्रवेश पर रोक समाप्त करने का विधेयक दिसम्बर 1999 में पास कर दिया है। इस प्रकार अब भारत आर्थिक सुधारों के द्वितीय चरण में प्रवेश कर गया है।

17.6 शब्दावली

1. Basic Industries आधार भूत उद्योग।
2. Consumer Durables उपभोक्ता टिकाऊ उद्योग।
3. Consumer Non durables उपभोक्ता गैर टिकाऊ उद्योग।
4. Capital goods industries पूँजीगत साज सामान।
5. Wage goods मजदूरी वस्तुएं।
6. Intermediate goods मध्यवर्ती वस्तुएं
7. Index of Industrial Production औद्योगिक उत्पादन सूचकांक।
8. Manufacturing Industries विनिर्माण उद्योग।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Govt. of India - Various Five year Plans.
2. Govt. of India - Economic Survey (every year)
3. RBI. Report on currency & Finance.

इकाई 18

कृषि व उद्योग के मध्य व्यापार शर्तें

(Terms of Trade between Agriculture and Industry)

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 व्यापार शर्तें

18.3 व्यापार शर्तों के प्रकार

18.3.1 सकल व्यापार शर्तें

18.3.2 शुद्ध व्यापार शर्तें

18.3.3 आय व्यापार शर्तें

18.3.4 व्यापार शर्तों के उदाहरण

18.4 व्यापार शर्तें व कृषि-उद्योग अन्तः श्रृंखलाएँ

18.4.1 उत्पादन-श्रृंखला

18.4.2 माँग-श्रृंखलाएँ एवं व्यापार शर्तें

18.4.3 बचत श्रृंखलाएँ

18.5 व्यापार-शर्तों की क्रियात्मक उपयोगिता

18.5.1 आर्थिक नीतियों के निर्धारण में उपयोग

18.5.2 क्षेत्रीय श्रृंखलाओं का अध्ययन

18.5.3 साधन आवंटन पर प्रभाव

18.5.4 विदेशी व्यापार व व्यापार शर्त

18.6 व्यापार शर्तों की सीमायें

18.7 सारांश

18.8 निबन्धात्मक प्रश्न

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.1 उद्देश्य

अनेक विकसित देशों के अनुभव इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि आर्थिक विकास के साथ-साथ, देश की घरेलू उत्पत्ति में कृषि के सापेक्ष योगदान में गिरावट की एवं उद्योग के सापेक्ष योगदान में वृद्धि की दीर्घकालीन प्रवृत्ति (Secular Trend) पैदा होती है। परन्तु सकल घरेलू उत्पत्ति में कृषि के सापेक्ष योगदान में कमी का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि आर्थिक विकास में कृषि का महत्व कम हो रहा है, बल्कि कृषिगत विकास ऐसी अधोगामी एवं उर्ध्वगामी श्रृंखलाएं

(Backward and Forward linkages) उत्पन्न करता है, जो औद्योगिक विकास अथवा गैर कृषि क्षेत्र के विकास के लिए अनेक प्रकार की विकास उत्प्रेरणाओं (Growth impulses) को जन्म देती है, जिनसे कृषि व उद्योग दोनों परस्पर एक दूसरे के विकास से लाभान्वित होते हैं।

इन श्रृंखलाओं को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—**उत्पादन श्रृंखला** (Production linkage), **माँग-श्रृंखला** (Demand linkage) व **बचत-श्रृंखला** (Saving linkage) इन श्रृंखलाओं के सैद्धान्तिक, एवं व्यावहारिक विश्लेषण के लिए यह आवश्यक है कि उन चर-मात्राओं (Variables) की पहचान की जाय जो विकास, की प्रक्रिया में कृषि व उद्योग के बदलते हुए स्वरूप और आर्थिक विकास, में उनकी सापेक्ष भूमिका की व्याख्या में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से व्यापार-शर्तों (Terms of Trade) की अवधारणा महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनकी सहायता से कृषि व उद्योग की, आर्थिक विकास में, सापेक्ष भूमिका का संख्यात्मक विश्लेषण (Quantitative analysis) सम्भव है। इसी उद्देश्य के लिए कृषि व उद्योग के बीच व्यापार-शर्तों के इस पाठ को प्रस्तुत किया जा रहा है।

18.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत पाठ में निम्न तीन पहलुओं पर प्रकाश डाला जा रहा है—

(1) व्यापार-शर्तों का तात्पर्य, व्यापार-शर्तों के प्रकार एवं उनकी परिगणना (Computation)

(2) व्यापार-शर्तें एवं परस्पर सम्बन्धित आर्थिक क्षेत्रों की क्षेत्रीय श्रृंखलाएँ (Sectoral)

(3) लागत, मूल्य आयात-निर्यात, भुगतान-संतुलन आदि नीतियों में व्यापार शर्तों का उपयोग।

इन तीनों पहलुओं की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक विवेचना ही इस पाठ की मुख्य विषय-सामग्री है जो भारतीय अर्थव्यवस्था के नवीनतम समंकों के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है।

18.2 व्यापार शर्तें (Terms of Trade)

किसी आर्थिक क्षेत्र— कृषि, उद्योग, विदेशी व्यापार आदि के लिए अनुकूलता या प्रतिकूलता की अवस्था की जानकारी के लिए व्यापार शर्तों की अवधारणा का प्रयोग किया जाता है। व्यापार शर्तें किसी एक क्षेत्र की दो परस्पर सम्बन्धित चरराशियों की भौतिक मात्राओं के सूचकांकों के अनुपात (Ratio of volume Indices) अथवा उन चर राशियों से सम्बन्धित इकाई मूल्य सूचकांकों के अनुपात (Ratio of Unit value Indices) के रूप में व्यक्त की जाती है। उदाहरण के लिए विदेशी व्यापार से सम्बन्धित निर्यातों व आयातों के भौतिक सूचकांकों के अनुपात अथवा आयातों व निर्यातों के इकाई मूल्य सूचकांको के अनुपात के अनुपात को प्रतिशत में व्यक्त किया जाता है तो ये प्रतिशत में व्यक्त अनुपात कृषि क्षेत्र की व्यापार-शर्तें कहलाते हैं। इसी प्रकार उद्योग की व्यापार-शर्तों का ऑकलन किया जा सकता है।

इस तरह दो क्षेत्रों के बीच भी व्यापार शर्तें ज्ञात की जा सकती है। इन क्षेत्रों के उत्पादों के मूल्य सूचकांको को एक दूसरे के प्रतिशत के रूप में व्यक्त करके अन्तः क्षेत्रीय व्यापार शर्तों को निकाला जा सकता है, जैसे कृषि के उद्योग के बीच व्यापार-शर्तें निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है।

$$\text{कृषि व उद्योग के बीच व्यापार शर्तें} = \frac{\text{कृषिगत पदार्थों का मूल्य सूचकांक}}{\text{उद्योग की वस्तुओं का मूल्य सूचकांक}} \times 100$$

अथवा

$$\text{उद्योग व कृषि के बीच व्यापार शर्तें} = \frac{\text{उद्योग की वस्तुओं का मूल्य सूचकांक}}{\text{कृषिगत पदार्थों का मूल्य सूचकांक}} \times 100$$

व्यापार शर्तों का गुणांक (Coefficient) जब 100 से अधिक होता है, तब इन व्यापार शर्तों को कृषि, उद्योग व्यापार आदि सम्बन्धित आर्थिक क्षेत्र के अनुकूल समझा जाता है, और गुणांक के 100 से कम होने पर व्यापार-शर्तें उस क्षेत्र के प्रतिकूल मानी जाती है।

अब हम व्यापार-शर्तों के विभिन्न प्रकारों को समझने का प्रयास करें।

18.3 व्यापार शर्तों प्रकार (Types of Terms of Trade)

व्यापार-शर्तें मूलतः तीन प्रकार की होती है– (1) सकल व्यापार शर्तें (Gross Terms of Trade), (2) शुद्ध व्यापार शर्तें तथा (Net Terms of Trade), (3) आय व्यापार शर्तें (Income Terms of Trade).

18.3.1 सकल व्यापार शर्तें (Gross Terms of Trade) दो चर राशियों की कुल भौतिक मात्रा के अनुपात सूचकांक को सकल व्यापार शर्तें अथवा सकल वस्तु-विनिमय व्यापार शर्तें (Gross terms of Trade or Gross Barter terms of Trade) कहते हैं। अन्य शब्दों में जो व्यापार शर्तें, मात्रात्मक सूचकांकों (Volume, Indices) के अनुपातों के प्रतिशत में व्यय की जाती है, वे व्यापार-शर्तें सकल व्यापार शर्तें कहलाती है।

इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि हम यह मान लें कि आधार वर्ष (1980-81) में आयातों तथा निर्यातों का सूचकांक 100 है तथा 1990-91 में निर्यात सूचकांक बढ़कर 137 एवं आयात सूचकांक बढ़कर 181 हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में सकल व्यापार शर्तें $\frac{181}{137} \times 100 = 132$ होंगी। इसका अर्थ यह होगा कि आधार वर्ष 1980-81 की तुलना में वर्ष 1990-91 में देश की सकल विनियम व्यापार शर्तों में 32% का सुधार हुआ। व्यवहार में इसका तात्पर्य यह होगा कि 1980-81 की तुलना में 1990-91 में 32% अधिक माल आयात के रूप में प्राप्त है, जबकि निर्यातों की मात्रा दोनों वर्षों में समान (100) रही है।

आयात-निर्यातों के भौतिक मात्रा के अनुपात सूचकांक की भाँति ही, कृषि के आगत व निर्गत तथा उद्योग के आगत-निर्गत (Inputs and outputs) की भौतिक मात्रा के अनुपात सूचकांक के माध्यम से कृषि व उद्योग की सकल व्यापार शर्तें ज्ञात की जा सकती हैं। इस व्यापार शर्त को सूत्र रूप मे भी निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

$$\text{सकल व्यापार शर्तें} = \frac{\text{एक चर का भौतिक मात्रा सूचकांक}}{\text{दूसरे सम्बन्धित चर का भौतिक मात्रा सूचकांक}} \times 100$$

18.3.2 शुद्ध व्यापार शर्तें (Net Terms of Trade) दो चर राशियों के इकाई मूल्यों के अनुपात सूचकांक (Ratio of Unit value Indices) को शुद्ध वस्तु व्यापार शर्तों का नाम दिया है।

उदाहरण के लिए हम यह मान लेते हैं कि वर्ष 1980-81 में कृषिगत पदार्थों का इकाई सूचकांक व औद्योगिक उत्पादों का इकाई मूल्य सूचकांक 100 है जो 1990-91 में बढ़कर क्रमशः 330 व 290 हो जाता है तो वर्ष 1990-91 में कृषि व उद्योग के बीच शुद्ध व्यापार शर्त (Net Terms of Trade) $\frac{330}{290} \times 100 = 113.8$ होगी। इसका यह अर्थ होगा कि उद्योग की तुलना में व्यापार शर्तें कृषि के अधिक अनुकूल हैं। यदि इस सूचकांक का गुणंक 100 से कम आता तो इसका यह निष्कर्ष निकाला जाता कि कृषि की अपेक्षा व्यापार-शर्तें उद्योग के अधिक अनुकूल हैं अथवा व्यापार-शर्तें कृषि के प्रतिकूल व उद्योग के अनुकूल हैं।

इस व्यापार शर्त को सूत्र रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

$$= \frac{\text{एक चर का इकाई मूल्य सूचकांक}}{\text{दूसरे सम्बन्धित चर का इकाई मूल्य सूचकांक}} \times 100$$

18.3.3 आय व्यापार शर्तें (Income terms of Trade)- एक चर राशि के इकाई मूल्य सूचकांक और उसी के भौतिक मात्रा सूचकांक के गुणनफल को दूसरे सम्बन्धित चर के इकाई मूल्य सूचकांक से विभाजित करने पर प्राप्त भजनफल (Quotient) आय व्यापार शर्तों को व्यक्त करता है।

उदाहरण के लिए हम वर्ष 1996-97 के भारत के विदेशी व्यापार सूचकांक को लेते हैं, जिसमें निर्यात के मात्रा-सूचकांक व इकाई मूल्य सूचकांक क्रमशः 55.7 व 44 हैं तथा आयात का इकाई मूल्य सूचकांक 35.2 है तो इस स्थिति में वर्ष 1996-97 में आय व्यापार शर्तों को निम्न प्रकार ज्ञात किया जायेगा—

$$\text{आय व्यापार शर्तें} = \frac{\text{निर्यात का मात्रा सूचकांक} \times \text{निर्यात का इकाई मूल्य सूचकांक}}{\text{आयात का इकाई मूल्य सूचकांक}}$$

$$= \frac{55.7 \times 44.0}{35.2} = 69.6$$

आय व्यापार की शर्तों की अवधारणा का प्रतिपादन अर्थ शास्त्र विद् जी. एस. डोरेन्स एवं एच. स्टेहल (G.S. Dorance and Staehle) ने किया। आय व्यापार शर्तों की धारणा, विदेशी व्यापार के क्षेत्र में, अर्द्ध विकसित या विकासशील देशों के लिए, जिनकी आयात क्षमता बहुत कम है, बहुत उपयुक्त है।

कृषि व उद्योग के बीच भी, भारत जैसे देश के लिए किसानों की नये कृषिगत आगतों (New Agricultural inputs) को खरीदने की क्रय शक्ति कम है, और 'उद्योग' को अनेक सुविधाएं प्राप्त हैं, आय व्यापार शर्तों की अवधारणा का प्रयोग अधिक सार्थक हो सकता है।

18.3.4 व्यापार शर्तों के उदाहरण (Illustrations) सकल व्यापार शर्तों, शुद्ध व्यापार शर्तों एवं आय-व्यापार शर्तों का उदाहरण भारत के विदेशी व्यापार सूचकांक के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है—

तालिका 18.1

विदेशी व्यापार का सूचकांक

(आधार = 1978-79 = 100)

वर्ष	इकाई मूल्य सूचकांक (Unit Value Index)		मात्रा सूचकांक (Volume Index)		व्यापार शर्तें		
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	सकल (Gross)	शुद्ध (Net)	आय (Income)
1969-70	44.0	35.2	55.7	64.9	116.5	25.0	69.6
1974-75	78.0	84.5	73.7	77.2	104.7	92.5	68.4
1979-80	105.4	114.1	106.2	116.4	109.7	92.4	98.1
1984-85	169.8	161.7	120.8	156.1	129.2	105.0	126.8
1989-90	232.2	185.5	152.1	224.2	147.4	125.2	190.4
1994-95	494.6	324.6	292.7	408.3	139.5	152.4	446.0
1996-97	504.7	399.6	411.8	511.8	124.3	126.2	519.7

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण — 1997-98 पृ. 596, सारणी 7.6

तालिका 18.1 के अनुसार सकल व्यापार-शर्तों की वृद्धि यह परिलक्षित करती है कि निर्यातों की तुलना में आयातों की वृद्धि अधिक है, और शुद्ध व्यापार शर्तों की वृद्धि का संकेत यह है कि आयातों की तुलना में निर्यातों का प्रति इकाई मूल्य उत्तरोत्तर अधिक होता जा रहा है।

एक अन्य उदाहरण कृषिगत वस्तुओं के कीमत सूचकांक एवं औद्योगिक उत्पादों के कीमत सूचकांकों से सम्बन्धित दिया जा रहा है, जो इस प्रकार है।

तालिका 18.2

विनिर्माणी वस्तुओं की कीमतों के सापेक्ष में कृषिगत वस्तुओं की थोक कीमतों के सूचकांक

(Index Numbers of Wholesale Prices of Agricultural Commodities relative to Manufactured Products)

वर्ष	थोक कीमतों का सामान्य सूचकांक	कृषिगत वस्तुओं की कीमतों का सूचकांक	विनिर्माणी वस्तुओं की कीमतों का सूचकांक	कृषिगत कीमत सूचकांक, विनिर्माण के प्रतिशत के रूप में
1980-90	165.7	174.4	168.6	103.5
1990-91	182.7	198.3	182.8	108.5
1991-92	207.8	236.8	203.4	116.4
1992-93	228.7	255.5	225.6	113.2
1993-94	247.8	271.4	243.2	111.6
1994-95	274.7	307.6	268.8	114.4
1995-96	295.8	330.5	293.1	112.8
996-97	314.6	358.4	305.0	117.5
997-98	329.8	371.0	317.0	116.8

स्रोतः आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98, पृ. सं. 76 सारणी 5.12

सारणी दो के स्तम्भ (5) कृषि क्षेत्र की व्यापार शर्तों को प्रदर्शित करता है, जो निम्न प्रकार ज्ञात की गई है—

$$\text{कृषि की व्यापार शर्तें} = \frac{\text{कृषिगत पदार्थों का कीमत सूचकांक}}{\text{विनिर्माण उद्योग की वस्तुओं का कीमत सूचकांक}} \times 100$$

इसके विपरीत विनिर्माण/कृषिगत × 100 उद्योग व्यापार शर्तों को सूचित करता है।

अन्य शब्दों में स्तम्भ (3) के समंको को स्तम्भ (4) के समंकों से विभाजित करके तथा फिर इसको 100 से गुणा करके स्तम्भ (5) में कृषि की व्यापार शर्तों को मालूम किया गया है।

वर्ष 1989-90 से 1997-98 की अवधि में विनिर्माण उद्योग की वस्तुओं की तुलना में कृषिगत पदार्थों का कीमत सूचकांक 103.5 से बढ़कर 116.8 हो गया है, जो कृषि के पक्ष में व्यापार शर्तों का होना प्रदर्शित करता है।

हाल ही के वर्षों में, कृषि के प्रति व्यापार-शर्तों की अनुकूलता में वृद्धि हुई है। इस स्थिति के लिए उत्तरदायी कारणों में महत्वपूर्ण वृद्धि, वर्तमान कृषि-नीति द्वारा कृषि-व्यापार से कुछ प्रतिबन्धों का हटाना, उद्योग के संरक्षण में कमी आदि प्रमुख है।

18.4 व्यापार शर्तें व कृषि-उद्योग अन्त: श्रृंखलाएँ (Terms of Trade and inter Agriculture Industry linkages)

कृषि क्षेत्र व औद्योगिक क्षेत्र के बीच अन्तः निर्भरता (Interdependence) को प्रायः तीन प्रकार की सम्बन्ध श्रृंखलाओं द्वारा मापा जाता है। ये श्रृंखलाएँ हैं— (1) उत्पादन श्रृंखला (Production Linkage), (2) माँग श्रृंखला (Demand Linkage), व (3) बचत श्रृंखला (Saving Linkage)। उत्पादन-श्रृंखला में उर्ध्वगामी एवं अधोगामी श्रृंखलाएँ (Forward and Backward linkages) अन्तर्निहित हैं। इन श्रृंखलाओं के अध्ययन के लिए व्यापार-शर्तों का उपयोग किया जाता है।

20.4.1 उत्पादन-श्रृंखला– गैर-कृषि क्षेत्र, विशेष रूप से औद्योगिक क्षेत्र, उर्वरक, कीटनाशक औषधियां, कृषि-यंत्र, उन्नत उत्पादन तकनीकी आदि कृषि क्षेत्र को उपलब्ध कराते हैं, जिनसे कृषिगत विकास उत्प्रेरित होता है। औद्योगिक क्षेत्र या अन्य गैर-कृषिगत क्षेत्रों में उत्पादित इन कृषि-आगतों की व्युत्पन्न मांग (Derived demand) को ही **अद्योगामी** उत्पादन-श्रृंखला (Backward Production) कहा जाता है।

कृषिगत उत्पत्ति के रूप में, उद्योग को कृषि द्वारा कच्चे माल की आपूर्ति को उर्ध्वगामी उत्पादन श्रृंखला (Forward Production Linkages) कहते हैं। इन श्रृंखलाओं के अध्ययन में व्यापार शर्तें सहायक होती हैं, क्योंकि कृषिगत आगतों के लिए किसान कीमतें चुकाता है और कृषिगत-उत्पत्ति (कच्चामाल) के लिए वह कीमते प्राप्त करता है। इन दोनों प्रकार की कीमतों के अनुपात सूचकांक को ही किसानों की व्यापार शर्तें (Farmers terms of trade) कहा जाता है, अर्थात्

$$\textit{Farmer's terms of trade} = \frac{\textit{Index of prices received by the farmers}}{\textit{Index of prices paid by the farmers}} \times 100$$

यदि उपर्युक्त प्रकार से परिगणित व्यापार-शर्तों का गुणांक 100 से अधिक आता है तो

कृषि क्षेत्र, अपेक्षा कृत उद्योग से अधिक अनुकूल स्थिति में माना जायेगा, और यदि यह गुणांक 100 से कम आता है तो उद्योग अथवा अन्य सम्बन्धित गैर-कृषि क्षेत्र अधिक अनुकूल स्थिति में माने जायेंगे।

इन व्यापार शर्तों के आधार पर ही देश के कृषि मूल्य आयोग औद्योगिक लागत व मूल्य आयोग कृषि के लिए समर्थन मूल्य, उर्वरक, एवं अन्य आगतों के लिए अनुदान, उद्योग के उत्पादों के लिए प्रशासित मूल्य (Administered Prices) आदि के निर्णय लेते हैं।

18.4.2 माँग-श्रृंखलाएँ एवं व्यापार शर्तें (Demand linkages and terms of trade) – कृषि व गैर कृषि क्षेत्रों के बीच माँग माँग श्रृंखलाओं का सम्बंध रोजगार व उपभोग श्रृंखलाओं (Employment and Consumption linkages) से होता है।

(i) रोजगार श्रृंखलाएँ– रोजगार श्रृंखलाओं का आशय उन नई रोजगार सुविधाओं के विस्तार से है, जो कृषि की नई उत्पादन-विधियों के प्रयोग में लाने से पैदा होती है। कृषि की नई उत्पादन विधियों से कृषि की शुद्ध आय में वृद्धि (Increase in value added in agriculture) होती है, जिससे अन्य क्षेत्रों में रोजगार बढ़ता है। कुछ प्रारंभिक अध्ययनों के परिणामों से ज्ञात होता है कि कृषि की मूल्य-वृद्धि (Value added) में 10 प्रतिशत की वृद्धि से अन्य क्षेत्रों में रोजगार की वृद्धि 3 से 4 प्रतिशत तक की हुई है।

इसी प्रकार, कृषि या ग्रामीण क्षेत्र में गैर-खाद्य पदार्थ व्यय (Rural non-food expenditures) से ऐसी उपभोग श्रृंखलाएँ उत्पन्न होती हैं जो औद्योगिक उत्पादों के लिए अंतिम माँग (Final Demand) को प्रभावित करती है। कृषि-उत्पादों की व्युत्पन्न माँग व औद्योगिक उत्पादों की अंतिम माँग में वृद्धि, अनेक प्रकार की रोजगार एवं उपभोग की श्रृंखलाओं को पैदा करती हैं, जिनसे कृषि व उद्योग का पारस्परिक विकास प्रभावित होता है। इन श्रृंखलाओं के प्रभावों का आकलन करने में व्यापार-शर्तें महत्वपूर्ण प्रमाणित योगदान रखती हैं।

भारतीय कृषि विशेषज्ञ श्री आर. लाठा, सी रामास्वामी और एस. ऐलेनगोविन (R. Latha, C. Ramaswami, and S. Elangoven) के एक अध्ययन में यह पाया गया कि ग्रामीण गैर-खाद्य पदार्थ व्यय के 84 प्रतिशत अंश के लिए, कृषि उत्पादन का सूचकांक एवं व्यापार-शर्तें उत्तरदायी थी। इन विद्वानों ने ग्रामीण गैर-खाद्य पदार्थ व्यय को आश्रित चर व कृषि उत्पादन के सूचकांक तथा व्यापार-शर्तों को स्वतन्त्र चर लेते हुए, एक बहु प्रतीपगमन रेखीय फलन (Multiple linear function) का परीक्षण किया जिसमें R^2 का मूल्य 0.84 पाया गया। $R^2 = 0.84$ के मूल्य से उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला गया। यह सम्बन्ध पर्याप्त मात्रा में सार्थक है।

18.4.3 बचत श्रृंखलाएँ (Saving linkages)- आधुनिक कृषि क्षेत्र न केवल कृषिगत उपकरणों में विनियोजन के लिए व्युत्पन्न माँग ही पैदा करता है, लेकिन कृषि क्षेत्र की आय में भी वृद्धि करता है, और फलस्वरूप ग्रामीण पारिवारिक बचतों (Rural household savings) में भी वृद्धि होती है। अनेक अध्ययनों में यह पाया गया है कि ग्रामीण पारिवारिक बचतें राज्य की घरेलू उत्पत्ति व व्यापार-शर्तों से प्रभावित होती है।

ऊपर उल्लिखित विद्वानों ने ही, ग्रामीण पारिवारिक बचतों को आश्रित चर व राज्य की घरेलू उत्पत्ति में कृषि के योगदान और कृषि व उद्योग के बीच व्यापार शर्तों को स्वतंत्र चर लेते हुए एक बहु प्रतीपगमन रेखीय फलन का परीक्षण किया, जिसमें R^2 का मूल्य 0.94 आया, जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि ग्रामीण पारिवारिक बचतों में 94 प्रतिशत परिवर्तन के लिए फलन के स्वतंत्र चरों, अर्थात् राज्य की घरेलू उत्पत्ति में कृषि के योगदान तथा कृषि व उद्योग के बीच व्यापार शर्तों को उत्तरदायी माना गया।

उपर्युक्त श्रृंखलाओं एवं व्यापार-शर्तों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि क्षेत्रों के बीच साधनों के आवंटन, क्षेत्रों की लाभदायकता और क्षेत्रों की वृद्धि दर, सम्बन्धित आर्थिक क्षेत्रों की सापेक्ष बाजार कीमतों के परिवर्तनों से प्रभावित होती है। एक किसान की सम्पन्नता पर, उन वस्तुओं की कीमतों का जो वह बेचता है और उन आगतों (.nputs) की कीमतों का जिन्हें वह किसान खरीदता है, निश्चित रूप से प्रभाव होता है जैसा कि बताया गया है कि चुकाई गई कीमतों व प्राप्त की गई कीमतों के अनुपात सूचकांक को ही व्यापार-शर्तें कहा जाता है। अन्य शब्दों में इन सापेक्ष कीमतों के अनुपात उत्पादन-श्रृंखलाएँ, माँग श्रृंखलाएँ व बचत श्रृंखलाएँ कृषि व उद्योग तथा अन्य क्षेत्रों की विकास दरों एवं उनके बीच साधन आवंटन को प्रभावित करती हैं। इस प्रभाव की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता का आकलन व्यापार-शर्तों के माध्यम से सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

18.5 व्यापार-शर्तों की क्रियात्मक उपयोगिता (Functional Importance of Terms of Trade)

18.5.1 आर्थिक नीतियों के निर्धारण में उपयोग- देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में व्यापार-शर्तों का महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि व औद्योगिक मूल्य नीति के निर्धारण में कृषि व उद्योग के बीच व्यापार-शर्तों में होने वाले परिवर्तन मुख्य आधार का काम करते हैं। जैसा कि बताया जा चुका है कि देश में कार्यरत यहाँ के कृषि लागत एवं मूल्य आयोग तथा औद्योगिक लागत व कीमत आयोग, कृषिगत व औद्योगिक वस्तुओं की लागत व मूल्य नीतियों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए इन क्षेत्रों की व्यापार-शर्तों का अध्ययन करते हैं। व्यापार-शर्तों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के आधार पर समर्थन कीमतें, प्रशासकीय कीमतें, अनुदान की राशि आदि निर्धारित की जाती हैं।

18.5.2 क्षेत्रीय श्रृंखलाओं का अध्ययन (Study sectoral linkages) व्यापार शर्तें, विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों, कृषि, उद्योग आदि के बीच क्रियाशील अन्तः श्रृंखलाओं (Inter sectoral linkages) के अध्ययन के लिए एक विश्लेषण-उपकरण (Analytical tool) का कार्य करती है। इनके द्वारा उत्पादन, उपभोग, रोजगार, बचत, विनियोजन आदि सम्बन्धों की सार्थकता के गुणांक (Coefficient of significance) को ज्ञात करके यह मालूम किया जा सकता है कि व्यापार-शर्तें रोजगार, उपभोग, उत्पादन, बचतों आदि को किस सीमा तक प्रभावित करती है। इसका उल्लेख पूर्व संदर्भित आर. लाठा, सी. रामास्वामी और एस. ऐलेनगोविन के अध्ययन में किया जा चुका है।

18.5.3 साधन आवंटन पर प्रभाव (Impact on resource allocation)– कृषि व उद्योग के बीच व्यापार-शर्तों के द्वारा इन क्षेत्रों के बीच साधन-प्रवाहों (Resource flows) की दिशा प्रभावित होती है। जिस क्षेत्र के पक्ष में व्यापार शर्तें होती हैं, उस क्षेत्र की ओर साधानों का प्रवाह अधिक होता है। उदाहरण के लिए भारतीय अर्थ व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों के कारण, कृषि की ओर से उद्योग की ओर श्रम-शक्ति का प्रवाह, सकल घरेलू उत्पादन में कृषि के योगदान में कमी व उद्योग के योगदान में वृद्धि, कृषि में तकनीकी व संगठनात्मक परिवर्तन आदि कृषि व उद्योग के बीच साधन-आवंटन सम्बन्धी परिवर्तनों के द्योतक हैं, जिनके प्रभाव का मूल्यांकन व्यापार-शर्तों के माध्यम से किया जा सकता है।

18.5.4 विदेशी व्यापार व शर्त (Foreign Trade & Terms of Trade)- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नीति निर्धारकों द्वारा व्यापार-शर्तों का प्रयोग व्यापक रूप से किया गया है। किसी भी देश की भुगतान-संतुलन (Balance of payment) सम्बन्धी कठिनाई या स्थिति को व्यापार-शर्तों के माध्यम से सुगमतापूर्वक समझाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

के लाभों की माप शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों के द्वारा आसानी से की जा सकती है। इसी प्रकार आय व्यापार शर्तों की अवधारणा अर्द्ध विकसित या विकासशील देशों के लिए बहुत उपयोगी है।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय और घरेलू दोनों प्रकार के व्यापार के लिए नीति निर्धारण में व्यापार शर्तों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार एक देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच उत्पादन, माँग विनियोजन आदि अन्तः श्रृंखलाओं के आर्थिक प्रभाव की माप के लिए भी व्यापार शर्तें एक अच्छे विश्लेषण-उपकरण का काम करती हैं। क्षेत्रों के बीच अन्तः निर्भरता की व्याख्या व विवेचना भी व्यापार-शर्तों के माध्यम से सरलतापूर्वक की जा सकती हैं।

18.6 व्यापार शर्तों की सीमायें (Limitations of Terms of Trade)-

व्यापार शर्तों का यद्यपि घरेलू व्यापार, विदेशी व्यापार, आर्थिक क्षेत्रों के बीच अन्तःनिर्भरता व इनके बीच विभिन्न प्रकार की उत्पादन तथा माँग श्रृंखलाओं के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि व्यापार शर्तें आर्थिक विश्लेषण का एक अति सरलीकृत उपकरण है। इनकी माप में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, और इनसे प्राप्त निष्कर्ष पूरी तरह विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते।

व्यापार शर्तें सूचकांकों पर आधारित होती है। अतः सूचकांकों की कठिनाइयाँ, व्यापार-शर्तों की भी कठिनाइयाँ होती है। उदाहरण के लिए सही आधार वर्ष व उचित भारांकन विधि के अभाव में व्यापार-शर्तों के निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं।

विदेशी व्यापार के संदर्भ में शुद्ध व्यापार-शर्तों का अनुपात केवल तभी उपयुक्त होता है, जबकि देश के भुगतान शेष व वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यातों की प्राप्तियों तथा आयातों के भुगतानों के अतिरिक्त अन्य किसी भी मद को सम्मिलिति नहीं किया जाता है। यह इन व्यापार-शर्तों की एक बड़ी कमी अथवा सीमा कही जा सकती है।

इसी प्रकार, व्यापार से लाभों का माप करने में सकल व्यापार-शर्तों के निष्कर्ष भ्रामक हो सकते हैं, क्योंकि इन शर्तों के प्रतिकूल होने पर भी व्यापार से लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त सकल व्यापार शर्तों से पूँजी की गतियों तथा उसके देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों की जानकारी नहीं हो पाती।

व्यापार शर्तों के निर्धारण में अनेक सांख्यिकीय कठिनायाँ भी आती हैं, जैसे वस्तुओं की मात्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों में दीर्घकालीन विभिन्नताओं का मापन शुद्धता तथा यर्थाथता के साथ नहीं किया जा सकता। साथ ही आगतों की मदें और निर्गतों की मदों के मध्य समय अन्तराल भी व्यापार शर्तों के सही मापन में समस्या उत्पन्न करता है।

बावजूद इन कठिनाइयों व समस्याओं के व्यापार-शर्तें आर्थिक विश्लेषण में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

18.7 सारांश (Summary)

व्यापार शर्तें मूलतः तीन प्रकार की होती हैं— (1) सकल व्यापार शर्तें (Gross Terms of Trade), (2) शुद्ध व्यापार शर्तें (Net Terms of Trade), तथा (3) आय व्यापार शर्तें (Income Terms of Trade)।

दो चर राशियों की कुल भौतिक मात्रा के अनुपात सूचकांक को सकल व्यापार शर्तें अथवा सकल वस्तु-विनिमय व्यापार शर्तें (Gross terms of Trade or Gross Barter terms of Trade कहते हैं।

दो चर राशियों के इकाई मूल्यों के अनुपात सूचकांक (Ratio of Unit value Indices) को शुद्ध व्यापार शर्तें कहा जाता हैं।

एक चर राशि के इकाई मूल्य सूचकांक और उसी के भौतिक मात्रा सूचकांक के गुणनफल को दूसरे सम्बन्धित चर के इकाई मूल्य सूचकांक से विभाजित करने पर प्राप्त भजनफल (Quotient) आय व्यापार शर्तों को व्यक्त करता है। इनके अतिरिक्त कृषि व उद्योग के बीच व्यापार शर्तों को इन दोनों क्षेत्रों के उत्पादों के मूल्य सूचकांको के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

कृषि क्षेत्र व औद्योगिक क्षेत्र के बीच अन्तः निर्भरता (Interdependence) को प्रायः तीन प्रकार की सम्बन्ध श्रृखलाओं द्वारा मापा जाता है। ये श्रृंखलाएं है- (1) उत्पादन श्रृंखला (Production linkage), (2) माँग श्रृंखला (Demand linkage), व बचत श्रृंखला (Saving linkage)। उत्पादन-श्रृंखलाओं में उर्ध्वगामी एवं अद्योगामी श्रृंखलाएँ (Forward and Backward linkages) अन्तर्निहित हैं। इन श्रृंखलाओं के अध्ययन के लिए व्यापार-शर्तों का उपयोग किया जाता है।

देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में व्यापार-शर्तों का महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि व औद्योगिक मूल्य नीति के निर्धारण में, कृषि व उद्योग के बीच व्यापार-शर्तों में होने वाले परिवर्तन मुख्य आधार का काम करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय और घरेलू दोनों ही प्रकार के व्यापार के लिए नीति निर्धारण में व्यापार शर्तों का महत्वपूर्ण स्थान है।

18.8 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. व्यापार-शर्तों से आप क्या समझते हैं? ये कितने प्रकार की होती है? प्रत्येक प्रकार की व्यापार-शर्तों को उदाहरण देकर समझाइए।

प्रश्न 2. कृषि व उद्योग के बीच व्यापार-शर्तों का अर्थ स्पष्ट करते हुए, उदाहरण द्वारा कृषि व उद्योग के बीच साधन-आवंटन पर इनके प्रभाव को दर्शाइये।

प्रश्न 3. व्यापार शर्तों के महत्व व इनकी सीमाओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 4. नीचे दी गई तालिका के अंतिम स्तम्भ में किसान की व्यापार-शर्तें लिखिए। व्यापार-शर्तों के आधार पर निष्कर्ष भी लिखिए।

वर्ष	किसानों द्वारा प्राप्त कीमत का सूचकांक	किसान द्वारा प्रदत्त कीमत का सूचकांक	किसान की व्यापार-शर्तें
1973	279	325	
1975	501	553	
1980	468	685	
1985	723	1138	
1989	1016	1525	
1993	1097	1737	

उत्तर — स्तम्भ (2) में स्तम्भ (3) का भाग देकर, स्तम्भ (4) के लिए व्यापार शर्तें ज्ञात की जायेगी।

प्रश्न 5. नीचे भारत के विदेशी व्यापार का सूचकांक दिया हुआ है। इससे, सकल व्यापार-शर्तें, शुद्ध व्यापार-शर्तें एवं आय-व्यापार शर्तें मालूम कीजिए और फिर सारणी के स्तम्भ (6) (7) (8) की पूर्ति कीजिए।

सारणी : भारत के विदेशी व्यापार का सूचकांक
(आधार : 1978-79 = 100)

वर्ष	प्रति इकाई मूल्य सूचकांक		मात्रा सूचकांक		व्यापार शर्तें		
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	सकल	शुद्ध	आय
1990-91	292.5	267.7	194.1	237.7			
1991-92	369.5	209.1	208.6	228.0			
1992-93	421.5	331.0	222.9	282.0			
1993-94	474.1	327.2	257.5	329.5			
1994-95	494.6	324.6	292.7	408.3			

उत्तर —

$$(1)\ \text{सकल व्यापार शर्तें} = \frac{\textit{आयात का भौतिक मात्रा सूचकांक}}{\textit{निर्यात का मात्रा सूचकांक}} \times 100$$

$$(2)\ \text{शुद्ध व्यापार शर्तें} = \frac{\textit{निर्यात का इकाई मूल्य सूचकांक}}{\textit{आयात का मूल्य सूचकांक}} \times 100$$

$$(3)\ \text{आय व्यापार शर्तें} = \frac{\textit{निर्यात का भौतिक मात्रा सूचकांक} \times \textit{निर्यात का इकाई मूल्य सूचकांक}}{\textit{आयात का इकाई मूल्य सूचकांक}} \times 100$$

नोट : प्रश्न 1 से 2 के उत्तर पाठ की मूल Text से प्राप्त किये जा सकते हैं।

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Uma Kapila (ed.) : Indian Economy Since Independence, 5th edition, 1994
2. Jagdish Bhagwati : India in Transition Freeing the Economy, 1993.
3. S.P. Gupta, Mid-year Review of the Indian Economy, 1996 (Konark)
4. एम. सी. वैश्य, सुदामा सिंह : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, अध्याय 10
5. रूद्र दत्त, के. पी. एम. सुन्दरम : भारतीय अर्थव्यवस्था, नवीनतम संस्करण, अध्याय 24, 25, 34, 38.
6. ए. एन. अग्रवाल : भारतीय अर्थव्यवस्था, नवीनतम संस्करण, अध्याय, 5, 13, 32, 34, 39, 40
7. आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98

लेख (Articles)

1. S.S. Acharya : Agriculture - Industry Linkages Public Policies and Some Areas of Concern, Agricultural Economic Research Review, Vol 10 (2) 1997

2. R. Latha, C. Ramaswamy and S. Elangovan An Economic Analysis of Changing Agriculture Industry Linkage and its Impact on Agr. Dev., Agr. Econ. Research Review Vol. 10 (2) 1997

3. Amita Shah : Confilicts over use of Natural Resources : Need for Transfer of Resources from Industry to Agriculture, Agr. Econ. Review Vol. 10 (2), 1997

4. Stephen J. Vogel : Structural Changes Agriculture Production Linkages and Agricultural Demand Industrialisation - Oxford Econ. papers 46 (1994) 136-156

5. K. Krishnamoorthy, V. Pandit, T. Palnivel, P. Saibaba & D. Pratap : Indian Economy, 1995-96 to 1997-98 : Alternative Scenarios, EPW, March 16, 1996

इकाई 19

भारत में क्षेत्रीय विषमताएं
(Regional Disparities in India)

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन से अन्तर्प्रान्तीय विभिन्नतायें

19.3 औद्योगिक एवं आधारिक-संरचना विकास का स्वरूप

19.4 क्षेत्रीय विषमता में कृषि का योगदान

19.5 क्षेत्रीय विकास के संयुक्त सूचक

19.6 सारांश

19.7 शब्दावली

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

* भारत के विभिन्न राज्यों की आर्थिक विकास में विषमताओं के स्वरूप को जान जावेंगे;
* योजनाबद्ध विकास के काल में अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तः क्षेत्रीय असमता में वृद्धि के लिए उत्तरदायी कारकों का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे;
* अन्तर्राज्य और अन्तः राज्य असमताओं के माप के लिए उपलब्ध तरीक़ों का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

19.1 प्रस्तावना

भारत में सामाजिक-आर्थिक विषमताओं के कारण पैदा हुआ तनाव एवं खिंचाव भयप्रद स्थिति में पहुंच गया है। वे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में संशोधित करने वाले आधार को ही झकझोर रहे हैं। इसलिए यह आवश्क हो गया है कि देश में विद्यमान क्षेत्रीय एवं अन्य विषमताओं और उन के लिए उत्तरदायी कारणों की बेहतर समझ पर ध्यान केन्द्रित किया जाय।

मिश्रित अर्थप्रणाली में 1950 में सार्वजनिक क्षेत्र में समुचित विनियोग के साथ निजी उद्यम को प्रेरणा और नियंत्रण की प्रणाली के चार दशकों ने स्थिर कीमतों पर 3-5 प्रतिशत प्रति वर्ष की चक्रवृद्धि विकास दर प्रदान की। इस अवधि में जनसंख्या वृद्धि दर 2-5 प्रतिशत से घटकर 2 1 प्रतिशत रह जाने से प्रति व्यक्ति आय में वर्तमान वृद्धि दर लगभग 1-5 प्रतिशत प्रति वर्ष है। यह चीन के अतिरिक्त अन्य न्यून आय देशों की औसत विकास दर से तुलनीय है और वस्तव में कुछ अधिक ही है। (विश्व बैंक 1989) देश के बड़े आकार और उपनिवेशी उत्तराधिकारी में प्राप्त संरचनात्मक अड़चनों को देखते हुये इस विकास निष्पादन को नगण्य कहकर

विसर्जित नहीं किया जा सकता। यह भी महत्वपूर्ण है कि धारित संवृद्धि के उद्देश्य को आगे बढ़ाते हुये भारत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता और राष्ट्र के भीतर जनतंत्रात्मक ढाचा बनाये रखने में सफल रहा है। यह नगण्य उपलब्धि नहीं है।

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्यों का पुनरीक्षण बताता है कि नियोजकों ने समानता के साथ विकास के दोहरे उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। विकास के मोर्चे पर हमारी उपलब्धियां, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यथोचित प्रतीत होती हैं। तथापि समानता के मोर्चे पर हमारी उपलब्धियों में बहुत कुछ वांछनीय करना शेष है। इस इकाई में हम अपने विवेचन को क्षेत्रीय असमानता तक सीमित रखेंगे।

19.2 प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन में अन्तर्प्रान्तीय विभिन्नतायें

भारत में क्षेत्रीय विकास के बदलते हुये ढांचे का विश्लेषण कुछ सूचकों जैसे प्रति व्यक्ति शुद्ध राज्य घरेलू उत्पादन, राज्य घरेलू उत्पादन में वृद्धि या प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन में वृद्धि का उपयोग करके किया जा सकता है। यहां यह भी स्मरणीय है कि राज्य घरेलू उत्पाद या क्षेत्रीय आय विकास का एक स्थूल मांप है क्योंकि यह सामाजिक विकास के कई पहलूओं जैसे मृत्यु दर में परिवर्तन, साक्षरता दर, अपराध दर आदि को ध्यान में नहीं रखता। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि एक कल्याणकारी राज्य में, जैसा कि भारत को होना चाहिये, बहुत सी अनिवार्य वस्तुएं एवं सेवायें बाजार शक्तियों से निर्धारित होने वाली कीमत से कम कीमत पर प्रत्यक्ष रूप से या राज्य हस्तक्षेप द्वारा प्रदान की जाती है अथवा कभी-कभी तो उत्पादन लागत से भी कम कीमत पर उपलब्ध कराई जाती हैं। ऐसी स्थिति में राज्य घरेलू उत्पादन, जो प्रचलित कीमत पर एक वर्ष में हुये उत्पादन को मूल्य है, उत्पत्ति के वास्तविक सामाजिक मूल्य का न्यून प्राक्कलन है।

इसके अतिरिक्त, बाजार की अपूर्णतायें भी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों मे गम्भीर विरुपण के रूप में परिभाषित होती हैं।

राज्य घरेलू उत्पाद का अनुमान लगाने एवं कालिक तुलना करने में कुछ तकनीकी कठिनाइयां भी है। इस हेतु समंक निम्न स्रोतों से प्राप्त किये जाते है :

(1) केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन चालू कीमतों पर 1960-61 से आगे के राज्य घरेलू उत्पादन के अनुमान कुछ समय अन्तराल के साथ उपलब्ध कराता है।[1] यदि आप वास्तविक आय में वृद्धि की गणना करना चाहते हैं तो आपको कीमत सूचकांकों का उपयोग करना पड़ेगा और परिणाम प्रयुक्त किये गये सूचकांकों के आधार पर भिन्न-भिन्न होंगे। कुछ विद्वानों ने अलग-अलग राज्यों के लिए भिन्न-भिन्न सूचकांकों का उपयोग करने की वकालत की है और ऐसा करने पर विषय स्वाभाविक रूप से और अधिक जटिल हो जावेगा।

(2) राज्य घरेलू उत्पादन के चालू एवं स्थिर मूल्यों पर अनुमान राज्य सांख्यिकी विभागों से भी प्राप्त होते हैं, जिसका संकलन केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा किया जाता है। ये अनुमान केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के अनुमानों से काफी भिन्न होते हैं, क्योंकि इन विभागों द्वारा असंगठित द्वितीयक क्रियाओं और तृतीयक क्षेत्र की आय का अनुमान लगाने की प्रक्रिया से काफी अन्तर है।

केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन की कार्य-प्रणाली मानकीकृत होने से केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन

(1) तुलनात्मक अनुमान एक अनुसंधान संगठन Centre for Monitoring Indian Economy (CMIE) द्वारा भी उपलब्ध कराये जाते हैं, इस विश्लेषण में इन्हीं का उपयोग किया गया है।

से प्राप्त समंकों को राज्य सांख्यिकी विभागों एवं अन्य श्रोतों से प्राप्त समकों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। दूसरी ओर राज्य सांख्यिकी विभाग स्रोत से प्राप्त अनुमानों का यह लाभ है कि ये अनुमान किसी आधार वर्ष की कीमतों एवं चालू कीमतों पर प्राप्त होते हैं।

(3) पचास की दशाब्दि के सम्बंध में केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने समकों का संकलन नहीं किया लेकिन राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक अनुसंधान परिषद (National Council of Applied Economic Research) ने अपनी शोध परियोजनाओं के अन्तर्गत वर्ष 1950-51, 1955-56 एवं 1960-61 के लिए एक समान अनुमान-प्रक्रिया अपनाते हुये 1960-61 की कीमतों को आधार लेते हुए राज्य आय के अनुमान लगाये हैं।

सारणी-19.1 में दो विभिन्न स्रोतों के राज्यानुसार राज्य घरेलू उत्पादन के अनुमान उनके कोटि मूल्यों (rank values) के साथ दिये गये हैं। सारणी 19.2 एवं 19.3 जैसे ही अनुमान जो केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन एवं भारतीय अर्थव्यवस्था के मोनिटरिंग के लिए केन्द्र से प्राप्त हैं। इन समकों के विश्लेषण से प्रकट होता है कि क्षेत्रीय असंतुलनों में कोई कमी नहीं आई है। तुलनात्मक रूप से पिछड़े राज्य जैसे बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश आठवीं दशाब्दि में भी अल्प-विकप्रित ही है। दूसरी ओर विकसित राज्य जैसे पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र एवं गुजरात सारणी के दूसरी ओर की अपनी स्थिति को बनाये हुये हैं।

विभिन्न समय बिन्दुओं पर असमानता की तुलना करने हेतु हमें एक संक्षिप्त माप की गणना करनी होगी। संक्षिप्त माप ऐसा हो जो औसत मूल्य से विभिन्न अवलोकनों के विचलनों के समुच्चय को एक सूचकांक के रूप में प्रस्तुत करे। हमारे इस विश्लेषण हेतु विचरण गुणांक, जो प्रमाप विचलन में सामान्तर माध्य का भाग देकर 100 से गुणा करने पर प्राप्त होता है, उपयुक्त माना गया है। आप देख सकते हैं कि समय के अनुसार इस असमानता सूचकांक में वृद्धि ही हुई है। सारणी 19.3 से स्पष्ट है कि विचरण गुणांक जो 1960-61 में 21.9 प्रतिशत था 1980-81 में 33.3 प्रतिशत हो गया। सारणी 19.2 में यह वर्ष 1970-71 में 25.4 प्रतिशत से बढ़कर 1981-82 में 28.6 प्रतिशत हुआ है। इसी प्रकार की प्रवृति सारणी 19.1 में भी परिलक्षित होती है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि अलग अलग सारणियों में राज्य घरेलू उत्पादन के अनुमान उसी वर्ष में भिन्न भिन्न हैं अथवा दो भिन्न सारणियों में लगातार दो वर्ष में भिन्न हैं, और इसी प्रकार असमानता के अनुमान भी। इस भिन्नता का कारण परिकलन प्रक्रिया में अन्तर और जैसा कि ऊपर बताया गया है, समंक उपलब्ध कराने वाले संस्थानों द्वारा भिन्न-भिन्न कीमत समायोजकों का उपयोग करना है। इसलिए दो विभिन्न स्रोतों/सारणियों के आंकडों की तुलना करके असमानता में परिवर्तन की प्रवृति के सम्बंध में निष्कर्ष निकालते समय सावधानी आवश्यक है। उपरोक्त समंको के आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि पचास के दशक में असमानताएं कुछ घटी लेकिन उसके बाद के वर्षो में बढ़ी हैं। क्षेत्रीय असमानता पर किये गये अन्य कई अध्ययन भी इस धारणा की पुष्टि करते हैं।

19.3 औद्योगिक एवं आधारिक-संरचना विकास का स्वरूप

प्रति व्यक्ति क्षेत्रीय आय अनुमानों से प्राप्त समूही परिदृश्य के अतिरिक्त हमें अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान असमानता का भी विश्लेषण करना चाहिए। यह उपयोगी होगा कि क्षेत्रीय विश्लेषण को भारत में औद्योगिक विकास (विनिर्माण, विद्युत, और गैस आदि सहित) के स्थानिक ढ़ाचे से प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि भारत की राष्ट्रीय आय में चालू कीमतों पर इस क्षेत्र का अंश दान गत चालीस वर्षों में लगभग 15 प्रतिशत से बढ़कर 25 प्रतिशत से भी अधिक हो गया है।

19.3.1 राज्य स्तर पर परिदृश्य

सारणी 19.4 से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, गुजरात, तमिलनाडु, पंजाब एवं हरियाणा राज्यों में श्रमशक्ति का गैर — घरेलू विनिर्माण उद्योगों में लगा प्रतिशत काफी ऊँचा है। ये 6 राज्य मिलकर संगठित विनिर्माण क्षेत्र में रोजगार में 55 प्रतिशत योगदान करते हैं यद्यपि 1961-81 की अवधि में इन राज्यों के संयुक्त अंश में थोडी कमी हुई है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण कमी पश्चिमी बंगाल के अंश में और कुछ कमी महाराष्ट्र में हुई है (गिरावट की यह प्रवृत्ति सारणी 19.6 में देखी जा सकती है)। यह कहा जा सकता है कि कुछ पिछडे राज्यों जैसे कर्नाटक, मध्य प्रदेश, बिहार, केरल एवं उड़ीसा में औद्योगीकरण की प्रक्रिया कुछ तेज रही है, जिसके परिणाम स्वरूप गैर-घरेलू विनिर्माण श्रमिकों के प्रतिशत एवं प्रति व्यक्ति जोड़े गये मूल्य के विचरण गुणांक में कमी हुई है। (सारणी 19.4) सारणी 19.5 उद्योगों में प्रति व्यक्ति विद्युत उपभोग को बताती है— जो कि औद्योगीकरण एवं तकनीकी विकास के स्तर का सूचक है। सारणी से स्पष्ट है कि यद्यपि औसत विद्युत उपभोग 1961-81 के मध्य 32 किलोवाट से बढ़कर 83 किलोवाट हो गया है, विषमता सूचक 6.7 प्रतिशत से घटकर 45 प्रतिशत रह गया है। अस्सी के दशक में विषमता सूचक में थोड़ी वृद्धि हुई है।

उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण में दी गई सूचना के अनुसार संगठित औद्योगिक क्षेत्र में अचल पूंजी, रोजगार एवं जोडे गये मूल्य के राष्ट्रीय योग में विभिन्न राज्यों के हिस्सों को देखना भी उपयुक्त होगा। सारणी 19.6 में 1973-74 — 1981-82 में राष्ट्रीय योग में प्रमुख राज्यों का प्रतिशत अंश दिखाया गया है। पश्चिम बंगाल एवं महाराष्ट्र जैसे विकसित राज्यों का अंश घटा है जबकि उत्तर प्रदेश एवं बिहार जैसे पिछड़े राज्यों का बढ़ा है। इस प्रकार के अल्प परिवर्तन से विभिन्न राज्यों के मध्य औद्योगिक संकेन्द्रण सूचक में कमी आवेगी।

औद्योगिक विकास के स्तर को अन्य सूचकों के समुच्चय के द्वारा भी मापा जा सकता है। प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन, राज्य घरेलू उत्पादन में विनिर्माण का अंश, प्रति हजार जनसंख्या पर विनिर्माण प्रतिष्ठान/रोजगार, आदि सूचकों पर आधारित विश्लेषण भी बताता है कि साठ एवं सत्तर के दशक में औद्योगिक संकेन्द्रण में कमी हुई है।

उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार औद्योगिक एवं आधारित संरचना विकास में अन्तर्राज्य विषमता में जो कमी हुई है उसके लिए मुख्य रूप से केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अपनायी गई नीतियाँ उत्तरदायी हैं। प्रत्येक राज्य सरकार निजी पूंजी को आकर्षित करने के लिए उच्च स्तरीय आधारित संरचना उपलब्ध कराने हेतु आगे आई है। चूंकि भारत में पूंजी पूंजीपति के साथ चलती है इसलिये उन्हें आकर्षित करने हेतु कुछ शहरी केन्द्रों पर आधुनिक सुविधायें एवं आधारित संरचना उपलब्ध कराना आवश्यक हो गया। ऐसे शहर जहाँ सुविधापूर्ण आवासीय वातावरण निर्मित किया गया (कम से कम कुछ बस्तियों में) उनमें राज्यों की राजधानियाँ एवं कुछ पुराने नगर शामिल हैं। आधारित संरचना एवं जन सुविधाओं में विनियोग का बड़ा भाग इन केन्द्रों पर गया, जबकि घोषित उद्देश्य उद्योगों का विकेन्द्रीकरण छोटे कस्बों में करना और ग्रामीण औद्योगीकरण को बढावा देना था। इन आधारिक संरचना सुविधाओं और अनुदानित जन सुविधाओं ने तुलनात्मक रूप से समृद्ध वर्ग को इन केन्द्रों की ओर आकर्षित किया जिनमें वरिष्ठ प्रशासक, उद्यमी एवं कुशल श्रमिक शामिल हैं। राज्य सरकारों (कभी केन्द्रीय सरकार) ने ये सुविधायें प्रत्यक्ष रूप से अथवा उनके द्वारा स्थापित बोर्डों एवं उद्यमों के द्वारा उपलब्ध कराई हैं। इन केन्द्रों के नगर निगमों का कर एवं गैर-कर आय आधार बहुत अच्छा है, इसीलिये ये छोटे नगरों की स्थानीय निकायों को अपेक्षा आधारभूत सुविधायें उपलब्ध कराने पर अधिक व्यय कर सकते हैं। इन केन्द्रों पर प्रति व्यक्ति नगरीय व्यय एक औसत शहरी केन्द्र का साढे तीन से चार गुना के मध्य था (नगरीय

मामलों का राष्ट्रीय संस्थानः 1983)। कभी-कभी इन बड़े नगरों के निगमों के पास पूँजीगत व्यय करने हेतु भी धन उपलब्ध होता है। इस प्रकार इन शहरों को आधारिक संरचना एवं जनोपयोगी सुविधाओं का लाभ मिला, जो पिछड़े क्षेत्रों में वाले पूँजीगत अनुदान एवं प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक भारी था। परिणाम स्वरूप, उद्योगपतियों ने इन केन्द्रों पर रहने, राज्य हस्तक्षेप से उपलब्ध कराई गई सुविधाओं का उपभोग करने और अपनी उत्पादन इकाइयों को इन शहरों में अथवा इनकी परिधि में स्थापित करने को प्राथमिकता दी। इससे उन्हें अपनी फर्मों के लिए कुशल श्रमिक, प्रशासक एवं अन्य कार्मिक सुलभ हो गये, जो कि उन्हीं की तरह इन शहरों की ओर आकर्षित थे। जहां इन शहरों के निकट पिछड़े हुए जिले थे, उद्योगपतियों को अपनी इकाइयां उनमें स्थापित करना लाभप्रद लगा। ऐसा करके वे केन्द्र व राज्य सरकार की योजनाओं में पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए दिये गये लाभ उठा सकते थे और उसी समय स्वयं इन बड़े शहरों में रहकर अनुदानित सुविधाओं का उपभोग भी कर सकते थे।(2)

19.3.2 राज्यों में उद्योगों का स्थानिक संकेन्द्रण

औद्योगिक विकास की शैली का विश्लेषण करने वाले कुछ अध्ययनों में, इस अध्ययन के समान ही, मुख्यतः राज्य स्तर पर वस्तु स्थिति की ओर ध्यान दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि राज्य स्तर से नीचे वियुक्त औद्योगिक आर्थिक समंकों की अनुपलब्धि के कारण अन्तर्राज्यीय विचरण अथवा शहर-पृष्ठ प्रदेश सम्बन्धों में परिवर्तन की समीक्षा करना कठिन है। फिर भी यदि हमारा विश्लेषण केवल अन्तर्राज्यीय विचरणों तक सीमित रहता है तो औद्योगिक संकेन्द्रण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आयाम की उपेक्षा हो जायेगी। स्थानिक असन्तुलन का अधिक महत्वपूर्ण पहलू राज्य में अन्तर्क्षेत्रीय असमानताओं एवं विनिर्माण कार्यकलापों का कुछ बड़े शहरों एवं उनके पृष्ठ प्रदेशों में केन्द्रित होना है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। अतः उपलब्ध समंक आधार में कमियां होते हुए भी इनका अनुभवाश्रित विश्लेषण किया जाना चाहिये।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भारत ने उपनिवेशी काल से विरासत में प्राप्त स्थानिक ढांचे को आधार बनाकर स्वतंत्रता के समय अपना औद्योगिक विकास का कार्यक्रम प्रारंभ किया। कुछ बन्दरगाह नगरों एवं उनके अनुषंगी कस्बों पर अत्यधिक संकेन्द्रण इस ढांचे की विशेषता थी। उपनिवेशी काल में विकसित परिवहन एवं व्यापार पद्धति अत्यधिक केन्द्राभिमुखी थी और उद्योगों को कच्चे माल के स्रोतों से असम्बद्ध करने के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी थी। स्वतंत्रता के बाद निर्मित विपणन एवं सांस्थानिक प्रणाली ने इनमें से कई केन्द्रों पर और अधिक संकेन्द्रण को किया। उन्होंने संसाधन आधार से दूर औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को सुदृढ किया। लैफबर एवं दत्ता चौधरी (1971) ने पाया है कि कोयला एवं इस्पात का उपयोग करने वाले उद्योग उत्तरी-पश्चिमी भारत में केन्द्रित थे, जिससे कच्चे माल का पूर्वी क्षेत्रों से बहुत दूर संचलन आवश्यक था, जो विद्यमान स्थानिक ढांचे के इष्टतम न होने को प्रतिविम्बित करता है। यही बात अन्य कई साधनों पर आधारित उद्योगों के सम्बंध में कही जा सकती है। औद्योगीकरण प्रक्रिया के स्वाभाविक परिणाम के रूप में नगरों के उनके पृष्ठ-प्रदेशों से अनुबन्ध कमजोर हो गये हैं। नगरों में उद्योगों का बेतरतीब विकास ऐसे औद्योगिक समूह को नहीं उभारता जिनमें क्षेत्र में उपलब्ध साधनों का उपयोग करते हुए तकनीकी दृष्टि से परस्पर जुड़े हुए क्रिया कलाप हों। व्यक्ति स्तर के कई अध्ययन प्रकट करते हैं कि इन नगरों में ऐसी औद्योगिक इकाइयों का विकास हुआ जो विभिन्न प्रकार की प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित थीं और विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग करती थीं। इन इकाइयों

(2) पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर राष्ट्रीय समिति (1981) ने भी माना है कि केन्द्रिय प्रेरणाओं के लाभ कुछ जिलों तक केन्द्रित रहे, मुख्य रूप से पश्चिम एवं दक्षिण में। इनमें से अधिकांश जिले तुलनात्मक रूप से विकसित औद्योगिक केन्द्रों के निकटवर्ती पाये गये।

के स्थान निर्धारण में कच्चे माल एवं अन्य साधनों की उपलब्धि से अधिक आधारिक संरचना और संस्थागत एवं विपणन सुविधाओं ने मुख्य भूमिका निर्वाह की है।

व्यापार एवं परिवहन शहरी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण संघटक के रूप में उभरे हैं, जिन्होंने शहरों में उत्पादन प्रक्रिया को दूरस्थ स्थानों से कच्चा माल लाकर पुष्ट किया है। भारतीय रेलमार्गों से औद्योगिक कच्चे माल के संचालन के समंक औसत परिवहन की दूरी में महत्वपूर्ण वृद्धि बताते हैं, जो अल्प दूरी के यातायात के रेल मार्ग से सड़क मार्ग पर स्थानान्तिरत होने के साथ उद्योगों के कच्चे माल के स्रोतों से दूर कुछ बड़े नगरों में बढते हुये संकेन्द्रण को प्रतिबिम्बित करते हैं। चयनित मध्यवर्ती वस्तुओं के लिए निर्देशित कीमतों की नीति और उन्हें सभी जगह समान रखने ने इस प्रवृत्ति को सुदृढ किया है। ये सभी घटक (तत्व) देश में नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्रिया में नगर-पृष्ठ प्रदेश सम्बंधों को कमजोर करने के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

जिला एवं नगर/कस्बा स्तर पर विनिर्माण में रोजगार के बंटन के परिवर्तनशील ढांचे का अध्ययन रोचक परिणाम प्रदान करता है। प्रथम श्रेणी के शहरों (जहां की जनसंख्या एक लाख से अधिक है) में 1971 में भारत की जनसंख्या का 12 प्रतिशत भाग रहता था, जबकि गैर-घरेलू विनिर्माण रोजगार (पुरुष) में उनका अंश 50 प्रतिशत था।[3] कुल रोजगार में गैर-घरेलू विनिर्माण रोजगार का प्रतिशत इन नगरों में लगभग 30 प्रतिशत था जबकि सभी छोटे कस्बों के लिए यह अनुपात केवल 15 प्रतिशत था। ग्रामीण क्षेत्र इससे भी अधिक क्षुब्धता पैदा करने वाली दृश्य उपस्थित करते हैं जहां गैर-घरेलू एवं घरेलू विनिर्माण में लगे श्रमिकों का प्रतिशत 6 प्रतिशत जितना कम था।

यदि हम 1971 के शहरों और उनके पृष्ठ-प्रदेशों पर विचार करें तो हम 1981 में उनके विनिर्माण क्रिया-कलापों में महत्वपूर्ण वृद्धि पाते हैं। उपगमन पद्धति के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि 1971 में इन शहरें में देश के कुल पूँजी निर्माण का 80 प्रतिशत से भी अधिक विद्यमान था और उसके बाद यह अंश और भी बढ़ा है। इस प्रकार, अन्तर्राज्य असमानताओं में कमी जहां सन्तुष्टि का कारण हो सकती है, वहीं औद्योगिक विनियोग का कुछ बड़े नगरीय केन्द्रों में एवं उनके पास अत्यधिक संकेन्द्रण चिन्ता का कारण है।

साठ एवं सत्तर के दशक में गैर-घरेलू एवं घरेलू आधारित विनिर्माण क्षेत्र के विकास के स्थानिक ढांचे का असामूहिक विश्लेषण प्रकट करता है कि प्रथम श्रेणी के नगर वृद्धिगत रोजगार के बड़े भाग को आकर्षित करने में सफल रहे हैं। कई छोटे एवं मध्यम कस्बों ने अपने घरेलू एवं गैर-घरेलू आधारित विनिर्माण क्रिया-कलापों को खो दिया। यह हांनि उनके प्रगतिरोध और जनसंख्या में कमी के लिए उत्तरदायी थी। दूसरी ओर सीमित ह्रितराव की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप महानगरों के अड़ोस-पड़ोस में कई छोटे कस्बे एवं बड़ी संख्या में नये कस्बे विकसित हुए।

19.4 क्षेत्रीय विषमता में कृषि का योगदान

आप आश्चर्य कर सकते हैं किस प्रकार उद्योगों के विकास एवं विभिन्न सामाजिक-आर्थिक आधारिक संरचना, क्रमशः सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र मुख्य हैं, ये अन्तर्राज्य असमानतायें घटते हुए भी प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन के विचरण गुणांक में साठ के दशक से वृद्धि हुई है, जैसा कि सारणी 19.1, 19.2 एवं 19.3 से स्पष्ट है। इसकी स्पष्ट व्याख्या प्राथमिक क्षेत्र, मुख्य रूप से कृषि, और इसका स्थानिक विकास करता है, जिसकी चर्चा हम अब करेंगे।

(3) भारतीय जनगणना में महिला रोजगार समंकों में परिभाषा सम्बंधी समस्यायें होने के कारण पुरुष रोजगार पर विचार किया गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि क्षेत्र में हुये परिवर्तन दूरवर्ती महत्व के हैं। कृषि सुधारों ने सामन्ती बेड़ियों को ढीला किया है और तकनीकी आदाओं के उपयोग ने कई क्षेत्रों में उत्पादकता एवं उत्पादन को बढ़ाया है। कृषि उत्पादन 1950-85 की अवधि में काफी कालिक उच्चावचनों के साथ 2.9 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा है। [केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (CSO): 1988] यह विकास साठ के दशक के प्रारंभ से तकनीकी आदाओं यथा उर्वरक, नल-कूप, सुधरे बीज एवं ट्रेक्टरों के बढ़ते हुये उपयोग से सम्बद्ध रहा है।

यह आश्चर्यजनक है कि साठ के दशक में बहुचर्चित तकनीकी प्रस्फोट, जिसे भारत में हरित क्रान्ति कहा जाता है, के बाबजूद उत्पादन में वृद्धि दर पचास के दशक की अपेक्षा कम थी। हनुमन्त राव (1975) ने बताया कि प्रतीपगमन विश्लेषण के आधार पर अनुमानित यौगिक विकास दर जो पचास के दशक में 3.3 प्रतिशत थी साठ के दशक में घटकर 2.1 प्रतिशत रह गई। आधार एवं अन्तिम वर्षों के लिए त्रीवर्षीय औसत लेकर भल्ला एवं अलध (1976) ने अनुमान लगाया है कि 1954-65 की अवधि में वार्षिक वृद्धि दर लगभग 2.60 प्रतिशत एवं 1962-73 की अवधि में 2.25 प्रतिशत थी।

उत्पादन में यह वृद्धि दो भागों में वियोजित है, प्रथम श्रेय कृषि के अन्तर्गत क्षेत्र में वृद्धि को और दूसरा (अवशेष घटक) मुख्यतः भूमि की उत्पादकता में वृद्धि को है। इस प्रयोग के आधार पर यह बताया जा सकता है कि पचास के दशक में उत्पादन में वृद्धि का महत्वपूर्ण अनुपात क्षेत्र में वृद्धि के कारण है, जबकि बाद के दशकों में ऐसा नहीं है। साठ और उसके बाद के दशकों में उत्पादन में वृद्धि मुख्यतः उत्पादकता में वृद्धि के कारण है, जो कृषि विकास के लिए अपनाई गयी शैली में परिवर्तन को प्रतिबिम्बित करती है। साठ के दशक के प्रारंभ में सरकार ने 'विकास समर्थता' वाले कुछ जिलों को चुनकर उनमें सीमित पूँजी आदा लगाने का निर्णय किया ताकि अधिकतम परिणाम मिल सकें। इसके परिणामस्वरूप भूमि एवं श्रम की उत्पादकता में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई, लेकिन केवल कुछ क्षेत्रों में। परिणाम स्वरूप, साठ के दशक में क्षेत्रीय विषमताओं में वृद्धि हुई। तब से इस नीति से कोई मुख्य विचलन नहीं हुआ है। कृषि में क्षेत्रीय असंतुलन गत कई वर्षों से निरंतर बढ़ रहा है।

सारणी 19.4 प्रमुख राज्यों में प्रति श्रमिक कृषि उत्पादकता समंक विषमता सूचकांक के साथ बताये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि 1960-86 की अवधि में राज्यों में प्रति व्यक्ति औसत उत्पादकता 0.94 टन से बढ़कर 1.49 टन हो गई। इसके साथ ही विचरण गुणांक 30 प्रतिशत से बढ़कर 93 प्रतिशत हो गया है। यद्यपि इस अवधि में भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में कृषि का अंशदान (1960-61 की कीमतों पर) 52 प्रतिशत से घटकर 30 प्रतिशत रह गया है, परन्तु कृषि में क्षेत्रीय विषमताओं में वृद्धि इतनी तेज रही है कि इसने प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन की विषमताओं को प्रबल कर दिया है।

कई अध्येताओं ने कृषि विकास के ढांचे का विश्लेषण अन्तः राज्य स्तर पर किया है और अधिकांश अध्ययनों ने क्षेत्रीय विषमताओं में वृद्धि बताई है। कुण्डु एवं रजा (1982) ने कृषि उत्पादकता एवं विकास के स्थानिक ढांचे का विश्लेषण राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण के 49 क्षेत्रों के विश्लेषण की आधारभूत इकाई मानकर किया है। इस अध्ययन में निम्न क्षेत्रों को उच्च कृषि उत्पादकता वाला स्थापित किया गया है—

(1) पंजाब, हरियाणा एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश

(2) पश्चिमी बंगाल का डेल्टा-प्रदेश

(3) आन्ध्र प्रदेश, केरल, कर्नाटक एवं तमिलनाडु के तटीय क्षेत्र

दक्षिणी का वर्षा आधारित कृषि वाला क्षेत्र, उत्तर प्रदेश एवं बिहार में गंगा का मध्य मैदान और उड़ीसा में महानदी की घाटी मध्यम उत्पादकता वाले क्षेत्र प्रकट हुये हैं। दक्षिण बिहार में छोटा नागपुर क्षेत्र, और गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान और मध्यप्रदेश के बड़े भाग में फैला हुआ शुष्क क्षेत्र न्यून उत्पादकता वाला टापू है जो सभी तरफ से उच्च या मध्यम उत्पादकता वाले क्षेत्र से घिरा हुआ है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि उच्च उत्पादकता वाला क्षेत्र देश की शुद्ध कृष्य भूमि का 20 प्रतिशत है जबकि कृषि उत्पादन में यह 36 प्रतिशत योगदान करता है। लेकिन कुल तकनीकी आगत जिसमें उर्वरक, नल-कूप, ट्रेक्टर एवं सकल सिंचित क्षेत्र शामिल है इन क्षेत्रों का अंश काफी अधिक क्रमशः 44, 50, 60 एवं 38 प्रतिशत है। इस प्रकार हम कह सकते है कि इस 20 प्रतिशत भूमि का उपयोग करने वाले कृषक तकनीकी आगत का 40 प्रतिशत या अधिक काम में लेकर उत्पादन का 36 प्रतिशत भाग पैदा करते हैं। यह दिखाता है कि उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि बड़ी मात्रा में तकनीकी आगत के अवशोषण के कारण हुई है। इस प्रकार, बीज - उर्वरक-सिंचाई - ट्रेक्टर तकनीक पर आधारित कृषि विकास शैली का परिणाम देश में क्षेत्रीय असन्तुलनों का प्रबल होता रहा है।

19.5 क्षेत्रीय विकास के संयुक्त सूचक

पहले ही स्पष्ट किया गया था कि प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन क्षेत्रीय विकास का काम चलाऊ माप है, क्योंकि इसमें विकास के कई सामाजिक-आर्थिक आयाम समाविष्ट हो ने से रह जाते हैं। विकास की धारणा बहु आयामी होने के कारण अध्येताओं ने इसे कई सूचको से जोड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इन्हें राज्य, क्षेत्र एवं जिला स्तर पर बनाया है और संयुक्त तकनीक का उपयोग करके विकास के सामूहिक सूचकों को बनाया है। सूचकों के चुनाव, भार निर्धारण और संयुक्त सूचक के आधार पर राज्यों का विकास श्रेणियों में वर्गीकरण करने के सम्बंध में गंभीर कार्य पद्धति सम्बंधी समस्यायें हैं। खेद है कि इन समस्याओं का कोई मानक हल नहीं है। आपके लिए यह उपयोगी होगा कि आप इन अध्ययनों (देखें कुण्डु: 1980, मित्रा: 1981, पंचमुखी: 1985) में से कुछ का अध्ययन करें और उनकी कार्य पद्धति एवं परिणामों का विश्लेषण करें।

ऊपर वर्णित बहु-चरीय विश्लेषण के आधार पर विकास के स्वरूप सही चित्र प्राप्त करना कठिन है। इन अध्ययनों में से अधिकांश बताते हैं कि कृषि विकास के संयुक्त सूचक के आधार पर अन्तर्राज्य विषमताओं में वृद्धि हुई है लेकिन अन्य दशाओं में कमी हुई है। पिछड़े राज्यों के लिए किये गये कई अन्तर्जिला विश्लेषण विकास के सभी पहलुओं में असमानतायें बढ़ना बताते हैं, जैसे कृषि, उद्योग एवं सामाजिक-आर्थिक आधारिक संरचना। विकसित राज्यों में प्रतिमान मिश्रित है – कुछ विषयों में अन्तर्राज्य असमानतायें बढ़ी हैं लेकिन अन्य में बिल्कुल विपरीत स्थिति है।

19.6 सारांश

द्वितीयक समंकों और साहित्य सर्वेक्षण पर आधारित अर्थप्रणाली के विभिन्न क्षेत्रों के लिए क्षेत्रीय विकास के ढांचे का उपर्युक्त विश्लेषण बताता है कि हमारी विकास नीति की मुख्य असफलता क्षेत्रीय असंतुलनों के सम्बंध में सही है। साठ के दशक से अपनाई गयी कृषि विकास शैली, जो अनुदानित आदान द्वारा उत्पादकता में वृद्धि की ओर निर्दिष्ट थी स्थानिक विभेदीकरण के लिए उत्तरदायी रही है क्योंकि इसमें देश के कई बड़े भाग में कृषि सुधार, संस्थागत मार्गावरोधों को हटाने और अच्छी जल प्रबन्ध प्रणाली पर ध्यान केन्द्रित करने के स्थान पर कुछ किसानों और कुछ जिलों को लाभान्वित करके, उत्पादकता में वृद्धि प्राप्त की गई। इसी प्रकार, औद्योगिक विकास

का कार्यक्रम उपनिवेशी काल से उत्तराधिकार में प्राप्त स्थानिक ढांचे की आधारभूत विकृतियों को सुधारने एवं निजी क्षेत्र के विकास को निर्देशित एवं नियंत्रित करने के लिए उपयुक्त संस्थानों की अभिकल्पना के बिना प्रारंभ किया गया। सरकार में अत्यधिक नौकरशाही एवं सुस्पष्ट दूरदर्शी नीति का अभाव सार्वजनिक क्षेत्र की अकुशलता और निजी उद्यमों को पिछड़े क्षेत्रों की ओर आकर्षित करने में असफलता के लिए उत्तरदायी रहे हैं। निजि उद्योगपति छल योजना एवं सार्वजनिक संस्थानों को प्रभावित करने और उनसे विभिन्न लाभ लेने में सफल रहे। इसके साथ ही उन्होंने राष्ट्रीय औद्योगिक नीति के घोषित उद्देश्यों के विपरीत कुछ बड़े शहरों के आस-पास ही अपनी इकाइयां स्थापित करने का प्रबन्ध कर लिया। गत कुछ वर्षों में उद्योगों को विनियंत्रित करने के कई तदर्थ निर्णयों ने सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों को और कमजोर कर दिया, जिसमें हाल के वर्षों में अन्तःराज्य असमानतायें और बढ़ी हैं।

19.7 शब्दावली

Regional Disparity	क्षेत्रीय असमता/विषमता
Sustained Growth	धारित संवृद्धि
State Domestic Product	राज्य घरेलू उत्पादन
Infrastructure	आधारिक संरचना
Administered Prices	निर्देशित कीमतें
Indices	सूचक
Regional Imbalances	क्षेत्रीय असन्तुलन
Spatial Concentration	स्थानिक संकेन्द्रण
Household manufacture	घरेलू विनिर्माण
Stagnation	प्रगतिरोध
Input	आदा/आगत/आदान
Residual Factor	अवशेष घटक
Potential Development	विकास समर्थता
Technical input	तकनीकी आगत
Composite Indices	संयुक्त सूचक
Hinterlands	पृष्ठ प्रदेश
Haul	परिवहन
Break-through	प्रस्फोट
Public Institutions	सार्वजनिक संस्थान

तालिका 19.1
भारत के चयनित राज्यों की प्रति व्यक्ति आय एवं उनकी कोटि

(रुपयों में)

क्रम संख्या	राज्य	1950-51 में आय 1960-61 की कीमतों पर (स्रोत NCAER)	कोटि	1975-76 में आय 1960-61 की कीमतों पर (स्रोत SSB)	कोटि	1985-86 में आय 1970-71 की कीमतों पर (स्रोत SSB)	कोटि
1.	आन्ध्रप्रदेश	258	9	330	8	743	6
2.	आसाम	335	5	373	6	604	11
3.	बिहार	181	14	238	14	486	14
4.	गुजरात	381	3	409	3	362	3
5.	केरल	304	6	297	10	614	10
6.	मध्यप्रदेश	236	13	231	12	623	9
7.	महाराष्ट्र	373	4	478	2	1029	2
8.	कर्नाटक	287	7	407	4	698	7
9.	उड़ीसा	252	11	291	11	522	13
10.	पंजाब एवं हरियाणा	404	2	519	1	1419	1
11.	राजस्थान	256	10	315	9	663	8
12.	तमिलनाडु	245	12	358	7	779	5
13.	उत्तर प्रेदश	271	8	268	13	587	12
14.	पश्चिमी बंगाल	471	1	397	5	858	4
	प्रमाण विचलन	76.2		78.4		234.5	
	राज्य आय का औसत (रू.	304		354		748	
	विचरण गुणांक	25.1		22.2		31.3	

स्रोत: व्यवहारिक आर्थिक अनुसंधान की राष्ट्रीय परिषद (1967) एवं माथुर (1989)

तालिका 19.2

भारत के चुने हुए राज्यों की चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय एवं उनकी कोटि

(रूपयों में)

क्रम संख्या	राज्य	1970-71 में आय (रू.)	कोटि	1981-82 में आय (रू.)	कोटि
1.	आन्ध्रप्रदेश	536	12	1655	10
2.	आसाम	570	13	1476	15
3.	बिहार	418	20	1033	21
4.	गुजरात	845	3	2002	4
5.	हरियाणा	932	2	2655	2
6.	हिमाचल प्रदेश	676	6	1875	5
7.	जम्मू एवं कश्मीर	557	15	1713	8
8.	कर्नाटक	675	7	1759	7
9.	केरल	636	9	1608	12
10.	मध्य प्रदेश	489	19	1362	18
11.	महाराष्ट्र	811	4	2612	2
12.	मणिपुर	408	21	1601	13
13.	मेघालय	644	8	1323	19
14.	नागालैंड	508	17	1814	6
15.	उड़ीसा	541	16	1441	16
16.	पंजाब	1067	1	3182	1
17.	राजस्थान	629	10	1395	17
18.	तमिलनाडु	616	11	1629	11
19.	त्रिपुरा	563	14	1572	14
20.	उत्तर प्रदेश	493	18	1215	20
21.	पश्चिमी बंगाल	729	5	1673	9
	प्रमाण विचलन	161.6		499.0	
	राज्य आयों का औसत	637		1743	
	विचरण गुणांक	25.4		28.6	

स्रोत: केंद्रिय सांख्यिकी संगठन (1978, 1985 एवं 1986)

सारणी 19.3

भारत के चुने हुये राज्यों की स्थिर कीमतों (1970-71) पर प्रति व्यक्ति आय एवं कोटि

(रूपयों में)

क्रम संख्या	राज्य	1960-61 में आय	कोटि	1970-71 में आय	कोटि	1980-81 में आय	कोटि
1.	आन्ध्रप्रदेश	516	8	586	10	678	8
2.	बिहार	390	14	418	14	438	14
3.	गुजरात	697	4	845	3	384	4
4.	हरियाणा	627	5	932	2	1029	2
5.	कर्नाटक	559	7	675	6	723	6
6.	केरल	471	11	636	7	569	10
7.	मध्यप्रदेश	472	10	489	13	463	13
8.	महाराष्ट्र	769	1	811	4	1008	3
9.	उड़ीसा	392	13	541	11	514	12
10.	पंजाब	760	2	1067	1	1308	1
11.	राजस्थान	500	9	629	8	591	9
12.	तमिलनाडु	571	6	616	9	682	7
13.	उत्तर प्रेदश	457	12	493	12	524	11
14.	पश्चिमी बंगाल	758	3	729	5	765	5
	प्रमाण विचलन	124.4		176.6		242.2	
	राज्य आय का औसत (रू.	567		667		727	
	विचरण गुणांक	21.9		26.1		33.3	

स्रोत: भारतीय अर्थव्यवस्था के मानिटरिंग के लिए केन्द्र (1981)

तालिका 19.4

कुल श्रमिकों में पुरुष विनिर्माण श्रमिकों का प्रतिशत कारखाना क्षेत्र द्वारा प्रति व्यक्ति जोड़ा गया मूल्य

(रूपयों में)

क्रम संख्या	राज्य	1961	1971	1981	1961	1971	1981
1.	आन्ध्रप्रदेश	3.43	4.97	6.66	9	29	74
2.	बिहार	2.96	2.88	4.37	14	31	57
3	गुजरात	8.77	10.42	14.82	52	108	245
4	हरियाणा	NA	6.73	10.53	NA	70	169
5	कर्नाटक	5.13	6.47	8.32	14	62	107
6	केरल	10.08	11.19	12.10	17	42	93
7	मध्यप्रदेश	3.03	3.76	5.48	8	27	68
8	महाराष्ट्र	10.19	12.53	14.98	69	167	324
9.	उड़ीसा	1.38	2.32	3.67	6	27	62
10.	पंजाब	5.84	8.10	10.65	4	52	136
11.	राजस्थान	2.47	3.49	6.18	5	26	56
12.	तमिलनाडु	7.43	9.99	12.57	24	75	166
13.	उत्तर प्रेदश	3.43	3.91	5.62	9	24	47
14.	पश्चिमी बंगाल	12.32	11.89	13.66	60	97	173
	प्रमाण विचलन	3.39	3.53	3.60	21.6	39.9	78.7
	राज्य आय का औसत	5.88	6.99	9.31	22.38	59.8	126.9
	विचरण गुणांक	57.68	50.52	40.34	96.88	66.70	61.9

स्रोत: भारत की जनगणना, सामान्य आर्थिक सारणियाँ (1981, 1971 ,एवं 1981) एवं सी.एम.आई.ई (1981)

तालिका 19.5
उद्योगों में प्रति व्यक्ति विद्युत उपभोग (किलो वाट घण्टे)

क्रम संख्या	राज्य	1960-61	1970-71	1980-81	1986-87
1.	आन्ध्रप्रदेश	11	32	56	113
2.	आसाम	1	13	25	28
3.	बिहार	17	42	45	49
4.	गुजरात	39	95	155	179
5.	हरियाणा	NA	49	102	90
6.	कर्नाटक	31	83	106	102
7.	केरल	24	60	79	70
8.	मध्यप्रदेश	9	38	70	116
9.	महाराष्ट्र	47	120	149	163
10.	उड़ीसा	26	69	85	96
11.	पंजाब	32	105	112	204
12.	राजस्थान	2	27	46	62
13.	तमिलनाडु	27	75	98	114
14.	उत्तरप्रदेश	7	35	38	33
15.	पश्चिमी बंगाल	52	37	79	74
	प्रमाण विचलन	15.58	30.54	37.09	49.47
	राज्यों का औसत	23.2	62.0	83	99.7
	विचरण गुणांक	67.00	49.00	44.68	49.47

स्रोत: भारतीय अर्थव्यवस्था में मानिटरिंग के लिए केन्द्र (1986)

तालिका 19.6
कृषि उत्पादकता (प्रति पुरुष कृषि श्रमिक खाधान्न उत्पादन)

क्रम संख्या	राज्य	1960-61	1964-65	1970-71	1980-81	1986-87
1.	आन्ध्रप्रदेश	0.56	1.01	0.03	0.97	0.89
2.	बिहार	0.71	0.75	0.64	0.72	0.79
3.	गुजरात	0.39	0.75	0.96	0.33	0.57
4.	हरियाणा	NA	NA	2.30	2.94	2.71
5.	कर्नाटक	0.32	0.93	1.06	0.86	0.97
6.	केरल	0.60	0.62	0.51	0.51	0.45
7.	मध्यप्रदेश	1.24	1.22	1.21	1.17	1.28
8.	महाराष्ट्र	0.92	0.95	0.69	1.05	0.77
9.	उड़ीसा	0.93	1.21	1.04	1.03	1.15
10.	पंजाब	1.73	2.04	2.95	4.17	5.71
11.	राजस्थान	1.10	1.16	1.67	1.05	1.10
12.	तमिलनाडु	0.90	0.96	0.90	0.69	0.91
14.	उत्तरप्रदेश	0.95	0.93	1.04	1.14	1.38
15.	पश्चिमी बंगाल	0.92	1.00	1.03	1.03	1.20
	प्रमाण विचलन	.20	.38	.72	.97	1.39
	राज्यों का औसत	.94	1.00	1.26	1.30	1.49
	विचरण गुणांक	20.0	21.0	57.5	74.2	52.2

स्रोत: सी.एम.आई.ई (1981) एवं राकेश मोहन (1989)

इकाई 19
(भारत में क्षेत्रीय असमतायें)
परिशिष्ट 1
तालिका 19.7
कृषिगत व औद्योगिक सूचकों के अनुसार राज्यों में अन्तर

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
राज्य	1991-92 से 1994-95 तक खाद्यान्नों के 'अखिल भारतीय' औसत उत्पादन का प्रतिशत	1994-95 में कृषित भूमि में प्रतिहेक्टेयर उर्वरकों का उपभोग (किलो में)	1991-92 के लिये सकल सिंचित क्षेत्र कुल फसलों के क्षेत्रफल का प्रतिशत	फैक्ट्रियों में रोजगार (1993-94) (लाख में)	फैक्ट्रियों में विनिर्माण द्वारा जोडा गया शुद्ध मूल्य (net value added by Manufacture) 1993-94 (करोड़ रुपये)
1. आन्ध्र प्रदेश	6.5	121.4	40.8	8.7	4909
2. असम	1.9	9.5	14.8	1.1	860
3. बिहार	6.3	64.6	41.0	3.4	6729
4. हरियाणा	5.6	126.4	77.9	2.9	2118
5. गुजरात	2.5	77.5	27.2	7.6	9425
6. हिमाचल प्रदेश	0.7	34.6	17.8	0.60	810
7. जम्मू कश्मीर	0.8	48.2	41.2	0.15	193
8. कर्नाटक	4.6	64.9	22.9	4.4	4137
9. केरल	0.6	66.7	12.8	3.0	1815
10. मध्य प्रदेश	9.7	37.4	20.6	4.5	5372
11. महाराष्ट्र	6.6	75.4	14.0	13.2	21604
12. उड़ीसा	4.0	22.5	22.8	1.8	1684
13. पंजाब	11.55	174.7	94.6	4.4	2984
14. राजस्थान	5.3	34.8	29.1	2.5	2380
15. तमिलनाडु	4.7	136.6	46.7	11.0	9883
16. उत्तर प्रदेश	20.7	99.3	57.2	7.8	5773
17. पश्चिम बंगाल	7.2	86.2	22.1	7 4	5358
समस्त भारत (अन्य) राज्यों व संघीय प्रदेशों सहित	100.0	75.7	35.0	87 1	88434

इकाई 19
(भारत में क्षेत्रीय असमतायें)

तालिका 19.8

इन्फ्रास्ट्रक्चर के सापेक्ष सूचकांक व कुछ आर्थिक सामाजिक सूचकांक

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
क्रम सं०	राज्य	इन्फ्रास्ट्रक्चर के सापेक्ष विकास का सूचकांक (1992-93)	प्रति व्यक्ति विद्युत की खपत किलोवाट घंटों में (KWH) 1993-94	7 वर्ष व अधिक के व्यक्तियों के लिये साक्षरता की दर (1991) (%.में)	शिशु मृत्यु दर (1995) प्रति हजार (SRS) (सेम्पल रजिस्ट्रेशन सिस्टम के आधार आधार पर)
1.	आन्ध्र प्रदेश	103	344	44.1	66
2.	असम	93	96	52.9	77
3.	बिहार	96	125	38.5	73
4.	हरियाणा	152	487	55.9	68
5.	गुजरात	125	590	61.3	62
6.	हिमाचल प्रदेश	84	217	63.9	
7.	जम्मू कश्मीर	69	197	—	
8.	कर्नाटक	97	323	56.0	62
9.	केरल	140	217	89.8	16
10.	मध्य प्रदेश	75	310	44.2	99
11.	महाराष्ट्र	111	459	64.9	55
12.	उड़ीसा	89	319	49.1	103
13.	पंजाब	205	703	53.5	54
14.	राजस्थान	80	254	38.6	85
15.	तमिलनाडु	138	387	62.7	56
16.	उत्तर प्रदेश	109	186	41.6	86
17.	पश्चिम बंगाल	113	164	57.7	52
समस्त भारत		100	299	52.2	74

इकाई 20

भारत में संतुलित औद्योगिक विकास की नीतियां

(Policies for Balanced Industrial Development on India)

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 केन्द्रीय विनियोग

20.3 संस्थागत वित्त का संवितरण स्वरूप

20.3.1 वाणिज्यिक बैंक

20.3.2 विकास बैंक

20.4 औद्योगिक छितराव के लिए नीतियाँ एवं कार्यक्रम

20.4.1 पांचवें एवं छठें दशक में परिदृश्य एवं तदुपरान्त नीति का स्वरूप

20.4.2 पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्रीय सरकार की योजनायें

20.4.3 राज्य स्तर पर योजनायें

20.5 क्षेत्रीय विकास नीति की समीक्षा

20.6 सारांश

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

(1) पिछड़े राज्यों में औद्योगिक विकास को प्रवर्तित एवं प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की नीतियों एवं कार्यक्रमों को जान जायेंगे।

(2) इन नीतियों एवं कार्यक्रमों में रही खामियों एवं विसंगतियों से परिचित हो जायेंगे।

(3) संतुलित क्षेत्रीय विकास में वित्तीय एवं राजकोषीय प्रेरणाओं और वैधानिक कार्यवाही एवं अधिमानिक लाइसेंस नीति की तुलनात्मक भूमिका का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

20.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता के समय भारत को उद्योगों का एक कमजोर एवं विकृत ढांचा उत्तराधिकार में मिला जो कुछ बड़े शहरों में केन्द्रित था। इसलिए क्षेत्रीय असन्तुलनों को सुधारते हुए औद्योगिक विकास की गति को त्वरित करना एक बड़ा कार्य था। 1951 में नियोजन के प्रारम्भ के साथ सरकार ने क्षेत्रीय सन्तुलन क्षेत्र में विनियोग एवं निजी क्षेत्र पर संस्थागत नियंत्रण द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न

किया। इन सभी सरकारी उपायों की प्रकृति एवं क्षेत्रीय विकास पर उनके प्रभाव का विश्लेषण करने हेतु देश में नियोजन प्रक्रिया के सन्दर्भ में केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर दृष्टिपात से अध्ययन प्रारम्भ करना उपयोगी होगा।

20.2 केन्द्रीय संसाधनों का अन्तरण एवं प्रत्यक्ष केन्द्रीय विनियोग

केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में प्रत्यक्ष विनियोग द्वारा पिछड़े राज्यों में विकास को प्रवर्तित एवं प्रोत्साहित करने का प्रयत्न करती है। यह क्षेत्रीय समानता एवं सामाजिक न्याय के सिद्धांतो पर आधारित सुअभिकल्पित सूत्र के आधार पर राज्यों को कोष हस्तांतरित करती है। कोषों का हस्तांतरण दो माध्यमों से किया जाता है। — प्रथम, वित्त आयोग द्वारा जो गैर-योजना खर्चों के लिए वितरण करता है, द्वितीय योजना आयोग जो योजना अनुदान प्रदान करता है। भारत सरकार भी पिछड़े राज्यों एवंम् क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विनियोग करके सन्तुलित क्षेत्रीय विकास प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं।

20.2.1 वित्त आयोग एवं योजना आयोग द्वारा हस्तांतरण

हम पहले गत चार दशाब्दियों में वित्त आयोगों के अध्ययन से हुए कोषों के हस्तांतरण का विश्लेषण करेंगें। सारणी 20.1 विभिन्न राज्यों को प्रति व्यक्ति के आधार पर उपलब्ध कराये गये साधनों को बताती है। इस सारणी से स्पष्ट है कि उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के छोटे राज्यों और जम्मू काश्मीर के साथ उच्च व माध्यम आय वाले कुछ राज्यों को भी प्रचुर राशि प्राप्त हुई है। यद्यपि, गरीब राज्यों में से कुछ जैसे उड़ीसा एवं राजस्थान को राज्यों के औसत से अधिक प्रति व्यक्ति हस्तांतरण हुआ है लेकिन गरीब राज्यों के पक्ष में कोई स्पष्ट अभिनति नहीं हैं। यह खेदजनक स्थिति है कि बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश जैसे पिछड़े राज्यों को इस सारी अवधि में बहुत कम हस्तांतरण हुआ है।

योजना आयोग के माध्यम से योजनागत साधनों का हस्तांतरण भी कम विकसित राज्यों के पक्ष में कोई सार्थक अभिनति नहीं दर्शाता (सारणी 20.2). यद्यपि गरीब राज्यों में से कुछ जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं बिहार को प्रतिव्यक्ति के आधार पर तुलनात्मक रूप से अधिक केन्द्रीय सहायता प्राप्त हुई है, लेकिन महाराष्ट्र एवं पश्चिमी बंगाल जैसे विकसित राज्यों को दूसरी एवं पांचवीं पंचवर्षीय योजना में प्रतिव्यक्ति योजना सहायता अधिक प्राप्त हुई है।

इस प्रकार यह आलोचना कि केन्द्र से राज्यों को कोष हस्तांतरण की पद्धति क्षेत्रीय असन्तुलनों को सार्थक रूप में कम करने में विफल रही है, सही है। विद्वानों ने इस तथ्य के प्रति चिन्ता दर्शायी कि इस केन्द्र से कोषों के हस्तांतरण के बाद भी प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन (SDP) में असमानता बढ़ी है।

यहां इस तथ्य पर ध्यान देना उपयोगी होगा कि राज्यों के आय स्तर या आय वृद्धि को कम से कम आंशिक रूप से उनके प्रति व्यक्ति योजना परिव्यय या राजस्व व्यय के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। वास्तव में यह सही है कि तुलनात्मक रूप से विकसित राज्य कर एवं गैर-कर श्रोतों से (प्रति व्यक्ति) अधिक कोष सृजित करने में सक्षम हैं। इस दृष्टि से गरीब राज्य प्रतिकूल परिस्थिति में है। इसमें सन्देह नहीं है कि केन्द्रीय स्थान्तरणों का कुछ समकरण प्रभाव होता है, क्योंकि प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन व केन्द्रीय स्थानान्तरण में ऋणात्मक सम्बंध हैं। इसमें यह अन्तर्निहित है कि कम विकसित राज्य केन्द्रीय राजकोष से अधिक घन प्राप्त कर सकते हैं, जिसके फलस्वरूप राज्य स्तर पर प्रति व्यक्ति योजना एवं गैर-योजना व्यय में असमानता घटेगी। अनेक विद्वानों ने वित्त आयोग एवं योजना आयोग के माध्यम से कोषों के अन्तरण में सार्थक झुकाव न होने के प्रति अप्रसन्नता प्रकट की है। क्योंकि गरीब राज्यों के पक्ष में अन्तरण इतना

पर्याप्त नहीं है कि वह राज्य स्तर पर प्रति व्यक्ति योजना एवं गैर-योजना परिव्यय को समान कर सके अथवा देश में संतुलित क्षेत्रीय विकास को सुनिश्चित कर सके।

यह तर्क दिया जा सकता है कि योजना आयोग के हस्तांतरणों की अपेक्षा वित्त आयोग के माध्यम से हुए अन्तरण अधिक समकारी हैं। ऐसा इसलिए है कि वित्त आयोग द्वारा कर आय में हिस्सा निर्धारण के लिए अपनाये गये सूत्र में प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पादन के प्रतिलोम को अधिक भार दिया गया है। कुल मिलाकर, ऊपर वर्णित दोनों धाराओं से केन्द्र सरकार से अन्तरण उत्तर-पूर्व के छोटे राज्यों और कुछ मध्यम व कम आय वाले राज्यों के पक्ष में रहा है।

20.2.2 केन्द्रीय विनियोग

सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों में केन्द्रीय विनियोग पिछड़े राज्यों के पक्ष में उल्लेखनीय तरफदारी दर्शाता है। विशेष रूप से उन राज्यों को सर्वाधिक लाभ हुआ जो खनिज भण्डार एवं अन्य औद्योगिक संसाधनों में धनी थे, क्योंकि इन विनियोगों का प्राथमिक उद्देश्य स्थानीय संसाधनों के उपयोग के लिए आधारभूत उद्योगों का विकास करना था। यद्यपि यह बदनसीबी रही कि राजस्थान, जम्मू एवं काश्मीर, आसाम आदि राज्य अधिक केन्द्रीय विनियोग को आकर्षित नहीं कर सके। दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के उद्यमों में प्रति व्यक्ति विनियोग की दृष्टि से मध्य प्रदेश बिहार के बाद मुख्य लाभानुभोगी रहा।

यहां यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों के स्थान का यचन योजना आयोग एवं सम्बन्धित मन्त्रालय ने परियोजना के आर्थिक मूल्यांकन के साथ-साथ संतुलित क्षेत्रीय विकास को ध्यान में रखकर किया है। यहां औपचारिक सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण रूप की अपेक्षा राजनैतिक कारक भारी पड़े जिससे तुलनात्मक रूपसे विकसित राज्यों, जहाँ शक्तिशाली मुख्य मंत्री थे, को सहायता मिली। इस राजनैतिक कारक ने तुलनात्मक रूप से कम विकसित राज्यों में से कई को लाभ पहुंचाया। यद्यपि, बाद में सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों के स्थान-निर्धारण एवं प्रबन्ध सम्बंधी निर्णयों में व्यावसायिक क्षमता एवं लागत वसूली को सर्वाधिक महत्व पूर्ण माना गया। परिणाम स्वरूप, कुल विनियोग योग्य संसाधनों में गरीब राज्यों के अंश में सुस्पष्ट कमी दिखती है। वित्त आयोग, योजना आयोग और विभिन्न मन्त्रालयों की प्रतिफल की वांछित दर प्राप्त करने के प्रति जागरूकता बढ़ने के साथ, ऐसी सम्भावना है कि भविष्य में विनियोग निर्णय पिछड़े क्षेत्रों के पक्ष में और भी कम होंगे।

20.3 संस्थागत वित्त का संविरण स्वरूप

विभिन्न राज्यों से निजी एवं सार्वजनकि क्षेत्र के विकास परिव्यय की वित्त व्यवस्था का एक और स्रोत है। वह क्षेत्र है सरकारी एवं स्वायत्तशासी वित्तीय संस्थायें जिसमें राष्ट्रीय कृत वाणिज्यिक बैंक, विकास बैंक एवं बचत एजेन्सियाँ जैसे जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा निगम आदि शामिल हैं।

20.3.1 वाणिज्यिक बैंक

कुण्डु, मिश्रा एवं मेहर (1986) द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार वाणिज्यिक बैंकों से प्रति व्यक्ति साधनों का प्रवाह विकसित राज्यों के पक्ष में रहा है। पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात एवं पश्चिमी बंगाल ने, जो देश के तुलनात्मक रूप से विकसित राज्य हैं, प्रति व्यक्ति बैंक वित्त राष्ट्रीय औसत से काफी अधिक प्राप्त किया है। दूसरी ओर, पहाड़ी राज्य जैसे हिमाचल प्रदेश, जम्मू एवं काश्मीर, त्रिपुरा, मणीपुर, मेघालय एवं नागालैण्ड जो आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुये हैं, प्रति व्यक्ति बैंक ऋणों में ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं। बड़े पिछड़े राज्यों जैसे उड़ीसा,

आसाम, उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश के साथ इस अपेक्षा जो घाटा है वह बहुत बुरा है। उन्हें प्रति व्यक्ति बैंक साख राष्ट्रीय औसत से बहुत कम प्राप्त हुई हैं।

20.3.2 विकास बैंक

विकास बैंको से प्राप्त निधि का स्वरूप भी इसी प्रकार का है। इन अभिकरणों से साख प्राप्त करने में भी विकसित राज्य स्पष्ट रूप से लाभ में रहे हैं। गुजरात एवं महाराष्ट्र ने 1973-80 की अवधि में अधिकतम प्रति व्यक्ति साख प्राप्त की है। दूसरी ओर मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा आसाम आदि को तरफदारी प्राप्त नहीं हुई और उनको प्रति व्यक्ति आर्थिक सहायता राष्ट्रीय औसत का लगभग एक तिहाई प्राप्त हुई। जीवन बीमा निगम द्वारा विभिन्न राज्यों में किया गया प्रति व्यक्ति विनियोग भी 'वाणिज्यिक बैंकिंग अभिनति' दर्शाता है। जीवन बीमा निगम द्वारा प्रति व्यक्ति विनियोग में पंजाब, हरियाणा एवं गुजरात उच्चतम स्थान पर हैं जबकि मध्य प्रदेश एवं बिहार निम्नतम पर। ऐसा इसलिए है कि अन्य बैंकिंग अभिकरणों के समान ही यह भी परियोजना की वाणिज्यिक क्षमता सुनिश्चित हो जाने पर ही वित्तीय सहायता प्रदान करता है। साख-जमा अनुपात में स्थानिक विचरण बताता है कि ये संस्थान कम विकसित राज्यों के घरेलू क्षेत्र से बचतों के बड़ी मात्रा में जुटाव में सफल रहे हैं और इन्हें स्वतन्त्र बाजार शक्तियों की प्रक्रिया के रूप में विकसित राज्यों के कुछ केन्द्रों पर व्यपवर्तित किया है।

निर्धन राज्यों में केन्द्रीय सरकार द्वारा बड़े विनियोग एवं योजना आयोग द्वारा उनके पक्ष में अधिक, प्रन्तरण के बाद भी संस्थागत वित्त के प्रतिगामी बंटन के कारण क्षेत्रीय विषमतायें बढ़ी हैं। बैंकिंग संसाधन देश में कुल विकास व्यय का बड़ा अनुपात है। इन संसाधनों के अन्तर राज्य बंटन ने स्थानिक असंतुलनों को बढ़ाया है। इन संसाधनों का एक बड़ा भाग कुछ राज्यों में गया है। और इसका भी अधिकांश केवल कुछ बड़े नगरों में ही रहा है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि सरकारी व्यय से आधारभूत उद्योगों और पिछड़े राज्यों में आर्थिक आधारिक संरचना का विकास हुआ है जबकि संस्थागत वित्त के परिणाम स्वरूप अन्य राज्यों में अन्तर सम्बन्धित उद्योग संभावित हुये हैं। यह ही पिछड़े राज्यों में गुणांक प्रभाव के कारण के लिए उत्तरदायी है। अधिकांश औद्योगिक इकाइयाँ जो स्टील, पैट्रो-रसायन, भारी विद्युत आदि आधारभूत सार्वजनिक उद्यमों की इकाइयों से प्राद्योगिकी दृष्टि से अनर्विलित हैं, उसी क्षेत्र में स्थापित नहीं हुई हैं। इसके विपरीत वे विकसित राज्यों के कुछ बड़े शहरों के आस-पास स्थापित की गई। इसके परिणाम स्वरूप उत्पादन परिसरों की काट-छांट हो गई। निस्सारण, प्राथमिक परिष्करण एवं कम मूल्य वाले उद्योग पिछड़े राज्यों में रहे जबकि अन्तिम परिष्करण क्रियायें, जिनमें जोड़ा गया मूल्य बड़ा अवयव होता है, विकसित राज्यों में चली गयी। इस प्रकार संस्थागत वित्त के संवितरण पर उपयुक्त नियन्त्रण न होना देश के असन्तुलित औद्योगीकरण की प्रक्रिया को सहायता देने वाला मुख्य घटक रहा है।

20.4 औद्योगिक छितराव के लिए नीतियां एवं कार्यक्रम

20.4.1 पांचवें एवं छठे दशक में परिदृश्य एवं तदुपरान्त नीति का स्वरूप

सातवें दशक, तक पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने का कोई विशेष कार्यक्रम नहीं था। पांचवें एवं छठे दशक में इस हेतु अपनाये गये मुख्य नीतिगत उपकरण औद्योगिक लाइसेंसिंग एवं सार्वजनकि क्षेत्र के औद्योगिक उद्यमों का स्थान निर्धारण था।[1] यद्यपि औद्योगिक सम्प्रदायें, लघु उद्योग प्रोत्साहन एवं ग्रामीण उद्योग परियोजनायें आदि कार्यक्रम थे। जो लघु उद्योगों के लिए आधारिक संरचना प्रदान कर उनके अन्तः राज्य छितर्राव के लिए परिकल्पित किये गये थे।

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति जाँच समिति (1969) ने जिसने लाइसेंसिंग पद्धति के संचालन का गहन अध्ययन किया, पिछड़े राज्यों के औद्योगीकरण में लाइसेंसिंग नीति की असफलता के दो मुख्य कारण निर्धारित किये। प्रथम तो उद्योगों की कोई ऐसी सूची नहीं थी जिनके छितराव का प्रयत्न किया जाना था। दूसरा, और अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि पिछड़े राज्यों एवं क्षेत्रों का कोई सुस्पष्ट सीमांकन नही था।

1955 में प्रवर्तित औद्योगिक सम्पदा कार्यक्रम के मूल्यांकन अध्ययन दिखाते हैं कि यह कार्यक्रम भी देश में सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहित करने में बहुत अधिक प्रभावी नहीं रहा। सातवें दशक के मध्य तक भी शहरी सम्पदाओं के 25 प्रतिशत शेड भी कार्यशील नहीं थे। ग्रामीण क्षेत्रों की सम्पदाओं की असफलता की दर इससे काफी अधिक थी। एक औद्योगिक सम्पदा की सफलता इसके स्थान-निर्धारण पर निर्भर करती है-विशेष रूप से बड़े शहरी केन्द्रों से इसकी निकटता पर जो इसके उत्पादनों के लिए बाज़ार उपलब्ध करते हैं। इसलिए, यह कार्यक्रम कुछ बड़े शहरों के आस-पास सीमित औद्योगिक छितराव ला सका।

कुछ औद्योगिक उत्पाद जैसे सीमेन्ट, इस्पात, कोयला आदि जो कई उद्योंगों में आधारभूत आगत के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं, के लिए समान कीमत निर्धारण नीति का विशेष उल्लेख भी आवश्यक है। इस नीति ने संसाधन समूह क्षेत्रों जैसे मध्य-प्रदेश उड़ीसा, बिहार आदि की लाभदायक स्थिति को निष्प्रभावी कर दिया और इन आगतों का उपयोग करने वाले उद्योगों की स्थापना संसाधन आधार से दूर होने का मौका दिया - मुख्यतः उन बड़े शहरी केन्द्रों पर जो उपनिवेशी काल में विद्यमान थे। छठे एवं सातवें दशक में इस नीति का मुख्य लाभ उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र को मिला। इस्पात एवं कोयला उपयोग करने वाले अनेक उद्योग इस क्षेत्र में स्थापित हुये जिसने सार्वजनिक राजकोष की लागत पर इन आगतों का दूर तक ढोना आवश्यक कर दिया।

राष्ट्रीय विकास परिषद की एक समिति में 1968 में हुये विचार-विमर्श के बाद योजना आयोग ने पिछड़े क्षेत्रों की पहिचान करने और उसमें उद्योगों को आकर्षित करने के लिए प्रोत्साहनों की सलाह देने के लिए एक कार्यदल गठित किया। कार्यदल ने, जिसकी अध्यक्षता बी. डी. पाण्डे ने की, मानदण्डों के दो सेट सुझाये — एक औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों की पहिचान के लिए और दूसरा प्रथम मानदण्ड के आधार पर निर्धारित राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों में विकास क्षमता वाले पिछड़े जिलों के निर्धारण हेतु। प्रथम सेट में पंजीकृत कारखानों में श्रमिकों के आधार पर औद्योगीकरण और आय एवं आधारिक - के सूचकों को समाविष्ट करता है। मानदण्ड के दूसरे सेट का उद्देश्य ऐसे कम आय वाले क्षेत्रों का पता लगाना था जहाँ अप्रयुक्त प्राकृतिक साधन हों और श्रम शक्ति का तुलनात्मक रूप से कम प्रतिशत द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्र में लगा हो। औद्योगिक विकास के लिए चुने जाने वाले पिछड़े जिलों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण आधार आधारिक-संरचना की उपलब्धि और अल्पकाल में विकास की सम्भावनायें थी। दल (पाण्डे समिति) इस बारे में सुस्पष्ट था कि चुने हुये जिले बड़े शहरों और विद्यमान बड़ी औद्योगिक परियोजनाओं से दूर हों।[2] यद्यपि व्यवहार में दल की सिफारिशों से विचलन हुआ और राजनैतिक आधारों पर कई रियायतें देकर बड़े क्षेत्र को प्रेरणायें देने के लिए निर्धारित किया गया।

द्वितीय दल (वांचू समिति) द्वारा सुझाई गयी मुख्य प्रेरणाओं में साधारणतया पांच वर्ष के

(1) औद्योगिक नीति प्रस्ताव जो सर्वप्रथम 1948 में घोषित किया गया और 1956 में संशोधित हुआ उसमें उद्योगों के स्थानिक केन्द्रीयकरण को रोकने का एक उद्देश्य था लेकिन इस हेतु सुस्पष्ट तरीके नहीं बताये गये। तब से औद्योगिक नीति का कई बार संशोधन व पुनरकथन किया गया है।

(2) योजना आयोग

लिए विभिन्न करा व शुल्कों में छूट, दूर के स्थानों तक परिवहन के लिए प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता और वित्तीय संस्थानों द्वारा प्राथमिकता से रियायती शर्तों पर पूंजी की व्यवस्था शामिल थी। दल की अन्य सिफारिशें निम्न थीं —

(1) लाइसेंस देने एवं पूंजीगत उपकरण आयात करने में प्राथमिकता।

(2) सूची में प्रतिबद्ध वस्तुओं के उत्पादन हेतु लाइसेंस में रियायतें।

(3) विकसित भूखण्ड एवं निर्मित स्थान की व्याख्या।

(4) मशीनरी एवं उपकरणों की आपूर्ति आदि।

दल ने यह भी प्रस्तावित किया कि बड़े औद्योगिक केन्द्रों पर नई इकाइयों को लाइसेंस नहीं दिये जावें, ऊर्जा आपूर्ति के आवेदन पत्रों को निरस्त किया जावे और विद्यमान इकाइयों के विस्तार पर ऊर्जा एवं पानी की दण्डात्मक दरें वसूल की जावें।(3)

राष्ट्रीय विकास परिषद ने इन सिफारिशों पर विचार किया और इसके साथ-साथ ही निर्णय किया कि —

(1) रियायती वित्त सभी राज्यों के चयनित पिछड़े क्षेत्रों में उपलब्ध कराया जावे।

(2) पिछड़ा क्षेत्र निर्धारण के मानदण्ड योजना आयोग द्वारा संस्थानों एवं राज्य-सरकारों की सलाह से तय किय जावें।

मानदण्डो का अन्तिम स्वरूप जो प्रकट हुआ वह इस प्रकार था। वे ज़िले जो निम्न सूचकों के आधार पर राज्यों के औसत से काफी नीचे आये उन्हें वित्तीय प्रेरणायें प्रदान करने के लिए चयनित किया गया—

(i) प्रति व्यक्ति खाद्यान्न/व्यापारिक फसलों का उत्पादन।

(ii) कृषि कर्मियों से जनसंख्या का अनुपात।

(iii) प्रति व्यक्ति सकल औद्योगिक उत्पादन।

(iv) प्रति लाख जनसंख्या में कारखाना कर्मियों की संख्या या द्वितीयक एवं तृतीयक क्रियाओं में लगे व्यक्ति।

(v) प्रति व्यक्ति विद्युत उपभोग, एवं

(vi) जनसंख्या की तुलना में सतही सड़के य रेलवे मील-दूरी।

20.4.2 पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्रीय सरकार की योजनायें

सातवें दशक से केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहनों के ढांचे और परिमाण में कई परिवर्तन हुए हैं। आठवें दशक में, विशेष रूप से प्रेरणाओं के योग्य क्षेत्रों के पुर्नवर्गीकरण के बाद, परिवर्तन बहुत तेजी से हुए हैं। यहां पर हम उन प्रेरणाओं, रियायतों एवं अन्य लाभों के बारे में विचार करेंगे जो वर्तमान में विभिन्न योजनाओं के अर्न्तगत पहिचाने गये पिछड़े क्षेत्रों की औद्योगिक इकाइयों को उपलब्ध हैं।(4)

1. रियायती वित्त

यह योजना 1971 से प्रचलन में है। इसके अन्तर्गत पिछड़े क्षेत्रों की इकाइयाँ भारतीय

(3) योजना आयोग

(4) इस खण्ड में दिया गया विवरण पिछड़े क्षेत्रो के विकास के लिए राष्ट्रीय आयोग (1980) के औद्योगिक हितराव पर प्रतिवेदन और उद्योग मंत्रालय द्वारा समय-समय पर जारी की गई विज्ञप्तियों एवं प्रेस सूचनाओं पर आधारित है।

औद्योगिक विकास बैंक, भारतीय अद्यौगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक साख एवं निवेश निगम आदि वित्तीय संस्थाओं से सामान्य ब्याज दर से 1 या 2 प्रतिशत कम पर प्राप्त करने के लिए योग्य होती हैं। ये संस्थान इन इकाइयों से कम दर पर अभिगोपन कमीशन लेते हैं, परिशोधन की लम्बी अवधि देते हैं ओर विशिष्ट मामलों में जोखिम पूंजी में भी भाग लेते हैं। इस सुविधा के लिए पांच जिलों की संख्या 1983 में पर्याप्त बढ़ाकर 246 से 299 कर दी गयी थी।

2. केन्द्रीय विनियोग आर्थिक-सहायता

यह योजना भी 1971 से प्रचलन में है। रियायती वित्त के लिए योग्य जिलों में से कुछ जिले केन्द्रीय सरकार द्वारा तत्काल आर्थिक सहायता के लिए चयन किये गये। प्रारम्भ में आर्थिक-सहायता राशि परियोजना की पूंजीगत लागत का 10 प्रतिशत थी, जिसकी अधिकतम सीमा रू. 5 लाख थी। 1973 में आर्थिक-सहायता की राशि 15 प्रतिशत और अधिकतम सीमा रू. 15 लाख तक बढ़ा दी गई। 1981 में उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र एवं सिक्किम के लिए आर्थिक-सहायता दर 20 प्रतिशत और अधिकतम सीमा रू. 20 लाख तक बढ़ा दी गई।

इस योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों में से प्रत्येक में दो ज़िलों एवं शेष राज्यों में से प्रत्येक राज्य से एक जिले को चुना गया। बाद में 1972 में, आर्थिक-सहायता के लिए पाच जिलों की संख्या दुगनी कर दी गई-पिछड़े राज्यों से 4 एवं अन्य राज्यों से 2 जिले शामिल करके।

वर्ष 1983 से योजना को श्रेणी आधार पर लागू किया जा रहा है। सभी अधिसूचित पिछड़े जिलों/क्षेत्रों को A, B, एवं C तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है।

i) श्रेणी 'A' में बिना उद्योग वाले एवं विशेष क्षेत्र हैं।,(5)

ii) श्रेणी 'B' में, श्रेणी 'A' में शामिल जिलों को छोड़कर शेष वे जिले हैं जो अप्रैल 1983 तक केन्द्रीय विनियोग आर्थिक-सहायता के पात्र थे।

iii) श्रेणी 'C' में, श्रेणी 'A' व 'B' को छोड़कर वे शेष जिले हैं जो अप्रैल 1983 तक रियायती वित्त प्राप्त करने के पात्र थे।

आर्थिक-सहायता की दर A, B एवं C श्रेणी के जिलों के लिए क्रमशः 25, 15 एवं 10 प्रतिशत है और कुल आर्थिक-सहायता की अधिकतम सीमा क्रमशः 25 लाख रूपये, 15 लाख रूपये एवं 10 लाख रूपये है।

तीनों ही श्रेणियों के जिले रियायती वित्त एवं केन्द्रीय विनियोग आर्थिक-सहायता के पात्र हैं। इसके साथ ही 1971 में परिवहन आर्थिक-सहायता की योजना प्रवर्तित की गई। इस योजना से पहाड़ी जिलों, मुख्य रूप से उत्तरी-पूर्वी राज्यों में स्थापित औद्योगिक इकाइयों को लाभ मिल सकता है। वे कच्चे माल एवं निर्मित माल की परिवहन लागत के 50 प्रतिशत की प्रतिपूर्ति प्राप्त कर सकती हैं।

बाद में सरकार ने पूंजीगत आर्थिक-सहायता की व्यवस्था को समाप्त कर दिया (परिवहन आर्थिक-सहायता के अतिरिक्त) और सारे देश में फैले हुए 100 विकास केन्द्रों को उच्च स्तरीय आधारित-संरचना एवं सार्वजनिक सुविधायें उपलब्ध कराकर पिछड़े क्षेत्रों के विकास की योजना

(5) जिन जिलों में कोई भी बड़ा या मध्यम पैमाने का उद्योग नहीं है उन्हें बिना उद्योग वाले जिले माना गया है। उत्तरी-पूर्वी राज्यों, हिमाचल प्रदेश, जम्मू एवं काश्मीर, सिक्किम, सिक्किम, अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह के कुछ जिलों, चण्डीगढ़ एवं दिल्ली को छोड़कर शेष सभी केन्द्र शासित प्रदेश और पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग जिले को "विशेष क्षेत्रों" में शामिल किया गया है।

प्रवर्त्तित की। यह आशा की जाती है कि ये सुविधायें निजी उद्योगपतियों को इन केन्द्रों पर आकर्षित करेंगी जिससे इन क्षेत्रों के विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में विनिर्माण इकाइयों की स्थापना की आवश्यकता घट जायेगी।

3. नियमन एवं अन्य दायित्वों से छूट

एकाधिकारी और प्रतिबंधक व्यापार व्यवहार अधिनियम 1969 के अर्न्तगत पंजीकृत कम्पनियाँ केवल कुछ उद्योगों, जिन्हें 'अनुसूची-I के उद्योग' कहा गया है।, में विस्तार की अनुमति हैं। ये साधारणतया वे उद्योग हैं जिनमें प्रचुर विनियोग एवं/या परिष्कृत प्राद्योगिकी की आवश्यकता होती है। कुछ निगर्त बाध्यता के साथ वे इससे बाहर के क्षेत्र में भी विस्तार या प्रवेश कर सकते हैं। इसी प्रकार के प्रतिबन्ध विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम 1973 के अर्न्तगत प्रभावी विदेशी स्वामित्व वाली कम्पनियों पर अनुबद्ध हैं। लेकिन, यदि ये कम्पनियाँ अपनी इकाइयाँ अधिसूचित पिछड़े दोनों क्षेत्रों में स्थापित करती हैं तो उन्हें अपने निर्गत का बड़ा भाग घरेलू बाजार में बेचने की छूट दे दी जाती है। वर्ष 1983 में, निर्यात बाध्यता B एवं C श्रेणी के जिलों में सभी श्रेणी के उत्पाद जो लघु उद्योग क्षेत्र के लिए सुरक्षित नहीं हैं, के लिए इकाई स्थगित होने पर घटाकर 50 प्रतिशत एवं A श्रेणी के जिलों के लिए 30 प्रतिशत कर दी गई। इससे पूर्व सभी स्थानों के लिए निर्यात बाध्यता 60 प्रतिशत थी। दिसम्बर 1985 में, वांछनीय निर्यात प्रतिशत में फिर कमी करके B एवं C श्रेणी के स्थानों के लिए 25 प्रतिशत कर दिया गया और A श्रेणी के स्थानों के लिए यह प्रतिबद्धता बाध्यता पूर्णतया घटा दी गई।

वर्ष 1986 में, एकाधिकारी और प्रतिबन्धक व्यापार व्यवहार अधिनियम (MRTP) एवं विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम (FERA) के अन्तर्गत आने वाली कम्पनियों के सम्बंध में दो मुख्य नीतिगत परिवर्तन किये गये। प्रथम, यदि वे अपनी इकाइयाँ अधिसूचित पिछड़े जिलों में स्थापित करती हैं तो उन्हें कई नये उद्योगों में विनियोग करने की छूट दे दी गई जो उनके लिए पहले प्रतिबन्धित थे। द्वितीय, वे उद्योग जिनमें ये कम्पनियाँ पहले विनियोग कर सकती थी लेकिन इन्हें लाइसेंस लेना पड़ता था, अब पिछड़े क्षेत्रों में इकाइयाँ स्थापित करने पर उन्हें लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं रही।

4. लाइसेंस नीति

सातवें दशक के प्रारम्भ तक, निजी उद्योगपतियों के स्थान निर्धारण निर्णय को प्रभावित करने वाला एक मात्र साधन लाइसेंस नीति थी। जैसा कि खण्ड 20.4.1 में स्पष्ट किया गया है यह बहुत प्रभावी नहीं थी। सातवें दशक के प्रारम्भ में कई प्रोत्साहन योजनायें प्रवर्तित करने के बाद भी, पिछड़े जिलों में बहुत अधिक औद्योगिक इकाइंयाँ आकर्षित नहीं की जा सकी। वर्ष 1977 में, लाइसेंसिंग नीति का उपयोग विद्यमान शहरी औद्योगिक केन्द्रों पर उद्योग के केन्द्रीयकरण को प्रभावी रूप से रोकने के लिए करने का प्रयास किया गया।[6] बड़े शहरों में स्थापित या स्थापना चाहने वाली इकाइयों के लिए लाइसेंस प्रक्रिया में शिथिलीकरण को अप्रयोज्य बना दिया गया। यद्यपि, 1980 से पुनः इन नगरों में विस्तार या स्थापना चाहने वाली इकाइयों के प्रति उदार दृष्टि अपनाई जा रही है। सम्भवतया 1981 में पहली बार, अधिकृत रूप से यह घोषणा की गई कि पिछड़े राज्यों और केन्द्र शाषित प्रदेशों के लिए औद्योगिक लाइसेंस निर्गमित करने को विशेष महत्त्व दिया जायेगा। इसके अनुसरण में 1982 में यह घोषित किया गया कि 'बिना उद्योग वाले जिलों में औद्योगिक परियोजनाओं की स्थापना के आवेदन पत्रों को अभिभावी प्राथमिकता

(6) 1977 में प्रकाशित औद्योगिक नीति वक्तव्य में बड़े नगरों में निवास की परिस्थितियों में तेजी से गिरावट, विशेष रूप से श्रमिक-वर्ग की, के प्रति चिन्ता प्रकट की गई और घोषित किश गया कि इन केन्द्रों पर उद्योग के आगे विस्तार को हतोत्साहित किया जायेगा। इसी से उन बड़े उद्योगों को ज्यों पिछड़े क्षेत्रों में स्थानांतरित होना चाहते हैं, सहायता प्रदान करने का विचार चर्चित हुआ।

दी जायेगी। वर्तमान में औद्योगिक इकाइयों को लाइसेंस देने और उनके डी. जी. टी. डी. जैसे तकनीकी प्राधिकरणों के पास पंजीयन में A श्रेणी के जिलों को अधिकतम, और उनके पश्चात् B व C श्रेणी के जिलों को प्राथमिकता एवं विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अर्न्तगत न आने वाली कम्पनियों को कुछ वस्तुओं के उत्पादन लाइसेंस लेने की अनिवार्यता से 1985 के प्रारम्भ में मुक्त कर दिया गया था, दिसम्बर 1985 में यह मुक्ति एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धक व्यापार व्यवहार अधिनियम एवं विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अर्न्तगत आने वाली उन कम्पनियों को भी प्रदान कर दी गई जो अपनी इकाइयों को पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित करती हैं।

वर्ष 1988 में, 26 उद्योगों को छोड़कर शेष उद्योगों में 15करोड़ रूपये के विनियोग तक लाइसेंसिंग से छूट दे दी गई। पिछड़े जिलों के लिए यह सीमा इससे दुगनी रखी गई। तथापि, मौजूदा शहरी केन्द्रों में उद्योगों के अधिक केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए, यह अनुबद्ध किया गया है कि कोई भी इकाई 25 लाख से अधिक आबादी वाले महानगरों से 50 किलोमीटर, 15 से 25 लाख आबादी वाले नगरों से 30 किलोमीटर और 7.5 लाख से 15 लाख आबादी वाले नगरों से 15 किलोमीटर की सीमा में स्थापित न की जाये। छोटे नगरीय केन्द्रों पर कोई भी इकाई उनकी नगर सीमा में स्थापित न की जाये।

5. विकास केन्द्र अभिगम एवं नाभिक संयंत्र

विकास केन्द्र अभिगम के एक अंग के रूप में 1983 से एक नई श्रेणी की औद्योगिक इकाइयां, जिन्हें नाभिक (केन्द्रक) संयंत्र कहा जाता है, पिछड़े क्षेत्रों में विकसित की जा रही हैं। नाभिक संयंत्रों की सफलता मूलरूप से अनुषंगीकरण सम्भावना पर निर्भर करती है। इन संयन्त्रों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी अनुषंगी इकाईयों को प्राद्योगिकी, डिजाइन, एवं जहाँ सम्भव हो कच्चा माल उपलब्ध करवायेंगे। मूल (नाभिक) संयंत्र का कम से कम आधा उत्पादन संयोजन एवं उप-संयोजन कार्य के हस्तांतरण और विभिन्न अवयवों के उत्पादन द्वारा अनुषंगी इकाइयों द्वारा किया जायेगा। नाभिक संयंत्र में सृजित रोजगार से कम से कम तीन गुना रोजगार उस संयंत्र की अनुबंधी इकाइयों में सृजित होना चाहिए। एकाधिकार एवं प्रतिबन्धक व्यापार व्यवहार अधिनियम एवं विदेशी विनिमय नियमनअधिनियम के अर्न्तगत आने वाली कम्पनियों सहित सभी नाभिक संयंत्रों को अतिरिक्त रियायतें एवं प्रोत्साहन उपलब्ध हैं, जैसे- आवधिक ऋण देने वाले संस्थानों से लिए गये ऋण पर परिवर्तनीयता की शर्त 7 वर्ष तक लागू न करना, बिक्री कर दायित्व से मुक्ति, राज्य कोषों से अतिरिक्त पूंजी विनियोग आर्थिक-सहायता आदि। हाल तक ये कम्पनियां नाभिक संयन्त्र A या B श्रेणी के जिलों में स्थापित करने पर पूंजी आर्थिक-सहायता के लिए भी पात्र थी।

6. अन्य कार्यक्रम

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम लि० ने विनियोग आर्थिक-सहायता की पात्र पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों के लिए लघु पैमाने के उद्यमियों को किराया-क्रय पद्धति पर मशीनरी आपूर्ति की शर्तों एवं प्रतिबन्धों को उदार बनाया है। पिछड़े क्षेत्रों की लघु पैमाने की इकाइयों के लिए कच्चा माल आयात की सीमा 5 लाख रूपये हैं, जबकि अन्यों के लिए 3 लाख रूपये। नियंत्रित सामग्री प्राप्त करने में भी वे प्राथमिकता का व्यवहार प्राप्त करेंगी।

संघीय सरकार ने देश में लघु एवं ग्रामीण उद्योगों में छितरा हुआ औद्योगीकरण लाने के लिए कई अन्य अभिकरणों की स्थापना की है। इन अभिकरणों में लघु उद्योग बोर्ड, खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग, अखिल भारतीय हस्तकला बोर्ड, नारियल-रेशा बोर्ड, केन्द्रीय रेशम बोर्ड आदि सम्मिलित हैं। ये उद्योग औद्योगिक सहकारिताओं सहित केन्द्रीय सरकार द्वारा पोषित अनेक अभिकरणों से रियायती वित्त प्राप्त कर सकते हैं।

1977 के औद्योगिक नीति वक्तव्य की सिफारिशों की अनुपालना में केन्द्रीय सरकार की योजना के अन्तर्गत लगभग सभी जिलों में एक ही छत तले उद्यमियों को संपूर्ण प्रशासनिक ढांचा एवं सहायक सेवायें (साख, कच्चे माल की खरीददारी, प्रशिक्षण, विपणन आदि) उपलब्ध कराने के लिए जिला उद्योग केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इन्होंने मध्यम श्रेणी के कस्बों में लघु पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहित करने और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विविधता लाने में सीमित सफलता प्राप्त की है।

20.4.3 राज्य स्तर पर योजनायें

केन्द्रीय सरकार द्वारा दी गई रियायतों एवं छूटों के अतिरिक्त, विभिन्न राज्य सरकारों ने भी अपने स्वयं के प्रोत्साहन पैकेज अपने राज्य में उद्योगों को आकर्षित करने के लिए विकसित किये हैं। इनमें सम्मिलित हैं — राज्य विनियोग-आर्थिक सहायता, ब्याज मुक्त ऋण, आधारिक संरचना की व्यवस्था, रियायती दरों या दीर्घकालीन लीज़ पर विकसित औद्योगिक भूखण्डों का आबंटन, चुंगी शुल्क से मुक्ति या प्रत्यर्पण वापसी, उनके उत्पाद की प्राथमिकता से खरीद, आदि। पिछड़े क्षेत्रों के विकास हेतु राष्ट्रीय आयोग (NCDBA : 1980) के अनुसार इन सभी प्रोत्साहनों में से ब्याज मुक्त विक्रय-कर, ऋण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ है। उदीयमान उद्योगों के लिए राज्य द्वारा दी गई रियायते भी काफी महत्वपूर्ण मानी गई हैं।

इसके अतिरिक्त, राज्यों के अपने औद्योगिक विकास एवं विनियोग निगम हैं जो औद्योगिक विकास के लिए उत्प्रेरक का कार्य करते हैं। वे औद्योगिक परियोजनाओं को केन्द्रीय सरकार से अनुमोदन प्राप्त करते हैं और प्रवर्तकों को संयुक्त या सहायता-प्राप्त क्षेत्र में शामिल करने का प्रयत्न करते हैं। हाल में, राज्यों के मध्य विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन देकर औद्योगिक इकाइयों को आकर्षित करने में स्पष्ट प्रतियोगिता रही है। पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए राष्ट्रीय आयोग (NCDBA) ने पाया है कि इस प्रकार के प्रोत्साहन देने में 'छीना झपटी' की स्थिति है। कुल औद्योगिक लाइसेंसों एवं केन्द्रीय वित्तीय संस्थानों से वित्त में महाराष्ट्र, गुजरात, एवं तमिलनाडु जैसे विकसित राज्यों के बड़े अंश का कारण आधारिक-संरचना सुविधाओं जैसे सड़क उर्जा आदि एवं अन्य सामाजिक सुख सुविधाओं के अतिरिक्त इन राज्यों के प्रोत्साहन पैकेज का अधिक आकर्षक होना है। योजना आयोग ने नई औद्योगिक नीति पर अपनी नोट में विकसित राज्यों द्वारा प्रोत्साहन योजनाओं के माध्यम से प्रतिभार मुहैया कराने पर चिन्ता प्रकट की है। इसने माना है कि "राज्य सरकारों ने रियायतों एवं घंटो के जो पैकेज पेश किये हैं उन्होंने प्रोत्साहनों की केन्द्रीय योजना के प्रयोजना को विफल कर दिया है।"(7)

20.5 क्षेत्रीय विकास नीति की समीक्षा

यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि हाल के वर्षों में पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए सरकार का निजी क्षेत्र पर भरोसा बढ़ रहा है। प्रारम्भिक योजनाओं में यह सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो के स्थान-निर्धारण द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारण हैं-पिछड़े क्षेत्रों में बड़े सार्वजनकि उद्यमों को स्थापित करने में आने वाल कठिनाइयाँ एवं अलाभ, संचित हानियों की भारी मात्रा एवं क्षेत्र में आनुषंगिक उद्योगों के विकास हेतु निजी विनियोग कर्त्ताओं को आकर्षित करने में असमर्थता है। जैसा कि खण्ड 20.4 में विवेचन किया गया है, हाल के वर्षों में निजी उद्यमियों को अपनी इकाइयाँ पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित करने के लिए प्रेरित करने हेतु अनेक प्रोत्साहन अभिकल्प किये गये हैं। केन्द्रीय विनियोग के पिछड़े से तुलनात्मक रूप से विकसित राज्यों में खिसकने के लिए दीर्घकालीन नीति में यह परिवर्तन उत्तरदायी है। 1980-85

(7) यह नोट 5, 6 एवं 7 जून 1986 के Business Standard (कलकत्ता) में दोहराया गया।

की अवधि में महाराष्ट्र जैसे विकसित राज्य अधिकतम केन्द्रीय विनियोग प्राप्तकर्त्ता के रूप में उभरे, जबकि बिहार एवं मध्य प्रदेश का हिस्सा 19.98 एवं 14.14 प्रतिशत से घटकर क्रमशः 13.24 एवं 12.24 प्रतिशत रह गया।[8] दुर्भाग्यवश यह खेद जनक है कि राज्य सरकार की विनिर्माण इकाइयों के स्थान-निर्धारण के सम्बन्ध में बहुत कम सूचना उपलब्ध है। क्षेत्रीय विकास पर सरकारी विनियोग के प्रभाव की व्यापक जांच करने के लिए राज्य स्वामित्व वाले उद्यमों के स्थानिक ढांचे का अध्ययन करना भी आवश्यक होगा।

दूसरा क्षेत्र जिसमें आनुभविक अनुसंधान की आवश्यकता है वह राज्य औद्योगिक विकास एवं विनियोग निगमों की भूमिका जो कि संयुक्त क्षेत्र के उद्यमों में मुख्य सहभागी हैं। ये निगम अक्सर उद्योगपतियों को लाइसेंस प्राप्त करने एवं सम्बन्धित औपचारिकतायें पूरी करने में सहायता करते हैं। वे निजी प्रवर्तकों की अपेक्षा अंश पूंजी में तुलनात्मक रूप से अधिक भागीदारी रखते हैं अतः स्थान सम्बंधी निर्णय को प्रभावित कर सकते हैं। लेकिन यह खेद जनक है कि अपनी उच्च स्थिति का उपयोग उन्होंने राज्यों में औद्योगिक छितराव को प्रोत्साहित करने में नहीं किया है।

निजी क्षेत्र के अधिकांश बड़े उद्यम बाह्य वित्त पर काफी निर्भर करते हैं। केन्द्रीय विनियोग आर्थिक-सहायता कुल परियोजना लागत का केवल एक छोटा भाग होती है। दूसरी ओर, सर्वाधिक ऋण प्रदाता संस्थान और बैंको से उधार लिये गये कोष उनकी लागत का महत्त्वपूर्ण भाग होते हैं।[9] इसका यह परिणाम निकलता है कि निजी विनियोग कर्त्ताओं को पिछड़े क्षेत्रों में आकर्षित करने में विनियोग आर्थिक-सहायता की अपेक्षा रियायती वित्त की योजना अधिक महत्त्वपूर्ण है। बड़े उद्यमों के स्थान को निर्धारित करने वाला अन्य प्रमुख घटक कर रियायतें हैं।

नियमन करने वाले प्रावधानों से छूट निजी उद्यमियों के स्थान-निर्धारण सम्बन्धी निर्णयों को केवल तभी प्रभावित कर सकती है जब कठोर नियन्त्रण हो अर्थात् नियन्त्रणों को टालने की लागत काफी अधिक हो। विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम एवं एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम को बड़े औद्योगिक घरानों को प्रभावित करने वाले दो कड़े उपाय समझा जाता है। यद्यपि, वर्तमान उदार लाइसेंसिंग पद्धति के अर्न्तगत, बहुत थोड़ी कम्पनियां ही इनसे प्रभावित होती है। विदेशी विनिमय नियमम अधिनियम के अर्न्तगत आने वाली कम्पनियाँ जो मुख्यतः 'कम प्रायिकता' एवं हल्की प्राद्योगिकी वाले उद्योगों में कार्यशील हैं, बहुत कम हैं। गत पिछले वर्षों में उनकी संख्या भी घट गई है, क्योंकि इन इकाइयों में से अधिकांश ने, जो उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में कार्यशील हैं, अपनी विदेशी अंश पूंजी को 40 प्रतिशत या इससे भी कम करके विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के नियंत्रण से मुक्ति प्राप्त कर ली है। इनमें से कई एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत नहीं हैं और साथ ही उनकी सम्पतियां 100 करोड़ रूपये के निर्धारित स्तर से कम हैं। इस प्रकार के उदार वातावरण में, फेरा कम्पनियों को लाइसेंस देने में शिथिलीकरण से पिछड़े क्षेत्रों के औद्योगिकरण में सहायता असम्भव है।

एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम (एम. आर. टी. पी.) के अर्न्तगत पंजीयन को टाला जाना कठिन बनाने के लिए 1984 में पंजीयन के मानदण्ड को मजबूत किया गया, लेकिन बड़े औद्योगिक परिवारों के स्वामित्व वाली कई कम्पनियां इन मानदण्डों से बाहर

(8) प्रतिशत अंश की गणना सार्वजनिक उपक्रम ब्यूरो के 1980-81 एवं 1984-85 के प्रतिवेदनों में दी गई सूचना के आधार पर की गई है। प्रतिशत की गणना करते समय अनआबंटित राशि को कुल में से घटा दिया गया है।

(9) Currency and Finance के अध्ययन में शामिल 441 कम्पनियों द्वारा प्रवर्तित औद्योगिक परियोजनाओं में लागत का 45.8 प्रतिशत सावधि ऋणदानी संस्थानों, बैंक एवं बीमा कम्पनियों का ऋण है। 441 में से नई 409 कम्पनियों में यह प्रतिशत और भी अधिक 54.5 है। इसके विपरीत, केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता एक प्रतिशत से कुछ अधिक बनती है। (Currency & Finance 1984 & 85 Vol. II Statistical Statement में प्रदत्त सूचना पर आधारित)

निकलकर[10] ऐसे उत्पादों के विनिर्माण में लगती हैं जो एम. आर. टी. पी. कम्पनियों के लिए खुले नहीं हैं। इसलिए, लाइसेंसिंग प्रावधानों में शिथिलीकरण या छूट द्वारा एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम के अन्तर्गत आने वाली कम्पनियों को पिछड़े क्षेत्रों की ओर आकर्षित करना असम्भव है।

इस तथ्य से कि वर्ष 1983, 1984 एवं 1985 में 561 संकल्प-पत्रों एवं 122 औद्योगिक लाइसेंस पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना के लिए थे, ऐसा लग सकता है कि एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम के अन्तर्गत आने वाली कम्पनियाँ पिछड़े क्षेत्रों की ओर बढ़ रही हैं।[11] दुर्भाग्यवश, औद्योगिक स्थान-निर्धारण की दृष्टि से सबसे कम आकर्षक, उद्योग विहिन जिलों-में इनमें से कोई बहुत अधिक नहीं गई। 1982 से 1984 की अवधि में उद्योग-विहिन जिलों के लिए निर्गमित 41 औद्योगिक लाइसेंसों में से केवल 3 इन कम्पनियों द्वारा प्राप्त किये गये थे।[12] श्रेणी A व B के जिलों में विनियोग आर्थिक-सहायता में केवल 15 लाख रूपये का अन्तर है, जो कि एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम के अन्तर्गत आनेवाली कम्पनियों के कुल विनियोग का बहुत छोटा भाग है, परिणाम स्वरूप श्रेणी के अनुसार आर्थिक-सहायता की योजना का उनके स्थान-निर्धारण सम्बंधी निर्णयों पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। B अथवा C श्रेणी के स्थान का चयन कर वे रियायती वित्त, अनुकूल लाइसेंसिंग नीति, कर-मुक्ति आदि लाभ लेने के साथ औद्योगिक विकास के लिए तुलनात्मक रूप से अच्छे वातावरण का उपभोग कर सकते हैं। इन इकाइयों में से अनेक बड़े नगरों के निकटवर्ती पिछड़े जिलों में स्थापित की जा रही है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि कई उद्योगपति पिछड़े क्षेत्रों में इसलिए जा रहे हैं कि बड़े नगरों में भूमि उपयोग और पर्यावरण संख्या सम्बंधी प्रतिबन्ध हैं, न कि लाइसेंसिंग में शिथिलीकरण के कारण।

बड़ी कम्पनियों (एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम एवं विदेशी विनियम नियमन अधिनियम के अन्तर्गत आने वाली कम्पनियों सहित) के लिए पिछड़े क्षेत्रों में जाने की अपेक्षा प्रतिबन्धित उद्योगों में प्रवेश एवं विस्तार करने के अनेक वैधानिक रूप से स्वीकार्य, सुविधाजनक, एवं सम्भवतया अधिक लाभदायक तरीके हैं। बहुत सी कम्पनियां दूसरे निर्माताओं/लघु पैमाना क्षेत्र सहित। के उत्पादों का विपणन कर रही हैं और यह विद्यमान नियमों के अन्तर्गत अनुज्ञेय है। बहुधा बड़ी कम्पनियों ने इसका उपयोग अपने लाभ के लिए ऐसे उत्पादों के बाजार में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए किया है, जिनमें उन्हें अन्यथा निर्माता के रूप में प्रवेश या विस्तार नहीं करना चाहिए।

इस बात पर ध्यान देना भी महात्त्वपूर्ण है कि स्वयं लाइसेंस नियमों में भी समय समय पर शिथिलन होता रहा है। नीति में इस प्रकार के परिवर्तन हाल के वर्षों में बारंबार हुये हैं क्योंकि सातवीं योजना में भौतिक नियत्रणों की कठोरता एवं फैलाव को घटाने और वित्तीय नियत्रणों पर अधिक निर्भरता की आवश्यकता को स्वीकार किया गया, जो अवसर तो प्रदान करे किन्तु अकुशलता एवं विलम्ब को प्रश्रय न दे।[13] प्रारम्भिक वर्षों में भी लाइसेंस पद्धति को कार्यान्वित करना कठिन

---

(10) टी. वी. एस. आयंगर हाउस द्वारा किये गये एक अध्ययन में ऐसी कम्पनियों की सूचि दी गई है जो इनके परिवार के सदस्यों द्वारा मद्रास एवं कर्नाटक में प्रारम्भ की गई है। लेकिन इनमें से कई एम. आर. टी. पी. एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत नहीं है। (स्वामिनाथन : 1985). यह बताना भी प्रासंगिक होगा कि रिलायन्स बैंक ऋण मामलों में उद्धृत कम्पनियों में से कोई भी इस अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत नहीं है।

(11) अतारांकित प्रश्न - 2059 का राज्य सभा में 17 मार्च 1986 को दिया गया उत्तर

(12) पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिए 1982 एवं 1984 की अवधि में निर्गमित लाइसेंसों की सूचि अतारांकित प्रश्न - 654 के उत्तर में राज्यसभा में 29 जुलाई को उपलब्ध कराई गई।

(13) योजना आयोग (1985)

था क्योंकि निर्माता क्षमता प्रतिबन्धों का कठोरता से पालन नहीं करते थे और क्षमता सीमा का उल्लंघन करने पर कोई शस्ति भी नहीं थी।

ऊपर वर्णित आर्थिक उदारता के दर्शन का सरकार की विभिन्न नीति निर्धारण निकायों में लोकप्रिय होना और औद्योगिक नीति में बदलाव कई अनुभवाश्रित प्रश्न उठाता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि बड़े सार्वजनकि क्षेत्र संयत्रों की पिछड़े क्षेत्रों में स्थापना तकनीकी कारणों और उत्पादन की अमितव्ययताओं के कारण कठिन हैं तो यह बात निजी क्षेत्र की परियोजनाओं के लिए भी सही होगी। यदि सार्वजनिक उद्यम दूरस्थ क्षेत्रों में अलाभकर है क्योंकि उन्हें आधारिक-संरचना का विकास और अपने कर्मचारियों के लिए सार्वजनिक सुख सुविधाओं की व्यवस्था करनी होती है, तो यह बात निजी कम्पनियों के लिए भी मान्य होगी, जब तक कि हम सुविधाओं के प्रावधानों की दृष्टि से निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों में भेदभाव को अनुज्ञेय एवं प्रोत्साहित न करें। इसलिए पिछड़े क्षेत्रों के विकास का दायित्व निजी औद्योगिक घरानों को सौंपना राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए, कल्याण उद्देश्य के त्याग की लागत पर ही, कम खर्चीली प्रस्थापना हो सकती है। यद्यपि, यह मानना युक्तिसंगत होगा कि निजी कम्पनियाँ पिछड़े क्षेत्रों में तब तक नहीं जायेगी जब तक सरकार औद्योगिक इकाइयों के लिए आवश्यक अधिकांश सुविधायें उपलब्ध नहीं करती। योजना आयोग का हाल ही का एक प्रकाशन स्पष्ट रूप से बताता है कि सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा आधारभूत संरचना और सार्वजनिक सुविधायें उपलब्ध कराने के प्रस्ताव पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है। इस प्रकार औद्योगिक नीति में इस परिवर्तन से सार्वजनिक व्यय में महत्त्वपूर्ण कमी असंभव है।

यह तर्क दिया जा चुका है कि सरकारी आर्थिक-सहायता बड़े औद्योगिक घरानों के स्थान-निर्धारण निर्णय के लिए कोई सुदृढ़ अभिप्रेरणा नहीं है। वित्तीय एवं राजकोषीय प्रेरणाओं द्वारा उन्हें प्रेरित करने के स्थान पर बैधानिक कार्यवाही एवं अधिमानिक लाइसेंस नीति द्वारा उन्हें पिछड़े क्षेत्रों में स्थान चयन के लिए बाध्य करना सम्भव है। इस नीति की औद्योगिक छितराव के प्रभावी उपकरण के रूप में काम में लेने की सम्भावना की कमी भी गवेषणा नहीं की गई। बड़ी कम्पनियों को प्रेरणायें न्यायोचित भी नहीं लगती क्योंकि, साधारणतया उनके पास पिछड़े क्षेत्रों में असुविधाओं की क्षतिपूर्ति करने की प्रबन्धकीय वित्तीय एवं तकनीकी सामर्थ्य है। देश में औद्योगिक घरानों में से बहुत से वर्तमान में पिछड़े क्षेत्रों में आधारिक-संरचना एवं सुविधाओं का निर्माण करके अपनी इकाइयाँ स्थापित करने का सामर्थ्य रखते हैं। वास्तव में वे ऐसा तब ही करेंगे जब वे अनुभव करेंगे कि नियंत्रक तन्त्र एवं अधिकारी-वर्ग से व्यवहार करने का कोई सरल तरीका नहीं है। उन्हें कभी भी अपनी इकाइयां बड़े नगरों या उनके समीपवर्ती क्षेत्रों में स्थापित करने या सरकार पर उनके लिए आधारभूत संरचना विकसित करने के लिए दबाव डालने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। यद्यपि, इस दृष्टिकोण की सफलता के लिए विद्यमान नियन्त्रक-तन्त्र को सुदृढ़ करना और इससे बाहर-बाहर निकलने के रास्तों को ध्यान पूर्वक नियंत्रित करना आवश्यक होगा। कुछ आधारभूत सुविधाओं संस्थागत वित आदि का प्रावधान (मुख्य रूप से मध्यम व लघु उद्योगों के लिए) कठोर नियंत्रण पद्धति व बड़े उद्योगों के विशाल नगरों में या उनके समीप स्थापना पर प्रतिरोध के साथ चल सकता है।

यह तथ्य, भी ध्यान देने योग्य है कि उद्योगीकरणकृत राज्य सदैव अपनी स्वयं की प्रेरक योजनायें प्रवर्तित करके क्षेत्रीय विकास के लिए केन्द्रीय नीतियों जैसे उद्योग-विहिन जिलों को वरियता आदि के कारण सृजित तुलनात्मक प्रतिकूलता का प्रति-सन्तुलन करने का प्रयत्न करते हैं। प्रतियोगिता की स्थिति में स्पष्ट रूप से ही वे अधिक प्रोत्साहन प्रदान करने में पिछड़े राज्यों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ स्थिति में होंगे।

विकसित राज्य यह मांग करते है कि पिछड़े क्षेत्र के निर्धारण हेतु तालुका को आधार लिया

जाय। यह उनके क्षेत्र के अधिक भाग को केन्द्रीय आर्थिक-सहायता और उदार लाइसेंस नीति का पात्र बना देगा।[14] इस मांग को स्वीकार करने से सारा कार्यक्रम ही धीमा पड़ जायेगा क्योंकि अधिक क्षेत्र तरफदारी वाले व्यवहार के पात्र हो जायेंगे, जिससे पिछड़े क्षेत्रों के हितों को हानि पहुचेगी। यहां यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि पाण्डे समिति ने महसूस किया था कि विकसित राज्य अपने राज्य में उद्योगों का छितराव विप्रेरणाओं द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। दल ने यह भी उल्लेख किया है कि वित्तीय रूप से धनी राज्यों को केन्द्रीय सहायता पर निर्भर रहे बिना ही प्रेरणायें एवं रियायतें प्रदान करनी चाहिए। इसके साथ ही उन्हें पिछड़े राज्यों के साथ प्रतियोगिता में नहीं आना चाहिए। इस दृष्टि कोण की पुष्टि में बहुत कुछ कहा जा सकता है क्योंकि इससे केन्द्र को अपने सीमित संसाधन पिछड़े राज्यों में व्यय करने का अवसर मिल जायेगा।

दूसरी ओर, राज्य सरकारों को यह सलाह देना उपयुक्त होगा कि वे विनियोग कर्त्ताओं को फुसलाने में प्रतियोगिता करने के स्थान पर संतुलित क्षेत्रीय विकास के राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में आधारिक संरचना के विकास पर अपने को संकेन्द्रित करें। सरकार कुछ नगरों में उच्च स्तर की आधारिक संरचना का सृजन करके 'केन्द्रीयकरण के छितराव' की नीति की उद्घोषणा करती रही है। पिछड़े क्षेत्रों के विकास हेतु राष्ट्रीय आयोग (NCDBA: 1980) और योजना आयोग द्वारा शहरी विकास के लिए सुदृढ़ दलील दी थी। शहरीकरण पर राष्ट्रीय आयोग (1988) ने भी आर्थिक गति के जनक के रूप में चयनित शहरी केन्द्रों के उन्नयन की सिफारिश की है। इस दृष्टिकोण के आधार पर, उद्योग मंत्रालय ने देश में एक सौ विषम कस्बों में उच्च स्तर की आधारिक संरचना उपलब्ध कराने की योजना अपनायी है। सामाजिक सुख-सुविधायें जैसे विद्यालय, चिकित्सालय, औद्योगिक आवास, क्लब आदि भी आधारिक-संरचना के अंग होंगे जिनको बड़े निजी उद्यमियों को आकर्षित करने के लिए विकसित किया जायेगा। योजना आयोग संरचना विकास के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया है और विस्तृत क्षेत्रों को पूंजीगत आर्थिक-सहायता देने की नीति का परित्याग कर दिया है, जैसा कि पहले उल्लेख लिया गया था।

निधि (कोष) की सहायता के कारण, बड़े निजी उद्यमों को आकर्षित करने के लिए जिस स्तर एवं प्रकार की सुख-सुविधायें अपेक्षित हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से ही बहुत सारे शहरी केन्द्रों पर उपलब्ध नहीं कराया जा सकता। इसलिए चयनित केन्द्रों पर आधारिक-संरचना में विनियोग का लाभ उन थोड़े से उद्योगपतियों को प्राप्त होगा जो वहां स्थित हैं। पिछड़े क्षेत्रों के लघु एवं मध्यम कस्बों के हजारों लघु एवं मध्यम स्तर के उद्यमियों की इन आधारिक सुविधाओं तक पहुंच नहीं होगी। पूंजीगत आर्थिक-सहायता की समाप्ति, जिसे सातवें दशक से अपनाया गया, बड़े औद्योगिक घरानों के विनियोग निर्णय को प्रभावित नहीं करेगी जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है।, लेकिन निश्चित रूप से ही पिछड़े क्षेत्रों में स्थित लघु एवं मध्यम स्तर के उद्यमियों को कई कठिनाइयों में डाल देगी।

इसलिए कुछ केन्द्रों पर आधारिक-संरचना के विकास का नीति के अभिग्रहण द्वारा संतुलित क्षेत्रीय विकास लाना असम्भाव्य है। किसी भी विकास केन्द्र व्यूहरचना की सफलता के लिए द्वितीयक, तृतीयक एवं अन्य निचले स्तर के अधिवासों को सुदृढ़ करने और स्वस्थ ग्रामीण-शहर सम्बन्धों की स्थापना की आवश्यकता होगी। इसके लिए एक ऐसी नीति की आवश्यकता है जो कुछ बड़े शहरों के साथ अनेक लघु एवं मध्यम कस्बों में आधारभूत सुविधायें प्रदान कर सके, जिससे देश के सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की प्रक्रिया को बढ़ावा देने वाले संतुलित सोपानात्मक अधिवास का आविर्भाव हो सके।

---

(14) Financial Express, नवम्बर 15, 1985

20.6 सारांश

स्वतंत्रता के बाद भारत में औद्योगिक विकास की शैली क्षेत्रीय संतुलन एवं विकास के दोहरे उद्देश्यों से प्रेरित रही है। इन उद्देश्यों को बड़े पैमाने पर सार्वजनिक विनियोग और संस्थागत नियंत्रण द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। केन्द्र से योजना आयोग व वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर कोषों के हस्तांतरण का अध्ययन बताता है कि यह हस्तांतरण उत्तर-पूर्व के छोटे राज्यों और कुछ मध्यम व कम आय वाले राज्यों के पक्ष में रहा है। केन्द्रीय सरकार के उद्यमों के स्थान निर्धारण से उन राज्यों को सर्वाधिक लाभ हुआ जो खनिज भण्डार और औद्योगिक संसाधनों में धनी थे। निर्धन राज्यों में केन्द्र सरकार द्वारा भारी विनियोग और योजना आयोग द्वारा उनके पक्ष में अधिक हस्तांतरण के बाद भी संस्थागत वित्त के प्रतिगामी बंटन के कारण क्षेत्रीय विषमतायें बढ़ी हैं। औद्योगिक लाइसेंस नीति भी पिछड़े राज्यों के औद्योगीकरण में असफल रही है। सातवें एवं आठवें दशक में केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहनों के ढांचे एवं परिमाण में कई परिवर्तन किये गये जैसे- पिछड़े जिले। क्षेत्रों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण, श्रेणी के अनुसार रियायती वित्त, आर्थिक सहायता, नियमन एवं अन्य दायित्वों से कुछ लाइसेंसिंग मानदण्डों का शिथिलीकरण, विकास केन्द्र आदि। ये प्रोत्साहन योजनायें भी पिछड़े जिलों में बहुत अधिक औद्योगिक इकाइयों को आकर्षित नहीं कर सकी। आठवें दशक में औद्योगिक लाइसेंस नीति का उपयोग शहरी केन्द्रों पर नये उद्योगों की स्थापना रोकने के लिए किया गया। पिछड़े क्षेत्रों में नाभिक संयन्त्र स्थापित करने की योजना भी परिवर्तित की गई। हाल के वर्षों में निजी उद्यमियों को अपनी इकाइयां पिछड़े क्षेत्रों में नाभिक संयन्त्र स्थापित करने की योजना भी प्रवर्तित की गई। हाल के वर्षों में निजी उद्यमियों को अपनी इकाइयां पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित करने हेतु अनेक प्रोत्साहन अभिकल्प दिये गये हैं। प्रावधानों में शिथिलीकरण करके एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम एवं विदेशी विनिमय नियमन अधिनियमन के अर्न्तगत आने वाली कम्पनियों को पिछड़े क्षेत्रों में आकर्षित करने का कार्यक्रम भी अधिक सफल नहीं रहा है। कुछ केन्द्रों पर आधारित संरचना के विकास द्वारा संतुलित क्षेत्रीय विकास लाना भी असम्भाव्य है। विकसित राज्य भी स्वयं की प्रेरक योजनाओं द्वारा केन्द्रीय नीतियों से सृजित प्रतिकूलता का प्रति-सन्तुलन करने का प्रयत्न करते हैं। बड़े औद्योगिक घरानों को केवल वैधानिक कार्यवाही और अधिमानसिक लाइसेंस नीति द्वारा पिछड़े क्षेत्रों में स्थान चयन के लिए बाध्य किया जा सकता है।

तालिका 20.1

वित्त आयोग की अनुशंसा पर केन्द्र से राज्यों को कोषों का अन्तरण

क्र. सं.	राज्य	द्वितीय वित्त आयोग (1957-58 to 1961-62)	तृतीय वित्त आयोग (1962-63to 1965-66)	चतुर्थ वित्त आयोग (1966-67 to 1970-71)
1.	आन्ध्र प्रदेश.	26.43	33.94	63.08
2.	आसाम	42.17	49.33	122.09
3.	बिहार	22.00	22.09	42.51
4.	गुजरात	18.94	41.28	58.91
5.	हरियाणा	—	—	—
6.	हिमाचल प्रदेश	—	—	—
7.	जम्मू ,वं काश्मीर	71.76	61.08	185.08
8.	कर्नाटक	33.49	34.44	91.93
9.	केरल	24.31	40.49	111.58
10.	मध्यप्रदेश	24.18	26 82	50.05
11.	महाराष्ट्र	30.12	30.22	65.33
12.	मणिपुर	—	—	—
13.	मेघालय	—	—	—
14.	नागालैण्ड	—	18.23	2,164.08
15.	उड़ीसा	28.84	57.67	132.12
16.	पंजाब	51.13	29.05	28.22
17.	राजस्थान	26.47	34.83	64.70
18.	सिक्किम	—	—	—
19.	तमिलनाडु	22.68	27.24	61.36
20.	त्रिपुरा	—	—	—
21.	उत्तर प्रदेश	20.49	20.06	50.38
22.	पश्चिम बंगाल	32.55	26.83	56.52
	भारत	26.74	30.39	65.65

तालिका 20.1 लगातार

क्र. सं.	राज्य	पांचवा वित्त आयोग (1969-70 to 1973-74)	छठा वित्त आयोग (1974-75 to 1978-79)	सातवां वित्त आयोग (1979-80 to .....
1.	आन्ध्र प्रदेश	77.99	102.62	294.94
2.	आसाम	130.81	218.09	281.77
3.	बिहार	72.79	134.98	322.24
4.	गुजरात	63.75	222.96	289.80
5.	हरियाणा	59.29	107.16	245.47
6.	हिमाचल प्रदेश	—	520.65	764.87
7.	जम्मू ,वं काश्मीर	231.42	436.62	625.82
8.	कर्नाटक	67.28	200.99	280.37
9.	केरल	90.61	117.72	293.04
10.	मध्यप्रदेश	65.73	113.39	290.07
11.	महाराष्ट्र	76.10	127.06	200.44
12.	मणिपुर	—	1,007.95	1,211.01
13.	मेघालय	—	743.03	1,003.67
14.	नागालैण्ड	1,562.98	2,180.23	3,041.38
15.	उड़ीसा	114.23	234.40	361.80
16.	पंजाब	65.00	124.09	259.00
17.	राजस्थान	86.02	109.19	207.30
18.	सिक्किम	—	—	1,474.00
19.	तमिलनाडु	72.63	121.11	316.81
20.	त्रिपुरा	—	718.42	940.84
21.	उत्तर प्रदेश	70.20	130.96	814.76
22.	पश्चिम बंगाल	82.32	100.73	347.76
	भारत	82.64	165.32	356.62

तालिका 20.2

केन्द्र द्वारा प्रति व्यक्ति हस्तांतरण

क्र. सं.	राज्य	प्रथम, द्वितीय, एवं तृतीय योजना 1951-66	तीन वार्षिक योजनायें 1966-69	चतुर्थ योजना 1969-74	पांचवी योजना 1974-79
1.	आन्ध्र प्रदेश	110	44	53	152
2.	आसाम	142	72	117	230
3.	बिहार	82	33	79	113
4.	गुजरात	182	26	58	114
5.	हरियाणा	264	58	76	157
6.	हिमाचल प्रदेश	262*	MA	286	613
7.	जम्मू ,वं काश्मीर	262	260	263	902
8.	कर्नाटक	124	45	57	113
9.	केरल	116	52	80	145
10.	मध्यप्रदेश	127	43	83	114
11.	महाराष्ट्र	79	28	47	89
12.	मणिपुर	IV.	—	255	600
13.	मेघालय	121**	72	334	771
14.	नागालैण्ड	244**	388	759	1663
15.	उड़ीसा	173	45	71	169
16.	पंजाब	262	45	72	149
17.	राजस्थान	152	50	112	145
18.	सिक्किम	IN	—	—	2062
19.	तमिलनाडु	100	35	40	122
20.	त्रिपुरा	IN	—	472	360
21.	उत्तर प्रदेश	80	25	70	143
22.	पश्चिम बंगाल	112	32	40	104
	भारत	111	41	88	143

स्रोत : प्रथम चार पंच वर्षीय योजनाओं के समंक- योजना आयोग की अप्रकाशित सामग्री से लिये गये है पांचवी योजना के समंक RBI Bulletin के विभिन्न अंकों से लिए गए है।

इकाई - 21
भारतवर्ष में बहुराष्ट्रीय निगम

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की विशेषतायें

21.3 बहुराष्ट्रीय निगमों में प्रवेश में बाधायें

21.4 व्यवसाय विधि तथा तकनीकी

21.5 अमेरिका की दशा बिगड़न

21.6 पूंजीगत तकनीकी

21.7 कनाडा तथा भारत के अनुभव

21.8 सारांश

21.9 शब्दावली

21.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- जान सकेंगे कि बहुराष्ट्रीय निगम किसे कहते है?
- इनके प्रवेश में क्या बाधाएं आती हैं?
- समझ सकेंगे कि इस सम्बन्ध में भारत के अनुभव कैसे हैं?

21.1 प्रस्तावना

आज हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें तकनीक के विकास ने विभिन्न राष्ट्रों के बीच की दूरी को घटाकर अत्यधिक कम कर दिया है तथा कोई भी राष्ट्र पूर्ण रूप से स्वावलम्बी होने की बात भी नहीं सोच सकता। एक प्रकार से एक राष्ट्र की दूसरे पर निर्भरता बढ़ गई है। आज की सरकारों का कार्य साधारण व्यक्ति के कल्याण में वृद्धि करना है। अतः विकासशील राष्ट्रों की

सरकारें अपने आर्थिक विकास तथा देशवासियों की भलाई के लिये बहुराष्ट्रीय निगमों से तालमेल बनाये हुए हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह एक ऐसी संस्था अथवा निगम है जिसमें एक या एक से अधिक देश का अधिपत्य होता है। परन्तु इसका उत्पादन अथवा सेवायें विभिन्न राष्ट्रों को भेजी जाती हैं, जो मुख्य रूप से विकासशील देश हैं। इसमें लगी हुई सम्पत्ति उन्हीं राष्ट्रों द्वारा लायी जाती है जिनका इन पर आधिपत्य है। इस निगम में कार्य करने वाले लोगों का चयन पूर्णरूपेण योग्यता पर आधारित होता है। भले ही वे उस देश के न हों जहां पर ये निगम कार्य कर रहे हों। इस प्रकार ये बहुराष्ट्रीय निगम राष्ट्रीय फर्म अथवा निगम से भिन्न होते हैं।

21.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की विशेषतायें

बहुराष्ट्रीय निगमों की कुछ प्रमुख विशेषतायें हैं जो इन्हें स्थानीय निगमों या राष्ट्रीय निगमों से अलग करती हैं, वे इस प्रकार से हैं :—

1. यह निगम शोध तथा विज्ञापन पर अधिक व्यय करती है, उन कम्पनियों की तुलना में जिनका कार्य क्षेत्र इतना व्यापक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है। उदाहरण के लिये अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों को लिया जा सकता है।

2. इसी प्रकार यह निगम जिनमें मुख्य रूप से अमेरिकन कम्पनी आती है, अधिक बड़े होते हैं तथा उनकी उत्पादन पद्धति में विभिन्नता अधिक होती है। इनका विशेष जोर निर्यात पर होता है तथा यह अपने कार्यकर्ताओं को अधिक मजदूरी देते हैं।

3. यह निगम मुख्य रूप से अपने दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। हालांकि जापानी बहुराष्ट्रीय निगम जो कि मुख्य रूप से तकनीकी विस्तार पर आधारित हैं, अपने दृष्टिकोण में इतने व्यापक नहीं हैं।

4. यह निगम समस्त बाहर से आने वाली रायल्टी, फीस तथा लाभ के 90% भाग के उत्तरदायी हैं।

5. इन निगमों के द्वारा जो प्रत्यक्ष विनियोग अन्य राष्ट्रों में हो रहा है उसके कारण विभिन्न राष्ट्रों में एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा आ गई है तथा विभिन्न औद्योगिक राष्ट्रों में समानता की प्रवृति भी इसी कारण से आयी है। बहुराष्ट्रीय निगम वर्तमान औद्योगिक राष्ट्रों के विकास का प्रतीक है। वर्तमान समय में यह वाद-विवाद का विषय बन गया है। प्रथम, इनका आकार बहुत बड़ा होता है। द्वितीय, यह निगम जिन व्यापारिक गतिविधियों में निपुण होते हैं उन्हीं पर जोर देते हैं। भले ही यह गतिविधि राष्ट्रीय हित से मेल न खाती हो। तृतीय, इनके नियन्त्रण तथा प्रबन्ध की जो विधि है वह अलग है।

   हालांकि यह नहीं समझना चाहिये कि ये निगम सदैव राष्ट्र के हित में कार्य नहीं करते। इनसे विकासशील राष्ट्रों को कई प्रकार के लाभ भी प्राप्त हुये हैं, मुख्य रूप से तकनीक के क्षेत्र में।

21.3 बहुराष्ट्रीय निगमों में प्रवेश में बाधायें

बहुराष्ट्रीय निगमों को कई प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। प्रथमतः इन निगमों का संगठन अत्यंत विकसित होना चाहिये ताकि यह आने वाली जटिल समस्याओं को सही प्रकार

से संभाल सके। मुख्य रूप से ये क्षेत्र हैं, डिजायन, उत्पादन सम्भव करना, जिसके लिये उत्पादित वस्तु का चयन अति आवश्यक है, और फिर उत्पादित वस्तु को बाजार में सफलता से बेचना। यहां पर यह बात विदित है कि कुछ विकासशील राष्ट्रों में इनका विरोध होता रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने बड़े आकार के कारण इन निगमों को मेहमान देश में अपना सामान बेचने में उस देश के उत्पादकों की अपेक्षा कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। जैसे, तांबा, अल्युमीनियम तथा वाहन उद्योग आदि में देखा गया है। इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादकों के हित में तथा बहुराष्ट्रीय निगमों में विरोध होता रहता है। इसी प्रकार से कुछ अन्य बाधाओं का भी सामना करना पड़ता है, जैसे लाइसेन्स नीति तथा बाजार में पुराने चलने वाले पेटेन्ट या नाम।

बहुराष्ट्रीय निगम प्रायः विभिन्न प्रकार के उत्पादन में व्यवसाय करते हैं इससे उनकी प्रबन्ध सम्बन्धी समस्यायें तो बंट ही जाती हैं साथ ही यह बाजार में उनकी प्रतिस्पर्धा की शक्ति को बढ़ाकर दृढ़ता भी प्रदान करता है। किसी वस्तु की मांग की कमी या धीमेपन को दूसरी वस्तु की मांग बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वह क्षेत्र जिसमें यह निगम कार्य करती है तुलनात्मक रूप से बड़ा होता है जिससे भी इसे लाभ प्राप्त होता है। प्रारम्भ में यह निगम अति सतर्कता से नई दशा के बाजार में प्रवेश करती है। परन्तु जब एक बार इनके पैर इस क्षेत्र में जम जाते हैं तो यह बहुत तेजी से बढ़ते हैं।

21.4 व्यवसाय विधि तथा तकनीकी

बहुराष्ट्रीय निगमों का क्षेत्र जहां तक औद्योगिक विकास का प्रश्न है, वाद-विवादात्मक रहा है। इन निगमों का महत्व तकनीकी उत्थान तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में पर्याप्त माना जाता है, परन्तु इस बारे में कभी-कभी शंका भी व्यक्त की गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि ये निगम नये-नये उत्पादन बाजार में रखने में सफल हुये हैं। जिनमें अधिक मात्रा में धन की आवश्यकता होती है और उत्पादन काल भी अधिक होता है। बहुराष्ट्रीय निगमों की सफलता के कारण कभी-कभी इन निगमों तथा स्थानीय उद्योगों अथवा सरकारों में खींचातानी होने लगती है। कभी-कभी ऐसा सोचा जाता है कि इन निगमों के कारण देश के आर्थिक विकास व तकनीकी के सृजन में बाधा उत्पन्न हो रही है और देश विदेशी तकनीकी तथा पूंजी पर अनावश्यक रूप से निर्भर होता जा रहा है।

बहुराष्ट्रीय उद्योगों को प्रायः स्थानीयकरण सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये समस्यायें तीन प्रकार की हो सकती है। प्रथम, कहां पर उत्पादन प्रबन्धिति का कार्य किया जाये; द्वितीय कहां पर वस्तु निर्माण किया जाये; तथा तृतीय कहां उत्पादित वस्तु को बेचा जाये। बहुराष्ट्रीय निगमों के लिये नये उत्पादन की बिक्री में परीक्षण करना अपने ही देश में अधिक सरल व लाभकारी है दूसरे देशों की तुलना में। वास्तव में शोधकार्यों से ऐसा पता चला है कि वे वस्तुएं अथवा उत्पादन जिनकी स्थानीय खपत अथवा मांग होती है उनके बारे में अन्वेषणात्मक सफलता अधिक सरल है। उदाहरणार्थ : तकनीकी सिद्धान्त अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्त चाहे कहीं भी विकसित हुआ हो, परन्तु जब उसको उत्पादन में बदला जाता है तो स्थानीय स्वीकृति तथा पर्याप्त मांग आवश्यक हो जाती है। ये बात जापान के छोटे-छोटे टेलिविजन व रेडियो सैट के सम्बन्ध में सही उतरती है। जो जापान के सरल रहन-सहन के हिसाब से अधिक उपयुक्त थे।

निम्नलिखित तालिका में विभिन्न देशों में हुये विभिन्न प्रकार की अन्वेषणात्मक सफलतायें दिखाई गयी हैं जो विभिन्न कारकों पर आधारित हैं।

तालिका 21.1

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा अपनाई गई पद्धति

अन्वेषण के उद्देश्य तथा स्वरूप	संयुक्त राष्ट्र अमेरिका		इंग्लैण्ड		द्वीपीय यूरोप		जापान	
	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%
I. अन्वेषण की प्रक्रिया								
1. पदार्थ अथवा सामान की बचत	58	18.8	122	47.8	95	53.7	12	48.0
2. श्रम की बचत	189	61.1	66	25.9	32	18.1	04	15.0
3. पूंजी की बचत	58	18.8	61	23.9	43	24.3	07	28.0
4. विविध बचतें	04	1.3	06	2.4	07	3.9	02	8.0
कुल योग	309	100.0	255	100.0	177	100.0	25	100.0
II. उत्पादन अन्वेषण								
1. पदार्थ अथवा सामान की बचत	117	22.6	127	40.3	100	50.3	20	29.0
2. श्रम की बचत	142	27.5	13	4.1	09	4.5	20	2.9
3. नवीन फलन	106	20.5	50	15.9	33	6.6	12	17.4
4. अन्य	152	29.4	125	39.7	57	28.6	35	50.7
कुल योग	517	100.0	315	100.0	199	100.0	87	100.0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अन्वेषण स्थानीय मांग से प्रभावित होता है। उदाहरण के लिये अमेरिकन अन्वेषण का आधार श्रम की खपत को व्यय करना था, क्योंकि अमेरिका में श्रम अभाव तथा अन्य अधिक थी। इसके विपरीत अन्य क्षेत्रों में अन्वेषण का उद्देश्य सामान की बचत है।

इन कारकों की सफलता में अन्ततः मुख्य बात तकनीकी कुशलता न रहकर उत्पादन लागत तथा उस वस्तु की अमुक बाजार में कितनी मांग है। इस पर निर्भर करती है। सत्यता यह है कि विकासशील राष्ट्र में अधिकतर जनसंख्या की आय कम है और उनमें आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ापन है जिसके कारण प्रायः वे कम लागत का सामान मांगते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रमुख राष्ट्रों को यह बात समझना चाहिये कि सफलता के लिये उनके सहयोगी राष्ट्रों के आर्थिक वातावरण का अध्ययन अति आवश्यक है। समस्त अन्वेषण इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर किये जा रहे हैं। एक सफल उत्पादन को बाजार में रखने के लिये कई प्रकार के परीक्षण करने पड़ते हैं और उनको कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। यदि दो प्रतिस्पर्धात्मक उत्पादनों के बीच में चयन करना है तो इस सम्बन्ध में निर्णय बहुत छानबीन से करना पड़ता है। और इस बात का अध्ययन करना पड़ता है कि उपभोक्ता इनमें से किसका चयन करेंगे तथा किन कारणों से वह अमुक उत्पादन को इस्तेमाल करना चाहेंगे। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमों के उपभोक्ता की मांग से सम्बन्धित शोध कार्य निरन्तर करना पड़ता है। नयी उत्पादन इकाई कहां पर रखी जायेगी। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि जिन देशों में इनकी खपत होगी वहां की व्यापार नीति तथा आयात कर संरचना किस प्रकार की है। हवाई जहाज के निर्माण तथा कपड़ा उद्योगों में ऐसा पाया गया कि बदलती

आवश्यकताओं व मांग के कारण अतिशीघ्र उत्पादन मांग के बाहर हो गया है, और इस कारण बहुराष्ट्रीय निगम यह विचार करने पर विवश हो गये कि यदि कोई नया उत्पादन विचार किया जाये तो वह घरेलू बाजार तथा परिस्थितियों से अलग नहीं होना चाहिये।

21.5 अमेरिका की दशा बिगड़न

उदाहरण स्वरूप द्वितीय विश्व युद्ध से संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका का बाजार पर अधिपत्य बना हुआ है तथा शोध कार्य में भी अमेरिका अत्यधिक आगे है। इस बात का प्रमाण इससे भी मिलता है कि नोबेल पुरस्कार विजेता विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में अधिकतर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के ही हैं; द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रमुख रूप से 1970 के पश्चात संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का उत्पादन तथा उसके निर्यात जापान एवं अन्य यूरोपीय देशों की तुलना में घटे हैं। मुख्य रूप से यह कमी दूरदर्शन, प्लास्टिक सामान, दवाइयां, रेफ्रिजिरेशन सम्बन्धी सामान तथा यांत्रिक उपकरणों के क्षेत्र में आई है। मोटर गाड़ी के उद्योग के क्षेत्र में भी संयुक्त राष्ट्र अपनी बढ़त को बनाये रखने में असफल रहा है। 1970 के बाद एक समय ऐसा आया जबकि जापान तथा अन्य यूरोपीय देशों की सस्ती तथा अधिक उपयोगी गाड़ियों ने अमेरिका के कार उद्योग में मंदी की प्रवृतियां उत्पन्न कर दीं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस समय कार बनाने के उद्योग में जो मंदी आई थी उसका मुख्य कारण अमरीकन उद्यमपतियों की उपभोक्ता की मांग का सही विश्लेषण नहीं करना था। वास्तव में उपभोक्ता के स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है और इसका अध्ययन अति आवश्यक होता है। यदि कोई भी उद्योग इसकी अवहेलना करेगा तो उसे हानि उठानी पड़ेगी। इस सबके बावजूद कुछ अन्य क्षेत्रों में अमेरिकन उद्योग उत्तरोत्तर वृद्धि करता है। जैसे — लोहा इस्पात, अल्युमीनियम, रसायनिक तथा मुख्य रूप से औद्योगिक विद्युत उपकरण तथा कम्प्यूटर उद्योग। इन क्षेत्रों के अलावा लेसर जैसे तथा खान सम्बन्धी उपकरण व अंतरिक्ष उपकरण भी सम्मिलित थे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का इन क्षेत्रों में सफलता का कारण न केवल संयुक्त राष्ट्र के बाजार का बड़ा आकार था वरन् मुख्य रूप से यह बात भी थी कि सरकार ने स्वयं इस कार्यक्रम को बड़े स्तर पर चलाया और सहायता दी। इस सहायता में अनुदान भी सम्मिलित था उसका लगभग 50% सरकारी धन था।

विकसित राष्ट्रों की इस प्रगति की तुलना में जब हम प्रगतिशील राष्ट्रों को देखते हैं तो हम ये पाते हैं कि वहाँ तकनीकी विकास के बारे में इस प्रकार की उत्सुकता नहीं है कुछ प्रगतिशील राष्ट्र तो केवल पाश्चात्य विकसित तकनीक को ज्यों की त्यों अपनाना चाहते हैं तथा अपना रहे हैं। इनमें मुख्य रूप से कुछ रसायनिक मशीन उपकरण तथा विद्युत मोटर सम्मिलित हैं, जबकि कुछ विकसित राष्ट्र तकनीक की अपनी आवश्यकताओं तथा हालात के अनुसार बदलकर अपनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रयास को बीच की तकनीक कहा जा सकता है जो न अत्यधिक पूंजीगत है, न श्रमगत। इस सम्बन्ध में हम ये पाते हैं कि कुछ तकनीक विकास सम्बन्धी प्रमुख सामान्य विशेषतायें इस प्रकार हैं : जैसे, अधिकतर इस प्रकार की तकनीकी खोज विकसित औद्योगिक राष्ट्रों में हुई, परन्तु इसको लागू करते समय आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जाना ही विकासशील राष्ट्रों के हित में है। मैक्सिको, ब्राजील तथा भारतवर्ष में विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रयास हुए हैं वे विकासशील राष्ट्रों के लिये अधिक उपयोगी हैं, जापान तथा यूरोपीय तकनीक की तुलना में।

विकासशील राष्ट्रों में समस्या न केवल कभी-कभी अनुपयुक्त उत्पादन की है वरन् वहां पर एक महान समस्या अत्यधिक उत्पादन की किस्मों की है। जिसके कारण उपभोक्ता को निर्णय लेने या चयन करने में कठिनाई उत्पन्न होती है। अभाग्यवश कई प्रसाधन वस्तुएँ, खाने की वस्तुएँ, सिगरेट आदि का उत्पादन, छोटे-छोटे स्तरों पर विभिन्न प्रकार की किस्मों में किया जा रहा है और विज्ञापनों द्वारा उनको विभिन्न प्रकार से उपभोक्ताओं तक पहुंचाने का प्रयत्न किया जा रहा

है। प्रत्येक वस्तु का विज्ञापन अपनी वस्तु को श्रेष्ठ या सर्वश्रेष्ठ बताता है। निश्चय ही आम आदमी के लिये यह जानना कठिन हो जाता है कि कौन सी वस्तु अधिक उत्तम है।

21.6 पूंजीगत तकनीकी

बहुराष्ट्रीय निगम भी किसी हद तक इस प्रकार की स्थिति के लिये जिम्मेदार है जो न केवल नवीन उत्पादन वरन् नवीन तकनीक को सामने लाती जा रही है।

बहुराष्ट्रीय निगम का उत्पादन बड़े स्तर पर होता है जिसके कारण बड़े स्तर की मितव्ययताऐं प्राप्त होती हैं और उत्पादन लागत घट जाती है। अतः इन कम्पनियों में श्रम लागत उत्तरोत्तर बढ़ रही है और एक प्रकार से पूंजीगत लागत तुलनात्मक रूप से घट रही है। बहुराष्ट्रीय उद्योगों के उत्पादन पर यह रोक लगाई जाती है कि ये अत्यधिक पूंजीगत है और वे उन्हीं उद्योगों में केन्द्रित हैं जो पूंजी अधिक प्रयोग करते हैं जहाँ पर बहुराष्ट्रीय निगमों के सहायक देशों के उद्योग घरेलू उद्योग के साथ कार्य करते हैं अथवा प्रतिस्पर्धा करते हैं वहां पर ऐसा पाया गया है कि ये उद्योग बहुत बड़े आकार के होते हैं जिनके कारण उनकी उत्पादन क्षमता भी अधिक होती है। घरेलू उद्योगों को इनसे प्रतियोगिता में कठिनाई उत्पन्न होती है। इसी कारण आम जनता ये समझती है कि समस्त बहुराष्ट्रीय उद्योग अत्यधिक पूंजीगत उद्योग होते हैं। इस सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि यदि इन उद्योगों को घरेलू बड़े आकार के उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है तो बहुराष्ट्रीय उद्योग ऐसी तकनीक का चयन करते हैं जो अधिक विकसित तथा अधिक पूंजीगत होती है। विकासशील राष्ट्रों में बहुराष्ट्रीय निगम इन परिस्थितियों में अपनी उत्पादन लागत का अनुमान ध्यानपूर्वक करते हैं ताकि वे वहां पर प्रतिस्पर्धा कर सकें, परन्तु जब वे इन्हीं राष्ट्रों में अपने उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय ब्रांड के अन्तर्गत बेचते हैं तो लागत पर इतना ध्यान नहीं देते क्योंकि उस समय उत्पादक विदेशी वस्तु के नाम या धोखे से खरीदता है।

21.7 कनाडा तथा भारत के अनुभव

ये एक वास्तविकता है कि इस प्रकार की बहुत सी तकनीक तथा उत्पादन विकसित राष्ट्रों के लिये उत्पन्न की गई थी वे विकासशील राष्ट्रों में भी बहुत उपयोगी पाई गई। दूसरे वो तकनीकें जिनमें श्रम की बचत होती है, एक प्रकार से पूंजी की भी बचत सम्भव कराती है। श्रम-प्रधान तकनीक में जो पूंजी बचत उसे अन्यत्र लगाकर विकास प्रक्रिया को बढ़ाया जाता है, तथा अधिक रोजगार का सृजन किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहां उत्पादन लागत कुछ अधिक होती है। परन्तु लागत ही विचार में रखी जाये तो पूंजीगत तकनीक का चयन ही करना होगा। वर्तमान समय में कभी-कभी ऐसा देखने में आया है कि भारत केवल बहुराष्ट्रीय तकनीक को चुपचाप सहन कर रहा है और केवल इसीलिये इसका विरोध नहीं कर रहा है कि कहीं पाश्चात्य देश नाराज न हो जायें।

यह देखना रुचिकर होगा कि इस सम्बन्ध में भारत और कनाडा के अनुभव क्या-क्या हैं? सच्चाई तो ये है कि दोनों ही देश एक दूसरे से कुछ न कुछ सीख सकते हैं।

कनाडा मुक्त व्यापार नीति को अपनाये हुऐ है और इस कारण कनाडा में विदेशी तकनीक तथा सामान, मुख्य रूप से अमेरिका का, स्वतंत्र रूप से आ रहा है। इससे कनाडा की अर्थव्यवस्था का कई दिशा में विकास हुआ है, राष्ट्रीय उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है, रोजगार बढ़ा है और साथ ही साथ विदेशी ऋण से कनाडा बचा है तथा कनाडा को अपना भुगतान सन्तुलन ठीक रखने के लिये बड़ी मात्रा में सोना आदि बाहर नहीं देना पड़ा है, परन्तु साथ ही साथ हम में भी देखते हैं कि इस प्रकार कनाड़ा विदेशी तकनीक तथा व्यापार पर अत्यधिक निर्भर हो गया

है और उसकी स्वयं की तकनीक का विकास रुक गया है। इसके विपरीत भारतवर्ष में विदेशी सामान तथा तकनीक पर रोक लगाई जिसके कारण हमें विदेशों से न केवल बड़ी मात्रा में ऋण तथा तकनीक ऋण के रूप में लेनी पड़ी जिससे देश को अत्यधिक नुकसान पहुंचा है।

निश्चय ही बीच का रास्ता दोनों राष्ट्रों के लिये अधिक उत्तम होगा।

भारतवर्ष में जो कठिनाइयां उत्पन्न हुई हैं वो इस प्रकार से हैं :—

1. देश विदेशी ऋण जाल में फंसता जा रहा है।
2. बाहर से ली हुई तकनीक को आधुनिकतम बनाने के लिये विदेशियों पर निर्भरता और अधिक ऋण।
3. हमें विदेशी तकनीक के धारकों पर अधिक निर्भर करना पड़ा है जिन्होंने हमें पर्याप्त मात्रा में सहायता नहीं की।
4. विदेशी वित्तीय संसाधनों पर निर्भरता जिनका मिलता हुआ धन अनार्थिक सार्वजनिक उद्योगों पर खर्च किया गया है। हालांकि इनसे कुछ सामाजिक लाभ उत्पन्न हुए।
5. विदेशी विनियोग उन उद्योगों में लगाया गया जहां पूंजी निर्माण कम हुआ और देश के विकास में बाधा आई।
6. देश में स्वयं की तकनीक पर अपर्याप्त विनियोग, अतः इससे लाभ कम हुआ।
7. आयात तथा आयात-प्रतिस्थापन पर अधिक जोर दिया गया परन्तु अपनी स्वयं की तकनीक के विकास पर उतना ध्यान नहीं दिया गया।

बोध प्रश्न - 1

1. बहुराष्ट्रीय निगम किसे कहते हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट करिये।
2. बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करिये।
3. बहुराष्ट्रीय उद्योगों के प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख करिये।
4. क्या आप के विचार में बहुराष्ट्रीय निगमों से विकासशील राष्ट्र जैसे भारत देश को लाभ पहुंचा है? प्रमुख लाभों को केवल बिन्दुओं में लिखिये।
5. बहुराष्ट्रीय निगमों से विकासशील देशों को क्या-क्या हानि पहुंची है? केवल बिन्दुओं में उत्तर लिखिये।
6. क्या आप के विचार में बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्यविधि पर रोक लगाये जाने की आवश्यकता है? संक्षेप में लिखिये।
7. तकनीकी-हस्तान्तरण तथा बहुराष्ट्रीय निगम पर एक टिप्पणी लिखिये।

21.8 सारांश

इस प्रकार हम ये देखते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के ऊपर एक ऐसा प्रयास है जिसके द्वारा विकसित राष्ट्र तथा विकासशील राष्ट्र एक दूसरे से तालमेल करके उन कम्पनियों का अथवा निगमों को अपने देश में कार्य करने की स्वीकृति देते हैं जो कई राष्ट्रों द्वारा मिला-जुला कर बनाई जाती है। सामान्यतया इनकी तकनीक अधिक उत्तम होती है तथा इनके वित्तीय स्रोत भी अधिक होते हैं। इनकी प्रबन्ध क्षमता व्यापक तथा आधुनिक होती है और इनका क्षेत्र लगभग

NOTES

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास

MAEC-06

विदेशी व्यापार एवं सार्वजनिक वित्त 5

खण्ड परिचय

विदेशी व्यापार एवं सार्वजनिक वित्त

भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास पर इस खण्ड में कुल सात इकाइयाँ हैं

इकाई 22 में भारतवर्ष की समानान्तर अर्थव्यवस्था एवं इसके आकार की चर्चा की गई है। इस इकाई में कालेधन की उत्पत्ति के कारणों एवं इसके निवारण के उपायों की चर्चा की गई है। देश में चल रहा भ्रष्टाचार कालेधन के बढ़ने का प्रमुख कारण है।

इकाई संख्या 23 में विभिन्न योजना अवधियों में भुगतान सन्तुलन की स्थिति की चर्चा की गई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगातार भारत का भुगतान सन्तुलन विपक्ष में रहा है। इसका मुख्य कारण आयातों में वृद्धि के मुकाबले निर्यातों में वृद्धि की गति का धीमा होना है। इस इकाई में भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के उपायों पर भी चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 24 में भारत में निर्यात संवर्द्धन के लिए किए गए प्रयासों की चर्चा की गई है। आयात प्रतिस्थापन साठ के दशक में भारत की प्रमुख नीति रही। भारतीय उद्योगों को संरक्षण देकर विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से उनकी रक्षा कर आयात प्रतिस्थापन्न वस्तुओं का उत्पादन देश में ही किया गया।

वर्तमान समय में सरकार ने भूमण्डलीकरण (Gobalisation) तथा उदारीकरण की नीति अपनाई है। अब देश के उद्योगों को विदेशी चुनौती के लिए तैयार रहने को कहा जा रहा है। भारत विश्वव्यापार संगठन का सदस्य है एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्वबैंक के निर्देशन में आर्थिक सुधारों का दूसरा दौर प्रारम्भ कर चुका है।

इकाई संख्या 25 भारतीय कर व्यवस्था के बारे में है। इसमें महत्वपूर्ण केन्द्रीय व राज्य सरकारों के करों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई में भारत में कराधान की भूमिका तथा कर सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इसके बाद इकाई 26 में समाज के विभिन्न वर्गों पर करापात की चर्चा की गई है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह समझना अत्यन्त जरूरी है कि सुझाए गए करों का करापात किस वर्ग पर पड़ेगा।

इकाई 27 में भारत में सार्वजनिक व्यय की प्रवृतियों की चर्चा की गई है। इस इकाई में विकास एवं गैर विकास व्यय के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

अन्त में इकाई 28 में केन्द्र राज्य वित्त सम्बन्धों की चर्चा की गई है। वर्तमान में दसवां वित्त आयोग केन्द्र व राज्यों के बीच साधनों के हस्तान्तरण पर अपनी रिपोर्ट दे चुका है। राज्य लगातार अधिक साधनों की मांग करते रहे हैं कई बार इस कटुता के चलते केन्द्र व राज्य के सम्बन्ध भी बिगड़ जाते हैं।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. ए. ए. सिद्दीकी (22)
अलीगढ़

प्रो. आर. के. अग्रवाल (23, 24)
जबलपुर

डॉ. एच. एल. भाटिया (25, 26, 27)
नई दिल्ली

सीमा सोरल (28)
कोटा

अनुवाद

डॉ. मोहन सिंहल
जोधपुर

प्रो. मन्सूर अली
रूड़की

श्रीमती कान्ता सोनी
अजमेर

खण्ड-5

विदेशी व्यापार एवं सार्वजनिक वित्त

इकाई 22
भारतवर्ष की समानान्तर अर्थव्यवस्था 7-15

इकाई 23
भारत का भुगतान सन्तुलन 16-31

इकाई 24
निर्यात सम्वर्द्धन और आयात प्रतिस्थापन 32-48

इकाई 25
भारतीय कर व्यवस्था 49-69

इकाई 26
समाज के विभिन्न वर्गों पर करापात 70-86

इकाई 27
भारत में सार्वजनिक व्यय की प्रवृत्तियां 87-99

इकाई 28
भारत में केन्द्र राज्य वित्त सम्बन्ध 100-111

सम्पादक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया

सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष

अर्थशास्त्र विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

पाठ्य सामग्री उत्पादन

निदेशक

पाठ्य सामग्री एवं वितरण

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस सामग्री के किसी भी अंश को कोटा विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015
मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना कटरा इलाहाबाद।

इकाई 22

भारतवर्ष की समानान्तर अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 कालेधन की परिभाषा, स्रोत तथा क्षेत्र

22.2.1 परिभाषा तथा धारणायें

22.2.2 काले धन की उत्पत्ति के स्रोत

22.3 काली आय के अनुमान

22.4 काले धन को रोकने के उपाय

22.5 काले धन में वृद्धि के प्रभाव

22.6 सारांश

22.7 शब्दावली

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

आपने देश के आर्थिक विकास में बहुराष्ट्रीय निगमों के स्थान का अध्ययन किया तथा बाह्य व आन्तिरक ऋणों के अर्थ व्यवस्था पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया है।

इस इकाई में हम भारत वर्ष में चल रही समानान्तर अर्थ व्यवस्था का अध्ययन करेंगे। इसे समझने के बाद आप निम्न बातों को भली प्रकार समझेंगे:

- समानान्तर अर्थव्यवस्था के अर्थ को समझना इसका कारण (काला धन) और किन बातों की वजह से यह उत्पन्न होती है।
- काले धन के स्रोतों तथा उसके मुख्य क्षेत्र जहां यह प्रचलित है को भली भांति समझना
- देश में मौजूद काले धन की मात्रा तथा आकार; तथा
- इसके निवारण के लिए उठाये गये कदम की जानकारी।

इसके अध्ययन द्वारा अनियन्त्रित बढ़ते हुय काले धन की समस्या को भली प्रकार समझ सकेंगे कि किस प्रकार यह भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रही है।

22.1 प्रस्तावना

आपने बहुराष्ट्रीय निगमों का अध्ययन 21वीं इकाई में किया और ये देखा कि इन निगमों के क्षेत्र में आने से हमारी अर्थव्यवस्था तथा आंतरिक उत्पादन पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान इकाई में आप देश में बढ़ते काले धन की समस्या तथा समानान्तर अर्थव्यवस्था के बारे में अध्ययन करेंगे। काले धन की समस्या में सौदों का आदान प्रदान छुपकर किया जाता है ताकि कानून के दायरे से ये सौदे बाहर रहें और इनसे होने वाली आय से सरकार को जो अंश मिलना चाहिए उससे वंचित हो जाती है, इसी को काले धन की समस्या कहते हैं। इसके विपरीत श्वेत धन वो धन होता है जिसका लेन देन खुले रूप से होता है ताकि कानूनी तौर पर जो अंश सरकार को प्राप्त होना है वह वह उसको मिल जाये। काले धन की समस्या के लिए कुछ बातें जिम्मेदार है। काला धन एक निश्चित क्षेत्र में उत्पन्न होता है और उसको चोरी छिपे ही खर्च किया जाता है। काले धन के इस क्षेत्र को समानान्तर अर्थव्यवस्था का नाम दिया जाता है, क्योंकि यह श्वेत धन के साथ साथ चलती है। इसका कुप्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर कितना पड़ता है उसको उसी समय समझा जा सकता है जब हम ये जानें कि देश में काला धन कितनी मात्रा में है। जब काला धन श्वेत धन के साथ साथ चलता है और इसकी मात्रा बढ़ती जाती है तो इससे देश को अत्यधिक हानि होती है और इस प्रकार काले धन को रखने वाले सरकारी निर्णय को भी प्रभावित करने लगते हैं। अतः ऐसे कदम उठाये जाने चाहिये कि जिससे इस प्रकार के प्रभाव को जहां तक संभव हो समाप्त किया जा सके। हमें सह समझना चाहिये कि इस समस्या से देश में वित्तीय स्रोतों की कमी आ जाती है और विकास कार्यों के लिए धनाभाव हो जाता है।

दूसरे इससे समाज के विभिन्न वर्गों में आय विषमता बढ़ने के कारण समाज के विभिन्न वर्गों में संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है, जिसके कारण कुछ असामाजिक तत्व देश के धन के एक बड़े भाग को अनुचित रूप से हथिया कर बैठ जाते हैं।

22.2 काले धन की परिभाषा, स्रोत तथा क्षेत्र

22.2.1 परिभाषा तथा धारणायें : काला धन, काली आय अथवा छिपाई हुई आय का प्रयोग उस आय अथवा धन के लिए किया जाता है जिसको कानून की नजर से बचाकर रखा जाता है। इसको चुरा छिपा कर रखा जाता है तथा इस पर कर नहीं दिया जाता। अतः इसका विकास तेजी से होता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि इस प्रकार श्वेत अर्थव्यवस्था के साथ-साथ समानान्तर अर्थव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

काले धन का उदय द्वितीय युद्ध काल में हुआ जबकि बाजार में वस्तुओं की कमी हो गई थी और व्यापारियों ने वस्तुओं को अधिक दाम पर बेचने के लिए उसका संग्रह करना करना शुरू कर दिया। इससे वस्तु आम आदमी को प्राप्त नहीं होती थी पर वही वस्तु अत्यधिक दाम पर चोरी छिपे धनी वर्ग को बेची जाती थी। इस प्रकार से प्राप्त आय को व्यापारियों ने चोरी छिपे रखना शुरू कर दिया ताकि वे कानून की नजर से दूर रहें और उस पर किसी प्रकार के कर के भुगतान से बचा जा सके।

22.2.2 कालेधन की उत्पत्ति के स्रोत : काला धन तीन प्रकार से उत्पन्न होता है।

1. कर वंचन
2. कर न देना
3. श्वेत धन का चोरी-छिपे इस्तेमाल।

इन तीनों ही से कर योग्य आय को छिपाया जाता है और सरकार को कर से वंचित रखा जाता है। धन सरकार को न मिलकर गलत तरीके के व्यापारियों के हाथ में जाता है, जो उसका अनुचित प्रयोग करते हैं तथा सरकार पर गलत असर डाल सकते हैं। इस प्रकार का लाभ कभी-साथ

बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी भी ले भागते हैं। अर्थात वे सरकारी संगठनों अथवा उद्योगों के धन को चुरा-छिपाकर अपने कब्जे में कर लेते हैं।

1. कर वंचन : कर वंचन का अर्थ यह है कि इसके द्वारा कर देने वाला खातों में हेर-फेर करके कर कम देता है या कर देने से बच जाता है। कर वंचन के अनेक तरीके हो सकते हैं, जैसे बही खाते में हेर-फेर करना अथवा कई प्रकार के बही खाते रखना अथवा कृत्रिम नाम से खाते खोलना जिसे बेनामी खाता कहते हैं। इसी प्रकार ठेके अथवा व्यापार कृत्रिम नाम से करना, व्यापारिक लेन-देन को खाते में न दिखाना, सम्पत्ति का कम मूल्य आंकना तथा विदेशी विनिमय के साथ हेर-फेर करना। इस प्रकार व्यापारी तथा काले धन का धंधा करने वाले समाज तथा सरकार को धोखा देते हैं। कभी-साथ तो वे कई खाते विभिन्न बैंको में खोलते हैं ताकि आयकर अधिकारी को उसकी सही आय का पता न लग सके। हमारी बैंकिंग पद्धति कुछ इस प्रकार है, कि हम खाता खोलने वालों के बारे में पूरी जानकारी नहीं प्राप्त करते। विभिन्न बैंकों में प्रतिस्पर्धा के कारण भी ऐसा होता है कि किसी पार्टी के बारे में संदेह होने पर भी बैंक चुप्पी साध लेते हैं अथवा पार्टी इतनी प्रभाव शाली होती है कि वह उसके बारे में कुछ पूछ ताछ या तो करता नहीं और यदि करता भी है तो उसे सही बात का पता नहीं चलता। कभी-2 ठेके विभिन्न नामों से लेकर ठेकेदार आयकर बचा जाता है। इसी प्रकार सम्पत्ति का मूल्य कम दिखाकर आयकर अधिकारियों को धोखा दिया जाता है। कभी-साथ जमीन तथा मकान की बिक्री का एक ही भाग श्वेत धन के रूप में दिखाया जाता है और शेष चोरी छिपे दे दिया जाता है। उपर्युक्त केवल कुछ उदाहरण ही कर वंचन के हैं।

2. कर न देना : इसका अर्थ ये है कि व्यापारी तथा सरकारी कर्मचारी कानून के अन्तर्गत अपनी आय को इस प्रकार दिखाता है कि उस पर या तो बहुत थोड़ा कर पड़ता है अथवा कर से वो पूरी तरह मुक्त हो जाता है। यहां पर व्यापारी आयकर कानून की कमियों से फायदा उठाता है अतः उसे प्रायः गैर कानूनी या अनैतिक नहीं समझा जाता। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार से हैं, जैसे धार्मिक ट्रस्ट खोलना, पति-पत्नि की आय को एक साथ न दिखाना। उपहार कर, मृत्यु कर इत्यादि से बचना। वैसे तो समाज में गरीबों के लिए, यतीमों के लिए, असहाय औरतों तथा बच्चों के लिए या धर्म कर्म के लिए धन व्यय करना, बहुत अच्छा माना गया है परन्तु अभाग्यवश आजकल इस प्रकार की संस्थायें चलाने के पीछे समाज सेवा का उद्देश्य उतना नहीं है जितना कि सरकार तथा समाज को धोखा देना। समाज के ठेकेदार तथा धर्मात्मा इसका प्रयोग कर से बचने के लिए कर रहे हैं। कभी-कभी कर से बचने के लिए निजि कम्पनियां बनाई जाती हैं जिससे बीबी-बच्चे तथा दूसरे परिवार के लोग सदस्य या अंश धारक बना दिये जाते हैं। इस प्रकार के बहुत से कार्य करके व्यक्ति कर से बच जाता है।

3. श्वेत धन का चोरी छिपे प्रयोग : यहां पर हम ये देखेंगे कि किस प्रकार से जब बड़े-बड़े ठेके दिये जाते हैं तो उसमें अत्यधिक भ्रष्टाचार छिपा रहता है जैसे ठेका सही दाम पर न देना, अत्यधिक कमीशन अथवा लेना। अतः श्वेत धन का प्रयोग सरकारी अधिकारियों को देकर ठेकेदार ठेके अथवा खाते के मूल्य बढ़ा देता हैं इससे सरकार को नुकसान होता है और सरकारी अधिकारी तथा ठेकेदार को लाभ होता है। हम सब जानते है कि ये पद्धति अत्यधिक प्रचलित है पर इसको रोकने के लिए कोई विशेष-प्रयास नहीं किया जा रहा है। इसी में सामान की तस्करी तथा सामान का संग्रह व चोर बाजारी भी सामिल हैं। निम्नलिखित कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनके द्वारा काले धन का जन्म होता है।

(i) मूल्यवान धातुओं तथा विलासिता की वस्तुओं की तस्करी,

(ii) आम उपभोग की वस्तुओं का संग्रह,

(iii) सट्टा मुनाफ़ाखोरी तथा काला बाजार पद्धति,

(iv) रिश्वत तथा कमीशन के द्वारा,

(v) शहरी क्षेत्रों में चल तथा अचल सम्पत्ति में विनियोग,

(vi) बेनामी खाते तथा बेनामी व्यापार,

(vii) धार्मिक तथा सामाजिक सेवा ट्रस्ट,

(viii) धनी वर्ग का विलासितापूर्ण रहन सहन।

बोध प्रश्न - 1

(1) समानान्तर अर्थव्यवस्था का अर्थ बतायें? भारत वर्ष के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में इसका महत्व क्यों अत्यधिक है?

(2) काले धन के प्रमुख स्रोतों का उल्लेख कीजिये? उन क्षेत्रों को भी बताइयें जहां काला धन प्रचलित है?

22.3 काले धन का अनुमान

भारत वर्ष में कितना काला धन है इसका केवल एक ही अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि इसकी सही मात्रा को जानना सरल नहीं। काले धन का लेन-देन चोरी छिपे होता है अतः इसे सही तरीके से आंकना संभव नहीं। काले धन को सफेद में परिवर्तित किया जाता है और सफेद को फिर काले में परिवर्तित कर लिया जाता है। कभी-कभी तो केवल वस्तु विनिमय से ही लेन-देन हो जाता है। ऐसा इसलिये सम्भव है कि अर्थव्यवस्था में कुछ ऐसे क्षेत्र है जिनका पूरी तरह से मौद्रीकरण नहीं है और न कच्चे माल के उत्पादन से अन्तिम उत्पादन तक की विभिन्न अवस्थाओं को समन्वित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हमें मुख्य रूप से ये समझना है कि काले धन का प्रभाव अर्थव्यवस्था पर किस प्रकार से पड़ता है? भारत में जहां प्रायः आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो जाता है वहां इसके महत्व को आसानी से समझा जा सकता है।

1. **मैलकौम अधिशिसय्या का अनुमान :** इनके अनुसार कुल राष्ट्रीय उत्पादन वर्तमान मूल्य पर यदि लिया जाये तो इसका लगभग 40% काले धन के रूप में है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के एक सर्वेक्षण के अनुसार काला धन वर्तमान मूल्य पर राष्ट्रीय उत्पादन का 50% है।

निम्नलिखित तालिका में काले धन का अनुमान दिया गया है :

तालिका 22.1 : वर्ष 1981-82 से 1985-86 के बीच पाँच वर्षों का काले धन का अनुमान

(रू.करोड़ों में)

वर्ष	कुल राष्ट्रीय उत्पादन वर्तमान मूल्य साधन लागत पर	%वृद्धि पिछला वर्ष	काला धन अशिसिय्या 40%(GNP) (रू. करोड़ों में)	%वृद्धि पिछला वर्ष 50%(GNP)	IMF अनुमान	%वृद्धि पिछला वर्ष
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
1981-82	103763	-	41505	-	51882	-
1982-83	145280	40	58112	40	72640	40

1983-84	171713	7	68685	18	85857	18
1984-85	189417	10	75767	10	94709	10
1985-86	213553	13	85421	13	106777	13
योग	823726	70	329491	81	411865	81

उपर्युक्त तालिका से निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

1. 1981-82 के कई वर्षों में कुल राष्ट्रीय उत्पादन की सकल वृद्धि दर 70% है। परन्तु इसी काल में काले धन की सकल वृद्धि दर दौनो ही अनुमान में 81% हैं।
2. इसका अर्थ ये है कि काले धन की वृद्धि की दर कुल राष्ट्रीय आय की वृद्धि से अधिक है। जिसको रोकना आवश्यक है।

काले धन के कुछ अन्य अनुमान :- काले धन के प्रमुख स्रोत कर वंचन हैं। अतः इसके आंकड़ों से भी काले धन की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि इस सम्बंध में विभिन्न अनुमानों में पर्याप्त अन्तर है।

कोल्डर के अनुसार कर वंचन की मात्रा 1956-57 में लगभग 200-300 करोड़ थी।

वांचू कमैटो के अनुसार (1971 रिपोर्ट) 1961-62 में इसकी मात्रा 700 करोड़ थी, 1965-66 में 1000 करोड़ तथा 1968-69 में 1400 करोड़ थी।

डॉ. रगनेकर के अनुसार, 1961-62 में इसकी मात्रा 1150 करोड़, 1965-66 में 2350 करोड़, 1968-69 में 2833 करोड़ और 1969-70 में 3080 करोड़ थी।

सूरज बी. गुप्ता के अनुमान के अनुसार वर्ष 1987-88 में काली मुद्रा की मात्रा 1,49,297 करोड रुपये थी जो GNP का 50.7 प्रतिशत थी वित्त पर संसदीय स्टेन्डिग कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1994-95 में चालू मूल्यों पर काली मुद्रा की मात्रा 11,00,000 करोड़ थी जबकि इस वर्ष GNP 843294 करोड थी। इस प्रकार काली मुद्रा GNP का 130 प्रतिशत थी अर्थात GNP से भी अधिक हमारे देश में काली मुद्रा प्रचलित थीं।

उपर्युक्त अनुमानों से यह विदित है कि देश में काले धन की समस्या अत्यंत विकराल है।

22.4 काले धन को रोकने के उपाय

काले धन को रोकने की दो विधियाँ हैं

(1) प्रथम विधि अनुसार काले धन रखने वाले लोगों को प्रोत्साहन देकर काले धन को बाहर निकालना। इसे नरम पद्धति भी कहा जा सकता है।

(2) दूसरी पद्धति के अनुसार कानून के द्वारा सख्ती करके काले धन को बाहर निकालना इसे दृढ़ पद्धति भी कहा जा सकता है।

नरम पद्धति : इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार से हैं—

(i) स्वेच्छा से काले धन को बताने की योजना,

(ii) धारक बॉडस द्वारा काले धन को बाहर निकालना,

(iii) काले धन को सही दिशा में प्रयोग के लिये प्रोत्साहित करना,

(iv) समझौते से काले धन को बाहर निकालना।

स्वेच्छा से काले धन की मात्रा को बताने की योजना काफी उत्साह वर्धक सिद्ध हुई है क्योंकि इसमें यह नहीं पूछा जाता कि व्यक्ति काला धन कहां से लाया है, अभाग्यवश इसमें अन्त में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। ऐसा ही धारक बॉड योजना में है। इसमें भी कोई खास सफलता नहीं मिली। इसके असफल होने के मुख्य कारण ये हो सकते हैं कि पहले तो इसमें ब्याज की दर बहुत कम है। दूसरे लोगों को डर था कि इस प्रकार उन्हें अन्ततः कर के जाल में फंसा लिया जायेगा। इसी प्रकार काले धन को अन्य सामाजिक रूप से लाभदायक स्रोत जैसे सड़क तथा पुल बनाना आदि की योजना भी असफल हो गई क्योंकि इसमें लाभ कम और जोखिम अधिक था, समझौता योजना भी सफल न हो सकी क्योंकि बड़े-बड़े कर दाता अन्ततः कर के जाल में नहीं आना चाहते।

दृढ़ उपाय : इस प्रकार के उपाय मुख्य रूप से काल्डर ने सुझाये थे जैसे, एक न्यूनतम आय के ऊपर वाले कर दाताओं के खातों की अनिवार्य जांच करना।

प्रत्येक कर दाता के लिए स्थायी खाता संख्या देना, कर अधिकारियों की शक्ति को बढ़ाना तथा बही खातों के निरीक्षण में अथवा उनके जब्त करने में पूर्ण छूट देना तथा उन व्यक्तियों पर जो दोषी पाये जायें जुर्माना लगाना और उनका नाम जनता में प्रचार करके अन्य लोगों को डराना इत्यादि।

इसी प्रकार की सिफारिश बांचू कमैटी ने की थी। इन दौनों के ही अनुसार एक निश्चित आय के ऊपर वाले करदाताओं के खातों का अनिवार्य रूप से निरीक्षण किया जाना चाहिये। अथवा ये निरीक्षण तथा आडिट चार्टड एकाउन्टेन्ट के द्वारा किया जाना चाहिये इस सम्बंध में न्यूनतम आय की सीमा एक लाख से पांच लाख तक सुझाई गई थी।

इस प्रकार के प्रयास किये गये थे कि जो चार्टड एकाउन्टेन्ट इस कार्य में मदद करेगें उन पर बड़े-बड़े करदाताओं का प्रभाव न पड़े और इसी लिये सरकार ने उनको दिये जाने वाले पारिश्रमिक का एक भाग स्वयं वहन करने की घोषणा की। काल्डार का ये विचार था कि भारी जुर्माने और जनता में बदनामी का असर करदाताओं पर अत्यधिक पड़ेगा। और कर की चोरी करने वाले कर देने को तैयार हो जायेंगे। परन्तु इसके लिए कर अधिकारियों की पर्याप्त संख्या होनी चाहिये। उनमें कर की चोरी करने वालों पर छापा मारने की क्षमता तथा हिम्मत होनी चाहिये। साथ ही साथ उनमें एक सीमा तक ईमानदारी भी होनी चाहिये, इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि इस कार्य को ईमानदारी से किया जाये तो पर्याप्त काला धन बाहर लाया जा सकता है और समस्या का समाधान किया जा सकता है। परन्तु जैसा की हम जानते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में जहां कर अधिकारियों की कार्य-क्षमता तथा ईमानदारी का स्तर नीचा है वहां पूर्ण सफलता मिलने में कठिनाई होती है। अभाग्यवश राजनीतिज्ञ भी इसके भागी हो जाते हैं और इस प्रकार वे भी इस योजना के असफल होने के जिम्मेदार हैं। शायद लोक आयुक्त की नियुक्ति से तथा हर सरकारी अधिकारी की आय व सम्पत्ति का ब्यौरा लेकर इस क्षेत्र में कुछ किया जा सकता है।

बोध प्रश्न - 2

नोट : अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलायें।

(1) काले धन के अनुमान किन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं?

(2) आपके विचार में कर वंचन रोकने का कौन सा तरीका सर्वोत्तम है?

22.5 काले धन की वृद्धि के प्रभाव

काले धन से होने वाले वित्तीय प्रभाव : ये होते है कि विभिन्न राज्यों या सरकार की आय घट जाती है और इनके विकास कार्यों के लिए धनाभाव हो जाता है। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र जिसका महत्व अत्यधिक है उसके लिए भी धनाभाव हो जाता है। इस प्रकार देश महत्वपूर्ण सेवा योजनाओं को पूरा नहीं कर पाता अथवा कुछ आवश्यक पूंजीगत वस्तुयें प्राप्त नहीं करता। इसका कुप्रभाव आधुनिक तकनीक पर भी पड़ता है। एक प्रकार से हम इसी कारण दूसरे देशों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेने के लिए बाध्य हो जाते हैं ताकि आवश्यक विनियोगों के लिए धन की कमी को पूरा किया जा सके। अभाग्यवाश हमारे निर्यात इतने नहीं हैं कि हम विदेशी ऋण के भार को आसानी से वहन कर सकें। अतः विदेशी ऋण का भार हमारी अर्थव्यवस्था पर दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। और *ऋण जाल* की समस्या उत्पन्न हो गई है। इस कमी को पूरा करने के लिए आधुनिक तकनीक के आयात के लिए छूट देनी पड़ी। इसका भी प्रभाव देश में बहुत अच्छा नहीं पड़ा। और इस सम्बंध में काफी वाद-विवाद उत्पन्न हो गया कि बाहरी तकनीक को हम किस हद तक बढ़ावा दें। एक और प्रभाव इसका ये हुआ कि हमारे सार्वजनिक उद्योगों की लागत बढ़ गई है और हमारी प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति घट गई है।

कर चोरी के कारण सरकार को आंतरिक प्रशासन के लिए भी धनाभाव हो जाता है जिसके कारण सरकार को आंतरिक ऋण लेना पड़ता है। और इस प्रकार इससे उत्पन्न होने वाली कई प्रकार की बुराइयों को झेलना पड़ता है जैसे जब इस धन का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है तो देश में मुद्रा स्फीति की दर बढ़ने लगती है। यदि एक प्रकार से देखा जाये तो मुद्रा स्फीति का एक प्रमुख कारण काला धन है।

नियोजन की प्राथमिकता पर प्रभाव : हमारे नियोजन का प्रमुख उद्देश्य आय विषमता को दूर करके गरीबी तथा बेकारी की समस्या को सुलझाना है। इसके लिये सरकार को पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है ताकि आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किय जाये और नये-नये रोजगार के स्रोत खोले जायें। परन्तु जब देश में धन का एक बड़ा भाग चोरी छिपे कुछ लोगों के हाथ में है जो उसे अपनी व्यक्तिगत विलासिता पर व्यय करते हैं तो निश्चिय ही राष्ट्र के पास अपनी उपर्युक्त योजनाओं के लिए धनाभाव हो जाता है। काले धन से धनाभाव बढ़ता है तथा मुद्रा स्फीति भी। कुछ लोग बड़े-2 बंगलों में विलासिता की जिंदगी बुजारते हैं जबकि करोड़ों लोग आवश्यक आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाते।

राजनैतिक ढांचे में भ्रष्टाचार : काले धन के कारण देश के राजनैतिक ढांचे में भी भ्रष्टाचार उत्पन्न हो जाता है क्योकि ये बड़े-2 धनवान राजनीतिक को तो खरीद लेते हैं या उन पर अत्यधिक प्रभाव बना लेते है। अभाग्यवश हमारे राजनीनिक अपने ईमानदारी के स्तर को एक निश्चत स्तर तक बनाये रखने में असफल रहे हैं। यही नहीं ऐसा भी देखा गया है कि कभी-2 तो कानून के रखवालों को भी इनके सामने झुकना पड़ता है। पैसे में बड़ी शक्ति है और ये लोग इसे समझते हैं कि इससे किसी को भी अपने वश में किया जा सकता है और इन उद्देश्यों में ये लोग किसी हद तक सफल भी हुये हैं।

इस प्रकार काले धन के प्रभाव अत्यंत विनाशकारी हैं।

बोध प्रश्न - 3

नोट : अपने उत्तरों का मिलान अंत में दिये गये उत्तरों से करिये–

1. काले धन का राज्य के आर्थिक स्रोतों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

2. योजना की प्राथमिकताओं में काला धन किस प्रकार बाधक है?

3. काला धन देश में आय विषमताओं को बढ़ाता है ऐसा कहा जाता है। काला धन इसे किस प्रकार बढाता है?

22.6 सारांश

समानान्तर अर्थव्यवस्था उस क्षेत्र का नाम है। जिसमें गैर कानूनी ढंरीके से कमाया हुआ काला धन आता है। इसका मुख्य स्रोत कर वंचन तथा कर देने को बचाना है। काले धन के कारण सरकार के निर्णय को प्रभावित किया जा सकता है। काले धन का अनुमान सरल नहीं है परन्तु विभिन्न अनुमानों के अनुसार कुल राष्ट्रीय आय का 40% से 50% है। काले धन से बचने के मुख्य उपाय दो हैं— प्रथम, कर की चोरी करने वालों को प्रोत्साहन देकर काले धन का बाहर लाना, द्वितीय, ऐसे व्यक्तियों को कड़ी सजा देना और दृढ़ तरीकों से कर की रोकने के उपाय करना जैसे, खातों की अनिवार्य जांच इत्यादि। कर की चोरी से राज्य के लाभ तथा आय कम हो जाती है और राज्य द्वारा किये जाने वाले विनियोग घट जाते हैं। इस प्रकार राज्य की कुछ महत्वपूर्ण आर्थिक योजनायें अधूरी रह जाती हैं।

22.7 शब्दावली

बहु अथवा विभिन्न खाते : किसी विनियोग पर अर्जित की गई कुल या वास्तविक आय को छिपाने के लिए एक से ज्यादा खाते रखना।

विदेशी विनिमय : विदेशी मुद्रा जिससे विदेशी उत्पादकों की वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं। इसे निर्यात द्वारा कमाया जाता है।

आय को मिला देना : दो या दो से अधिक व्यक्तियों की आय को मिलाना।

चोरी छिपे लेन-देन : गलत तरीकों से लेन-देन करना।

सीधा समन्वय : इसके अन्तर्गत उत्पत्ति प्रक्रिया में कच्चे माल लेकर उत्पादन की अंतिम अवस्था तक हर कड़ी को एक साथ जोडकर अध्ययन किया जाता है।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद : कुल उत्पादन जो बिना घिसावट को निकाले मुद्रा में गिना जाता है।

समझौता कार्यप्रणाली : एक ऐसी प्रणाली जिसमें कर दाता को यह अधिकार होता है कि वे अपने कर से सम्बन्धित झगड़े को किस प्रकार तय करें।

प्राथमिक सूचना : जिनका आधार प्रथम प्राप्त सूचना सामग्री से होता है।

सीमांत ब्याज की दर : किसी समय पर दिया गया ब्याज जो फंड की मांग और पूर्ति पर निर्भर होता है।

अतिरिक्त उत्पादन शक्ति : वह उत्पादन शक्ति जो उस उत्पादन शक्ति से ज्यादा होती है जो वास्तव में उत्पादन में प्रयोग की जाती है।

मुद्रा स्फीतिक स्थिति : ऐसा समय जब मूल्य बढ़ रहे होते हैं।

योजना की प्राथमिकतायें : पंचवर्षीय योजनायें जो कार्य को एक क्रम में करने के लिये बनाई जाती है। उदाहरण के लिये सातवीं पंचवर्षीय योजना में कार्य, भोजन और उत्पादकता को प्राथमिकता दी गई है।

जन उपभोग की वस्तुयें : वे उत्पादन जो देश के सब भागों में उपभोग किये जाते हैं।

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. केबरा, के. एन. — भारतीय काले धन की अर्थव्यवस्था-समस्यायें और नीतियां
2. मेहता, वी. एल. — बेरोजगारी, असमानतायें, समानान्तर अर्थव्यवस्था — एक समाधान
3. कॉल्डर, एन. — भारतीय कर व्यवस्था, आर्थिक मामलों का विभाग, वित्तमंत्रालय, भारत सरकार (1956)
4. भारत सरकार वित्त मंत्रालय — प्रत्यक्ष कर निरीक्षण कमैटी की रिपोर्ट (1971)
5. दत्ता, एन. सुन्दरम — भारतीय अर्थव्यवस्था, पाठ 52 एस० चांद एंड कम्पनी दिल्ली

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न - I

1. सामानान्तर अर्थव्यवस्था सकल अर्थ व्यवस्था का वह भाग है जहां व्यापारिक कार्य विधि कानून की निगाह से बचकर चोरी छिपे की जाती है। वर्तमान समय में सह समस्या अत्यधिक बढ़ गई है तथा इसका कुप्रभाव सामान्य अर्थव्यवस्था पर पड़ा है और इसी कारण इसका महत्व बढ़ गया।
2. काले धन के तीन प्रमुख स्रोत हैं। कर की चोरी, कर न देना अथवा बचाना तथा सही अथवा स्वच्छ मुद्रा का चोरी छिपे प्रयोग करना। काले धन के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र इस प्रकार हैं। तस्करी, मकानों तथा भवनों में रूपया लगाना, सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों के लिए ट्रस्ट बनाना।

बोध प्रश्न - 2

1. काला धन तेजी से बढ़ रहा है। यह भारत के समस्त राष्ट्रीय उत्पादन का 50% है। उपर्युक्त वातावरण मिलने पर यह तेजी से बढ़ रहा है।
2. कर की चोरी से बचने के दो तरीके हो सकते हैं — दृढ़ तरीका तथा मुलायम तरीका, काले धन को बाहर लाने की स्वेच्छिक योजना जो प्रोत्साहन आधारित है कि साथ-साथ कर की चोरी करने वाले के विरूद्ध सख्त कदम उठाये जाने चाहियें और इस सम्बंध में हर महीने कार्यवाही की जानी चाहिए।

बोध प्रश्न - 3

1. कर की चोरी तथा कर से बचना का प्रभाव राज्य के आय को कम करता है। जिससे राज विनियोग के लिए धन की कमी हो जाती है।
2. देश की पंचवर्षीय योजनाऐं कुछ सामाजिक उद्देश्यों को ध्यान में रख कर बनाई जाती हैं जैसे — आर्थिक तथा सामाजिक असमानता को कम करना, रोजगार देना। जब काला धन अधिक हो जाता तो देश में इन मदों पर खर्च करने के लिए धन की कमी हो जाती है।
3. काला धन उन मदों में लगाया जाता है जहां शीघ्र तथा अधिक लाभ कमाया जा सके। क्योंकि इस धन पर कर नहीं दिया जाता अतः इसके कारण देश में असमानता बढ़ जाती है।

इकाई 23

भारत का भुगतान सन्तुलन

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 भुगतान सन्तुलन का अर्थ

23.3 भुगतान सन्तुलन की मदें

23.4 स्वतंत्रता के पूर्व भुगतान सन्तुलन

23.5 स्वतंत्रता के उपरान्त भुगतान सन्तुलन

- 23.5.1 प्रथम योजना
- 23.5.2 दूसरी योजना
- 23.5.3 तीसरी योजना
- 23.5.4 वार्षिक योजनाएं
- 23.5.5 चौथी योजना
- 23.5.6 पांचवीं योजना
- 23.5.7 छठी योजना
- 23.5.8 सातवीं योजना

23.6 भुगतान सन्तुलन में घाटे के कारण

23.7 भारत सरकार द्वारा प्रतिकुल भुगतान सन्तुलन के समाधान हेतु उपाय

23.8 भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के उपाय

23.9 सारांश

23.10 शब्दावली

23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.12 अभ्यासों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको भारत की भुगतान सन्तुलन स्थिति से अवगत कराया जायेगा। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- भुगतान सन्तुलन का अर्थ स्पष्ट कर सकेंगे,
- भुगतान सन्तुलन की मदों को बता सकेंगे,
- स्वतंत्रता के पूर्व भुगतान संतुलन की स्थिति बता सकेंगे,

- स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भुगतान सन्तुलन की स्थिति की व्याख्या कर सकेंगे,
- भुगतान सन्तुलन में घाटे के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयासों का वर्णन कर सकेंगे,
- भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के सुझाव दे सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

भुगतान सन्तुलन एक आर्थिक बेरोमीटर है। इससे किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है।

आपको यह बताया जायेगा कि भुगतान सन्तुलन की स्थिति का अर्थ क्या है और व्यापार सन्तुलन से वह भिन्न किस प्रकार है? आपको फिर भुगतान सन्तुलन में शामिल की जाने वाली मदों की जानकारी दी जायेगी। आपको यह स्पष्ट किया जायेगा कि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भुगतान सन्तुलन की स्थिति क्या रही है और क्यों रही है? भारतीय सरकार ने भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिये जो भी उपाय किये हैं, उनकी चर्चा की जायेगी। अन्त में आपको भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता दूर करने के लिए सुझाव दिये जायेंगे।

23.2 भुगतान सन्तुलन का अर्थ

किसी भी देश का भुगतान सन्तुलन एक निश्चित काल में उस देश की अन्य देशों के साथ कुल लेनदारी और देनदारी का एक लेखा-जोखा होता है। इसमें प्रायः आयात और निर्यात के मद सबसे महत्वपूर्ण होते हैं। पर इन मदों के अतिरिक्त पूँजी, ऋण, ब्याज और भुगतान से सम्बन्धित सभी मदों को भी शामिल किया जाता है।

पी.टी. एल्सवर्थ ने कहा है कि "भुगतान सन्तुलन एक देश के निवासियों और शेष विश्व के बीच किये गये समस्त लेन-देनों का लिखित विवरण है। यह किसी दिये हुए समय साधारणतः एक वर्ष के लिये होता है।"

बेनहम ने भुगतान की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सम्पूर्ण और सही भुगतान सन्तुलन में वे सभी भुगतान शामिल होते हैं, जो एक निश्चित अवधि में विदेशियों द्वारा एक देश के निवासियों को और उस देश के निवासियों द्वारा विदेशियों को किये जाते हैं। इनमें प्रथम भुगतान को जमा भुगतान और दूसरे भुगतान को नाम भुगतान कहते हैं।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक निश्चित अवधि में एक देश को विदेशों से जो भुगतन मिलता है और जो भुगतान करना होता है, उसके क्रमबद्ध विवरण को भुगतान सन्तुलन कहते हैं।

व्यापार सन्तुलन से किसी देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता नहीं लगता है, क्योंकि इसमें केवल आयातों और निर्यातों को सम्मिलित किया जाता है। भुगतान सन्तुलन में आयातों और निर्यातों के अतिरिक्त पूंजीगत लेन-देन भी शामिल होते है। वास्तविकता तो यह है कि व्यापार सन्तुलन भुगतान सन्तुलन का ही एक भाग है। यदि हम सूत्र के रूप में व्यक्त करें -

भुगतान सन्तुलन = व्यापार सन्तुलन + पूंजीगत लेन-देन

भुगतान सन्तुलन के दो भाग होते है :-

(i) चालू खाते का भुगतान सन्तुलन,

(ii) पूंजीगत खाते का भुगतान सन्तुलन।

इन दोनों खातों का सन्तुलन ही भुगतान सन्तुलन है। चालू खाते के भुगतान सन्तुलन में वस्तुओं और सेवाओं का लेन-देन और एक पक्षीय हस्तान्तरण जैसे कि अनुदान, भेंट को शामिल किया जाता है। पूंजीगत खाते के भुगतान सन्तुलन में पूंजीगत मदों जैसे कि विदेशों से ऋण लेना और देना, विदेशों में प्रतिभूतियां और परिसम्पत्तियाँ खरीदना और बेचना आदि को शामिल किया जाता है।

इस प्रकार भुगतान सन्तुलन = चालू खाते का भुगतान सन्तुलन + पूंजी खाते का भुगतान सन्तुलन।

एक देश में विदेशी विनिमय कोष में होने वाले परिवर्तनों को पूंजी खाते में शामिल किया जाता हैं। भुगतान खाते का, चालू खाता सन्तुलन की दशा में नहीं होता है। यह अनुकूल (+) अथवा प्रतिकूल (—) होता है। जब चालू खाते का सन्तुलन प्रतिकूल होता है तो उसे पूंजीगत खाते के परिवर्तनों से साम्य में लाया जाता है। दूसरे शब्दों में विदेशों से ऋण लेकर कुछ देनदारियों को निपटाया जाता है। इस तरह चालू खाते की स्थिति ही भुगतान सन्तुलन की स्थिति को बताती है। भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति देश के विदेशी विनिमय कोष में हुए परिवर्तनों से ज्ञात की जा सकती है।

23.3 भुगतान सन्तुलन की मदें

भारत के भुगतान सन्तुलन को जानने की लिए उससे सम्बन्धित मदों की जानकारी कर लेना ठीक रहेगा।

प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन का अर्थ होता है कि चालू खाते और पूंजी खाते में भुगतान की राशि प्राप्तियों से अधिक है। प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन होने पर ऋण का चिन्ह लगाया जाता है। पर भुगतान सन्तुलन सन्तुलित ही होना चाहिये। अतः इसके प्रतिकूल होने पर उतनी ही राशि विदेशी सहायता, अनुदान या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लेकर इसे सन्तुलित किया जाता है।

विकासशील देशों का भुगतान संतुलन अधिकतर प्रतिकूल रहता है। ये देश विकास के लिये पूंजीगत वस्तुओं और तकनीकों का आयात करते हैं और कुछ वर्षों में विदेशों से प्राप्त सभी ऋणों का भुगतान करने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए यदि कुछ वर्षों तक ही भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल रहता है तो चिन्ता का कोई बड़ा कारण नहीं है। पर यदि भुगतान सन्तुलन लम्बे समय के लिए प्रतिकूल रहता है तो अवश्य ही चिन्ता का कारण है।

भुगतान सन्तुलन की मदों को तालिका से इस प्रकार दिखाया जा सकता है —

भुगतान सन्तुलन की मदें

मद	प्राप्तियां (I)	भुगतान (II)
I - चालू खाता		
(अ) दृश्य मदें	निर्यात	आयात
(ब) अदृश्य मदें		
(I) पर्यटन	विदेशी पर्यटकों का आना	भारतीय पर्यटकों का विदेश जाना

(II)	परिवहन	जहाज-भाड़ा की प्राप्ति	जहाज-भाड़ा का भुगतान
(III)	बीमा	बीमा प्रीमियम की प्राप्तियां	बीमा प्रीमियम का भुगतान
(IV)	लाभांश	प्राप्तियां	भुगतान
(V)	अन्य	प्राप्तियां	भुगतान

चालू खाते का सन्तुलन = I - II

2 - पूंजीगत खाता

(I)	निजी निवेश	विदेशी पूंजी का भारत में निवेश	भारतीय पूंजी का विदेशों में निवेश
(II)	ऋण-निजी क्षेत्र	प्राप्तियां	ऋणों का भुगतान
(III)	ऋण-सार्वजनिक क्षेत्र	प्राप्तियां	ऋणों का भुगतान
(IV)	अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से रूपये की खरीद	—	भुगतान
(V)	बैंकिंग पूंजी	प्राप्तियां	भुगतान

पूंजीगत खाते का सन्तुलन = I - II

23.4 स्वतंत्रता के पूर्व भुगतान सन्तुलन

स्वतंत्रता के पूर्व भारत का भुगतान सन्तुलन अनुकूल था। अंग्रेजों के आने तक यूरोप और पश्चिम एशिया के अनेक देशों से व्यापार था। भारत निर्मित वस्तुओं का निर्यात करता था। आयातों की तुलना में निर्यात अधिक होते थे। भारत को इसलिए स्वर्ण में भुगतान मिलता था।

अंगेजों के पराधीन भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल था। पर यह अनुकूलता अब निर्मित वस्तुओं के निर्यात के कारण नहीं थी बल्कि कच्चे माल के निर्यात के कारण थी। निर्मित वस्तुओं का अब विशेषकर ब्रिटेन से आयात होता था। विदेशी विनिमय निर्यात अधिक होने के कारण प्राप्त तो अवश्य होता था पर यह विदेशी विनिमय ब्रिटेन को गृह पत्रों (Home Expenses) की पूर्ति के लिए देना पड़ता था और यह भी स्थिति आती थी कि जब विदेशी विनिमय की प्राप्तियां गृह-व्ययों को चुकाने के लिये पर्याप्त नहीं हुआ करती थी तो फिर इन व्ययों की पूर्ति के लिए स्वर्ण का निर्यात करना पड़ता था।

भारत की स्थिति दूसरे महायुद्ध से परिवर्तित हुई। ब्रिटेन को अपनी युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत से बहुत अधिक आयात करना पड़े जिससे निर्यात में बहुत वृद्धि हुई और दूसरी तरफ माल की कमी और परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण आयात कम हो गये। इस सबका परिणाम यह हुआ कि भारत का व्यापार सन्तुलन पौंड पावनों (Sterling balance) के रूप में एकत्रित हो गया। अनुमान है कि पौंड पावनों के रूप में एकत्रित यह राशि 1,733 करोड़ रुपये थी। भारत ने इस राशि का उपयोग स्वतंत्रता के बाद व्यापार घाटों को पूरा करने के लिए किया।

बोध प्रश्न 1

1. भुगतान सन्तुलन से आप क्या समझते है?

2. भुगतान सन्तुलन और व्यापार सन्तुलन में क्या अन्तर है?

3. भुगतान सन्तुलन में किन मदों को शामिल किया जाता है?

23.5 स्वतंत्रता के उपरान्त भुगतान सन्तुलन

1948 से 1951 तक भारत का भुगतान सन्तुलन विपक्ष में था। भुगतान सन्तुलन में 260 करोड़ रुपये का घाटा था। इस घाटे के अनेक कारण थे जैसे कि विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण, देश का विभाजन, खाद्यान्नों और कच्चे माल की कमी। 1949 में रुपये का अवमूल्यन किया गया था। पर इस अवमूल्यन से भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकी थी।

23.5.1 प्रथम योजना (1951-56)

पहली योजना में भुगतान सन्तुलन केवल 42 करोड़ रुपये से ही प्रतिकूल था। भुगतान सन्तुलन पर प्रमुख रूप से तीन बातों का प्रभाव पड़ा था —

(I) 1950 में कोरिया युद्ध के कारण भारत के निर्यात बढ़े,

(II) अमरीका में 1953 की मन्दी का भारत पर अनुकूल प्रभाव रहा,

(III) देश में अनुकूल मानसून के कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई, आयातों पर नियन्त्रण रखा गया।

प्रथम योजना में भुगतान सन्तुलन की स्थिति की एक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है —

तालिका 23.1

पहली योजना में भुगतान सन्तुलन

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान सन्तुलन*
1951-52	−232.8	+70.2	+162.6
1952-53	−31.1	+91.3	+60.2
1953-54	−52.1	+99.5	+47.5
1954-55	−93.1	+99.1	+6.0
1955-56	−132.8	+139.5	+6.7
कुल	-541.9	+499.6	−42.3

तालिका से पता लगता है कि योजना के प्रथम वर्ष को छोड़कर अन्य वर्षों में भुगतान सन्तुलन में आधिक्य की स्थिति थी। प्रत्येक वर्ष व्यापार घाटा तो रहा पर शुद्ध अदृश्य मदों के धनात्मक होने के कारण भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता 42 करोड़ रूपये ही थी।

23.5.2 दूसरी योजना (1956-61)

इस योजना में भुगतान सन्तुलन में भारी घाटा था। इस घाटे के कारण विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न हुआ। जहां प्रथम योजना में भुगतान सन्तुलन का घाटा मात्र 42 करोड़ रूपये था वह दूसरी योजना में बढ़कर 1725 करोड़ रूपये हो गया। यह तालिका से इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

तालिका 23.2
दूसरी योजना में भुगतान सन्तुलन

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान संतुलन*
1956-57	– 467	+154	– 313
1957-58	– 639	+132	– 507
1958-59	– 453	+126	– 327
1959-60	– 305	+119	– 186
1960-61	– 475	+83	– 392
कुल	– 2339	+614	– 1725

घाटे के प्रमुख कारण थे–

विकास कार्यों के लिए आयातों में तेजी से वृद्धि हुई थी। महालनोबिस के नियोजन माडल का इस योजना में प्रयोग किया गया था। इस माडल में आधारभूत उद्योगों को प्राथमिकता दी गई थी। इन उद्योगों में बड़ी मात्रा में पूंजीगत साज-सामान का आयात हुआ था।

योजना अवधि में विशेषकर अंतिम वर्ष में खाद्यान्न उत्पादन में कमी के कारण भारी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात हुआ था क्योंकि कृषि उत्पादन में आवश्यक वृद्धि नहीं हुई थी।

निर्यातों में वृद्धि नहीं हुई थी बल्कि निर्यात प्रथम योजना काल से भी कम हुए थे।

देश में मुद्रा प्रसार जैसी परिस्थितियों के कारण से भी निर्यात में कमी और आयातों में अधिकता थी।

23.5.3 तीसरी योजना (1961-66)

इस योजना अवधि में भुगतान शेष 1951 करोड़ रुपये से प्रतिकूल था। दूसरी योजना की अपेक्षा घाटा अधिक था।

तालिका 23.3
तीसरी योजना में भुगतान सन्तुलन

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1961-62	– 338	+ 31	– 306
1962-63	– 416	+ 62	– 354
1963-64	– 443	+ 94	– 349
1964-65	– 620	– 168	– 452
1965-66	– 567	+ 77	– 490
कुल	– 567	+ 432	– 1952

तालिका से स्पष्ट है कि तीसरी योजना में दूसरी की तुलना में अदृश्य मदों से शुद्ध प्राप्ति में काफी कमी आई थी जिसका मुख्य कारण ब्याज भुगतान की बढ़ती हुई राशि थी। जहाँ तक व्यापार सन्तुलन का प्रश्न है खाद्यान्न समस्या और भारी तथा आधारभूत उद्योगों की आवश्यकता पूर्ति के लिय आयातों में लगातार वृद्धि होती रही।

23.5.4 वार्षिक योजनाएं (1966-69)

तीन वार्षिक योजनाएं बनी थी, तीनों में भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल था। तीनों योजनाओं में व्यापार सन्तुलन का कुल घाटा 2,067 करोड़ रुपये था। अदृश्य मदों से 51.7 करोड़ रुपये का लाभ था। इस प्रकार भुगतान संतुलन का घाटा 2,067 – 58.0 = 2,015 करोड़ रुपये था।

तालिका 23.4
वार्षिक योजनाओं में भुगतान सन्तुलन

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1966-67	– 905.8	+ 59.9	– 845.9
1967-68	– 782.2	– 16.1	– 804.3
1968-69	– 373.1	+ 7.2	– 365.2
कुल	– 2061.1	+ 51.0	– 2015.4

23.5.5 चौथी योजना (1969-74)

इस योजना में भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल था। 1969-70 में कृषि उत्पादन में वृद्धि से खाद्यान्नों का आयात कम हुआ था और निर्यातों में वृद्धि हुई थी, जिससे व्यापार सन्तुलन का घाटा कम हुआ था। यह घाटा 178 करोड़ रुपये का था।

तालिका 23.5
चौथी योजना में भुगतान सन्तुलन

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1969-70	– 178	– 39	– 217
1970-71	– 318	– 14	– 332
1971-72	– 438	+ 37	– 401
1972-73	– 251	– 01	– 252
1973-74	– 379	– 1680	+ 1301
कुल	– 1564	+ 1663	+ 99

1971-72, 1972-73 में स्थिति काफ़ी बिगड़ गयी थी। इन वर्षों में व्यापार सन्तुलन का घाटा 438 करोड़ रुपये और 251 करोड़ रुपये रहा था। इन वर्षों खाद्यान्न आयातों में वृद्धि हुई थी और खनिज तेल की कीमतें बढ़ गई थी जिससे आयात भी काफ़ी बढ़ गया था।

1973-74 में अदृश्य मदों की प्राप्ति के कारण भुगतान सन्तुलन 1301 करोड़ रुपये से अनुकूल था। पर यह अनुकूलता असमान्य थी क्योंकि इस अनुकूलता का कारण अमरीकी सरकार के साथ पी.एल. 480 और दूसरी रुपया राशियों के भुगतान की छूट का निर्णय था। भारत को इस छूट के कारण 1,664 करोड़ रुपये अदृश्य मदों से प्राप्त हुए थे।

23.5.6 पांचवीं योजना (1974-79)

यह योजना 1979 में समाप्त होने वाली थी, पर इसे एक वर्ष पहले ही 1978 में समाप्त कर दिया गया।

इस योजना के प्रथम दो वर्षों, 1974-75 और 1975-76 में निर्यात तेजी से बढ़े थे पर निर्यातों की वृद्धि से अधिक आयातों में वृद्धि हुई थी। परिणाम स्वरूप व्यापार घाटा 977 करोड़ रुपये और 566 करोड़ रुपये ही था। 1973-74 में जबकि यह घाटा केवल 379 करोड रुपये ही था। 1976-77 में व्यापार संतुलन 316 करोड़ रुपये से पक्ष में था। योजना के अंतिम वर्ष में व्यापार घाटा आयातित पेट्रोलियम पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि के कारण बहुत अधिक बढ़ गया था।

1975-76, 1976-77 और 1977-78 में अदृश्य मदों में भारी वृद्धि से चालू खाते में भुगतान संतुलन में अतिरेक की स्थिति आ गई थी। यह अतिरेक + 294 करोड़, + 1,525 करोड़ और + 1734 करोड़ रुपये था।

तालिका 23.6
पांचवीं योजना में भुगतान शेष

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1974-75	– 977	333	644
1975-76	– 566	860	294
1976-77	+ 316	1209	1525
1977-78	– 107	1842	1734
कुल	– 1334	+ 4245	+ 2910

तालिका से स्पष्ट है कि व्यापार सन्तुलन में घाटा था पर अदृश्य मदों से प्राप्ति बहुत थी। अदृश्य मदों की प्राप्ति में निरन्तर वृद्धि के कई कारण थे –

(i) विश्व की अधिकांश मुद्राओं के मूल्यों में काफी उतार-चढ़ाव हो रहे थे, पर भारतीय रुपये के मूल्य में अपेक्षाकृत स्थिरता थी।

(ii) तस्करी और अवैधानिक भुगतानों के विरूद्ध कठोर कदम उठायें गये थे।

(iii) विदेशों को रोजगार के लिए बड़ी संख्या में भारतीय चले गये थे। इन प्रवासी भारतीयों ने भारत को बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा भेजी थी।

(iv) पर्यटन उद्योग को बढ़ावा मिला था जिसके कारण विदेशी पर्यटकों की संख्या में वृद्धि हुई थी।

पांचवीं और छठी योजना के बीच एक वर्ष के अन्तराल 1979-80 में व्यापार घाटा 3,374 करोड़ रुपये का था और अदृश्य मदों से 3,140 करोड़ रुपये की शुद्ध प्राप्ति हुई थी जिससे भुगतन सन्तुलन में 234 करोड़ रुपये का घाटा था।

23.5.7 छठी योजना (1980 से 1985)

इस योजना के प्रत्येक वर्ष व्यापार सन्तुलन में भारी घाटा था जिसके कारण भुगतान सन्तुलन में भी घाटा था।

तालिका 23.7
छठी योजना में भुगतान सन्तुलन

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	*व्यापार सन्तुलन*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1980-81	– 5,967	+ 4,310	– 1,657
1981-82	– 6,121	+ 3,804	– 2,317
1982-83	– 5,776	+ 3,480	– 2,296
1983-84	– 5,871	+ 3,609	– 2,262
1984-85	– 6,781	+ 3,869	– 2,852

तालिका से स्पष्ट है कि व्यापार सन्तुलन में भारी प्रतिकूलता के कारण, अदृश्य मदों से काफी प्राप्ति के होते हुए भी, भुगतान सन्तुलन में घाटे की गम्भीर स्थिति बनी रही थी। इस स्थिति का सामना करने के लिए सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विशेष आहरण योजना के अन्तर्गत राशि निकालनी पड़ी थी और अपने संचित विनिमय कोष का प्रयोग करना पड़ा था।

23.5.8 सातवीं योजना (1985-90)

इस योजना के प्रथम वर्ष 1985-86 में व्यापार सन्तुलन का घाटा 9,586 करोड़ रुपये था, इतना घाटा कभी भी किसी वर्ष नहीं रहा था। अदृश्य मदों से प्राप्ति 3,630 करोड़ रुपये थी जिसके कारण भुगतान सन्तुलन का घाटा 5,956 करोड़ रुपये था।

23.6 भुगतान सन्तुलन में घाटे के कारण

भारत के भुगतान सन्तुलन में हमेशा ही घाटा रहा है और यह घाटा बढ़ता ही रहा है। भुगतान सन्तुलन में घाटे के कारण विदेशी विनिमय की समस्या बनी रही है। भुगतान सन्तुलन में घाटे के कारण हैं –

(1) **आयातों में वृद्धि** – आयातों में वृद्धि के कई कारण रहे हैं –

(i) देश में कृषि और उद्योगों के विकास के लिए यंत्रों और उपकरणों का भारी आयात किया गया है। वर्तमान में भी यंत्र और उपकरण भारत के आयातों की प्रमुख मद हैं।

(ii) जनसंख्या में वृद्धि के कारण खाद्यान्नों का भारी मात्रा में आयात करना पड़ा है।

(iii) आयात प्रतिस्थापन योजनाओं को भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली है।

(2) **निर्यातों में आयातों की अपेक्षा कम वृद्धि** –

निर्यातों में वृद्धि आयातों की तुलना में कम रही है। निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि न होने के कई कारण रहे हैं –

(i) निर्यातों की मॉग बेलोचदार है। निर्यातों का आधा भाग आज भी परम्परागत है। परम्परागत वस्तुओं में चाय, काफी जूट की वस्तुएं, सूती वस्त्र और कृषिगत वस्तुएं आती हैं। इन वस्तुओं की विदेशी बाजार में कठिन प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। इन वस्तुओं में निर्यात बढ़ाने में सफलता नहीं मिली है।

(ii) निर्यात संवर्धन के लिए तीसरी योजना से ही प्रयास किये गये हैं, पर कोई विशेष सफलता नहीं मिली है।

(iii) घरेलू मॉग में निरन्तर वृद्धि से निर्यात के लिए उत्पादन का कुछ ही अंश शेष रहता है।

(iv) मुद्रा स्फीति का दबाव बने रहने से उत्पादन लागत अधिक रहती है, जिससे विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुएं महंगी पड़ती है।

(v) विदेशी सरकारों के प्रतिबन्धों के कारण भी निर्यात बढ़ाने में कठिनाई होती रही है।

(3) **विदेशी ऋण** – भारत ने विकास कार्यो के लिए भारी मात्रा में ऋण लिए हैं। इन ऋणों पर ब्याज और मूलधन लौटाने के लिए विदेशी विनिमय व्यय किया गया है।

(4) **पेट्रोलियम के मूल्यों में वृद्धि** – तेल उत्पादन देश पेट्रोलियम पदार्थो के मूल्य बढ़ाते रहे हैं और इन पदार्थो की खपत भी देश में बढ़ती रही है जिससे इनके आयात के लिए व्यय में भारी वृद्धि होती रही है।

(5) **अदृश्य मदों का भुगतान** – अदृश्य मदों के अन्तर्गत भारत की देनदारी की अपेक्षा लेनदारी काफी समय तक अधिक रही है, पर फिर भी अदृश्य मदों से प्राप्त शुद्ध आय बहुत कम रही है। इस कारण से भुगतान सन्तुलन के घाटे को सीमित मात्रा में ही कम किया जा सका है। यही नहीं विदेशी ऋणों की अदायगी ब्याज भुगतान की बढ़ती मात्रा के कारण अनेक वर्षों अदृस्य मदों में भी घाटा रहा है।

(6) **विदेशी ऋण और व्यापार के मध्य सम्बन्ध का अभाव** – भारत को विदेशी से जो अधिकांश ऋण मिलते रहे हैं, उनका व्यापार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में उन ऋणों को लौआने से भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता रहा है। कुछ देशों से जैसे कि रूस से जो ऋण मिलते रहे हैं, उनका व्यापार से सीधा सम्बन्ध रहा है। दूसरे शब्दों में ये देश ऋण के बदले भारत में निर्मित वस्तुएं स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के ऋणों का भुगतान निर्यातों से होता रहता है।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से रुपये की खरीद** – भारत ने बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा ऋण के रूप में ली है। ये ऋण रुपयें देकर लिए जाते हैं। इन ऋणों के भुगतान के लिए फिर से विदेशी मुद्रा देकर रुपये वापिस क्रय किये जाते हैं। भारत को भारी मात्रा में मुद्रा कोष से रुपये की खरीद करनी पड़ती रहती है जिससे भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता रहा है।

(8) **आय प्रभाव और कीमत प्रभाव** – आय प्रभाव से अर्थ आय में वृद्धि के कारण व्यापार पर पड़ने वाले प्रभाव से है। सरकार जब बड़ी मात्रा में विनियोग करती है तो जनता की आय में वृद्धि होती है जिसके कारण आयात की जाने वाली विलासिता की वस्तुओं की मॉग बढ़ जाती है और साथ ही घरेलू वस्तुओं की मॉग भी बढ़ जाती है, जिससे निर्यात के लिए वस्तुओं की मात्रा कम हो जाती है। इस तरह आय प्रभाव भुगतान सन्तुलन में प्रतिकूलत उत्पन्न करता है।

भारी मात्रा में विनियोग केवल आय प्रभाव ही नहीं उत्पन्न करते अपितु कीमत प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं। अधिकतर विनियोग दीर्घकाल के बाद ही फलदायक होते हैं। पर जनता की

आय में वृद्धि विनियोगों के साथ ही हो जाती है। परिणामस्वरूप मूल्य स्तर बढ़ जाता है। मूल्य स्तर में वृद्धि की जो व्यापार पर प्रभाव पड़ता है उसे कीमत प्रभाव कहते हैं। मूल्यों में वृद्धि से आयातों में वृद्धि होती है और निर्यात कम हो जाते हैं।

बोध प्रश्न 2

1. योजनाकाल में भारत की भुगतान सन्तुलन स्थिति की संक्षेप में बताइये?
2. भारत के भुगतान संतुलन के प्रतिकूल होने के क्या कारण थे?

23.7 भारत सरकार द्वारा प्रतिकूल भुगतन संतुलन अथवा विदेशी विनिमय संकट दूर करने के उपाय

भारत सरकार के लिए प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन हमेशा ही एक चिन्ता का विषय रहा है। समय-समय पर सरकार ने इस समस्या की सुलझाने के लिए कई उपाय किये हैं। ये उपाय हैं —

1. **नोट निर्माण प्रणाली में परिवर्तन** — भारत सरकार ने 1956 में नोट निर्गमन प्रणाली परिवर्तित कर दी। अनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) अपना ली गई। इस प्रणाली में 200 करोड़ रुपये का न्यूनतम कोष रखना जरूरी कर दिया गया। इस प्रणाली में 115 करोड़ रुपये का स्वर्ण रखा जाता है जो पूर्व प्रणाली के समान ही था, पर इसके साथ 85 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतिया रखी जाती हैं, जबकि पूर्व प्रणाली में 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतिया रखी जाती थी। इसका उद्देश्य यह था कि शेष विदेशी विनिमय का प्रयोग विकासात्मक आयातों के लिए किया जा सके।

2. **प्रतिबन्धात्मक आयात नीति** — सरकार ने समय-समय पर आयातों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये हैं जिससे विदेशी मुद्रा का प्रयोग केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात पर किया जा सके।

3. **निर्यात प्रोत्साहन** — तीसरी योजना के आरम्भ से ही निर्यात संवर्द्धन के लिए सरकार ने प्रयास किये। इन प्रयासों को सफलता भी मिली पर सफलता जितनी मिलना चाहिये थी उतनी नहीं मिली।

4. **आयात प्रतिस्थापन** — सरकार ने आयात प्रतिस्थापन की नीति अपनायी जिससे कि आयातों पर निर्भरता कम हो सके। इस नीति के अर्न्तगत उन वस्तुओं का उत्पादन किया गया जिन्हें विदेशों से आयात किया जाता था।

5. **अधिक विदेशी सहायता** — सरकार ने समय-समय पर भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयों को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विदेशी सरकारों से विदेश मुद्रा में ऋण लिए। इन ऋणों से अल्पकालीन समस्या ही हल हुई पर यह समस्या का कोई हल नहीं है। ऋणों को लौटाना और उन पर ब्याज तो देना ही पड़ता है! आज विदेशी ऋणों का अत्यधिक भार हमारी अर्थ-व्यवस्था पर हो गया और इन ऋणों पर ब्याज देना ही एक बड़ी समस्या बन गया है।

6. **विदेशी विनिमय अधिनियम** — सरकार ने विदेशी विनिमय प्रबन्ध अधिनियम 1973 में पारित किया। यह अधिनियम 1974 में लागू किया गया। इस नियम के अन्तर्गत विदेशों में रह रहे भारतीयों ने रिजर्व बैंक के माध्यम से धन भारत भेजा जिससे हमारे विदेशी मुद्रा कोष में वृद्धि हुई।

7. **स्थगित भुगतान पद्धति** – विदेशी विनिमय के अल्पकालीन अभाव को दूर करने के लिए स्थगित भुगतान पद्धति को लागू किया गया। नई परियोजनाओं के लिए आयात लाइसेन्स इस शर्त पर दिए गए कि आयातों का प्रबन्ध स्थगित भुगतान के आधार पर किया जाना संभव होना चाहिये।

8. **सरकार की स्वर्ण नीति** – सरकार ने स्वर्ण आकर्षित करने के लिए तथा निजी प्रयोग में स्वर्ण के आकर्षण को समाप्त करने के लिए स्वर्ण नीति बनाई जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(i) स्वर्ण बांड जारी किये जिन पर 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज था और ये बांड 15 वर्षीय थे।

(ii) स्वर्ण की सट्टेबाजी को रोकने के लिए स्वर्ण के अग्रिम व्यापार पर रोक लगा दी गई।

(iii) स्वर्ण नियन्त्रण कानून लागू किया जिसके अन्तर्गत केवल 14 कैरट की शुद्धता वाले स्वर्ण आभूषण ही बनाये जा सकते थे और स्वर्ण किसी अन्य रूप में नहीं रखा जा सकता था।

(iv) स्वर्ण आभूषण के निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया। स्वर्ण नीति में समय-समय पर सुधार करने पर भी सरकार को अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी। स्वर्ण की तस्करी बड़े पैमाने पर होती रही और विदेशी विनिमय का दुरुपयोग होता रहा।

23.8 भुगतान संन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के सुझाव

(1) **निर्यात प्रोत्साहन** — विदेशी विनिमय संकट को दूर करने के लिए आवश्यक है कि निर्यातों को बढ़ाने का हर संभव प्रयास किया जाना चाहिये। सरकार ने प्रयास तो किये हैं पर प्रयास अब और आक्रामक ढंग से किये जाने चाहिये।

(2) **घरेलू मांग की सीमित करना** — उच्च आय वर्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली अनावश्यक और प्रदर्शन मात्र की उपभोग वस्तुओं की मांग पर नियन्त्रण लगाया जाना चाहिये और निर्यात अतिरेक (Export Surplus) का निर्माण किया जाना चाहिये जिससे कि निर्यातों में वृद्धि की जा सके।

(3) **आयातों में कमी** — भारत को अपने आयातों में कमी करनी चाहिये इसके लिए (1) आयात करों में वृद्धि करना चाहिये जिससे आयतित वस्तुएं महगी पड़े और उनकी मांग कम हो तथा (2) लाइसेन्स कोटा प्रणाली का पूरा सहयोग लेना चाहिये।

(4) **आयात प्रतिस्थापन** — जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है उनके प्रतिस्थापन की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसके लिए घरेलू उत्पादन बढ़ाना चाहिये तथा नये उद्योग स्थापित करना चाहिये। इससे आयात कम होंगे और भुगतान संतुलन पर दबाव कम होगा।

(5) **मूल्यों में स्थिरता** — निर्यात बढ़ाने के लिए मूल्यों में स्थिरता चाहिये। यह आवश्यक है कि विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुएं मंहगी न पड़े और प्रतिस्पर्धा में टिक सकें दूसरे शब्दों में मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति को नियन्त्रण में रखना चाहिये।

(6) **भारत मूल के व्यक्तियों को सुविधा** — विदेशों में रह रहे भारतीयों को भारत धन भेजने के लिए पर्याप्त सुविधा और प्रलोभन देना चाहिये जिससे कि वे अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा भारत भेजें।

(7) **विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहन** – देश में विदेशी पर्यटकों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करना चाहिये जिससे कि अधिक संख्या में भारत भ्रमण के लिए आयें और भारत को विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सके।

आर्थिक नियोजन से भुगतान सन्तुलन में घाटा होता ही है। पर घाटा इतना अधिक नहीं होना चाहिये जितना कि हुआ है। घाटा एक सीमा तक ही उचित ठहराया जा सकता है। विदेशों से घाटे की पूर्ति के लिए ऋण लिये जा सकते हैं पर ऋण लेकर घाटा पूरा करना समस्या का कोई हल नहीं है। घाटे की समस्या का हल तो आयात प्रतिस्थापन, आवश्यक आयात और निर्यात संबर्द्धन से ही हो सकता है। आज भूमण्डलीकरण के दौर में ये सुझाव महत्वहीन हो गए हैं। अब हमें निर्यातों की गुणवत्ता बढ़ाकर विदेशी बाजारों में प्रतिस्पर्द्धा करनी है।

बोध प्रश्न 3

1 विदेशी विनिमय संकट दूर करने के लिए सरकार द्वारा क्या प्रयास किये गये थे?

2 भुगतान सन्तुलन की कठिनाई को दूर करने के लिए आपके क्या सुझाव है?

23.9 सारांश

भुगतान सन्तुलन से अर्थ एक देश के निवासियों का अन्य देश के निवासियों से हुए उस मौद्रिक लेन-देन है, जो एक निश्चित अवधि में हुए हों।

व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य मदों को रखा जाता है जबकि भुगतान सन्तुलन में दृश्य व अदृश्य दोनों को। व्यापार सन्तुलन भुगतान सन्तुलन का ही भाग है। भुगतान सन्तुलन के दो भाग है :– (1) चालू खाता (2) पूंजीगत सौदे।

योजनाकाल में भारत का भुगतान सन्तुलन हमेशा ही प्रतिकूल रहा है। भुगतान सन्तुलन का घाटा प्रत्येक योजना में बढ़ता गया है। दूसरी योजना से घाटे की प्रवृत्ति बढ़ने की रही है।

भुगतान असन्तुलन के अनेक कारण हैं – आयातों में निरंतर वृद्धि, निर्यातों में आयातों की तुलना में कम वृद्धि, विदेशी ऋणों पर ब्याज का भुगतान और ऋणों का भुगतान, पेट्रोलियम के मूल्य और खपत में वृद्धि, अदृश्य मदों में शुद्ध आय की कम प्राप्ति, विदेशी ऋणों से व्यापार के सम्बन्ध का न होना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से रुपये की खरीद, बड़ी मात्रा में विनियोगों के कारण पड़ने वाला आय और कीमत प्रभाव।

भारत सरकार ने समय-समय पर प्रतिकूलता को दूर करने के उपाय किये हैं। ये इस प्रकार हैं :– न्यूनतम नोट निगर्मन प्रणाली को अनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर अपनाना, आयातों पर प्रतिबंध लगाना, निर्यातों को प्रोत्साहन करना, आयात प्रतिस्थापन की नीति अपनाना, विदेशों से अधिक सहायता प्राप्त करा, विदेशी अधिनियम 1973 पारित करना, स्थगित भुगतानों के आधार पर लाइसेन्स देना और स्वर्ण नीति बनाना।

भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सुझाव इस प्रकार हैं :– निर्यातों को और अधिक प्रोत्साहन देना, घरेलू मांग को कम करना, आयात प्रतिस्थापन पर बल देना जिससे आयात की आवश्यकता और कम हो सके, मूल्य स्तर में स्थिरता लाना, प्रवासी भारतीयों को भारत धन भेजने के लिए प्रेरित करना और पर्यटन उद्योग को विकसित करना जिससे और अधिक पर्यटक भारत आने के लिए उद्यत हों।

23.10 शब्दावली

आयात प्रतिस्थापन (Import Substitution)	विदेशों से आयातित वस्तुओं का उत्पादन।
निर्यात संबर्द्धन (Export Promotion)	इसके अन्तर्गत उद्योगों को निर्यात करने के लिए अनेक उपायों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है।
अवमूल्यन (Devaluation)	देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करना।
विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights)	भुगतान शेष के दावों का निपटारा करने का अदभुत साधन, इसके द्वारा स्वर्ण का सहारा लिये बिना, विदेश भुगतानों के लिए, परिवर्तनशील मुद्राएं प्राप्त की जाती है। यह योजना 1970 से लागू हुई थी।
विनिमय प्रतिबंध (Exchange Control)	भुगतान शेष की कठिनाइयो को हल करने के लिए एक वैकल्पिक व्यवस्था जिसका अर्थ सरकार द्वारा विदेशी विनिमय बाजार की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करना है।
माडल (Model)	किसी आर्थिक प्रोग्रामिंग के विश्लेषण का एक व्यवस्थित क्रम है।

23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लक्ष्मी नारायण नाथूरामका, भारतीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा

सी.एस. बरला और आर.सी. अग्रवाल, भारतीय अर्थशास्त्र, रतन प्रकाशन मंदिर, देहली

एल.एस. राय, भारतीय अर्थशास्त्र, नव विकास प्रकाशन, पटना।

हरिशचन्द्र शर्मा और आर.एन. सिंह, भारतीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा

डा. चतुर्भुज मामोरिया और डा. एस.सी. जैन, भारत की आर्थिक समस्याएं, साहित्य भवन आगरा।

ए.एन अग्रवाल, भारतीय अर्थ-व्यवस्था, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि., नई दिल्ली

A. N. Agarwal, Indian Economy, Wilsey Eastern Ltd. New Delhi

P.C. Dhingra, The Indian Economy, Sultan Chand & Sons New Delhi

Rudra Datt and K.P.M. Sundhram, Indian Economy, S. Chand & Co. (Pvt.) Ltd., New Delhi.

S.K. Mishra and V.K. Puri, Indian Economy, Himalaya Publishing House, Bombay.

23.12 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. एक निश्चित अवधि में एक देश को विदेशों से जो भुगतान प्राप्त होता है और जो भुगतान करना होता है उसके क्रमबद्ध विवरण को भुगतान संतुलन कहा जाता हैं। यदि प्राप्ति अधिक होती है तो भुगतान सन्तुलन का आधिक्य और यदि भुगतान अधिक होता है तो भुगतान सन्तुलन का घाटा कहा जाता है।

2. व्यापार सन्तुलन में आयात निर्यात का विवरण रहता है जबकि भुगतान सन्तुलन में आयात निर्यात के साथ-साथ सेवाओं, पूंजी, और स्वर्ण आदि के आयात व निर्यात को शामिल किया जाता है।

3. भुगतान सन्तुलन के दो भाग हैं :

   (1) चालू खाता - इसमें व्यापार सतुलन, अदृश्य मदें, गैर मौद्रिक स्वर्ण की गतिशीलता को शामिल किया जाता है।

   (2) पूंजीगत वादे - इसमें निजी प्राप्तियां व निजी भुगतान सरकारी प्राप्तियां और सरकारी भुगतान, विदेशी ऋणों के ब्याज व मूलधन का भुगतान, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से रुपये की खरीद, बैंकिंग पूंजी की शुद्ध राशिया शामिल हैं।

बोध प्रश्न 2

1. योजनाकाल में भारत का भुगतान सन्तुलन सदैव ही प्रतिकूल रहा। पहली योजना में घाटा 43 करोड़ रुपये था। इस योजना में कोरिया युद्ध, अमरीका में मंदी, अनकूल वर्षा का भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। दूसरी योजना में घाटा बढ़कर 1725 करोड़ रुपये हो गया क्योंकि भारी मात्रा में मशीनरी का आयात किया गया था और निर्यात बढ़ नहीं सके थे। तीसरी योजना में घाटा दूसरी से भी अधिक 1951 करोड़ रुपये हुआ क्योंकि पूंजीगत में भुगतन सन्तुलन 99 करोड़ रुपये से अनुकूल था यह अनुकूलता अमरीका से रुपया राशियों में छूट के कारण थी। पांचवी और छठी योजना भी भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल रहा।

2. भारत के भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल होने के कारण थे — आयात में वृद्धि, निर्यात में अपेक्षितवृद्धि नहीं, आय प्रभाव और मूल्य प्रभाव विदेशी ऋण और व्यापार में सम्बन्ध का अभाव, विदेशी ऋणों पर ब्याज और उनकी अदायगी, पेट्रोलियम मूल्यों में वृद्धि।

बोध प्रश्न 3

1. विदेशी विनमय संकट को दूर करने के लिए सरकार के प्रयास इस प्रकार हैं —

   (i) मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन,

   (ii) प्रतिबन्धात्मक आयात नीति,

   (iii) निर्यात् प्रोत्साहन,

   (iv) अधिक विदेशी सहायता,

   (v) आयात प्रतिस्थापन,

   (vi) विदेशी विनिमय अधिनियम,

(vii) स्थगित भुगतान पद्धति और

(viii) स्वर्ण नीति का निर्माण।

2. भुगतान संतुलन की कठिनाई दूर करने के लिए सुझाव इस प्रकार हैं –

(i) निर्यात प्रोत्साहन,

(ii) घरेलू मांग को कम करना,

(iii) आयातों में कमी,

(iv) आयात प्रतिस्थापन,

(v) मूल्य स्तर में स्थिरता,

(vi) प्रवासी भारतीयों को धन भेजने के लिए आकर्षण,

(vii) पर्यटन उद्योग का विकास।

परिशिष्ट - (इकाई 23)

विभिन्न योजनाओं में भुगतान सन्तुलन की स्थिति

सातवीं योजना में भुगतान सन्तुलन

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1985-86	–9586	+3630	–5956
1986-87	–9354	+3524	–5830
1987-88	–9296	+3003	–6293
1988-89	–13555	+1975	–11580
1989-90	–12413	+1025	–11388
कुल	–54204	+13157	–41047

वार्षिक योजनाओं 1990-91, 1991-92 में भुगतान सन्तुलन

वर्ष	*व्यापार शेष*	*शुद्ध अदृश्य मदें*	*भुगतान शेष*
1990-91*	–16934	–435	–17369
1991-92*	–6945	+4258	–2237

*प्रस्तावित

आठवीं योजना के प्रथम दो वर्षों 1992-93 व 1993-94 में व्यापार शेष क्रमश : –14101 करोड़ रुपये व –7484 करोड़ रु. रहा। 1992-93 में शुद्ध अदृश्य मदें 1337 करोड़ रु. व 1993-94 में 3848 रु. रहा।

भुगतान शेष घाटा 1992-93 में –12764 रु. व 1993-94 में - 3636 करोड़ रु. रहा।

इकाई 24

निर्यात सम्वर्द्धन और आयात प्रतिस्थापन

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 निर्यात-सम्वर्द्धन का अर्थ

24.3 निर्यात-सम्वर्द्धन की आवश्यकता

24.4 निर्यात-सम्वर्द्धन के मार्ग में बाधाएं

24.5 निर्यात-सम्वर्द्धन के लिए सरकारी प्रयत्न

24.6 निर्यात-सम्वर्द्धन के लिए सुझाव

24.7 आयात-प्रतिस्थापन का अर्थ

24.8 आयात-प्रतिस्थापन में प्रगति

24.9 आयात-प्रतिस्थापन से लाभ

24.10 आयात-प्रतिस्थापन से हानियां

24.11 आयात-प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में सुझाव

24.12 सारांश

24.13 शब्दावली

24.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.15 अभ्यासों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

आप पिछली इकाई में भुगतान सन्तुलन की स्थिति का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आपको निर्यात-सम्वर्द्धन और आयात-प्रतिस्थापन से परिचित कराया जायेगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- निर्यात-सम्वर्द्धन और आयात-प्रतिस्थापन को परिभाषित कर सकेंगे
- निर्यात-सम्वर्द्धन की आवश्यकता प्रतिपादित कर सकेंगे,
- निर्यात-सम्वर्द्धन के मार्ग में बाधाओं का वर्णन कर सकेंगे,
- निर्यात-सम्वर्द्धन के सम्बन्ध में सरकार द्वारा किए गये प्रयत्नों पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- निर्यात-सम्वर्द्धन के लिए सुझाव दे सकेंगे,
- आयात-प्रतिस्थापन का अर्थ समझा सकेंगे,

- आयात-प्रतिस्थापन में प्रगति का उल्लेख कर सकेंगे,
- आयात-प्रतिस्थापन से लाभ और हानियों की व्याख्या कर सकेंगे,
- आयात-प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में सुझाव दे सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने भारत की भुगतान सन्तुलन स्थिति के सम्बन्ध में पढ़ा है। अब इस इकाई में आप निर्यात सम्वर्द्धन और आयात प्रतिस्थापन के विषय में पढ़ेंगे। भारत जैसी किसी भी विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए निर्यात सम्वर्द्धन और आयाम-प्रतिस्थापन का विशेष महत्व है।

यहां आपको बताया जायेगा कि निर्यात-सम्वर्द्धन तथा आयात-प्रतिस्थापन का अर्थ क्या है? आपको यह स्पष्ट किया जायेगा कि भारत के लिए निर्यात सम्वर्धन की आवश्यकता क्यों है? आपको निर्यात सम्वर्द्धन के मार्ग में आने वाली बाधाओं से अवगत कराया जायेगा और यह भी बताया जायेगा कि निर्यात सम्वर्द्धन के लिए सरकार ने क्या प्रयत्न किये हैं? साथ ही निर्यात प्रोत्साहन के लिए सुझाव भी दिये जायेंगे। आयात-प्रतिस्थापन भी देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए अत्याधिक महत्वपूर्ण है। इसकी प्रगति के बारे में आपको जानकारी दी जायेगी। आयात प्रतिस्थापन के लाभ और हानियों का विश्लेषण भी किया जायेगा। साथ ही आपको आयात प्रतिस्थापन के लिए सुझाव भी दिये जायेंगे।

24.2 निर्यात सम्वर्द्धन का अर्थ

निर्यात सम्वर्द्धन से तात्पर्य निर्यात प्रोत्साहन से है जिसमें निर्यात वृद्धि के लिए निर्यात उद्योगों को अधिक से अधिक निर्यात बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके लिए नकद सहायता (Cash Subsidy) दी जाती है, बैंकों से रियायती दर पर ऋण दिये जाते हैं निर्यात के आधार पर आयात की अनुमति दी जाती है, निर्यात की वस्तु पर रेल-भाड़े और जहाज भाड़े में छूट दी जाती है और निर्यात करने वाले फर्म को आयकर में छूट दी जाती है।

24.3 भारत के लिए निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता

भारत जैसे विकासशील देश के लिए निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता कई कारणों से है-

1. प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन ठीक करने के लिए - स्वतंत्रता के बाद भारत का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल रहा है जिससे विदेशी विनिमय की समस्या ही नहीं केवल बनी रही है बल्कि पंचवर्षीय योजनाओं को जिस ढ़ंग से बनाना चाहते थे बनाने में भी कठिनाई हुई है।
2. विदेशी ऋण-भार कम करने के लिए — भारत का विदेशी व्यापार असन्तुलित रहा है। व्यापार घाटा हमेशा ही बढ़ा है। आर्थिक योजनाओं के लिए धन की कमी बनी रही है। सरकार ने भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए और योजनाओं को चलाने के लिए भारी मात्रा में विदेशों से और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लिए हैं। विश्व बैंक के अनुसार भारत पर विदेशी ऋणों का भार 1988 के अंत में 76,000 करोड़ रुपये होने का अनुमान है। इन ऋणों को चुकाने और ब्याज के भुगतान के लिए निर्यात वृद्धि की जरूरत है।
3. विकास योजनाओं की सफलता के लिए — विकास योजनाओं को सफलतापूर्वक चलाने के लिए पूँजीगत वस्तुओं के आयात जरूरी है। इन आयातों के लिए निर्यात वृद्धि आवश्यक है।

4. अर्थ-व्यवस्था को आत्म-निर्भर बनाने के लिए — विदेशी सहायता पर दीर्घ काल के लिए निर्भर रहना देश के लिए घातक है इसके बहुत से दुष्परिणाम हैं। इनसे देश को मुक्त रखने के लिए निर्यात वृद्धि जरूरी है।

5. विश्व के कुल निर्यात व्यापार में भागीदारी बढ़ाने के लिए — विश्व के कुल निर्यात तेजी से बढ़े हैं पर कुल निर्यात में भारत की भागीदारी कुछ कम हुई है। जहां 1950 में विश्व के कुल निर्यात में भारत का भाग 2.1 प्रतिशत था वह घटकर 1974 में केवल 0.5 प्रतिशत हो गया है। भारत की विश्व के कुल निर्यात में भागीदारी बढ़ाने के लिए निर्यात प्रोत्साहन जरूरी है।

6. बढ़ती हुई आयात आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए — भारत की आयात आवश्यकताओं में आगे चलकर वृद्धि ही होना है। हाँ, यह वृद्धि विकास की प्रक्रिया को मंद करके अवश्य ही रूक सकती है। कई बार तेल की कीमतों में वृद्धि ने समस्या को और भी उलझा दिया है। तेल आर्थिक क्रियाओं के लिए एक आवश्यक उत्प्रेरक (Catalyst) है। इसकी खपत को एक सीमा तक ही नियंत्रित किया जा सकता है। भारत की तेल आवश्यकताओं में तो वृद्धि ही होना है जिसकी पूर्ति के लिए तेल का आयात बिल तो बढ़ना ही है। इसके अतिरिक्त भारत में ही तेल के उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी विदेशी पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि तेल का आयात करने और तेल क्षेत्र का विकास करने के लिए भारी मात्रा में विदेशी पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी इसलिए निर्यात-सम्वर्द्धन जरूरी है।

7. ऋणों पर ब्याज भुगतान की समस्या — ऋणों पर ब्याज भुगतान की समस्या ने गंभीर मोड़ ले लिया है और यह कहा जा रहा है कि ब्याज भुगतान की समस्या और गंभीर बन सकती है। यह तो किसी दशा में ठीक नहीं होगा कि ऋणों पर ब्याज चुकाने के लिए ऋण लिये जायें। अच्छा तो यही होगा कि निर्यात-सम्वर्द्धन द्वारा भुगतान की व्यवस्था की जाये।

8. उत्पादों के विक्रय के लिए — अनेक क्षेत्रों में उत्पादन के लिए उन्नत तकनीक का प्रयोग करना पड़ता है जिसके कारण उत्पादन का पैमाना बड़ा रहता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से घरेलू बाजार पर्याप्त नहीं रहता है, इसलिए विदेशी बाजार खोज लेने की आवश्यकता है।

9. उपभोक्ता वस्तुओं के व्यापार के लिए — देश में उपभोक्ता वस्तुओं जैसे कि खाद्य तेल, शक्कर, खाद्यान्न की कई बार कमी पड़ जाती है। इनकी कमी से अर्थ-व्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। भविष्य में इन वस्तुओं की कमी पड़ सकती है। निर्यात वृद्धि से आय में वृद्धि हो सकेगी और इन उपभोक्ता वस्तुओं का भी आयात किया जा सकेगा है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देश की सुरक्षा के बाद निर्यात का ही स्थान है (Second only to defence) इससे निर्यात-सम्वर्द्धन की अत्याधिक आवश्यकता व्यक्त होती है।

24.4 निर्यात-सम्वर्द्धन के मार्ग में बाधाएं

निर्यात-सम्वर्द्धन के लिए अनेक प्रयत्न करने पर भी जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी नहीं मिली और व्यापार सन्तुलन हमेशा ही प्रतिकूल रहा है। निर्यात वृद्धि के मार्ग में अनेक बाधाएं है —

1. ऊँचे मूल्य — भारत की अधिकांश वस्तुओं के मूल्य अधिक होते हैं, जिसें कारण विदेशी बाजारों में इनकी मांग कम होती है। हम जूट की वस्तुओं, सूती वस्त्र चीनी इत्यादि के सम्बन्ध

में विदेशी उत्पादको के सामने नहीं टिक पाते हैं। कई वस्तुओं का निर्यात करने पर उत्पादकों को हानि होती है, जिसकी पूर्ति सरकार करती है। ऊँची कीमत होने के तीन कारण हैं —

(i) मुद्रा प्रसार के कारण भारत में कीमतों का स्तर दूसरे देशों की तुलना में काफी ऊँचा है,

(ii) भारतीय उद्योगों की कुशलता कम है,

(iii) भारतीय उत्पादक लागत के प्रति सचेत नहीं है।

2. विदेशी प्रतियोगिता — निर्यात की अनेक वस्तुएं विदेशी प्रतियोगिता के कारण बिक नहीं पाती हैं। सूती वस्त्र में जापान और चीन, चाय में श्रीलंका और जूट की वस्तुओं में बांग्ला देश ने हमारे विदेशी बाजारों को सीमित कर दिया है ।

3. आयातों पर सीमाएं और ऊँचे कर — हमारी अनेक निर्यात वस्तुओं पर विदेशी सरकारों ने ऊँचे आयात कर लगा रखें हैं और आयात सीमाएं निश्चित कर रखी हैं जिससे कम मात्रा में वस्तुओं का निर्यात हो पाता है। सूती वस्त्र, तम्बाकू, चाय, जूट के सामान, चमड़े के सामान, साईकिलों आदि के निर्यात में ऊँचे कर और मात्रा की सीमाएं बाधक हैं।

4. निम्न स्तर की वस्तुएं — निर्यात वस्तुओं का स्तर घटिया है, जिससे प्रतिस्पर्धा में ये ठहर नहीं पाती हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं : आधुनिकीकरण और तकनीकी ज्ञान की कमी।

5. भारतीय व्यापारियों की नीतियां — भारतीय व्यापारियों की नीतियां दोषपूर्ण हैं। वे नमूने के अनुसार वस्तुएं निर्यात नहीं करते हैं। रुस को एक बार जूतों का निर्यात किया गया था, पर जूते नमूने के अनुसार नहीं थे, इसलिए लौटा दिये गये। इसी तरह अमरीका को काली मिर्च का निर्यात किया गया था। उसमें मिलावट पाई गई, इसलिए अमरीका ने लौटा दी। व्यापारियों की इन दोषपूर्ण नीतियों के कारण विदेशों में भारतीय वस्तुओं की साख कम हो गई है।

6. सीमित बाजार — भारतीय वस्तुओं का बाजार संकुचित है। यदि विदेशी बाजार में मांग कम हो जाती है तो हमारे निर्यात भी कम हो जाते हैं। यदि ब्रिटेन में चाय की मांग कम हो जाती है तो चाय का निर्यात भी मांग के अनुसार कम हो जाता है।

भारत के निर्यातों में परम्परावादी वस्तुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। चाय, जूट की वस्तुएं, सूती वस्त्र का कुल निर्यात में हिस्सा 50 प्रतिशत हैं। यदि इन वस्तुओं की मांग कम होती है तो निर्यात भी कम हो जाते हैं।

7. स्थानापन्न वस्तुओं का प्रभाव — स्थानापन्न वस्तुओं के कारण निर्यात कम हो रहे हैं। जूट और सूती वस्त्र का स्थान स्थानापन्न वस्तुओं ने ले लिया है जिससे इनकी मांग कम हुई हैं।

8. प्रचार की कमी — भारतीय वस्तुओं का प्रचार विदेशों में धन की कमी के कारण कम होता है, जिससे निर्यात वृद्धि आशाजनक नहीं है।

9. आयात-प्रतिस्थापन उन्मुख विनियोग नीति — निर्यात-सम्वर्द्धन के मार्ग में आयात-प्रतिस्थापन उन्मुख विनियोग नीति बाधक है। इस नीति के कारण उत्पादक को देश में ही, आयातों पर प्रतिबंधों के कारण, एक संरक्षित बाजार मिल जाता है और उन्हें आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं के उत्पादन से शीघ्र और लाभ मिल जाता है। ऐसे में ये उत्पादक निर्यात का जोखिम नहीं उठाना चाहते हैं, क्योंकि विदेशी बाजारों में इन्हें कठिन प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है।

GL.

बोध प्रश्न 1

1. निर्यात-प्रोत्साहन से आप क्या समझते हैं?
2. भारत में निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता किन कारणों से है?
3. निर्यात सम्वर्द्धन के मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएं है?

24.5 निर्यात-प्रोत्साहन के लिए सरकारी प्रयास

भारतीय सरकार निर्यात वृद्धि के लिए हमेशा ही प्रयत्नशील रही है। सरकार के द्वारा अनेक प्रयास भी किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं –

1. **संस्थागत व्यवस्थाएं** – निर्यात सम्वर्द्धन के लिए विभिन्न संगठनों का निर्माण किया गया है –

(i) व्यापार मंडल (Board of Trade) – इस बोर्ड का लाभ व्यापार के सभी पक्षों पर विचार करने के बाद सरकार को सलाह देना है। यह बोर्ड अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि विशेषकर निर्यात में वृद्धि के लिए प्रयत्न करता है। इसने निर्यात सम्बन्धी अवसरों से परिचित कराया है। उत्पादन व्यय में कमी, साख की सुविधा और जहाज-भाड़े की समस्या पर सुझाव भी दिये हैं।

(ii) निर्यात सम्वर्द्धन निदेशालय (Export Promotion Directorate) – इसका काम निर्यातकों को आवश्यक सूचनाएं और सहायता देना है। यह व्यापार मंडल के निर्देशों और सुझावों को लागू करता है। इसके चार क्षेत्रीय कार्यालय दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता और चेन्नई में हैं।

(iii) निर्यात सम्वर्द्धन सलाहकार परिषद (Export Promotion Advisory Council) यह परिषद सरकार को आयात और निर्यात नीति की समीक्षा करती है और सरकार को परामर्श देती है।

(iv) क्षेत्रीय निर्यात-सम्वर्द्धन सलाहकार समितियां (Regional Export Promotion Advisory) देश के विभिन्न क्षेत्रों में निर्यात सम्भावनाओं और समस्याओं पर ये समितियां विचार करती हैं और अपने अपने क्षेत्रों की समस्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं।

(v) निर्यात सम्वर्द्धन परिषद (Export Promotion Council) – इनमें उद्योग, व्यापार और सरकार तीनों के प्रतिनिधि होते हैं। ये निर्यात वृद्धि के लिए परामर्श देती है। आज इस तरह की अलग अलग वस्तुओं जैसे काजू, सूती वस्त्र, हाथ-करघा, जवाहरात, मसाले की अनेक परिषदें हैं।

(vi) वस्तु मंडल (Commodity Board) – ये मंडल अपने से सम्बन्धित वस्तु के उत्पादन, विकास और निर्यात का काम करते हैं। कई वस्तुएं जैसे कि चाय, तम्बाकू, रबर, काफी, मसाले के मंडल स्थापित किये गये हैं। –

(vii) निर्यात साख और प्रत्याभूति निगम (The Export Credit and Guarantee Corporation) – यह निगम निर्यातकों को उन अनिश्चिताओं के लिए बीमा सुविधा देता है, जोकि सामान्य बीमा कम्पनियों द्वारा नहीं दी जाती है। इसके द्वारा जारी निर्यात साख प्रत्याभूति पालिसी (Export Credit Guarantee Policies) आधार पर बैंक निर्यातकों को ऋण देते है।

(viii) राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) — तथा अन्य निगम — निर्यातों की वृद्धि करना और आवश्यक आयातों की व्यवस्था करना निगम का मुख्य उद्देश्य है।

इस निगम की सहायता के लिए कुछ और निगम गठित किये गये हैं — परियोजना और उपकरण निगम (Project and Equipments Corporation), खनिज और धातु व्यापार निगम (Minesals and Metals Trading Corporation) हस्तशिल्प और हथकरघा निगम Handicrafts and handloom Export Corporation), भारतीय काजू निगम (Cashew Corporation of India), रसायन और मेषण निगम (Chemistry & Pharmaceuticals Corporation)

(ix) निर्यात निरीक्षण परिषद — (Export Inspection Council) — इसका कार्य किस्म नियंत्रण और जहाज में माल लदान के पूर्व निरीक्षण व्यवस्था द्वारा निर्यात प्रोत्साहित करना है।

(x) भारतीय पैकेजिंग संस्थान (Indian Institute of Packaging) — इसका मुख्य उद्देश्य विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुओं की प्रतियोगी क्षमता को बढ़ाने के लिए पैकेजिंग में सुधार करना और अनुपयुक्त पैकेजिंग के कारण होने वाली हानियों को कम करना है। यह पैकेजिंग तकनीक में प्रशिक्षण भी देता है और सलाहकार का काम भी करता है।

(xi) भारतीय विदेशी व्यापार संस्थान (Indian Institute of Foreign Trade) — इसका काम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेलों और विदेशों में भारतीय प्रदर्शनियों का आयोजन करना है जिससे कि भारतीय वस्तुओं का प्रचार किया जा सके।

2. संरचनात्मक सुविधायें (Infra-structure Facilities):

(i) निर्यात सदन (Export-House) — सरकार ने कुछ व्यवसायिक फर्मों को निर्यात सदन की मान्यता दी है। सरकार ने यह निर्यात व्यापार में विशिष्टीकरण के लिए किया है। इन सदनों को निर्यात व्यापार के सम्बन्ध में विशेष सुविधाएं दी जाती हैं।

(ii) व्यापारिक सदन (Trading House) — फर्में जो कि निर्यात व्यापार कुशलता से कर रही है उन्हें सरकार ने व्यापारिक सदन की मान्यता दी है। इन्हें निर्यात सदनों की तुलना में अधिक सुविधाएं दी जाती हैं।

(iii) निर्यात प्रक्रियन क्षेत्र (Export Processing Zone) — इलैक्ट्रानिक उपकरणों के निर्यात-सम्वर्द्धन के लिए सान्ताक्रुज में यह क्षेत्र बनाया है। इस क्षेत्र में निर्मित वस्तुओं को निर्यात करना जरूरी है। इसी तरह के क्षेत्र चेन्नई, फाल्टा, कोचीन और नोएडा में भी स्थापित हैं।

(iv) कान्दला मुक्त व्यापार क्षेत्र (Kandla Free Trade Zone) — इस क्षेत्र में निर्यात प्रधान इकाइयों को स्थापित किया है। इस क्षेत्र में स्थापित इकाइयों को विशेष सुविधाएं दी जाती हैं।

3. राजकोषीय सुविधाएं (Fiscal Measures) –

(i) रोकड़ क्षतिपूर्ति सुविधाएं (Cash Compensating Support) — कुछ वस्तुओं के लिए रोकड क्षतिपूर्ति सहायता विदेशी बाजारों में उनकी प्रतिस्पर्धा शक्ति बढ़ाने के लिए दी जाती है।

(ii) कर वापसी योजना (Drawback of Duties) — निर्यात वस्तुओं के लिए उत्पादन में प्रयोग किए गये कच्चे माल और उपकरणों पर वसूला गया उत्पाद और आयात शुल्क वापिस किया जाता है।

(iii) विपणन विकास सहायता (Marketing Development Assistance) — इस योजना में निर्यातकों को विदेशी बाजारों का विकास करने के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है।

4. **अन्य सुविधाएं -**

(i) शत-प्रतिशत निर्यात उन्मुख इकाइयों को सुविधा (Hundred Percent Export Oriented Units) — शत प्रतिशत उत्पादन का निर्यात करने वाली इकाइयों को बढ़ावा देने की व्यवस्था की गई है। इन इकाइयों को एक बिन्दु से ही औद्योगिक लाइसेन्स, विदेशी सहयोग, पूँजीगत और कच्चे माल के आयात की स्वीकृति दी जाती है।

(ii) व्यापारिक प्रतिनिधि (Trade Representative) — सरकार ने विदेशों में व्यापारिक प्रतिनिधि नियुक्त किये हैं, जो निर्यात वृद्धि की संभावनाओं का अध्ययन करते हैं और पता लगाते हैं कि भारत से किन वस्तुओं का निर्यात किया जा सकता है।

(iv) व्यापारिक समझौते (Trade Agreements) — सरकार ने द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते निर्यात वृद्धि के लिए किए हैं। अनेक समझौते रुपया भुगतान पर आधारित हैं।

(v) निर्यात आयात बैंक (Exim Bank) — यह बैंक विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करता है।

24.9 निर्यात-सम्वर्द्धन के लिए सुझाव

सरकारी उपायों के कारण से निर्यात व्यापार के क्षेत्र में अच्छे परिणाम निकले हैं। निर्यात में वृद्धि हुई है। यह वृद्धि बहुत बड़ी सीमा तक गैर-परम्परावादी वस्तुओं — खनिज लोहा, लोहा और इस्पात, इन्जीनियरी का सामान, चमड़ा, चीनी, मोती, हीरा, जवाहरात कपड़े, रसायन इत्यादि में हुई है। कुल निर्यात में गैर-परम्परावादी वस्तुओं का अनुपात बढ़ गया है।

यद्यपि अभी तक के प्रयत्नों के परिणाम सन्तोषजनक हैं, पर पर्याप्त नहीं है। योजनाओं के लिए मुद्रा की मांग तेजी से बढ़ रही है। इस दशा में निर्यात वृद्धि आवश्यक है। निर्यात वृद्धि के लिए सुझाव इस प्रकार हैं —

1. उत्पादन में वृद्धि — यह जरूरी है कि उत्पादन के लक्ष्य पूरे किये जायें क्योंकि ऐसा करके ही निर्यात के योग्य बचत में वृद्धि की जा सकती है।

2. प्रतिस्पर्द्धा शक्ति में वृद्धि — भारतीय वस्तुएं विश्व बाजारों की प्रतिस्पर्द्धा में टिक सकने योग्य होंनी चाहिये। इसके लिए कुछ कदम उठाना जरूरी हैं —

   (i) घिसे-पिटे पुराने संयत्र हटाये जाना चाहिए। नये आधुनिक संयंत्र लगाये जाना चाहिएं।

   (ii) वे वस्तुएं जिनके निर्माण में श्रम अधिक लगता है ऐसे देशों को निर्यात की जाना चाहिए जहां कि श्रम मंहगा है।

   (iii) ऊपरी परिव्यय और लाभ की मार्जिन कम की जाना चाहिए। मूल्यों में स्थिरता का

प्रयास किया जाना चाहिये। जापान और पश्चिमी जर्मनी ने मूल्य स्थिरता के द्वारा ही निर्यात क्षेत्र में अद्‌भुद् सफलता प्राप्त की है।

3. विपणन अनुसंधान — यह हमेशा पता लगाते रहना चाहिये कि विदेशों में किन-किन वस्तुओं की मांग है जिससे कि उसी तरह की वस्तुओं का उत्पादन और निर्यात किया जा सके।

4. अधिक प्रचार — विदेशों में भारतीय वस्तुओं का विज्ञापन और प्रचार करना चाहिये जिससे कि वस्तुओं की मांग उत्पन्न हो सके।

5. निर्यात के लिए उत्पादन — कुछ इकाईयों की स्थापना केवल निर्यात के लिए ही की जानी चाहिये। ऐसी इकाइयों को करों में छूट और मशीने आयात करने की छूट मिलनी चाहिए। इन्हें पूँजी भी उपलब्ध कराई जानी चाहिए और स्थानीय अधिकारियों का सहयोग भी भी मिलना चाहिए।

   इन इकाइयों में उत्पादन के लिए कुछ ऐसी वस्तुओं का चुनाव कर लेना चाहिए जो कि तुलनात्मक लागत की दृष्टि से लाभप्रद हैं — यह चुनाव साधनों की उपलब्धि के आधार पर किया जा सकता है। फिक्की (FICCI) ने कुछ इस तरह की वस्तुएं बताई हैं जैसे कि हैन्ड टूल, निर्मित खाद्यान्न मशीन टूल्स, व्यापारिक गाड़ियां, चमड़े की वस्तुएं तैयार कपड़े इत्यादि।

6. सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका — सार्वजनिक क्षेत्र को भी निर्यात व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। यह क्षेत्र बड़े आकार की विदेशी फर्मों और समाजवादी देशों से प्रभावी ढ़ंग से व्यापार कर सकता है।

7. निर्यात वस्तुओं में सुधार — निर्यात वस्तुओं में गुणात्मक सुधार करना चाहिए। इससे वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति बढ़ेगी। कुछ समय पूर्व सरकार ने गुण नियंत्रण (Quality Control) और जहाजों में लदान के पूर्व निरीक्षण (Pre-shipment Inspection) जैसी व्यवस्थाएं की हैं। पर अच्छा तो यह होगा कि उत्पादन की वस्तुओं की गुणवत्ता में वृद्धि करते रहें और घटिया प्रकार की वस्तुओं का निर्यात करने का प्रयत्न न करें।

8. व्यापारिक समझौते — निर्यात वृद्धि द्विपक्षीय समझौते, जैसा कि अमरीका कर रहा है, तीसरी दुनिया के देशों और समाजवादी देशों के साथ करना चाहिए। अफ्रीका और एशिया के विकासशील देशों के साथ व्यापार के अवसर अधिक हैं और इन देशों के साथ व्यापार शर्तें अधिक अनुकूल भी रहती हैं।

9. धनात्मक प्रेरणाएं — विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता बहुत है। ऐसी दशा में धनात्मक प्रेरणाएं विशेष महत्व रखती हैं। निर्यात से प्राप्त विदेशी मुद्रा का एक निश्चित अंश निर्यातकों को मुक्त रूप से व्यय करने की छूट दी जानी चाहिए। यह छूट और अधिक निर्यात करने के लिए प्रोत्साहन दे सकती है।

10. साख सुविधाएं — निर्यात वस्तुओं के निर्यातकों और उत्पादकों को साख की सुविधाएं दी जानी चाहिये। साख सस्ती और यथा शीघ्र दी जानी चाहिये। सरकार ने इस दिशा में काफी कुछ किया भी है।

बोध प्रश्न 2

1. भारत में निर्यात को प्रोत्साहन करने के लिए कौन-कौन से उपाय किये गये हैं?

2. भारत का निर्यात व्यापार बढ़ाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे?

24.7 आयात-प्रतिस्थापन का अर्थ

व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को कम करने के लिए आयात में कमी करना आवश्यक है। आयात में कमी करने के लिए आयात-प्रतिस्थापन जरूरी है। आयात-प्रतिस्थापन का अर्थ है कि जिन वस्तुओं को हम विदेशों से आयात करते हैं उनका उत्पादन देश में ही जहां सम्भव हो किया जाये जिससे उस वस्तु के आयात की जरूरत ही न रह जाये या फिर बहुत कम आयात से ही उसकी जरूरत पूरी हो जाये। आयात-प्रतिस्थापन नीति के दो मुख्य उद्देश्य हैं। पहला तो यह है कि विदेशी मुद्रा को अधिक महत्वपूर्ण वस्तुओं के आयात पर खर्च किया जाये और दूसरा यह है कि अधिक से अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध में देश आत्म-निर्भर बन जाये।

नियोजन के आरम्भ से ही यह नीति प्रारम्भ की गई थी और आज भी चल रही है। इस नीति का रूप परिवर्तित होता रहता है। प्रारंभ से तो इसका अर्थ यही था कि विदेशी उपभोग वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी उपभोग वस्तुओं का प्रयोग किया जाये। पर फिर इसका अर्थ बदला और यह हुआ कि पूँजीगत वस्तुओं की प्रतिस्थापक वस्तुएं तैयार की जायें। आज इसका अर्थ यह है कि देशी तकनीक का विकास किया जाये और विदेशी तकनीकों पर आत्मनिर्भरता कम की जाये।

24.8 आयात-प्रतिस्थापन में प्रगति

आयात-प्रतिस्थापन के कारण आयात का ढ़ांचा बदल गया है। अनेक ऐसी वस्तुएं जिनका कि पहले आयात होता था आज उनका आयात होता ही नहीं है। सरकार को आयात-प्रतिस्थापन नीति में पर्याप्त सफलता मिली है। इस नीति के फलस्वरूप ही निर्माण उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग, रसायन उद्योग, इलैक्ट्रानिक उद्योग विकसित हुए हैं। इन उद्योगों ने करोड़ों रुपये की विदेशी मुद्रा की बचत की है। आयात प्रतिस्थापन की वृद्धि को एक तालिका से दिखाया जा सकता है। यह तालिका कुल आन्तिरक पूर्ति में आयातों का अंश दिखाती है।

तालिका 24.1

कुल आपूर्ति में आयात का प्रतिशत

क्रमांक मद	प्रथम योजना का प्रारम्भ 1950-51	प्रथम योजना का अंत 1955-56	द्वितीय योजना का अंत 1960-61	तृतीय योजना का अंत 1965-66	वार्षिक योजनाओं का अंत 1968-69	चतुर्थ योजना का अंत 1973-74	पंचम योजना का अंत 1977-78	1983-84
1. खाद्यान्न	5.9	1.7	4.7	9.5	5.6	4.3	0.2	4.0
2. लोहा और इस्पात	25.5	39.9	35.7	16.7	9.3	18.5	1.1	6.0
3. मशीनरी	68.9	41.0	40.7	27.8	24.6	17.0	15.3	18.0
4. पेट्रोलियम	92.5	93.8	94.6	76.6	66.2	70.8	63.1	33.6
5. नत्रजन खाद	72.5	39.8	80.3	58.3	60.9	38.3	27.5	1.0

इससे यह तो स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं में आयात-प्रतिस्थापन नीति सफल रही है। पहली योजना के प्रारम्भ में कुल स्वदेशी पूर्ति में आयातों का योग खाद्यानों के लिए 59 प्रतिशत, लोहा और इस्पात के लिए 25.2 प्रतिशत, मशीनरी के लिए 68.9 प्रतिशत, पेट्रोलियम के लिए 92.5 और नत्रजन खाद के लिए 72.5 प्रतिशत था। 1983-84 में इन सभी वस्तुओं कुल आपूर्ति में इनके आयातों का अंश घटकर 4.0 प्रतिशत ही रह गया। इस तरह पेट्रोलियम को छोड़कर अन्य वस्तुओं के आयात-प्रतिस्थापन में विशेष सफलता मिली है। आवश्यकता इस बात की है कि पेट्रोलियम के उत्पादन को देश में बढ़ाने के भरसक प्रयत्न किये जावें।

24.9 आयात-प्रतिस्थापन से लाभ

आयात-प्रतिस्थापन अत्यधिक महत्वपूर्ण और लाभप्रद है; इसके लाभ इस प्रकार हैं —

1. भारत की औद्योगिक संरचना का विविधीकरण हुआ है। आज हमारे देश की औद्योगिक संरचना एक विकसित देश के समान है।
2. भरत जैसे विशाल देश में मूलभूत और पूँजीगत उद्योगों का होना जरूरी है। ये उद्योग देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी आवश्यक हैं। आज भारतीय औद्योगिक ढांचे में इन पूँजीगत उद्योगों का विशेष स्थान है। जलील अहमद ने कहा है कि 1950-51 से 1965-66 के मध्य समस्त औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का लगभग एक-चौथाई और पूँजीगत माल के उत्पादन में वृद्धि का लगभग आधा आयात-प्रतिस्थापन का परिणाम है।
3. मध्य-वस्तुओं के उद्योंगो का पर्याप्त विकास हुआ है।
4. स्वतंत्रता के पूर्व औद्योगिक उत्पादन की दर 2 प्रतिशत थी, आज यद्यपि यह दर बहुत सन्तोषजनक नहीं है पर फिर भी लगभग 6 प्रतिशत है।
5. आयात संरचना आज बदल गई। निर्मित वस्तुओं के आयात का महत्व कम हो गया है। हमारी आयात सूची से अनेक निर्मित वस्तुएं गायब हो गई हैं। आज 75 प्रतिशत आयात कच्ची सामग्री और मध्य वस्तुओं के होते हैं। पूँजीगत वस्तुओं के आयात तो कम होकर कुल आयातों का 16 प्रतिशत ही रह गये हैं। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है —

तालिका 24.2

प्रयोग के अनुसार वर्गीकृत भारत के मुख्य आयात

(प्रतिशत अंश)

प्रयोग के अनुसार वर्गीकरण	1950-51	1955-56	1960-61	1965-66	1970-71	1975-76	1986-87
उपभोक्ता वस्तुएं	26.2	91.6	23.9	22.8	13.0	25.3	3.5
कच्चा माल और मध्य वस्तुएं	53.6	51.4	46.6	19.8	54.6	52.4	77.8
पूँजीगत वस्तुएं	20.2	28.7	29.5	45.5	24.7	18.3	15.0

निर्यात वस्तुओं में अब अनेक ऐसी वस्तुएं शामिल हो गई हैं जिनका पहले कभी निर्यात होता ही नहीं था। कुछ निर्यात की वस्तुएं जैसे कि इन्जीनियरी का सामान और रसायन तो अति आधुनिक वस्तुएं हैं।

6. भारत के विदेशी व्यापार में घाटे को कम करने मे सहायता मिली है। आयातों की मात्रा और मूल्यों में कमी हुई है।

7. व्यापार संतुलन के घाटे को कम करने के लिए यह उपाय निर्यात प्रोत्साहन से अधिक सरल और अच्छा है। निर्यात-सम्वर्द्धन की सफलता तो निर्यात वस्तुओं की विदेशी बाजारों मांग और प्रतियोगिता में ठहरने की क्षमता पर निर्भर करते हैं जबकि आयात प्रतिस्थापन की सफलता घरेलू मांग और उत्पादन के प्रयत्नों पर निर्भर करती है।

24.10 आयात-प्रतिस्थापन से हानियां

आयात प्रतिस्थापन नीति की सफलताओं के साथ कुछ हानियां भी हैं :—

1. आयातों में प्रतिबंध के कारण जो मांग उत्पन्न हुई थी लगता है कि अब समाप्त हो गई है। पर्याप्त घरेलू मांग न होने के कारण औद्योगिक विकास गति मंद पड़ गई है। बीमार इकाईयों की बढ़ती हुई संख्या भी इस बात की सूचक है।

2. अनेक उद्योग संरक्षण के कारण अकुशल हैं। उनकी अकुशलता ऊँची लागत, निम्न उत्पादकता, औद्योगिक बीमारी और पुरानी तकनीक के सूचकों से स्पष्ट हो जाती है। पूँजीगत उद्योग भी समय के साथ उत्पादन तकनीक में परिवर्तन नहीं कर पाये हैं। आयातों से प्रतियोगिता न होने कारण इन उद्योगों ने अपनी कुशलता बढ़ाने का प्रयास नहीं किया है।

3. उपभोक्ताओं का शोषण हुआ है। उन्हें ऊँचे मूल्यों पर घटिया किस्म की वस्तुएं खरीदनी पड़ी हैं। टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पूर्णतः बन्द रहने से इन वस्तुओं का बाजार विक्रेता बाजार में बदल गया है।

4. आयात प्रतिस्थापन के कारण कुछ लागतें तो ऋणात्मक ही हैं। दूसरे शब्दों में इस नीति के कुछ परिणाम अच्छे नही हैं। ऋणात्मक लागतें इस प्रकार है —

   (i) संरक्षरण के कारण श्रम प्रधान और कुशल फर्मों के स्थान पर पूँजी प्रधान और अकुशल फर्मों की स्थापना होती है,

   (ii) सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि होती है जिसके कारण निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाती है,

   (iii) निर्यात उद्योगों की अपेक्षा अधिक साधन, आकर्षक घरेलू बाजार के कारण, आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं के निर्माण में लगा दिये जाते हैं. इससे विदेशी मुद्रा की हानि और साधनों का अपव्यय होता है।

5. आयात प्रतिस्थापन और आयात नियंत्रण से उत्पादन व्यवस्था विकृत हुई है। संरक्षण की छाया में नए उद्योग स्थापित हुए हैं, जिससे देश उत्पादन साधनों पुनआवंटन हुआ है। यह पुनः आवंटन ठीक से नहीं हुआ है। भारत में आय के वितरण में भारी असमानता आई है और सत्ता पर सम्पन्न वर्ग का नियंत्रण है। विलासिता वस्तुओं के आयात पर रोक लगते ही इन वस्तुओं का उत्पादन बहुत बढ़ा है। अनावश्यक प्रदर्शन उपभोग और विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों का तेजी से विकास हुआ है। भारत जैसे देश के लिए ऐसे उद्योगों की स्थापना की अवसर लागत बहुत ऊँची है।

24.11 आयात प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में सुझाव

आयात प्रतिस्थापन को प्रभावी बनाने के लिए सुझाव इस प्रकार हैं —

(1) आयात प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में विवेक से काम लेना चाहिये और अविवेकपूर्ण दौड़ से बचना चाहिये। संरक्षण सभी उद्योगों को अंधा-धुंध नहीं देना चाहिये और जिन उद्योगों को दिया जाये वह उतने समय तक ही देना चाहिए, जब तक कि आश्यक है। संरक्षण भी इस तरह का होना चाहिये जिससे प्रतियोगिता भी समाप्त न हो और उत्पादन लागते घटाने का प्रयास किया जाता रहे। कृषि और उद्योग दोनों में ही कुछ वस्तुओं का आयात प्रतिस्थापन संभव है। खाद्य तेलों का आयात उचित नियोजन के द्वारा 1200 करोड़ रुपये प्रति वर्ष से कम किया जा सकता है और घरेलू खाद्यान्न तेल की मांग को पाम की खेती से पूरा किया जा सकता है।

(2) जिन क्षेत्रों में विदेशी विनिमय की आवश्यकता नहीं है उन क्षेत्रों में लाइसेन्सिग और नियंत्रण को हटा देना चाहिये।

(3) उद्योगपतियों और सरकार को आयात प्रतिस्थापन से सम्बन्धित अनुसंधान और विकास पर ध्यान देना चाहिये। इसके लिए यदि कर भी लगाना पड़े तो भी सरकार को संकोच नहीं करना चाहिये।

(4) आयात प्रतिस्थापन की लागत पर ध्यान देना चाहिए।

(5) आयात प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में जो भी व्यक्ति आविष्कार करते हैं, उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये।

(6) संरक्षण केवल उन्हीं उद्योगों को देना चाहिये जो बाद में अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं।

(7) संरक्षण देने के लिए तटकर या राजकोषीय नीति का उपयोग किया जाना चाहिये। आवश्यक होने पर ही कोटा प्रणाली के रूप में संरक्षण देना चाहिये।

(8) संरक्षण एक सीमित अवधि के लिए ही दिया जाना चाहिये और बहुत आवश्यक होने पर ही बढ़ाया जाना चाहिये।

बोध प्रश्न 3

1. आयात प्रतिस्थापन से क्या आशय है?
2. आयात-प्रतिस्थापन में कहां तक वृद्धि हुई है?
3. आयात प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में आपके क्या सुझाव हैं?

24.12 सारांश

भारत के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के और व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता को सुधारने के लिए निर्यात सम्वर्द्धन और आयात प्रतिस्थापन महत्वपूर्ण आवश्यकताएं है। निर्यात सम्वर्द्धन के अन्तर्गत सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए तरह तरह के प्रोत्साहन दिये जाते है।

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के समाधान, नये उत्पादों के लिए बाजार, विकास योजनाओं की सफलता और स्वावलम्बी अर्थ-व्यवस्था के लिए निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता है।

उच्च मूल्य स्तर, विदेशी प्रतियोगिता, आयातों पर सीमायें और ऊँचे कर, निम्न स्तर का माल, व्यापारियों की दोषपूर्ण नीति, सीमित बाजार, स्थानापन्न वस्तुएं प्रचार और प्रसार की कमी आदि ऐसी बाधाएं जो निर्यात सम्वर्द्धन पर विपरीत प्रभाव डालती हैं।

निर्यात की मात्रा में वृद्धि के लिए सरकार ने अनेक प्रयास किये हैं। सरकार ने संस्थागत कई व्यवस्थाएं की हैं, संरचनात्मक सुविधाओं का निर्माण किया है, राजकोषीय और अन्य सुविधाएं प्रदान की हैं।

निर्यात वृद्धि के लिए लागतों में कमी, वस्तुओं की किस्म में सुधार, व्यापारिक समझौते, विपणन अनुसंधान की जरूरत है और साथ ही निर्यातको को निर्यात के लिए प्रेरणाएं तथा वित्तीय सुविधाएं देने की भी आवश्यकता है।

आयात प्रतिस्थापन का तात्पर्य विदेशों से मंगाई जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर देशी वस्तुओं का उत्पादन करने और प्रयोग करने से होता है।

आयात-प्रतिस्थापन में पर्याप्त प्रगति हुई है। अनेक वस्तुओं का आयात समाप्त हो गया है और अनेक का कम हो गया है। कई उद्योगों का विकास हुआ है और आयात की संरचना भी बदल गई है।

आयात प्रतिस्थापन के फलस्वरूप औद्योगिक ढांचा विकसित देश के समान हो गया है, मूलभूत और पूँजीगत उद्योगों का विकास हुआ है, औद्योगिक उत्पादन की दर में वृद्धि हुई है, विदेशी व्यापार के घाटे को कम करने में सहायता मिली है और आयातों का स्वरूप बदल गया है।

आयात-प्रतिस्थापन के कुछ दुष्परिणाम भी सामने आये हैं। संरक्षण और आयातों पर प्रतिबंध के कारण उत्पादकों ने लागतें कम करने और वस्तुओं की किस्म सुधारने का प्रयत्न नहीं किया है। उनके द्वारा तकनीकी विकास पर ध्यान नहीं दिया गया है और विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया है। उपभोक्ताओं का शोषण किया गया है। विदेशी बाजारों की प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए उनके द्वारा साधनों को निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में नहीं लगाया है अपितु आयात-प्रतिस्थापक वस्तुओं के उत्पादन में लगाया है।

आयात-प्रतिस्थापन को प्रभावी बनाने के लिए विवेक से काम लेना चाहिये। संरक्षण भी सभी उद्योगों को नहीं देना चाहिये। संरक्षण भी सीमित समय के लिए ही देना चाहिये और उन उद्योगों को देना चाहिये जो अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं।

24.13 शब्दावली

संरक्षण (Protection)	:	सरकार की नीति जिसके अन्तर्गत विदेशी प्रतिस्पर्धा से गृह-उद्योगों की रक्षा के लिए आयात व्यापार पर प्रतिबंध लगाये जाते हैं।
आर्थिक विकास (Economic Development)	:	ऐसी प्रक्रिया जिसमें दीर्घकाल में किसी अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।
उपरिपरिव्यय (Overheads cost)	:	परिवहन, संचार, शक्ति बीमा बैंकिग आदि पर व्यय।
श्रम प्रधान तकनीक (Labour Intensive Technique)	:	श्रम की अधिक मात्रा और पूँजी की कम मात्रा का प्रयोग होता है।
पूँजी प्रधान तकनीक (Capital Intensive Technique)	:	पूँजी का अधिक और श्रम का कम उपयोग होता है।

स्वतंत्र व्यापार (Free Trade) : विभिन्न देशों के मध्य वस्तुओं और सेवाओं का स्वतंत्र आदान प्रदान।

आयात कोटा (Import Qoutas) : सरकार द्वारा विभिन्न वस्तुओं के अधिकतम कोटे निश्चित करना और कोटों से अधिक मात्रा में आयात न करने देना।

24.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए. एन. अग्रवाल, भारतीय अर्थ व्यवस्था : प्रकृति और समस्याएं, वाइली ईस्टर्न लिमिटेड नई दिल्ली।

रूद्र दत्त और सुन्दरम, भारतीय अर्थ व्यवस्था, एस. चंद, एण्ड सन्स नई दिल्ली।

एल. एम. राय, भारतीय अर्थ व्यवस्था, नव- विकास प्रकाशन, पटना।

श्रीधर पाण्डेय, भारतीय अर्थ व्यवस्था : प्रकृति और समस्याएं, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

एल.एम. राय, भारत की आर्थिक समस्याएं, नव-विकास प्रकाशन, पटना।

कृष्ण सहाय सक्सेना और के. एल. गुप्ता, भारत का आर्थिक विकास, नवयुग साहित्य सदन, आगरा।

A.N. Agarwal, Indian Economy, Wiley Eastern Ltd. New Delhi

I.C. Dhingra, The Indian Economy, Sultan Chand & Sons, New Delhi.

S.K. Mishra and V.K. Puri, Indian Economy, Himalaya Publishing House, Bombay.

Rudra Dutt and Sundhram, Indian Economy, S.Chand & Sons, New Delhi.

24.15 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. निर्यात प्रोत्साहन के अन्तर्गत सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने के अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिये जाते हैं। जैसे- निर्यात प्रधान उद्योगों को निर्यात कर से छूट दी जाती है, निर्यात की वस्तुओं का उत्पादन कर मुक्त कर दिया जाना आदि।

2. निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को कम करने, विकास योजनाओं की सफलता, नये उत्पादकों के लिए बाजार और अर्थ-व्यवस्था को स्वावलम्बी बनाने के लिए हैं।

3. निर्यात सम्वर्द्धन के मार्ग में भारतीय वस्तुओं की ज्यादा कीमतें, उनका घटिया स्तर, विदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता, निर्यातकों को नमूने के अनुसार माल न भेजने की नीति और विदेशी सरकारों द्वारा भारतीय वस्तुओं पर ऊँचे कर जैसी अनेक बाधाएं हैं।

बोध प्रश्न 2

1. भारतीय सरकार ने समय-समय पर निर्यात सम्वर्द्धन के लिए अनेक प्रयास दिये हैं जो कि विस्तृत रूप से चार भागों में विभाजित किये जा सकते हैं :—

   (1) संस्थागत (2) संरचनात्मक (3) राजकोषीय (4) अन्य।

2. भारतीय निर्यात व्यापार को बढ़ाने के लिए सुझाव : उत्पादन लागत में कमी, निर्यात वस्तुओं की किस्म में सुधार, निर्यातकों को रचनात्मक प्रेरणाएं, वित्तीय सुविधाये और विपणन अनुसंधान।

बोध प्रश्न 3

1. आयात-प्रतिस्थापन का अर्थ है कि आयात की जाने वाली वस्तु का उत्पादन देश में ही किया जाये जिससे कि उसका आयात न करना पड़े।

2. आयात प्रतिस्थापन की प्रगति सन्तोष जनक है। अनेक वस्तुओं का आयात भारत अब नहीं करता है और अनेक का आयात कम कर दिया है।

3. उद्योगों के संरक्षण सोच-समझकर देना चाहिये, संरक्षण की अवधि सीमित रखना चाहिये, उन्हीं उद्योगों को संरक्षण देना चाहिये जो कि आगे चलकर अपने आप खड़े रह सकते हैं और संरक्षण के कारण प्रतियोगिता भावना समाप्त नहीं होना चाहिये।

परिशिष्ट 1 (इकाई 24)

जुलाई 1991 से निर्यात बढ़ाने के लिए किए गए उपाय

1. रुपए का अवमूल्यन - जुलाई 1991 में सरकार ने दो बार रुपए का लगभग 18% अवमूल्यन किया जिससे निर्यात बढ़ाए जा सकें।

2. एक्ज़िम स्क्रिप (Exim Scrip) नीति का उपयोग - सरकार ने 1991 में निर्यात वस्तुओं पर 30% एक्ज़िम स्क्रिप नीति लागू करके निर्यात बढ़ाने का प्रयास किया। इसके अनुसार निर्यातक अपनी कुल निर्यात आमदनी का 30% खुले बाजार में प्रीमियम पर बेच सकते थे अथवा सीमित इजाजत की आयात सूचि के अनुसार स्वंय आयात कर सकते थे।

3. रुपए की आंशिक परिवर्तनीयता - 1992-93 में रुपए को निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से आंशिक रूप से परिवर्तनीय कर दिया। इसके अन्तर्गत दोहरी विनिमय दर प्रणाली को अपनाया गया।

इन उपायों के फलस्वरूप 1993-94 में निर्यातों में 20% की वृद्धि हुई (डालर में) 1994-95 में यह लगभग 18.4% रही।

नई निर्यात नीति (1992-97)

31 मार्च, 1992 को आठवीं पंचवर्षीय योजना के अनुरूप यह नीति घोषित की गई। इसकी अवधि पाँच वर्ष रखी गई जबकि इससे पूर्व त्रीवर्षीय आयात-निर्यात नीति घोषित की जाती थी। इस नीति की प्रमुख बातें निम्न हैं —

1. इस नीति में विदेशी व्यापार को काफी मात्रा में मुक्त कर दिया गया है। लेकिन आयातों व निर्यातों के लिए एक नकारात्मक सूचि रखी गई।

2. आयातों की नकारात्मक सूचि को दो भागों में बाँटा गया —

(i) निषेधात्मक मदें : टाइलो, पशु रैनिट व अवनिर्मित, हाथी दांत इन तीन मदों के आयात की पूर्ण मनाही थी।

(ii) प्रतिबंधात्मक मदें : ये मदें लाइसेन्स से ही आयात की जा सकती थी। इसमें ग्यारह उपभोक्ता वस्तुए रखी गई। तथा 70 अन्य प्रकार की वस्तुएं रखी गई हैं।

3. सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित मदों (Canalised list) की श्रेणी में 8 मदें रखी गई।

4. निर्यातों की नकारात्मक सूची को भी दो भागों में बाँटा गया।

(i) निषेधात्मक सूची - इसमें 7 मदें हैं जिनके निर्यात की सख्त मनाही है।

(ii)(a) 51 मदें ऐसी थी जिनका निर्यात लाइसेन्स से ही संभव है।

(ii)(b) 11 मदें ऐसी थी जिनके निर्यात पर मात्रात्मक सीमा लगा दी गई।

5. 10 मदें जैसे अभ्रक वेस्ट, प्याज, घी, खनिज अयस्क आदि का निर्यात सार्वजनिक एजेन्सियों की मार्फत किया जाएगा।

6. 46 मदें ऐसी थी जिनका निर्यात कुछ शर्तें पूरी करने के बाद बिना लाइसेन्स के ही निर्यात किया जा सकेगा।

7. अग्रिम लाइसेन्सों के अर्न्तगत शुल्क मुक्त आयातों का क्षेत्र बढ़ा दिया।

8. निर्यात घरानों, ट्रेडिंग व स्टार घरानों को अग्रिम लाइसेन्स स्कीम के तहत स्वसर्टिफिकेशन की इजाजत दी गई।

9. पूँजीगत वस्तुओं के आयात को उदार बनाया गया।

10. 100% निर्यातोन्मुख इकाइयों व मुक्त व्यापार तथा प्रोसेसिंग क्षेत्र में स्थित इकाइयों को अधिक सुविधाएं प्रदान की गई।

एक वर्ष के अनुभव के पश्चात् 31 मार्च 1993 को इस (1992-97) आयात-निर्यात नीति में व्यापक संशोधन किए गए। जिनका उद्देश्य विदेशी व्यापार नीति को अधिक उदार बनाना व निर्यातों में तेजी से वृद्धि करना था।

30 मार्च 1994 को वाणिज्य मंत्री श्री प्रणव मुखर्जी ने एक्जिम नीति में और उदारीकरण की घोषणा की।

परिशिष्ट 2 (इकाई 24)

निर्यात सम्वर्द्धन और आयात प्रतिस्थापन

नई निर्यात-आयात नीति (1997-2002)

1997-2002 की अवधि के लिए वाणिज्य राज्य मंत्री श्री बी.बी. रमैया ने 31 मार्च 1997 को नई आयात-निर्यात नीति की घोषणा की। इसकी अवधि नवीं पंचवर्षीय योजना के अनुरूप रखी गई हैं। इसके निम्न उद्देश्य हैं।

1. देश की अर्थव्यवस्था को विश्वोन्मुख व गतिमान बनाना।

2. विकास की दर में स्थिरता रखने के लिए कच्चे माल, मध्यवर्ती वस्तुएं कल-पुर्जे व पूँजीगत माल उपलब्ध कराना ताकि उत्पादन वृद्धि सुचारू रहे।

3. भारतीय कृषि, उद्योग तथा सेवा क्षेत्र की तकनीकी क्षमता को बढ़ाना।

4. उपभोक्ता वर्ग को उचित कीमत पर उत्तम किस्म की वस्तुएं सुलभ कराना।

इस नीति की मुख्य बातें इस प्रकार हैं –

1. मात्रा आधारित लाइसेन्स स्कीम जारी रखी गई है। यह निर्यातकों को प्रोत्साहन देने के लिए है। लेकिन मूल्य आधारित अग्रिम लाइसेन्स स्कीम व पास बुक स्कीम समाप्त कर उसके स्थान पर शुल्क अधिकार पास बुक स्कीम लागू की गई है। इससे निर्यातकों को शुल्क मुक्त इनपुट आयात करने का अवसर मिलेगा।

2. निर्यात प्रोत्साहन-पूँजीगत माल सकीम के अन्तर्गत पूंजीगत मात्रा के आयात पर शुल्क की दर 15% से घटाकर 10% की गई। शून्य शुल्क स्कीग के अर्न्तगत कृषिगत व सहायक पदार्थों के लिए आयात राशि की सीमा 20 करोड़ रुपए से घटाकर 5 करोड़ रु. कर दी गई।

3. प्रतिबन्धित सूचि में 542 मदों को स्पेशल आयात लाइसेन्स (SIL) व खुले सामान्य लाइसेन्स (OGL) की सूचि में हस्तान्तरित कर दिया।

4. कृषिगत क्षेत्र को बढ़ावा देनो के लिए निर्यात घराने व व्यापार घराने की स्टेटस पाने के लिए कृषिगत निर्यातों के लिए दोहरे वजन (Double Weighting) की व्यवस्था की गई। कृषिगत व सहायक क्षेत्र अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत मात्रा घरेलू प्रशुल्क क्षेत्र में बेच सकेंगे।

5. पावर क्षेत्र के अलावा तेल व गैस क्षेत्र को भी निर्यात लाभ (Deemed export profit) दिया जाएगा।

6. स्वर्ण-आभूषणों से निर्यात को बढ़ावा देने के लिए MMTC, STC, SBI व HHEC आदि एजेन्सियों के अतिरिक्त अन्य एजेन्सियों को भी इनका स्टॉक रखने की अनुमति दी जाएगी।

7. लघु पैमाने के उद्योग के माल के निर्यात पर स्पेशल आयात लाइसेन्स की मात्रा एक प्रतिशत से बढ़ाकर दो प्रतिशत कर दी गई है।

8. जिन निर्यातकों के पास ISO 9000 अथवा IS/ISO 9000 का सर्टिफिकेट होगा उनके लिए स्पेशल आयात लाइसेन्स की सुविधा 2% से बढ़ाकर 5% कर दी गई हैं। सॉफ्टवेयर कम्पनियों को भी निर्यात के लिए विशेष सुविधाएं दी जाएंगी।

9. निर्यात घराने, व्यापारिक घराने, स्टार व्यापारिक घराने व सुपर स्टार व्यापारिक घराने की श्रेणी प्राप्त करने के लिए पिछले तीन वर्षों के औसत निर्यात की राशि क्रमशः 20 करोड़, 100 करोड़, 500 करोड़ तथा 1500 करोड़ रुपए की गई पर 1997 में इन्हें घटाकर क्रमशः 12.5 करोड़, 62.5 करोड़, 312.5 करोड़ व 937.5 करोड़ रुपए कर दिया गया।

10. राशिपतन (Dumping) के खिलाफ संस्थागत व्यवस्था व सुरक्षा के उपाय सुदृढ़ किए गए ताकि देश के उद्योगों को क्षति ना पहुँचे।

इकाई 25

भारतीय कर व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 कर की अवधारणा

25.3 हमारी अर्थव्यवस्था में कराधान की भूमिका

25.4 भारतवर्ष में कराधान के उद्देश्य

25.5 केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों के बीच करों का बंटवारा

25.6 महत्वपूर्ण केन्द्रीय कर

25.7 राज्य सरकारों के महत्वपूर्ण कर

25.8 प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष कर

25.9 भारतीय कर व्यवस्था के महत्वपूर्ण लक्षण

25.10 कर सुधार की आवश्यकता

25.11 सारांश

25.12 शब्दावली

25.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य यह है कि आप :

(1) कर की मूल अवधारणाओं एवम् उससे सम्बन्धित शब्दों से परिचित हो जाएं।

(2) कर प्रणाली के उद्देश्यों की जानकारी हो सकें,

(3) हमारी अर्थव्यवस्था में कराधान की बढ़ती भूमिका का मूल्यांकन कर सकें।

(4) केन्द्र सरकार एवम् राज्य सरकारों के बीच कर संसाधनों के बंटवारे एवम् इससे सम्बन्धित लक्षणों को पूर्णतः समझ सकें।

(5) केन्द्र एवम् राज्य सरकारों के महत्वपूर्ण करों के आधारभूत वर्णन से परिचित हो जाएं।

(6) हमारी कर प्रणाली का प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष घटकों में विभाजन एवम् उसके आशयों का समझ सकें।

(7) हमारी सम्पूर्ण कर प्रणाली के प्रमुख लक्षणों की जानकारी कर सकें तथा किन दिशाओं में सुधार करना है, बताया जा सके।

25.1 प्रस्तावना

इस इकाई में, हमारी कर प्रणाली से सम्बन्धित कुछ पहलुओं का अध्ययन करेंगे। कुछ आधार

भूत तथ्यों के परिचय से हमारी अर्थव्यवस्था में करों की भूमिका तथा कराधान के उद्देश्य को आप समझ सकेंगे। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच कर साधनों का बंटवारा तथा इस बंटवारे के आधारभूत लक्षण क्या है? इस इकाई का महत्वपूर्ण करों के वर्णन के बाद प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष करों की भूमिका का अध्ययन किया जायेगा। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कर प्रणाली के प्रमुख लक्षणों की भी जानकारी दी जायेगी। इनमें सुधार की आवश्यकता भी बताई जायेगी तथा उन तरीकों का भी वर्णन किया जायेगा, जो कि सुधार के लिए काम में लिए जा सकते हैं।

25.2 कर की अवधारणा

प्रत्येक सरकार को अपनी क्रियाओं के वित्तीयन के लिए साधनों की आवश्यकता होती है एवम् कर इस प्रकार के साधनों का एक महत्वपूर्ण अंग है। सरकार के अन्य वित्तीय साधनों में जिनकों सम्मिलित किया जाता है उनमें महत्वपूर्ण है आधार, मुद्रा को जारी करना, सार्वजनिक उपक्रमों के लाभ एवम् लाभांश तथा अन्य विनियोग, ब्याज से प्राप्तियां, शुल्क एवम् जुर्माना आदि। कुल आय में करों का हिस्सा पूर्व निर्धारित नहीं होता है। सार्वजनिक आय में कर तथा गैर कर घटकों का अनुकूलतम सन्तुलन प्रत्येक देश में अलग-अलग होता है और एक देश में अलग-अलग समय पर अलग-अलग होता हैं। यह उस देश की परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

कर एक आवश्यक भुगतान है जो करदाता को सरकार को चुकाना पड़ता है एवम् जिसमें लाभ की भावना का अभाव रहता है। अतः कहा जा सकता है कि करदाता सरकार से किसी लाभ या सेवा का फायदा इसलिए नहीं ले सकता है, क्योंकि उसने कर चुकाया है। राज्य सेवाओं का लाभ सिर्फ करदाताओं को ही सुरक्षित नहीं है। इसके अलावा एक व्यक्ति द्वारा चुकाए जाने वाले कर की मात्रा से उसके लाभ की मात्रा का भी कोई प्रत्यक्ष समबन्ध नहीं है। कर कोई कीमत नहीं है जो कि सरकारी वस्तु या सेवा के बदले में मिलें। सरकारी खर्च का लाभ किसी को भी वैधानिक अस्तित्व पर लगाया जा सकता है जैसे - व्यक्ति विशेष, एक परिवार, व्यक्तियों के समूह, एक फर्म, समाज तथा संस्थाएं आदि। दंड भी एक अनिवार्य भुगतान है लेकिन इसका उद्देश्य इस प्रकार से आय प्राप्त करना नहीं होता है। इसी प्रकार कर तथा कीमत में भी भेद किया जाता है। कीमत सार्वजनिक अधिकारी किसी भी वस्तु या सेवा के बदले में वसूल करते हैं। लेकिन अधिकारी यदि अधिक कीमत वसूल करते हैं तो इस अधिक कीमत में कर तत्व भले ही हो लेकिन अधिकारिक लेखों मेंयह इस प्रकार दर्ज नहीं की जाएगी।

जिन उद्देश्यों के अर्न्तगत कर लगाया गया है, उनका वैधानिक विवरण ही कर का आधार है। उदाहरण के तौर पर करदाता को आयकर, अपनी आय पर (वास्तविक या नाम मात्र) जो कुछ नियमों के अर्न्तगत परिभाषित की जाती है, देना होता है। उत्पादन शुल्क वस्तुओं के उत्पादन, पैकिंग या निर्माण पर लगाया जाता है। एक व्यक्ति पर एक से अधिक कर लगाए जा सकते हैं। सरकार द्वारा लगाए गए सम्पूर्ण करों को कर प्रणाली कहतें है। प्रत्येक कर का स्वयं का आधार एवम् वैधानिक अस्तित्व होता है जिसके आधार पर यह कर लगाया जाता है। प्रत्येक कर से सम्बन्धित दरें जो कर के आधार के बदलने पर बदलती है और जिसके आधार पर करदाता पर कर का दायित्व निर्धारित किया जाता है, दर सूची कहलाती है। लगाए जाने वाले करों के प्रकार, एवम् कुल कर आय में उनके सापेक्षिक योगदान के वर्णन को कर ढांचा कहते हैं। इसी इकाई में बाद में आपको कुछ अतिरिक्त प्रत्ययों एवम् शब्दों से परिचित कराया जायेगा।

25.3 हमारी अर्थव्यवस्था में करों की भूमिका

यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्रत्येक देश में समय के साथ सरकारी कार्यों में वृद्धि की अन्तर्निहित प्रवृति पाई जाती है। नई क्रियाएं प्रारम्भ की जाती है एवम् मौजूदा क्रियाओं का विस्तार किया जाता है। तदानुसार सरकारी खर्च में भी वृद्धि होती है जिसके कारण अतिरिक्त साधनों की

आवश्यकता पड़ती हैं। इस प्रकार समय के साथ साथ कर आय में भी वृद्धि की अन्तर्निहित प्रवृति पायी जाती है। देखा गया है कि यह वृद्धि निरपेक्ष रूप में भी होती है और कुल घरेलू उत्पादन अनुपात के रूप में भी। सरकारी क्रियाओं तथा कर आय में वृद्धि के लिए कई कारण जिम्मेदार हैं। आधुनिक सरकार कल्याण प्रेरित सरकार है। यह नागरिकों के जीवन में गुणात्मक सुधार लाना चाहती है। इस कारण स्वास्थ्य, शिक्षा, खाद्य, जीवन एवम् धनकी सुरक्षा, रहन सहन आदि की व्यवस्था करने की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया जाता है। वह समाज तथा उसकी आर्थिक एवम् सामाजिक संस्थाओं के पुनः निर्माण में रचनात्मक भूमिका निभाना चाहती है। इसे शहरी करण एवम् सुरक्षा की बढ़ती समस्याओं का भी समाधान करना पड़ता है। समाज एवम् अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई जटिलताएं यह आवश्यक कर देती है कि सरकार द्वारा प्रदान की गई सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार हो। इस कार्य के लिए विशेषज्ञों की सेवाएं ली जानी चाहिए और यातायात एवम् सन्देश वाहन के आधुनिकतम साधन तथा सुधरे हुए उपकरण एवम् मशीनरी का प्रयोग किया जाना चाहिए। बढ़ती कीमतें भी सरकारी खर्च तथा कर राजस्व में वृद्धि करती है। आपको यह मालूम होना चाहि कि आधुनिक सरकार साधनों के बटंवारे और बाजार व्यवस्था के दोषों को दूर करने में भूमिका निभा रही है। करों का न्यायोचित प्रयोग इन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकता है। वैयक्तिक करों का सही चुनाव, उनकी वैधानिक जानकारियां, दर सूची एवम् अन्य सम्बन्धित पहलू बाजार में मांग और पूर्ति की शक्तियों को चाही गई दिशा में प्रभावित कर सकते है। इसके कारण कई वस्तुओं एवम् सेवाओं का लागत-कीमत ढांचा प्रभावित होगा। आधुनिक सरकार किसी भी प्रकार अहस्तक्षेप की नीति को अपनाने वाली नहीं है। यह तो बताती है कि बजट के क्रियाशील होने से अर्थव्यवस्था की कार्यपद्धति प्रभावित होगी। सरकार द्वारा किया गया वित्तीय प्रवाह का आकार ही बताता है कि यह अर्थव्यवस्था का बड़ा एवम् महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस प्रकार सरकार इस निर्णय पर आती है कि सम्पूर्ण कर व्यवस्था, दर सूची, छूटें आदि का जान बूझकर प्रयोग चुने हुए आर्थिक एवम् सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए।

तालिका 25.1

कुल घरेलू उत्पादन में केन्द्र एवम् राज्य सरकारों का कर राजस्व

अवधि वार्षिक औसत	कर राजस्व (करोड़ रुपयों) में	कुल घरेलू उत्पादन साधन लागत पर चालू कीमतों पर (करोड़ रुपयों में)	कालम3 कालम 2 के के प्रतिशत के रूप में
1	2	3	4
प्रथम योजना	585	9,413	6.21
द्वितीय योजना	916	11,563	7.92
तृतीय योजना	2,239	16,723	13.39
पंचम योजना	11,441	70,389	16.25
छठी योजना	27,586	1,62,986	16.93
1982-83	27,242	1,58,217	17.22
1983-84	31,525	1,84,871	17.05
1984-85	35,813	2,06,357	17.36
1985-86	43,267	2,32,634	18.60
1986-87	49,540	2,58,875	19,14
1987-88	56,949	2,91,501	19.54
1990-91	87564	5,32,030	16.50

भारतवर्ष में भी, समय के साथ-साथ कर राजस्व में निरपेक्ष रूप में तथा कुल घरेलू उत्पादन के अनुपात के रूप में वृद्धि हुई हैं अर्थिक वृद्धि को बढ़ाने तथा कल्याणकारी समाज की रचना करने के प्रयास के कारण यह प्रवृति दिखाई दे रही है। तालिका 25.1 में चुने हुए समय में कुल घरेलू उत्पादन में केन्द्र एवम् राज्य सरकारों (स्थानीय निकायों का नहीं) का कर राजस्व दिखाया गया है। आपने देखा कि पहली योजना काल में कर राजस्व औसत रूप से 585 करोड़ रूपये प्रति वर्ष है। बाद की योजनाओं में यह लगातार बढ़ाया गया है एवम् छठी योजना में औसत रूप से 27,586 करोड़ रुपये प्रति वर्ष रहा है। 80 के काल में वृद्धि और भी अधिक तीव्र रही है और 1987-88 में यह लगभग 57,000 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी है। इसी प्रकार कुल घरेलू उत्पादन के अनुपात के रूप में यह पहली योजना में सिर्फ 6.21 प्रतिशत था, दूसरी योजना में 7.92 प्रतिशत था। तीसरी योजना में इसमें तीव्र वृद्धि हुई है और यह 13.39 प्रतिशत हो गया तथा छठीं योजना में यह और बढ़कर 16.93 प्रतिशत हो गया। 80 के काल में यह अनुपात बढ़ता जा रहा हैं और 1987-88 में 19.54 प्रतिशत तक पहुँच गया है। दूसरे शब्दों में कुल घरेलू उत्पादन का 1/5 वाँ हिस्सा केन्द्र एवम् राज्य सरकारों को कर राजस्व से मिलता है।

25.4 भारतवर्ष में कराधान के उद्देश्य

स्वतंत्रता प्राप्ति से ही भारतीय कर व्यवस्था आर्थिक एवम् सामाजिक प्रगति जैसे विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक प्रभावी नीति उपरकण के रूप में प्रयोग में आ रही है। आपको याद होगा कि एक समय वह था जबकि सरकार कराधान को सिर्फ आय का साधन ही मानती थी लेकिन आजकल यह सरकार के हाथ में महत्वपूर्ण एवम् प्रभावी उपकरण है। इसे स्वेच्छा से काम करने के लिए यदि छोड़ दे तो यह निम्न के सन्दर्भ में अनुकूलतम परिणाम नहीं देगा:-

1. उत्पादन, आय एवम् रोजगार का निर्माण,
2. आय एवंम् धन के वितरण की असमानताओं को कम करना,
3. प्रादेशिक आर्थिक असमानताओं को कम करना,
4. सन्तुलित एवम् तीव्र आर्थिक वृद्धि।

हमारे देश के सामने ये सब तथा अन्य समस्याएं हैं। अन्य समस्याओं में लगातार व्यापार का घाटा एवम् बगैर विदेशी उधार के भुगतान सन्तुलन की समस्या के समाधान की अयोग्यता आदि है। हमें हमारी अर्थव्यवस्था को अन्य देशों में होने वाले बड़े एवम् आकस्मिक परिवर्तनों से बचाना भी है। अतः कह सकते हैं कि यदि अर्थव्यवस्था को स्वेच्छा से काम करने के लिए छोड़ दें तो हमारी सहयोगी व्यापारिक अर्थव्यवस्थाओं में कीमत, और मांग तथा पूर्ति में परिवर्तन के कारण हमारी अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हो सकती है। इन परिवर्तनों के कारण हमारे आयातों की लागतें तथा उपलब्धता पर भी प्रभाव पड़ सकता है। ये हमारे निर्यात एवम् विदेशी मुद्रा उपार्जन को भी प्रभावित कर सकते हैं। अतः हमारी अर्थव्यवस्था के कार्य के तरीकों में सुधार के लिए कराधान की एक न्यायोचित नीति के प्रयोग की आवश्यकता है। आपको याद होगा कि हमने पिछले कई वर्षों से हमारी कर व्यवस्था में सुधार के लिए लगातार प्रयत्न किए हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि अधिकारी अभी भी इसको आदर्श पद्धति बनाने में सफल नहीं हो पाए हैं। इसमें अभी भी कई दोष हैं।

बोध प्रश्न

1. कर की परिभाषा दीजिए। कर तथा जुर्माना में भेद कीजिए।
2. कर आधार किसे कहते है?
3. उन कारणों का वर्णन कीजिए जिनके कारण सरकारी खर्च तथा कर राजस्व में वृद्धि हुई है।
4. भारत वर्ष में कराधान के मुख्य उद्देश्यों का संक्षिप्त में वर्णन कीजिए।

25.5 केन्द्र एवम् राज्यों के बीच करों का बँटवारा

हमारा संविधान इस बात को स्वीकार करता है कि केन्द्र से सभी राजकीय कर्त्तव्य कुशलता पूर्वक सम्पन्न करने की आशा नहीं की जा सकती है। जिन कार्यों की प्रकृति सम्पूर्ण भारत है, उन कार्यों को यह ज्यादा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार जिन कार्यों की विषय सूची एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलती है, उन कार्यों को राज्य सरकारों के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। उदाहरण के रूप में विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा राज्य की तुलना में केन्द्र ज्यादा सफलतापूर्वक कर सकता है। अतः भारत जैसे बड़े देश में बहुस्तरीय सरकार होनी चाहिए। वर्तमान में, हमारा संविधान केन्द्र एवम् राज्य सरकारों को मान्यता प्रदान करता है। तीसरे स्तर पर स्थानीय सरकारें राज्यों द्वारा अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में बनाई जाती है। जब एक स्थानीय निकाय बनाया जाता है तो इसका क्षेत्राधिकार परिभाषित किया जाता है। जो राज्य सरकार इस स्थानीय निकाय का निर्माण करती है, वह इसको अपने कुछ साधन एवम् कर्तव्य हस्तान्तरित करती है। इसी कारण से एक ही राज्य में स्थानीय निकायों के कर्त्तव्य एवम् साधन एक दूसरे से अधिकांश मात्र में भिन्न होते हैं। संघीय क्षेत्रों में स्थानीय निकायों का सृजन केन्द्र द्वारा किया जाता है और केन्द्र ही इनको कर्तव्य तथा वित्तीय साधन सौंपता है। यह इसीलिए किया जाता है क्योंकि संघीय क्षेत्रों के कर्तव्य एवम् वित्तीय साधन केन्द्र में ही निहीत होते हैं।

सरकारों के स्तर के अनुसार संविधान वित्तीय साधनों का बंटवारा भी करता है। इस आधार पर हमारी कर व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण तत्व हैं जिन्हें आपको ध्यान में रखना होगा।

आवंटन की कसौटी

केन्द्र एवम् राज्यों के बीच कर साधनों के आवंटन को दिशा निर्देश के विचारों में मुख्य रूप से मितव्यय, कुशलता एवम् एकरूपता को ध्यान में रखा जाता है। मितव्ययता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कर इक्कठे करने की लागतों से है। यह बताती है कि कर की रकम के अनुपात के रूप में कर उगाने की लागत कम से कम होनी चाहिए। कुशलता की कसौटी बताती है कि लगाया गया कर सरकार की प्रशासकीय मशीनरी की क्षमता के अन्दर होना चाहिए एवम् सरकार सम्बन्धित कर कानूनों को प्रभावपूर्ण तरीके से लागू कर सके। इसी प्रकार एकरूपता की कसौटी के अर्न्तगत यह आशा की जाती है कि जहाँ तक सम्भव हो पूरे देश या राज्य में कर की दरें एक समान हो। अतः जिन करों का फैलाव एवम् दर सूची पूरे भारतवर्ष के आधार पर है। (जैसे निगम कर एवम् कृषि आय पर कर) वे हमारे संविधान के अर्न्तगत केन्द्र को सौंपे गए हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य क्रियाएं भी केन्द्र के अधीन है जैसे अन्तर्राज्यीय व्यापार जिसमें एक से अधिक राज्य सम्मिलित हैं। इसके विपरीत कुछ कर ऐसे हैं जिनमें स्थानीय दशाओं के आधार पर दर एवम् विस्तार में अन्तर है, उनको हमारे संविधान के अन्तर्गत राज्यों को सौंपा गया हैं।

वास्तविक आवंटन

कर साधनों का राज्यों एवम् केन्द्र के बीच वास्तविक आवंटन भारतीय संविधान की सातवीं

अनुसूचि में आता है। इस अनुसूची में केन्द्र एवम् राज्यों से सम्बन्धित कार्यों एवम् वित्तीय साधनों को बताया गया है और इसकी तीन अनुसूचियां हैं। सूची प्रथम (संघीय सूची) में केन्द्र के कर साधनों सहित 97 मदें हैं। सूची द्वितीय (राज्य सूची) में राज्य सरकारों के कर साधनों सहित 65 मदें हैं। सूची तृतीय (समवर्ती सूची) में उन कार्यों का वर्णन है जो राज्यों एवम् केन्द्र सरकार दोनों द्वारा किए जा सकते हैं। लेकिन आपको याद रखना होगा कि केन्द्र एवम् राज्यों के बीच कर लगाने की समवर्ती शक्ति नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि एक ही आधार पर राज्य एवम् केन्द्र दोनों कर नहीं लगा सकते हैं। इस बात को समझने के लिए हम कुछ उदाहरण लेतें हैं। राज्यों को वस्तुओं एवम् सेवाओं पर बिक्री कर लगाने का अधिकार दिया हुआ है लेकिन वे समाचार पत्र पर कर या अन्तर्राज्य बिक्री पर कर नहीं लगा सकते हैं। इसी प्रकार राज्य विज्ञापनों पर कर लगा सकते हैं लेकिन समाचार पत्रों में आने वाले विज्ञापनों पर नहीं। सड़कों एवम् अन्तर्देशीय जल मार्गों द्वारा ले जाये जाने वाले यात्रीयों एवम् वस्तुओं पर राज्य सरकारें कर लगा सकती हैं लेकिन रेलवे, समुद्र हवाई यातायात पर कर लगाने का अधिकार केन्द्र के पास है। केन्द्र आय पर कर लगा सकता है लेकिन कृषि आय पर नहीं। इसी प्रकार मानव के उपभोग की मदिरा, अफीम, भारतीय भांग एवम् अन्य स्वापक औषध तथा पीनक लाने वाली वस्तुओं पर आबकारी कर लगाने का अधिकार राज्यों को है लेकिन यही वस्तुएं यदि दवाई या श्रृंगार सामग्री बनाने के लिए प्रयोग में ली जाती है तो यह अधिकार राज्यों को नहीं है।

कर लगाना, संग्रहण एवम् विनियोजन

मितव्ययता, कुशलता एवम् एकरूपता की कसौटी से यदि हम देखें तो मालूम होगा कि हमारा संविधान कर लगाने, संग्रहण एवम् विनियोजन में अन्तर करता है। इस आधार पर एक प्राधिकार द्वारा कर लगाया जा सकता है लेकिन संग्रहण दूसरे प्राधिकार द्वारा किया जा सकता है, या एक प्राधिकार कर संग्रहण करता है लेकिन उस आय को दूसरों को सौंपा जा सकता है। इन पहलुओं (कर लगाना, संग्रहण एवम् विनियोजन) के आधार पर सभी करों को जो भारतवर्ष में लगाए जा सकते हैं हमारा संविधान निम्न पांच श्रेणियों में बाटता है —

1. वह कर जो केन्द्र सरकार लगाए एवम् संग्रहित किए जाते है तथा केन्द्र ही उन्हें रख लेता है- इस श्रेणी में वे सभी कर आते हैं जो केन्द्र सरकार द्वारा लगाए जाते हैं। लेकिन इसमें निम्न कर सम्मिलित नहीं है।

(अ) गैर कृषि आय पर कर,

(ब) संघीय उत्पादन शुल्क,

(स) अनुच्छेद 269 के अर्न्तगत लगाए गए कर यदि कोई हो तो (इसके बारे में विस्तार से आप बाद में पढ़ेंगे)।

(द) अनुच्छेद 252 के अन्तर्गत लगाए गए कर (इसके बारे में विस्तृत जानकारी बाद में देंगे)। और

(य) अनुच्छेद 268 के अर्न्तगत लगाए कर (इसके बारे में भी विस्तृत जानकारी बाद में देंगे)।

केन्द्र राज्य के साथ जिन करों का बंटवारा नहीं करता हैं उनमें मुख्य हैं सीमा शुल्क, धनकर, उपहार कर, निगम कर, व्यय कर आदि।

2. वे कर जो केन्द्र सरकार द्वारा लगाए एवम् संग्रहित किए जाते है लेकिन जिनका बंटवारा राज्यों में कर दिया जाता है — इस श्रेणी में दो कर आते हैं

(अ) गैर कृषि आय पर कर – इस कर से प्राप्त शुद्ध आय का बंटवारा राज्यों में करना होता है। कर से प्राप्त आय में से राज्यों को मिलने वाला अनुपात वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर किया जाता है। वित्त आयोग की नियुक्ति निर्धारित समय पर इन सिफारिशों के लिए की जाती है। केन्द्र एवम् राज्यों के बीच बांटी जाने वाली (विभाज्य कोष) कर से प्राप्त आय के निर्धारण के लिए निम्न कटौतियां की जाती है जैसे–

(1) आय कर पर लगने वाला अधिभार एवम् उपकर,

संघीय क्षेत्रों को मिलने वाली कर प्राप्तियां,

(3) कर संग्रहण की लागत, और

(4) संघीय उपलब्धियों को मिलने वाली कर प्राप्तियां (भारत वष ् समेकित कोष में से किए जाने वाले भुगतान को संघीय उपलब्धियां कहते हैं। भारतवर्ष का समेकित कोष उन सभी शेषों से मिलकर बनता है जो भारत सरकार के हैं) इस सन्दर्भ में आपको याद रखना होगा कि निगम क्षेत्र द्वारा चुकाया गया आय कर (जिसको निगम कर कहते हैं) राज्यों में नहीं बांटा जा सकता है। आपको यह भी याद रखना होगा कि आप के विभाज्य कोष में से राज्यों को मिलने वाला हिस्सा उत्तरोत्तर वित्त आयोग ने बढ़ाया है और वर्तमान में यह 85 प्रतिशत है।

(ब) संघीय उत्पादन शुल्क – हमारा संविधान संघीय उत्पादन शुल्क की शुद्ध प्राप्तियों को राज्यों के बीच बांटने की सहमति प्रदान करता है। संघीय उत्पादन शुल्क का ढांचा ऐसा है कि वस्तु पर सबसे पहले मूल उत्पादन शुल्क लगाया जाता है। इस मूल उत्पादन शुल्क पर उपकर, अधिभार आदि के रूप में अतिरिक्त उगाही की जाती है। हमारा संविधान यह अनुबन्ध भी करता है कि केन्द्र राज्यों के बीच सिर्फ मूल उत्पादन शुल्क ही बॉट सकता है न कि उपकर एवम् अधिभार के रूप में प्राप्त आय। किस मूल उत्पादन शुल्क का बंटवारा होगा और कौन सा अनुपात राज्यों को जायेगा इसका निर्णय वित्त आयोग का सिफारिशों के आधार पर होता है। वर्तमान में सभी मूल उत्पादन शुल्क की शुद्ध आय का बंटवारा होता है। राज्यों को 45 प्रतिशत मिलता है एम् केन्द्र को 55 प्रतिशत।

3. वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए एवम् संग्रहित किए जाते है, लेकिन जिसकी सम्पूर्ण शुद्ध आय राज्यों को जाती है – इसके अन्तर्गत दो प्रकार के कर हैं। उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 269 तथा 252 के अर्न्तगत लगाए गए कर।

(अ) अनुच्छेद 269 के अर्न्तगत लगाए गए कर – इस अनुच्छेद में सात प्रविष्टयां है जिसमें कई कर हैं जिन्हें केन्द्र लगा एवम् संग्रहित कर सकता है लेकिन जिनकी सम्पूर्ण शुद्ध प्राप्तियां राज्यों को सौंप दी जाती है। इस सूची में से केन्द्र ने दो कर लगाए है जो गैर-उपनगरीय रेल यात्री किराया कर और गैर कृषि सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क थे। वर्तमान में इस अनुच्छेद के अन्तर्गत कोई भी कर नहीं लगाया गया है लेकिन खेप कर लगाने का प्रस्ताव है।

(ब) अनुच्छेद 252 के अर्न्तगत लगाए गए कर – भारतीय संविधान के अनुच्छेद 252 के अन्तर्गत राज्यों ने केन्द्र को चीनी, तम्बाकू निर्मित तम्बाकू सहित एवम् कपड़े पर बिक्रीय कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार दे दिया है। आपको याद होगा कि ये उत्पादन शुल्क जो केन्द्र इन वस्तुओं पर मूल उत्पादन शुल्क के रूप में लगा सकती है, के ऊपर उपकर या अधिभार है। आपको याद होगा कि राज्यों ने इन वस्तुओं पर बिक्री कर लगाने का अधिकार छोड़ दिया है।

4. वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते है लेकिन राज्यों द्वारा संग्रहित किए जाते है एवम् रख लिए जाते है – इन करों का वर्णन अनुच्छेद 268 में दिया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था

के लिए यह तर्क दिया जाता है कि कुछ वस्तुओं पर पूरे देश में कर की दर एक समान होनी चाहिए। दवाईयां एवम् श्रृंगार की वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, मोटर वाहन पर कर, रजिस्ट्रेशन एवम् स्टाम्प शुल्क आदि, इस प्रकार के करों के उदाहरण हैं।

5. वे कर जो राज्यों द्वारा लगाए जाते है, संग्रहित किए जाते है एवम् रख लिए जाते है– इस श्रेणी में कई कर आते हैं जैसे बिक्री कर, भू-राजस्व, विज्ञापनों पर कर मनोरंजन कर एवम् आबकारी कर आदि।

टिप्पणियां

1. केन्द्र एवं राज्यों के बीच कर साधनों के बंटवारे का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि केन्द्र के पास सापेक्ष रूप से साधन अधिक है लेकिन कर्त्तव्य कम। इसी बात को यूं भी कहा जा सकता है कि वित्तीय असन्तुलन केन्द्र के पक्ष में है और राज्यों के विपक्ष में। इसका मुख्य कारण यह है कि केन्द्र के पास अधिकांश कर ऐसे है जो बिल्कुल ही उत्प्लावन है। जबकि राज्यों के पास ऐसे उत्प्लावन कर नहीं है। (आप उत्प्लावन शब्द का अर्थ बाद में समझेंगे। अभी आप इसका अर्थ यह ले सकते हैं कि उत्प्लावन कर से प्राप्त आय की वृद्धि उसके आधार की वृद्धि की दर से बढ़ती जा रही है क्योंकि समाज के आर्थिक एवम् सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित अधिकांश राजकीय कर्तव्य इनको सौपे गए हैं। वित्तीय असन्तुलन केन्द्र के पक्ष में होने के कारण ही केन्द्र से राज्यों को कर का हिस्सा, सहायता एवम् ऋण के रूप में, साधनों के हस्तान्तरण का प्रावधान किया गया है।

2. समय के साथ-साथ हमारी अर्थव्यवस्था अधिक जटिल एवम् समन्वित होती जा रही है। इसके कारण कुछ कर जो वर्मान में राज्यों के पास है, मितव्यता, कुशलता एवम् एकरूपता की कसौटी पर केन्द्रीय सूची में सम्मिलित करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। इसके विपरीत सामाजिक एवम् आर्थिक जिम्मेदारियां राज्यों की खर्च की आवश्यकता तेजी से बढ़ती जा रही है। अतः केन्द्र एवम् राज्यों के बीच करों का पुनः आवटंन होता है तो वित्तीय असंतुलन और भी ज्यादा केन्द्र के पक्ष में हो जायेगा।

3. संघीय क्षेत्र की स्थिति में राज्यों को आवंटित किये जाने वाले कर्तव्य एवम् साधन केन्द्र में निहित होते हैं।

4. जैसा कि आपने पहले देखा था, हमारे संविधान में स्थानीय निकायों के लिए अलग से कोई कर्तव्य एवम् साधनों की व्यवस्था नहीं है। राज्यों को निर्धारित कर्तव्य एवम् साधनों में से ही एक हिस्सा स्थानीय निकाय को उसके अर्न्तगत आने वाले क्षेत्र के लिए सौपा गया है। वर्तमान में यह चल रहा है कि संविधान में संशोधन करके साधनों को स्थानीय निकायों को सीधे ही दे दिया जाय।

25.6 महत्वपूर्ण केन्द्रीय कर

आय कर– आप ने पहले देखा था कि केन्द्र सरकार को गैर कृषि आय पर कर लागाने का अधिकार है जबकि राज्य सरकारें कृषि आय पर कर लगा सकती है। यह कर सबसे पहले 1860 में लगाया गया था जिसे हटा लिया गया और 1866 में पुनः लगा दिया गया। इन सभी दशाब्दियों में विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद में आय कर में अनेक प्रकार के परिवर्तन आए है। इसका कारण एक तो यह है कि हमारी सरकार आयकर को सिर्फ आय प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन ही नहीं बल्कि आय एवम् धन की असमानता को दूर करने का एक उपकरण भी मानती है। आयकर में परिवर्तनों को कर देय आय, दर सूची, छूट एवम् वापसी से सम्बन्धित किया गया है। अधिभार आदि लगाने के सम्बन्ध में भी लगातार परिवर्तन किए गए हैं। यह स्मरण रखने योग्य है कि

एक समय कर देय आय की उच्चतम सीमाओं पर कर की दर 97.5 प्रतिशत तक थी इतनी उंची कर की दर अनुत्पादक होती है। ऐसे विचार कई व्यक्तियों, समितियों ने दिए थे। कहने का तात्पर्य यह है कि यह लोगों को आय छिपाकर कर वंचन के लिए प्रेरित करता है जिसके कई बुरे प्रभाव होते हैं। सरकार को कर राजस्व प्राप्त नहीं होता है। छिपाई गई आय, धन एवम् आय की असमानताओं को बढ़ाती है। देश में वास्तविक विनियोग, नियोजन की प्राथमिकताओं के अनुरूप नहीं होता क्योंकि काले धन का विनियोग तो अधिकारियों से छिपा कर रखना होता है। यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि कर की दरें यथोचित सीमाओं में नीची रखी जायेगी तो सरकार को कर राजस्व से अधिक आय प्राप्त होगी क्योंकि व्यक्ति अपनी आय कम मात्रा में छिपायेंगे। इसलिए सरकार ने 1970 के दशक के मध्य से आय कर की दरों में धीरे-धीरे कमी करनी प्रारम्भ कर दी है। वर्तमान में आय की उच्चतम सीमाओं पर कर की दर 30 प्रतिशत है।

आय कर का विश्लेषण करते समय पूंजी पर लाभ कर पर टिप्पणी करना आवश्यक है। एक परिसम्पत्ति के खरीद मूल्य एवम् बिक्री मूल्य का अन्तर ही पूंजी पर लाभ है। यदि बिक्री मूल्य, खरीद मूल्य से कम है तो पूंजी पर हानि होगी। सिद्धान्त रूप से एक परिसम्पत्ति जिस काल के लिए रखी जाती है उस दौरान पूंजी पर संचित आय की पूंजी पर लाभ है। इस प्रकार पूंजी पर लाभ, उसके रोके रखने के काल में उपार्जित होता है एवम् उस परिसम्पत्ति को जब बेचा जाता है तो वास्तव में वसूल होता है। पूंजी पर लाभ के दो दोष है –

(अ) प्रथम यह एकत्रीकरण की समस्या उत्पन्न करता है। जिसका तात्पर्य है कि परिसम्पत्ति पर लाभों को पूरे काल में फैलाने के बजाय यह मान लिया जाता है कि लाभ उसे उस सम्पत्ति के बिक्री के साल में ही हुआ है। ऐसा कराधान के दृष्टिकोण से किया जाता है। जब आय कर की दरें प्रगतिशील (जब कर की दर आय की वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है) होती है तो करदता को अपने लाभ का एक बड़ा अनुपात कर के रूप में चुकाना पड़ता है। समस्या का आंशिक हल अलग से पूंजी पर लाभ की नीची दरों द्वारा सम्भव है।

(ब) पूंजी पर लाभ से सम्बन्धित दूसरी समस्या कीमतों में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है। बढ़ती हुई कीमतों के कारण पूंजी लाभ मुद्रा के रूप में होते हैं। लेकिन इससे परिसम्पत्ति धारक की क्रय शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती हैं। इसके विपरीत कुछ परिसम्पतियां ऐसी भी हो सकती हैं जिसे खरीदकर वह शुद्ध घाटे में रह सकता है। यह उस समय होता है जबकि परिसम्पत्ति का मूल्य उस तेजी से नहीं बढ़ता है जिस तेजी से सामान्य मूल्य स्तर बढ़ता है। एक काल्पनिक लाभ पर कर लगाना अन्यायसंगत हैं।

पूंजी पर लाभ कर बचतों एवम् पूंजी को हतोत्साहित करता है। हमारे देश में यह अकेला ऐसा तत्व है जिसे इस कर का त्याग करने के लिए अधिकारियों को प्रेरित करना चाहिए। भारतवर्ष में बचत करने वालों को प्रोत्साहन के बदले, दीर्घकालीन विनियोग के लिए रोक कर रखी जाने वाली परिसम्पत्तियों पर कर चुकाना पड़ता है। यदि इस पूंजी लाभ का पुनः विनियोजन विशिष्ट परिसम्पत्तियों में एक निश्चित समय पर कर दिया जाय तो इसके बुरे प्रभाव को निष्प्रभावित करने के लिए करों में कुछ राहत ही है। आलोचक कहते हैं कि यह बचत एवम् विनियोग पर पड़ने वाले कर के बुरे प्रभावों को रोकने में असमर्थ है। इसलिए वे कहते है कि या तो कर को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाय या फिर कर की दर घटाकर नाम मात्र स्तर तक कर दी जाय।

यह भी कहा जाता है कि परिसम्पत्ति धारक को बढ़ती कीमतों के कारण कष्ट नहीं उठाना पड़े। अतः पूंजी पर लाभ की रकम (मुद्रा के रूप में मापी गई) सामान्य कीमत स्तर (भारतवर्ष के कीमत सूचकांक से बताया जाता है) से नीचे की ओर समायोजित की जानी चाहिए। जितने

साल परिसम्पत्ति रखी गई है उतने साल पूंजी लाभ को (कर की गणना के लिए) लाभ की एक निश्चत प्रतिशत से कम कर देना चाहिए (जैसे 5 प्रतिशत)

परिसम्पत्ति धारकों को इस परिसम्पत्ति का प्रयोग सिर्फ गैर सट्टे सम्बन्धी प्रयोगों में करने के लिए इसी प्रकार प्रोत्साहित किया जा सकता है। यदि परिसम्पत्ति को लम्बे समय तक रखा गया है (हमारे उदाहरण में 20 साल) तो कोई भी कर योग्य पूंजी लाभ नहीं होगा।

निगम कर

यह कम्पनी की स्वयं की आय पर कर है और उस कर से भिन्न है जो कम्पनी स्वयं स्त्रोत पर लाभांश भुगतान के समय काटती है और अंशधारियों की तरफ से सरकारी खजाने में जमा कराती है। निगम कर को सुपर कर भी कहा जाता है। हमारे देश में कम्पनियों को उनकी राष्ट्रीयता (भारतीय/विदेशी) एवम् स्वामित्व के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। प्रत्येक श्रेणी पर छूट, वापसी तथा अन्य वृतियों के बाद एक समान दर से कर लगाया जाता है।

हमारे देश में निगम कर सरकार के हाथ में एक महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी उपकरण है। इसीलिए कई व्यक्तियों एवम् समितियों ने कई प्रकार की छूटें, जुर्माने एवम् अन्य तरीके सुझाए है जिससे कि कर का उपयोग विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हो सके। इसके कारण निगम कर में जल्दी जल्दी परिवर्तन किए गए और कर के प्रावधान बहुत ही कठिन हो गए है। उद्देश्यों में भी कहीं कहीं विरोधाभास हो गया है। इसके अतिरिक्त जब कर में परिवर्तन बहुत जल्दी जल्दी किए जाते हैं तो उनमें से किसी भी प्रभाव का अध्ययन बहुत विश्वसनीयता से नहीं किया जा सकता है। निगम क्षेत्र पर कर की दर नीति की मूल सूचनाओं के अभाव में, अधिकारी न्याययुक्त दीर्घकालीन नीति बनाने में सफल नहीं हो सकते हैं। एक स्थाई एवम् दीर्घकालीन कर नीति की अनुपस्थिति से कम्पनी के दीर्घकालीन उत्पादन एवम् विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि निगम कर का आधार आय से बदल कर खर्च (वेतन एवम् मजदूरियों को छोड़कर) कर देना चाहिए। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि निगम क्षेत्र अपनी पूंजी (जो हमारे देश में दुर्लभ है) के प्रयोग में मितव्यता लायेगा और उनको पूंजी गहन तकनीकों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करेगा। वर्तमान में यदि कोई कम्पनी अधिक कुशल है एवत् फिजूल के खर्च रोक कर लाभ कमाती है तो उस पर कर दायित्व लगा कर उसे दंडित किया जाता है। इसके विपरीत यदि वह अनावश्यक खर्च करती है तो उस पर कम कर दायित्व डालकर पुरस्कृत किया जाता है।

धन कर

धन कर, करदाता के गैर कृषि सम्पत्ति के शुद्ध मूल्य पर वार्षिक कर है। धन कर का महत्व उसके द्वारा प्राप्त राजस्व से नहीं है। इस दृष्टि से यह बिल्कुल ही महत्वहीन है। इस कर को लगाने का औचित्य निम्न दो कारणों से है।

1. यह आयकर के वंचन को रोकने में सहायक सिद्ध होता है।
2. यह असमानताओं को कम करने में सहायक सिद्ध होता है।

वास्तव में तथ्य यह है कि यह दोनों ही उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा है। धनकर चुकाने वाले कुल करदाता संख्या में बहुत ही कम है। धन के स्वामी धन को परिवार के सदस्यों के बीच बांटने और कर की कुल देयता कम करने में सफल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कर से प्राप्त आय इतनी कम है कि यह किसी भी प्रकार आय एवम् धन की असमानताओं को कम नहीं कर सकता। धन कर से बचतें हतोत्साहित होती है। यदि बचतें होती भी है तो वे उस परिसम्पत्ति

के रूप में रखी जाती है जिसे कि कर अधिकारियों की नजरों से बचाया जा सके या जिस पर धन कर नहीं लगे।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्क

यह केन्द्र की आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और पिछले वर्षों में इसमें तेजी से वृद्धि हुई है। 1989-90 के बजट में इससे 21,910 करोड़ रुपये या कुल कर आय का 40 प्रतिशत प्राप्त हुई। इस राशि में बिक्री कर के बदले (लगभग 1500 करोड़ रुपये) अतिरिक्त उत्पादन शुल्क एवं उपकर (3300 करोड़ रुपये शामिल है। मूल शुल्क का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। कर लगने वाली वस्तुओं को बजट में 139 मदों के अर्न्तगत समुहित किया गया है। हाँलाकि उसमें से कई वस्तुओं पर कर की छूट दी गई है। सरकार उत्पादन शुल्कों का प्रयोग आय प्राप्त करने तथा देश में विनियोग, उत्पादन एवम् आर्थिक क्रियाओं को वांछित दिशा प्रदान करने के लिए करती है।

उत्पादन शुल्कों की एक महत्वपूर्ण सीमा यह है कि यह विभिन्न प्रकार की आदाओं, मध्यवर्ती वस्तुओं तथा मशीनरी एवम् उपकरणों पर लगाया जाता है। अच्छा यह होता है कि ये अन्तिम उपभोक्ता वस्तुओं पर लगाए जाते। इसका परिणाम यह है कि हमारी वस्तुओं की लागतें एवम् कीमतें ऊँची है जिसके कई बुरे प्रभाव है। उदाहरण के तौर पर यह आय एवम् धन की असमानताओं को बढ़ावा देता है। हमारे उत्पादनकर्ता अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बराबरी करने में परेशानी महसूस करते हैं। इससे आयात प्रोत्साहित होते है और निर्यात पिछड़ जाते हैं जिससे व्यापार की बाकी विपक्ष में चली जाती है।

सीमा शुल्क

ये शुल्क केन्द्र सरकार की कर आय का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है। 1989-90 के बजट में इससे 18,000 करोड़ या केन्द्र की कर आय का 36 प्रतिशत प्राप्त होने की आशा थी। इस कर समूह में भी आयात करों से अधिक आय प्राप्त होती है जबकि निर्यात करों से बहुत ही कम। इसका मुख्य कारण यह है कि सरकार निर्यात कर लागकर निर्यातों में बाधा नहीं डालना चाहती है। इसके बजाय निर्यातों पर उपदान देकर उनको बढ़ाना चाहती है। आयात शुल्कों से न सिर्फ राजस्व की प्राप्ति होती है बल्कि अयातों पर नियंत्रण भी लगता है। आयातों का विभिन्न श्रेणियों में बंटवारा किया गया है। सरकार आयात प्रतिस्थापन्न को प्रोत्साहित करने या अनावश्यक आयात पर रोक लगाने, आवश्यक औद्योगिक आदाओं तथा उपभोग वस्तुओं को प्राप्त करने जैसी आर्थिक नीतियों के आधार पर उन पर विभिन्न दरों से कर लगाती है, जिससे कि देश में लागत एवम् मूल्य बढ़े नहीं। यह सामान्यतया महसूस किया गया है कि सरकार अपने उद्देश्य में आंशिक रूप से सफल रही है और उसकी नीति में सुधार की बहुत गुंजाइश है।

25.7 राज्य सरकारों के महत्त्वपूर्ण कर

राज्य सरकारों के कर साधन उनकी कुल आय का लगभग दो तिहाई भाग होते हैं कुल आय में गैर कर साधन जैसे सहायता अनुदान, ब्याज की प्राप्तियां आदि भी सम्मिलित होती है।

आपको याद होगा कि राज्य सरकारों के दो प्रकार के कर साधन हैं।

(अ) केन्द्र सरकार द्वारा लगाए गए एवम् संग्रहित किए गए कुछ करों में से राज्यों को या तो हिस्सा मिलता है या फिर सम्पूर्ण प्राप्तियां ही राज्यों को सौंप दी जाती है। आपने देखा कि आय कर केन्द्रीय उत्पादन शुल्क और अनुच्छेद 269 के अर्न्तगत लगाए गए कर आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

(ब) कुछ कर राज्य सरकारों द्वारा ही लगाए जाते हैं, संग्रहित किए जाते हैं एवम् राज्यों द्वारा ही रख लिए जाते हैं। इन करों को राज्यों के स्वयं के कर साधनों के नाम से पुकारा जाता है। ये राज्यों की कुल कर आय के लगभग दो तिहाई भाग के बराबर हैं। बाकी के एक तिहाई केन्द्र से हिस्सों के रूप में प्राप्त होते हैं।

बिक्री कर

आय प्राप्ति की दृष्टि से यह राज्यों का महत्वपूर्ण कर है इसका राज्यों के स्वयं के कर साधनों में अंशदान 60 प्रतिशत और कुल कर राजस्व में 40 प्रतिशत है। पिछले वर्षों में इसमें तेजी से वृद्धि हुई है और वर्तमान में इससे 15,000 करोड़ रुपये प्राप्त हो रहे हैं। बिक्री कर मुल्यानुसार है याने मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। इसके कारण वस्तुओं की लागत एवम् कीमत बढ़ती है और वे प्रतिस्पर्धा योग्य नहीं रहती। एक जनवरी सन् 2000 से पूरे भारत वर्ष में बिक्रीकर की न्यूनतम समान से राजस्थान में जहाँ ट्रेक्टर, मोटरवाहन, कम्प्यूटर, चाय मँहगी हो जाएगी, वहीं केरोसीन गैस सिलेण्डर , बिजली के सामान, सीमेन्ट, गुड़-शक्कर व दाले सस्ती हो जाएगी। राजस्थान में बिक्री कर पर सरचार्ज समाप्त हो जाएगा।

तालिका 25.2

बिक्री कर की दरे (1जनवरी सन् 2000 से लागू)

(प्रतिशत में)

मद	नई दर	मद	नई दर
ट्रैक्टर	8	करोसिन	4
मोटरवाहन	12	गैस सिलेण्डर	8
कम्प्यूटर	8	गुड़ शक्कर	—
चाय	8	बिजली का सामान	8
खल	4	पाईप	4
अगरबत्ती	8	काफी	8
धागे	8	सीमेन्ट	8
घी, मक्खन	8	सोना चाँदी	1
दाले	—	पेजर	8
आर्गेनिक खाद	—	गेहूँ चावल	—

परन्तु कुछ राज्यों द्वारा इस समान दर का विरोध किए जाने के कारण यह व्यवस्था 1 जनवरी सन् 2000 से लागू नहीं हो सकी है।

आबकारी शुल्क

बिक्री कर के बाद में राज्य की आय का महत्वपूर्ण साधन आबकारी शुल्क है। ये शुल्क मनुष्य के उपभोग के लिए बनी मदिरा, भारतीय भांग एवम् अन्य नशीली दवाइयाँ एवम् पदार्थों पर लगाए जाते हैं। दवाइयाँ एवम् श्रृंगार प्रसाधन सामग्री पर शुल्क तो केन्द्र द्वारा लगाया जाता है लेकिन संग्रहित राज्य द्वारा किया जाता है और राज्य ही इनको रख लेता हैं आबकारी कर

से राज्य के स्वयं के कर साधनों का लगभग 15 प्रतिशत प्राप्त होता है। इनके वृद्धि की दर पर्याप्त ऊँची रही है। इस सम्बन्ध में एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आबकारी कर का एक बड़ा हिस्सा मदिरा से प्राप्त होता है। नीति निदेशक तत्वों में हांलाकि यह आशा की गई है कि राज्य पूर्ण मद्य निषेध की नीति का पालन करेंगे। राज्य यदि ऐसा करता है तो न सिर्फ उनकी कर आय में कमी होगी बल्कि मद्य निषेध को लागू करने के खर्च में भी कमी होगी।

अन्य महत्वपूर्ण कर

राज्य सरकारों के अन्य महत्वपूर्ण करों में पंजीयन एवम् मुद्रांक कर एवम् मोटर वाहन करहै। प्रत्येक कर से राज्य के स्वयं के कर साधनों का 5 से 6 प्रतिशत तक प्राप्त होता है। इसके बाद में विद्युत शुल्क, (जो कि वितरण एवम् उपभोग पर लगाया जाता है।) यात्री एवम् वस्तुओं पर कर, एवम् मनोरंजन कर का स्थान आता है। इनमें से प्रत्येक का राज्य के स्वयं के कर साधनों में योगदान 3 से 5 प्रतिशत है। एक समय था जबकि भू-राजस्व राज्य की आय का महत्वपूर्ण साधन था। लेकिन समय के साथ इसका महत्व घट गया है। इसके लिए कई तत्व जिम्मेदार हैं अर्थव्यवस्था के कुल घरेलू उत्पादन में कृषि, अनुपातिक रूप से जनसंख्या के बड़े हिस्से का भार वहन करती है। कुल घरेलू उत्पादन में कृषि का अंशदान 32.5 प्रतिशत है जबकि देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या का इसे भरण पोषण करना पड़ता है। गैर कृषि क्षेत्र की तुलना में गरीबों का अनुपात इसमें ज्यादा है। इन कारणों से राज्य कृषि पर भारी कर नहीं लगाना चाहता है। वस्तुतः इस कर को अनेक राज्यों ने या तो घटा दिया है या समाप्त ही कर दिया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि भू-राजस्व में राज्यों के बीच तथा राज्य के अन्दर भी एक रूपता नहीं है। इसलिए मुख्य कारण यह है कि भूमि सम्बन्धी दस्तावेज दोषपूर्ण है, सर्वेक्षण सामान्यतया अधूरे है, देश के विभिन्न भागों में भू-धारण के तरीके अलग-अलग है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राज्यों ने भूमि सम्बन्धी कानूनों एवम् भू-राजस्व के सन्दर्भ में एक जैसी नीति नहीं अपनाई है।

बोध प्रश्न – 2

1. उन तीन कसौटियों को बताइये जिनके अधीन हमारे संविधान ने केन्द्र तथा राज्यों के बीच कर साधनों का निर्धारण किया है। ये कसौटियां किससे सम्बन्धित है ?
2. सही या गलत पर ✓ निशान लगाएं।

(अ) हमारा संविधान केन्द्र एवम् राज्यों के बीच कराधान का समवर्ती अधिकार प्रदान करता है।

सही/गलत

(ब) केन्द्र सभी प्रकार की आय पर कर लगा सकता है।

सही/गलत

(स) केन्द्रीय उत्पादन शुल्क का राज्यों के बीच बंटवारा होता है।

सही/गलत

(द) अनुच्छेद 269 के अर्न्तगत लगाए गए सभी करों से प्राप्त आय राज्यों को मिलती है।

सही/गलत

(य) राज्य बिक्री कर के बदले अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगता है।

सही/गलत

(र) वित्तीय असन्तुलन केन्द्र के पक्ष में तथा राज्यों के विपक्ष में है।

सही/गलत

3. कर लगाने, संग्रहित करने एवम् विनियोजन की दृष्टि से वे कौन सी 5 श्रेणियां है जिनके आधार पर भारतीय करों का वर्गीकरण किया जा सकता है ?

4. केन्द्र सरकार के कुछ महत्वपूर्ण करों की गणना कीजिए।

5. राज्य सरकारों के कुछ महत्वपूर्ण करों की गणना कीजिए।

25.8 प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष कराधान

सिद्धान्त में प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष करों में अन्तर कई वैकल्पिक विचारों पर आधारित है जो सदैव सन्तोषजनक या संगत नहीं है। ऐसा ही एक अन्तर करों के भार से सम्बन्धित है। यह कहा जाता है कि कर का भार एवम् दबाव यदि एक ही व्यक्ति पर है तो यह प्रत्यक्ष कर है। हॉलाकि हमारे लिए स्वीकार योग्य अन्तर का आर्थिक आधार निम्न है। प्रत्यक्ष कर की स्थिति में करदाता का निर्धारण अप्रत्यक्ष होता है। इसी आधार पर आयकर प्रत्यक्ष कर है, क्योंकि करदाता कि योग्यता का निर्धारण कानून द्वारा परिभाषित आय से होता है। इस सन्दर्भ में यदि आप प्रमुख प्रत्यक्ष करों के क्षेत्र के बारे में जानकारी करें तो लाभदायक होगा। इस प्रकार जब आय पर कर लगाया जाता है तो प्रत्यक्ष कर है। जब उस आय के खर्च पर कर लागाया जाता है तो यह एक खर्च कर है। यदि आय के उस भाग पर कर लागाया जाता है जो खर्च नहीं की गई है तो यह धन कर या पूंजी कर है। एक परिसम्पत्ति को रोकने से जो लाभ होता है उसे पूंजी लाभ कर कहते हैं यदि धन के स्वामी इसमें से एक हिस्सा उपहार के रूप में दे दें तो उस पर उपहार कर लगता है। धन के स्वामी की मृत्यु होने पर उसकी सम्पत्ति पर आस्ति कर लगाया जाता है या फिर उत्तराधिकारी को मिलने वाली आय के रूप में उत्तराधिकारी कर। इसी प्रकार निगम क्षेत्र में प्रत्यक्ष कर आय एवम् धन पर लगाए जा सकते हैं।

अप्रत्यक्ष कर मुख्यतः उत्पादन, विनिर्माण, पैकिंग, बिक्री, खरीद एवम् वस्तु के यातायात पर लगाया जाता है। यहां करदाता की कर देय योग्यता का निर्धारण अप्रत्यक्ष तरीके से किया जाता है। विलासिता तथा अन्य मंहगी वस्तुओं पर सामान्यतया भारी दरों से कर लगाया जाता है। इसका आधार यह है कि इनको धनवान व्यक्ति खरीदते हैं। भारतवर्ष में महत्वपूर्ण अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत सीमा शुल्क, बिक्री कर एवम् उत्पादन शुल्क आदि आते हैं। अप्रत्यक्ष कर विशिष्ट या मूल्यानुसार हो सकते हैं। विशिष्ट होने की स्थिति में उन पर कर मात्रानुसार लगता है जबकि दूसरी स्थिति में कर मूल्य के अनुपात में लगता है।

भारतवर्ष में व्याप्त गरीबी एवम् बेरोजगारी के कारण प्रत्यक्ष करों का आधार बहुत ही संकुचित है। सरकार की बढ़ती आवश्यकताओं की तुलना में, प्रत्यक्ष करों से प्राप्तियां बहुत ही कम है। यह स्थिति दर सूची के अति प्रगतिशील होने पर है। प्रगतिशीलता की स्थिति में बढ़ती हुई आय एवं धन पर कर की देयताँए निरपेक्ष रूप में तथा कर के आधार के अनुपात में बढ़ती है। हमारे देश में यह पाया गया है कि यदि कर की दर एक सीमा से परे बढ़ा दी जाय तो इससे कर वंचन शक्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। अनेक समितियों एवम् व्यक्तियों ने यह सिफारिश की है कि प्रत्यक्ष करों की दरें उचित सीमाओं से परे नही होनी चाहिए।

परिणामस्वरूप अधिकारियों को अप्रत्यक्ष करों पर ज्यादा भरोसा करना पड़ता है। अप्रत्यक्ष करों के लाभ एवम् हानि दोनों ही है। हमारे देश में अप्रत्यक्ष करों से मिलने वाले लाभों में सबसे महत्वपूर्ण हैं, कर के जाल का अधिक विस्तार। गरीब करों के जरीए ज्यादा नहीं दे सकते हैं, बहुत कम ही चुका पते है। सार्वजनिक राजस्व तथा राष्ट्रीय निर्माण में उनके योगदान के लिए अप्रत्यक्ष करों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कर कई वस्तुओं पर लगाए जा सकते हैं। जिससे कि प्रत्येक मद से उचित संग्रहण प्राप्त हो जाय। सिर्फ विलासिता

की वस्तुओं पर ऊँची दरों से कर लगाया जाता है। इसके विपरीत आपको याद रखना होगा कि अप्रत्यक्ष करों की प्रकृति अद्योगामी होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनका भार तुलनात्मक दृष्टि से गरीबों पर अधिक होता है।

भारतवर्ष में अधिकारियों ने इस बात का प्रयास किया है कि अप्रत्यक्ष करों की अद्योगामिता न्यूनतम हो। बिना तैयार खाद्य पदार्थों एवम् अन्य कई आवश्यकताओं पर कर नहीं लगाया गया है। जहां कहीं आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाया गया भी है वहां कर की दर बहुत ही नीची है फिर भी यह सामान्य धारणा है कि हमारे अप्रत्यक्ष कर अधोगामी है।

(1) अधिकांश वस्तुओं पर मूल्यानुसार कर लगाया जाता है।

(2) अधिकांश अप्रत्यक्ष कर बार-बार लगाए जाते है। ऐसा बिक्री कर के सन्दर्भ में विशिष्ट रूप से लागू होता है।

(3) अप्रत्यक्ष कर सिर्फ अन्तिम उपभोग वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है। कच्चा माल, मध्यवर्ती वस्तुएं एवम् पूंजी उपकरण तथा मशीनरी पर भी कर लगाया जाता है। इससे हमारे उद्योगों की लागतें कीमतें बढ़ती है, स्फीति तत्वों को बढ़ावा मिलता है, तथा आय एवम् धन के वितरण की असमानताएँ बढ़ती है।

अप्रत्यक्ष कराधान के मूल्य प्रपतन प्रभाव (याने मूल्यों पर संचयी प्रभाव) को मूल्य परिवर्धित कर लगाकर समाप्त किय जा सकता है। मूल्य परिवर्धित कर एक उत्पादन शुल्क है। यह करदाता द्वारा वस्तु के निर्माण, माल तैयार करना, पैकिंग तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने से जोड़े गए मूल्य आदि पर लगाया जाता है। एक मद से वसूला गया कर हमेशा उस राशि के बराबर होगा जो कि अन्तिम उपभोग वस्तु पर लगाकर वसूल किया जाता। अन्तर सिर्फ इतना है कि मूल्य परिवर्धित कर, उपभोक्ता तक पहुंचे इसके लिए उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में कई टुकड़ों में वसूल किया जाता है। सिद्धान्त में मूल्य परिवर्धित कर एक आदर्शकर है। यह लागत एवम् कीमतों के संचयी प्रभाव को रोकता है। एवम् स्फीतिकारी शक्तियों को बढ़ावा नहीं देता है। यह विभिन्न विनियोगों की लाभदायकता को प्रभावित करके उत्पादक साधनों के आवंटन को नहीं बिगाड़ता है। फिर भी भारतवर्ष में उस कर के अपनाने में कई प्रशासकीय एवम् अन्य कठिनाइयाँ हैं। हमारी आर्थिक एवम् सामाजिक आवश्यकताएँ बताती है कि कुछ वस्तुए मूल्य परिवर्धित कराधान से मुक्त होनी चाहिए और कुछ वस्तुओं पर नीची दरों से कर लगाना चाहिए। इन परिस्थितियों में मूल्य परिवंतर्धित कर को अपनाए रखनाअत्यन्त कठिन हो जाता है। इस कर को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए हमारे व्यापारी अभी भी विस्तृत लेखा तैयार करने की स्थिति में नहीं है। भारतवर्ष में सरकार ने मूल्य परिवर्धित कर को कुछ विनिर्माण उद्योगों में अपनाया है और इसका नाम संशोधित मूल्य परिवर्धित कर (मोडवेट) दिया है। सन् 2000-2001 के बजट से मोडवेट को अब सैनवेट (CENVAT) के नाम से सभी उद्योगों पर लागू किया गया है।

हमारे देश में अप्रत्यक्ष कर कुल कर आय का महत्वपूर्ण हिस्सा है। राज्य की स्वयं की कर आय का लगभगर 90 प्रतिशत और केन्द्र की कर आय का लगभग 80 प्रतिशत अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त होता है।

25.9 भारतीय कर व्यवस्था के महत्वपूर्ण लक्षण

1. आपने देखा है कि भारतीय संविधान केन्द्र एवम् राज्यों के बीच कराधान की समवर्ती सूची से बचने का प्रयास करता है। साधनों को बहुत स्पष्टता से सीमाबद्ध किया गया है। किसी भी कर आधार पर केन्द्र एवम् राज्य दोनों द्वारा कर नहीं लगाया जा सकता है।

2. आपने पढ़ा होगा कि हमारे संविधान ने केन्द्र एवम् राज्यों के बीच कर साधनों का निर्धारण तीन कसौटियों के आधार पर किया है, जैसे (1) मितव्यता (2) कुशलता एवम् (3) एकरूपता। यह देखा गया है कि कर लगाने संग्रहण एवम् विनियोजन में अन्तर है। इन आधारों पर सम्पूर्ण कर व्यवस्था को पांच श्रेणियों में बॉटा गया है। करों का बंटवारा हमारी कर व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण लक्षण है।

3. एक अन्य लक्षण जो आपने पढ़ा है उसका सम्बन्ध करों का प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष कर के रूप में विभाजन है। आपने यह भी देखा है कि भारत के कर साधनों में अप्रत्यक्ष करों का अनुपात बहुत ज्यादा है। हमारे देश में प्रचलित परिस्थियितों एवम् साधनों की बढ़ती हुई जरूरतों को देखते हुए, सरकार को अप्रत्यक्ष करों से आय प्राप्त करने के लिए मजबूर होना पड़ा है। हांलाकि यह महसूस किया गया है कि अप्रत्यक्ष करों में आमूल चूल परिवर्तन एवम् सुधार की आवश्यकता है।

4. भारतीय कर व्यवस्था जटिलताओं से ग्रसित है। हमारे यहाँ प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कई कर है। हमारे कर कानून सरल नहीं है। छूट, वापसी आदि की पेचीदा कानूनी परिभाषाओं के कारण वे समझने में कठिन है। कर कानूनों में अधिकारिक अधिसूचनाओं तथा प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तनों से जल्दी जल्दी फेर बदल किए गए है। अधिकांशतः इन अधि सूचनाओं से विरोधी अर्थ निकलते हैं एवम् कानूनी अड़चने आती है।

5. हमारी कर व्यवस्था में दर सूची, छूट, वापसी एवम् जुर्माना आदि में जल्दी जल्दी परिवर्तन के कारण अतिरिक्त जटिलताएँ हो जाती है। यह परिवर्तन वार्षिक बजट के समय एवम् मध्यवर्ती अवधि दोनों में होते है। इसके परिणाम स्वरूप अपनाए गए विभिन्न प्रयासों के आर्थिक प्रभावों को अधिकारी निर्धारित नहीं कर सकते हैं।

6. अब हमें यह देखना है कि हमारी कर व्यवस्था में लोचकता एवम् उत्प्लावकता के लक्षण विद्यमान हैं या नहीं। कर की दर सूची एवम् उसके सीमा क्षेत्र में परिवर्तन के कारण करसे प्राप्त आय में परिवर्तन को कर की लोचकता कहते हैं। सीमा क्षेत्र से हमारा तात्पर्य नई मदों में कर का विस्तार करना है। इसी प्रकार कर आधार के बढ़ने से करों से प्राप्त आय भी बढ़ सकती है। कर के आधार में आनुपातिक वृद्धि से कर आय में आनुपतिक वृद्धि यदि अधिक है तो कर उत्प्लावित कहा जायेगा। अध्ययनों से पता चला है कि कुछ व्यक्तिगत करों में लोचकता एवम् उत्प्लावकता अच्छी है। यह माना जाता है कि सम्पूर्ण कर व्यवस्था में इन करों के कारण ही उचित श्रेणी की लोच एवम् उत्प्लावकता है। केन्द्र एवम् राज्यों के करों में हांलाकि केन्द्र के कर अधिक लोचदार एवम् उत्प्लावित है।

7. क्या भारतीय कर व्यवस्था प्रगतिशील है? इस प्रश्न के हल के लिए आपको यह पहले नोट करना होगा कि शब्द प्रगतिशीलता दो प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता है। कागजों में कर व्यवस्था प्रगतिशील होगी यदि आय एवम् धन में वृद्धि के साथ कर देयता में बढ़ने की प्रवृति मिलती है। वास्तव में कर व्यवस्था प्रगतिशील तभी होगी जबकि इसके कारण आय एवम् धन की असमानता कम होती है।

   कर की प्रगतिशीलता के लिए प्रयोग में लिए गए पहले अर्थ में आपको नोट करना होगा कि हमारे प्रत्यक्ष करों की दर सूची में ऊँचे दर्जे की प्रगतिशीलता है। हमारे अप्रत्यक्ष कर, विलासिताओं तथा धनवानों के काम में आने वाली वस्तुओं पर मुख्य रूप से केन्द्रित है। दूसरी कसौटी के आधार पर हमारी कर व्यवस्था बिल्कुल ही प्रगतिशील नहीं है।

(अ) प्रत्यक्ष करों का सीमा क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। बहुत ही कम व्यक्ति करों का भुगतान करते है।

(ग) कुल कर राजस्व में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा बहुत ही कम है।

(द) प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष दोनों करों का वंचन अधिक मात्रा में होता है। यह सभी तत्व गरीबों की लागत पर धनवानों की आय बढ़ाते हैं।

8. हमरे देश में, कराधान का प्रयोग क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने में किया जाता है। औद्योगिक रूप से पिछड़े जिलों की पहचान की गई है और इन जिलों में विनियोग करने पर करों में कई प्रकार की रियायतें दी गई है। हांलाकि यह नीति आंशिक रूप से ही सफल सिद्ध हुई है। प्रादेशिक असमानताओं को उचित स्तर तक कम करने के लिए गहन एवम् दीर्घकालीन प्रयासों की आवश्यकता है।

9. निर्यात प्रोत्साहन तथा आयात प्रतिस्थापन द्वारा आत्म निर्भर बनाना हमारी कर व्यवस्था का एक निश्चित उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आयात शुल्कों का प्रयोग किया जाता है जिससे कि अनावश्यक आयात रोके जा सकें और ये उद्योग देश में प्रगति कर सकें। हमारे आयातों को विभिन्न श्रेणियों में बांटा गया है और प्रत्येक पर आयात शुल्क की दर अलग है। निर्यात शुल्क तभी लगाए जाते हैं जबकि निर्यात प्रोत्साहन को बगैर प्रभावित किए निर्यात आय प्राप्त की जा सके। कुछ परिस्थितियों में जब वस्तु विशेष का पुनः निर्यात किया जाता है तो सीमा शुल्कों का पुनः भरण किया जाता है। कुछ उद्योग ऐसे भी हैं जो सिर्फ निर्यात के लिए ही उत्पादन करते हैं। इन उद्योगों के लिए शुल्क में रियायतें इतनी ज्यादा है कि वे व्यवहार में कुछ भी कर नहीं चुकाते हैं।

10. कर व्यवस्था हमारी अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास में सहायता करने का प्रयास भी करती है। चुने हुए महत्वपूर्ण उद्योगों को कर छुट्टी भी स्वीकार की जाती है याने उनको निगम करों के भुगतान से मुक्त रखा जाता है। इसी प्रकार हमारी कर व्यवस्था कुटीर एवम् छोटे पैमाने के उद्योगों के भी पक्ष में है।

25.10 कर सुधार की आवश्यकता

यह स्वीकार किया गया है कि हमारी कर व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इसको निम्न प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है—

1. सरलीकरण

हमारे कर कानून बहुत ही जटिल है। कानून के विशेषज्ञ इसमें छिद्र ढूंढ लेते हैं और कर वंचन करने वाले इनका लाभ लेते हैं। दूसरी तरफ ईमानदार करदाताओं को अनिश्चितता एवम् मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। छिद्रों को बन्द करने के प्रयास में अधिकारियों ने हमारी कर व्यवस्था की जटिलता कों बढ़ाया ही है। कर प्रावधानों में बार-बार परिवर्तनों से भ्रांतियां बढ़ी हैं। इस प्रकार के कार्यों से हमारी अर्थव्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव ही पड़े है। सरकार को राजस्व की हानि होती है और विनियोगकर्ता दीर्घकालीन आधार पर आयोजन नहीं कर पाते हैं। नियोजित विकास के विचार के विपरीत काली मुद्रा एवम् समानान्तर अर्थव्यवस्था चलती है।

2. एकीकरण

कई विचारकों ने यह वकालत की है कि हमारे सम्पूर्ण अप्रत्यक्ष करों को एक ही कर-मूल्य वर्धित कर से प्रतिस्थापित किया जा सकता है। इसी प्रकार हमारे सभी प्रत्यक्ष करों के बदले में बैयक्तिक उपभोग कर और निगम क्षेत्र पर खर्च कर लगाया जा सकता है। आपको याद रखना होगा कि सैद्धान्तिक रूप से भी प्रत्यक्ष करों की स्थिति में एक कर का चुनाव स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के तौर पर कई अर्थशास्त्रियों ने यह बताया है कि वैयक्तिक खर्च पर कर के लिए प्रत्येक व्यक्ति

को हिसाब किताब का विस्तृत ब्यौरा रखना होगा जो कि विकसित राष्ट्रों में भी सम्भव नहीं है। यह कहा जाता है कि खर्च कर के सभी लाभ तभी प्राप्त हो सकते हैं जबकि बचत पर उचित छूट दी जाय। इसी प्रकार एक निगम कर सरकार को अनेक उद्देश्यों वाली आर्थिक नीति अपनाने में सहायक नहीं हो सकता है।

3. समन्वय

हमारे देश में जब कई कर है तो उनमें समन्वय की आवश्यकता रह जाती है। कर एक दूसरे के विरूद्ध कार्य नहीं करें। इसके विपरीत वे अधिकारियों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में एक दूसरे की मदद करें। एक अनेक उद्देश्य वाला कर लाभ इसमें सहायक हो सकता है।

बोध प्रश्न – 3

1. आप प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष करों में भेद कैसे करते हैं?
2. भारतवर्ष में अप्रत्यक्ष कर क्यों कुल कर राजस्व का बहुत बड़ा अनुपात है?
3. क्या हमारी कर व्यवस्था प्रगतिशील है?
4. वे कौनसी विचारधाराएं है जिनको ध्यान में रखकर हम कर व्यवस्था में सुधार कर सकते हैं?

25.11 सारांश

इस इकाई में आपने हमारी कर व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ पहलुओं तथा आधारभूत प्रत्ययों के बारे में पढ़ा है। कर एक अनिवार्य भुगतान है। कर जुर्माना तथा कीमत में अन्तर किया जाता है। कर में लाभ की भावना का अभाव होता है। हमारी अर्थव्यवस्था में कर से प्राप्त आय निरपेक्ष रूप से तथा कुल घरेलू उत्पादन के अनुपात के रूप में बढ़ती जा रही है। यह आय प्रथम योजना में 6.21 प्रतिशत के औसत से बढ़कर 1987-88 में 19.54 प्रतिशत हो गई। इसी काल में यह निरपेक्ष रूप से भी बढ़ी है और 585 करोड़ रुपयों से बढ़कर 56,949 करोड़ रुपये हो गई। हमारी अर्थव्यवस्था में कर साधनों की बढ़ती भूमिका की व्याख्या समय के परिवर्तन के साथ राज्य के बढ़ते कर्तव्य एवम् खर्च की प्रवृत्ति से की जा रही है। हमारे यहां कराधान का प्रयोग सामाजिक एवम् आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नीति सम्बन्धी उपकरण के रूप में किया जा रहा है।

हमारे देश में कर साधनों का बंटवारा केन्द्र एवम् राज्यों के मध्य स्पष्ट रूप से बिना परस्पर मिलाए किया गया है। करों के निर्धारण में मितव्ययता, कुशलता एवम् एकरूपता की कसौटी को अपनाया गया है। इससे वित्तीय असन्तुलन केन्द्र के पक्ष में हो गया है। और करों के बंटवारे की आवश्यकता महसूस की गई है।

इस इकाई में आपको केन्द्र सरकार एवम् राज्य सरकारों के कुछ महत्वपूर्ण करों के सम्बन्ध में भी जानकरी दी गई है। केन्द्रीय सरकार की आय की दृष्टि से उत्पादन शुल्क, सीमा शुल्क, निगम कर एवम् आय कर महत्वपूर्ण कर है। इसी प्रकार राज्यों की आय में बिक्री कर का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है और इसके बाद क्रमशः आबकारी कर, यात्री एवम् वस्तुओं पर कर एवम् अन्य है।

कुल कर राजस्व में अप्रत्यक्ष करों का हिस्सा महत्वपूर्ण है। राज्यों की स्थिति में यह 90 प्रतिशत है। यह प्रत्यक्ष करों के संकीर्ण आधार के कारण है और इसीलिए गरीबों से भी कर वसूलने की आवश्यकता होती है।

कर साधनों का केन्द्र एवम् राज्यों के बीच बँटवारा, प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष कर भाग, प्रगतिशीलता, लोचक एवम् उत्प्लवता, कर कानूनों की जटिलता एवम् उनमें तीव्र गति से परिवर्तन आदि की दृष्टि से हमारी कर व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का वर्णन किया गया है। करों का सरलीकरण, एकीकरण तथा समन्वय कर सुधार की तीन सम्भावित विचारधाराएं है।

25.12 शब्दावली

कर : राज्य को एक अनिवार्य भुगतान है जिसमें लाभ की भावना का अभाव होता है। लाभ की भावना से तात्पर्य बदले में कुछ मिलना होता है।

कर व्यवस्था : से तात्पर्य सरकार द्वारा प्रयोग में लिए गए सभी करों से है।

कर आधार : उद्देश्यों का वैधानिक विवरण है जिनके सन्दर्भ में कर लगाया गया है।

दर सूचि : का अर्थ वे सम्बन्धित दरें है जो कर के आधार में परिवर्तन के कारण करदाता की कर देयता का निर्धारिण करती है।

कर ढांचे : में लगाए गए करों के प्रकार तथा कुल कर आय में उनके सापेक्षिक योगदान का वर्णन होता है।

निर्बाध व्यापार : से तात्पर्य अर्थव्यवस्था के संचालन में सरकार की अहस्तक्षेप की नीति से है।

मितव्ययता की कसौटी : से तात्पर्य कर संग्रहण की लागतों से है।

कुशलता की कसौटी : से तात्पर्य अधिकारियों की कर कानूनों को लागू करने की प्रशासनिक क्षमता से है।

एकरूपता की कसौटी : बताती है कि जहाँ तक सम्भव हो सके पूरे देश या राज्य में कर की दरें एक समान होनी चाहिए।

भारत का समेकित कोष : उन मोद्रिक शेषों को बताता है जो कि भारत सरकार के है।

संघीय आय : से तात्पर्य उन भुगतानों से है जो कि भारत के समेकित कोष से किए गए हैं।

प्रत्यक्ष कर : में करदाता की कर देयता का निर्धारण उसकी कर चुकाने की प्रत्यक्ष क्षमता से होता है।

अप्रत्यक्ष कर : में करदाता की करदेयता का निर्धारण किसी क्रिया के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

कर की लोचकता : से तात्पर्य कर की दर तथा उसके सीमा क्षेत्र में आनुपतिक वृद्धि के कारण कर से प्राप्त आय में आनुपातिक वृद्धि है।

कर की उत्प्लावकता : से तात्पर्य कर के आधार में आनुपतिक वृद्धि से कर आय में आनुपतिक वृद्धि है।

25.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

H.L. Bhatia, Public Finance,
Government of India, Economic Survey Latest Issue, Chapter -6.
Reserve Bank of India Bulletin.
Government of India, Receipts Budget, Latest Issue.

25.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. कर एक अनिवार्य भुगतान है जिसमें लाभ की भावना का अभाव होता है। जुर्माना भी एक अनिवार्य भुगतान है लेकिन यह आय प्राप्ति के लिए नहीं लगाया जाता है।
2. कर का आधार उद्देश्य का एक वैधानिक विवरण है जिसके आधार पर वह कर लगाया जाता है।
3. सरकार का कल्याण केन्द्रण, (2) सरकारी कार्यों के क्षेत्र में वृद्धि (3) सरकारी कार्यों की तीव्रता में वृद्धि (4) मंहगें कर्मचारियों एवम् उपकरणों का प्रयोग (5) सुरक्षा की बढ़ती आवश्यकताएं, (6) अर्थव्यवस्था एवम् समाज की बढ़ती जटिलताएं एवम् (7) बढ़ती कीमतें आदि इसके मुख्य कारण है।
4. कराधान के मुख्य उद्देश्यों में जिनको सम्मिलित किया जा सकता है उनमें प्रमुख है : (1) देश की आर्थिक वृद्धि और अच्छे समाज के बनाने में मदद करना, (2) आय एवम् रोजगार को बढ़ाना, (3) असमानताओं को कम करना, (4) प्रादेशिक असमानताओं को कम करना, (5) सन्तुलित विकास निश्चित करना एवम् (6) अन्य देशों में होने वाले आर्थिक उतार चढ़ाव से देश को बचाना, आदि।

बोध प्रश्न - 2

1. मितव्ययता, कुशलता एवम् एकरूपता ही तीन कसौटियां है। मितव्ययता का तात्पर्य करसंग्रहण की लागत से है। कुशलता का अर्थ सरकार के कर नियमों को लागू करने की योग्यता से है। एकरूपता से हमारा तात्पर्य दर एवम् कर निर्धारण में एक रूपता से है।
2. (अ) गलत, (ब) गलत, (स) सही, (द) सही, (य) गलत, (र) सही।
3. (1) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए और संग्रहित किए जाते हैं और केन्द्र ही उन्हें रख लेता है।

   (2) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए और संग्रहित किए जाते हैं लेकिन जिनका राज्यों को हिस्सा दिया जाता है।

   (3) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं एवम् संग्रहित किए जाते हैं लेकिन जिनकी शुद्ध प्राप्तियां राज्यों को सौंप दी जाती है।

   (4) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं लेकिन राज्यों द्वारा ही संग्रहित किए जाते हैं और राज्य ही उनको रख लेता है।

   (5) वे कर जो राज्यों द्वारा ही लगाए जाते हैं, संग्रहित किए जाते हैं और राज्यों द्वारा ही रख लिए जाते है।

4. (1) उत्पादन शुल्क, (2) सीमा शुल्क, (3) निगम कर, (4) आय कर, (5) धनकर।

5. (1) बिक्री कर, (2) आबकारी कर, (3) पंजीयन एवम् मुद्रांकन शुल्क, (4) यात्रियों एवम् वस्तुओं पर कर, (5) विद्युत कर (6) मनोरंजन कर आदि।

बोध प्रश्न-3

1. प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो करदाता की कर चुकाने की क्षमता-प्रत्यक्ष रूप से आय आदि के आधार पर लगाए जाते हैं। अप्रत्यक्ष करों की स्थिति में देयता का निर्धारण अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। प्रत्यक्ष करों के उदाहरण (अ) आय कर, (ब) धन कर, (स) उपहार कर, (द) खर्च कर आदि है।
   अप्रत्यक्ष करों के उदाहरण में (अ) बिक्री कर, (ब) सीमा शुल्क, और (स) उत्पादन शुल्क आदि है।

2. भारतवर्ष में प्रत्यक्ष करों का क्षेत्र बहुत सीमित है क्योंकि हमारा देश अर्द्धविकसित है और धन तथा आय की बहुत असमानताएं हैं। सरकार की आय प्राप्ति की आवश्यकताओं के कारण गरीबों से भी कर वसूल किया जाता है।

3. सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारे प्रत्यक्ष कर बहुत ही प्रगतिशील है तथा अप्रत्यक्ष करों की अवरोहिता को विभेदी कर दरों के प्रयोग एवम् क्षेत्र से सीमित किया गया है। लेकिन व्यवहार में हमारी कर व्यवस्था प्रगतिशील नहीं है क्योंकि:-
   (अ) बहुत बड़ी मात्रा में कर वंचन होता है। और
   (ब) प्रत्यक्ष करों का आधार बहुत ही संकीर्ण हैं।

4. हम कर व्यवस्था में सुधार (1) कर कानूनों की जटिलताओं को समाप्त करके, (2) सभी करों को दो या तीन करों में सम्मिलित करके, एवम् (3) विभिन्न कर कानूनों में समन्वयय करके कर सकते हैं।

इकाई 26

समाज के विभिन्न वर्गों पर करापात

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 करापात की अवधारणा

26.3 व्यवहार में करापात

26.4 करापात तथा समाज के विभिन्न वर्गों का सम्बन्ध

26.5 कुछ महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष करों का करापात

26.6 समस्त प्रत्यक्ष करों का करापात

26.7 अप्रत्यक्ष करों का करापात - अवधारणा सम्बन्धी विचार

26.8 समाज के विभिन्न वर्गों पर अप्रत्यक्ष करों का करापात

26.9 सारांश

26.10 शब्दावली

26.11 उपयोगी पुस्तकें

26.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद :

- आप कराघात, करापात एवं करों के प्रभाव की अवधारणाओं को समझ सकोगे।
- आप कर विवर्तन की धारणा को समझ पाओगे।
- आप समझ जाओगे कि कर भार केवल विक्रय/क्रय व्यवहार द्वारा ही विवर्तित किया जा सकता है।
- आप देखेंगे कि प्राधिकारी वर्ग करापात की समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकता।
- समाज के विभिन्न वर्गों के साथ व्यक्तिगत करों के भार का सम्बन्ध स्थापित कर सकोगे।
- महत्वपूर्ण व्यक्तिगत प्रत्यक्ष करों के भार का विश्लेषण करके निर्णय कर पाओगे।
- महत्वपूर्ण व्यक्तिगत अप्रत्यक्ष करों के भार का विश्लेषण एवं निर्णय कर पाओगे।

वैकल्पिक आधारों पर सूत्रित समस्त प्रत्यक्ष करों के समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले भार का विश्लेषण कर पाओगे।

- आप समझ पाओगे कि अप्रत्यक्ष करों का भार, विशेष कर भारत में, उपभोक्ताओं द्वारा सहन किया जाता है।

आप समझ जाओगे कि भारतीय सरकार द्वारा लगाये गये सीमा करों का भार भारतीयों द्वारा ही सहन किया जाता है।

- आप समझ जाओगे कि हमारे अप्रत्यक्ष कर मुख्यतया उच्च आय वर्ग द्वारा सहन करने के लिए बनाये गये हैं। उनका करापात उपभोक्ताओं पर होता है न कि पूर्तिकर्ताओं (प्रदायकों) पर, उनका भार शहरी क्षेत्रों पर अधिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों पर कम पड़ता है।

26.1 प्रस्तावना

प्रत्येक आधुनिक सरकार अर्थव्यवस्था के कार्य कारण तथा कल्याणकारी पहलुओं में कर पद्धति के महत्व को अनुभव करती है। इसलिए विभिन्न करों को लगाने तथा आय और धन की विषमताओं पर उनके प्रभावों का निर्धारण करने में प्राधिकारियों को महत्वपूर्ण व्यक्तिगत करों के भार को तथा समाज के विभिन्न वर्गों पर सम्पूर्ण कर प्रणाली के प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए। निर्णयों को उन वैकल्पिक विधियों, जिनसे समाज की विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया जाये तथा सरकार के सभी सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों से संबंधित किया जाना चाहिए। हमारे देश में विशेषतया करों के इन उद्देश्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए करापात के अध्ययन का विशेष महत्व है। इस इकाई में हम समाज के विभिन्न वर्गों पर करापात का अध्ययन करेंगे।

26.2 करापात की अवधारणा

समाज के विभिन्न वर्गों पर कर-भार का अर्थपूर्ण अध्ययन करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि हम पहले करापात की धारणा से परिचित हों। इस संदर्भ में सामान्यतया कराघात, करापात तथा कर के प्रभावों में अन्तर समझ लेना चाहिए, तब करापात की धारणा का समूची कर पद्धति पर विस्तार किया जा सकेगा। जैसा कि आप पहले ही जानते हैं कि कर प्राधिकारियों द्वारा लगाया गया एक अनिवार्य भुगतान है। यह ऐक ऐसा भुगतान है जिसे करदाता बिना किसी "जैसे को तैसा" व्यवहार के करता है अर्थात् उसे बदले में कोई लाभ प्राप्ति का अधिकार नहीं होता। कर किसी आधार पर लगाया जाता है अर्थात् यह किसी आर्थिक परिमाण (Magnitude) की वैधानिक व्याख्या के सदंर्भ में निर्धारित किया जाता है। जैसे कि धन या कोई आर्थिक क्रिया के सदंर्भ में जैसे कि उत्पादन, क्रय या विक्रय आदि। परन्तु इसका संग्रह किसी वैधानिक सत्ता से ही किया जायेगा जैसे कि व्यक्ति, परिवार, फर्म या संस्था आदि। कराघात वैधानिक सत्ता पर ही कहा जायेगा जिसका प्राधिकारियों को कर देने का वैधानिक दायित्व होता है। उदाहरण के लिए आयकर का कराघात आय कमाने वाले पर और उत्पादन शुल्क का उत्पादक पर होगा इत्यादि। यह ध्यान देने की बात है कि कर की वसूली प्राधिकारियों की ओर से मध्यस्थ अभिकरणों द्वारा भी की जा सकती है। इसलिए एक स्वामी अपने कर्मचारियों के वेतन में से आयकर की कटौती करके सरकार के पास जमा कराता है। एक थियेटर के मालिक का भी वैधानिक उत्तरादायित्व है कि वह दर्शकों से मनोरंजन कर वसूल करके प्राधिकारियों के पास जमा करावे। परन्तु स्वामी तथा थियेटर के मालिक तो केवल सरकार के कर संग्रह के एजेंट का कार्य कर रहे हैं। कराघात तो क्रमशः वेतन पाने वाले कर्मचारी तथा थियेटर के दर्शकों पर ही रहता है। ऐसा इसलिए है कि कराघात कर दाताओं के साथ इसके स्पर्श का प्रभावी बिन्दु होता है। कराघात उन लोगों पर होता है जिनका प्राधिकारियों को भुगतान करने का वैधानिक दायित्व होता है। इसके विपरीत कराघात को कर के अन्तिम विश्राम स्थल के रूप में परिभाषित किया गया है - अर्थात वह स्रोत अन्तिम रूप में जिससे इसका भुगतान किया

जाता है। कराघात का अनुमान तथा माप मुद्रा के रूप में लगाया जाता है। अर्थात इस कर राशि द्वारा जो वास्तव में प्राधिकारियों द्वारा वसूल की गई हो। यह सर्वविदित तथ्य है कि करदाता अपने द्वारा दिये गए कर का आंशिक या पूरा भाग दूसरों से वसूल कर सकता है। जिस सीमा तक वह ऐसा करने में सफल हो जाता है, उस सीमा तक करापात दूसरों पर विवर्तित हो जाता है। इस प्रकार एक उत्पादक, उत्पादन शुल्क क्रेताओं से वसूल कर सकेगा जिससे उत्पादन शुल्क का भार उन पर विवर्तित हो जाएगा। इसे अग्रगामी विवर्तन कहते हैं। इसके विपरीत यदि वह कच्चे माल के पूर्तिकर्ताओं अथवा दूसरे आदानों से उत्पादन शुल्क का कुछ भाग वसूल कर पाता है तो वह प्रतिगामी विवर्तन होगा। सामान्यतौर पह हम कहते है कि अग्रगामी विवर्तन में करदाता उन वस्तुओं की कीमते बढ़ा देता है जो वह बेचता है। याद रखिये कि कर भार का तब तक विवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक कि विक्रय/क्रय व्यवहार न हो और मूल्यों की तत्सम्बन्धी पुनरावृति न हो। यह भी सम्भव है कि कर विवर्तन का कार्य कई चरणों में हो और किसी विशेष कर का भार विभिन्न करदाताओं का फैल जाये। कर-विवर्तन की क्रिया में विभिन्न वस्तुओं की मांग, पूर्ति और मूल्यों में परिवर्तन हो सकता है। करापात और कर प्रभाव एक ही चीज नहीं है। कर-प्रभाव धारणा तथा विश्लेषण दोनों के दृष्टिकोण से कराघात तथा करापात से भिन्न हैं। कर के प्रभाव करदाताओं की प्रतिक्रियाओं तथा कर के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों को कहते है। यह परिवर्तन कई क्षेत्रों में प्रतीत हो सकते हैं जैसे मूल्यों, मांग, पूर्ति, बचत, विनियोग एवं आय का विवरण आदि।

"करापात" शब्द का कुछ दूसरे तरीको से भी उपयोग किया जाता है। श्रीमती हिक्स ने दो पदों (Terms) का परिचय दिया - औपचारिक करापात और प्रभावपूर्ण करापात। औपचारिक करापात, कर दाताओं पर मौद्रिक भार है। यह सदा प्राधिकारियों द्वारा संग्रह किये गये कर राजस्व के बराबर होता है। इससे स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण कर प्रणाली का औपचारिक करापात सरकार द्वारा वसूल किया गया कुल कर-राजस्व है। इसके विपरीत प्रभावपूर्ण करापात, अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभावों को व्यक्त करता है। इसी प्रकार मसग्रेव के अनुसार किसी कर प्रणाली का करापात कर लगने के बाद जनता की आय के वितरण में अन्तर है।

दूसरे शब्दों में मसग्रेव चाहते है कि हम कर प्रणाली द्वारा उत्पन्न आय की असमानताओं में परिवर्तन का अनुमान लगायें। एक एकल कर के वितरणात्मक प्रभाव उस विशिष्ट कर का करापात है। प्राधिकारी वर्ग भी वैकल्पिक कर प्रणाली के वितरणात्मक प्रभावों का अनुमान तथा उनमें तुलना कर सकता है। जब एक कर प्रणाली की जगह दूसरी को प्रतिस्थापित किया जाता है, उससे आय के वितरण में परिवर्तन को विभेदात्मक कसपात कहा जाता है।

26.3 व्यवहार में करापात

एक आधुनिक सरकार की सदा यह जानने में रुचि होती है कि (1) विचाराधीन कर का भार किस पर है, (2) इसके प्रभाव क्या हैं? यह जानकारी प्राप्त करने पर वह अपनी समस्त आर्थिक और सामाजिक नीतियों के समरूप उपयुक्त कर समूहों को सूत्रित कर सकती है। व्यवहार में अक्सर किसी विशिष्ट कर के करापात के प्रसार का यथार्थ रूप से अनुमान लगाना बहुत कठिन है। आईये इसके कारणों पर विचार करें।

आधुनिक अर्थव्यवस्था बहुत जटिल है। कर देने वाली विभिन्न इकाइयाँ कई प्रकार के विक्रय और क्रय व्यवहार में लगी हुई है। आप पहले ही जानते ही कि एक कर-दाता कर दूसरों से वसूल कर सकता है। अर्थात वह दूसरों से कर का भुगतान करा सकता है। यह केवल/विक्रय-क्रय व्यवहार द्वारा ही हो सकता है। वह उसके द्वारा दिये गए कर का कुछ भाग, या तो जिन चीजों

का वह बेचता है उनका विक्रय मूल्य बढ़ाकर वसूल करते हैं अथवा जो वह खरीदता है उनका क्रय मूल्य कम करके। इस प्रकार कर भार का विवर्तन करने की उसकी क्षमता क्रय-विक्रय की गई वस्तुओं की मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों पर निर्भर करती है। इससे किसी विशिष्ट कर के भार के विवर्तन का पता लगाना बहुत कठिन हो जाता है। परन्तु अधिक महत्वपूर्ण बाधा इस तथ्य द्वारा उत्पन्न हो जाती है कि कर विवर्तन केवल वास्तविक कर दाताओं द्वारा सम्पन्न किये गए सौदों तक ही सीमित नहीं होता। अक्सर यह क्रम अनन्त रूप में चलता रहता है। परिणामस्वरूप अन्त में कर भार अर्थव्यवस्था पर इस प्रकार प्रसारित हो जाता है कि इसकी अन्तिम स्थिति जानना लगभग असम्भव सा हो जाता है।

इस तर्क के आधार पर कुछ लोगों का दावा है कि कर के अन्तिम भार का अध्ययन करना ही सारहीन है। उनका कहना है कि कर का भार सब पर समान रूप से फैल जाता है इसलिए इस बात का कोई महत्व नहीं कि प्रारम्भ में कर किस पर लगाया गया। फिर भी यह दावा पूर्ण रूप से न्यायोचित नहीं है और अधिकारियों को सावधानी से करों का चुनाव करके ही लगाना चाहिए। अध्ययनों से पता चलता है कि कई करों के संबंध में हम अन्तिम कर भार के बिन्दु तक पहुंच सकते हैं जो कि वास्तविक बिन्दु के काफी समीप होता है। उदाहरण के तौर पर प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में कर विवर्तन इतना न्यूनतम होता है कि कुछ अर्थशास्त्री प्रत्यक्ष करों की परिभाषा इस प्रकार देते हैं कि यह वह कर होते हैं जिनमें कर भार का दूसरों पर विवर्तन नहीं हो सकता। ऐसे प्रत्यक्ष करों का उदाहरण आयकर, उपहार कर, मृत्युकर, धनकर आदि हैं। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष करों का आसानी से विवर्तन होने की सम्भावना होती है। कई स्थितियों में प्राधिकारी स्वयं इन करों को इस आशय से लगाते हैं कि वह दूसरों से वसूल किए जायें। उदाहरण के लिए उत्पादन शुल्क उत्पादकों से वसूल किये जाते हैं परन्तु उनसे अपेक्षा की जाती है कि वह इन्हें ग्राहकों से वसूल करेंगे, इसी प्रकार यद्यपि बिक्री कर विक्रेताओं द्वारा दिये जाते हैं परन्तु अपेक्षा की जाती है क्रेताओं द्वारा सहन किये जायेंगे, विक्रेताओं द्वारा नहीं। सामन्य तौर पर एक कर वहीं लगाना चाहिए जहां इसका भार डालने का उद्देश्य हो ताकि इसके अर्थव्यवस्था पर अनचाहे (Unintended) प्रभावों को न्यूनतम किया जा सके। फिर भी प्रशासनिक दृष्टिकोण से ऐसा करना सदा सम्भव नहीं होता। परन्तु वास्तविकता यह है कि अधिकारियों को प्रत्येक कर के अन्तिम भार तथा प्रभावों, दोनों का पता लगाना चाहिए और फिर इसे लगाने का उत्तम बिन्दु अपनाना चाहिए। प्राधिकारियों को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि अन्तिम करापात से आय और धन की विषमताओं में वृद्धि न हो तथा विनियोग, उत्पादन तथा व्यापार आदि पर इसके हानिकारक प्रभाव न पड़े।

दूसरे प्रकार से भी इसे समझाया जा सकता है जिसके लिये दो बिन्दुओं पर ध्यान देना होगा :-

(अ) यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि करों के प्रभाव तटस्थ होंगे। वह अर्थव्यवस्था के कार्यों पर कई प्रकार के निर्णयों द्वारा प्रभाव डालते हैं। जिनसे विनियोग, बचत, तकनीक का चुनाव, साधनों का आवंटन, उपभोग और रोजगार आदि प्रभावित होते हैं। इसलिए अधिकारियों का उद्देश्य उपयुक्त कर प्रणाली का चुनाव करना होना चाहिए। जो देश के सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों के अनुरूप हों, न कि इनके विपरीत।

(ब) यह कहना भी गलत होगा कि प्रत्येक कर का भार पूरी अर्थव्यवस्था पर इस प्रकार फैल जाता है कि उसका पता लगाना ही व्यर्थ है। कई स्थितियों में अन्तिम कर-भार के अनुमान लगाकर प्रयोग में लाये जा सकते हैं। वैसे भी हमारे देश में व्यक्तिगत करों के करापात पर अध्ययन की कमी है इसलिए हमें उपलब्ध सूचना पर ही विश्वास करना होगा ताकि संबंधित निष्कर्षों पर पहुंचा जा सके।

समाज के विभिन्न वर्गों पर भारतीय कर प्रणाली के भार का अध्ययन करते समय इसकी प्रगतिशीलता की धारणा सामने आती है। प्रगतिशील कर वह होता है जबकि कर आधार के बढ़ने कर करदाता का दायित्व भी निरपेक्ष तथा अनुपातिक दोनों रूप से बढ़ता जाता है। उदाहरण के तौर पर आयकर के सम्बन्ध में जैसे-जैसे व्यक्ति की कर योग्य आय बढ़ती जाये, वैसे-वैसे उस द्वारा दिये जाने वाली कर की राशि भी निरपेक्ष तथा अनुपातिक रूप से बढ़ते जाना चाहिए। वास्तविक अर्थ में प्रगतिशील होने का अर्थ है कि कर प्रणाली आय एवं धन की विषमताओं को कम करने योग्य होनी चाहिए। अक्सर यह पता लगाना आसान नहीं होता है कि प्रणाली असमानताओं को कम करने से दृष्टिकोण से प्रगतिशील है भी कि नहीं क्योंकि असमानताओं को बढ़ाने में किन्ही और तत्वों का भी हाथ हो सकता है।

26.4 करापात तथा समाज के विभिन्न वर्गों का सम्बन्ध

समाज के विभिन्न वर्गों पर करापात जानना भीषण कार्य है। एक समय पर समस्या के केवल एक पहलू को लेकर प्रयास किया जा सकता है। मूल समस्या इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि एक तरफ तो बहुत सारे कर हैं जिनकी व्यवस्था काफी जटिल है। और दूसरी तरफ कई वैकल्पिक विधियाँ है जिनके द्वारा समाज को विभिन्न वर्गों में बाटा जा सकता है। पहले करों को ही लेते हैं। कई प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर हैं। उनमें छूटें, रियायतें और दूसरी व्यवस्थाएं भी हैं जिनसे यह देखना मुश्किल हो जाता है कि कौन कितना कर सहन करता है। व्यापारिक क्षेत्र पर लगाए गए करों के सम्बन्ध में विशेष रूप से ऐसा होता है। हम समाज के विभिन्न वर्गों पर कर भार जानने में रुचि रखते हैं। व्यापारिक क्षेत्र पर दूसरे आधारों पर कर लगाया जाता है, जैसे व्यापार का आकार, इसके लाभ की स्थिति, उत्पादन का प्रकार और निर्यात राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में इसका स्थान आदि-आदि। ऐसा कोई भी प्रत्यक्ष तरीका उपलब्ध नहीं है जिससे व्यापारी वर्ग द्वारा दिए गए करों को समाज के विभिन्न वर्गों के साथ यथार्थ रूप से संबंधित किया जा सके। इस संदर्भ में हमारा विश्लेषण अपूर्ण है।

इसी प्रकार कई वैकल्पिक रीतियाँ है जिनसे समाज को विशेष समूहों अथवा वर्गों में बांटा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम जनसंख्या को कृषि और गैर-कृषि क्षेत्र में बांट सकते हैं अर्थात वह जो अपनी जीविका कृषि क्षेत्र से प्राप्त करते हैं तथा वह जो अन्य स्रोतों से प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में यह वर्गीकरण ग्रामीण और शहरी वर्गों में हो सकता है। उनकी आर्थिक स्तर के आधार पर भी वर्गीकृत किया जाना सम्भव है। उस प्रकार से हम कई आर्थिक वर्गों के बारे में सोच सकते हैं, जो स्वयं कई तरीकों से बनाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोग औसत रूप से शहरी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से अधिक गरीब हैं। अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लोग सामान्य तौर पर समाज के दूसरे वर्गों की तुलना में अधिक गरीब हैं। इसका अर्थ है कि कई स्थितियों में भिन्न आय वर्गों की निवास की स्थिति के साथ संबंधित किया जा सकता है। (शहरी या ग्रामीण, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्र और राज्य आदि) अथवा रोजगार की प्रकृति के अनुसार (कृषि और उद्योग, वेतन भोगी और स्व:नियोजित व्यक्ति आदि) इस प्रकार करों तथा समाज के वर्गों के विभिन्न संयोग बनाये जा सकते हैं। इस इकाई में उनमें से कुछ का अध्ययन किया जायेगा।

26.5 महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष करों का भार (करापात)

इस भाग में हम कुछ महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष करों के संभावित करापात को देखेंगे। ऐसा करने के लिए हम समाज के सदस्यों को उनकी आय, रोजगार तथा निवास के क्षेत्र आदि के आधार पर अनेक वर्गों में बांटेगें।

(1) **आयकर** – सामान्य तौर पर यह माना गया है कि आयकर का भार विवर्तित नहीं किया जा सकता। यह अपने स्पर्श बिन्दु पर ही पड़ता है। हमारे देश में विशेष रूप से इसलिए है कि यहां अतिरिक्त श्रम की उपलब्धता की विशेष स्थिति है। इसलिए आयकर के करापात का निर्धारण करना यह पता लगाना है कि इस कर को कौन कितना देता है।

भारत में आयकर की अति प्रगतिशील दर अनुसूचियाँ हैं। इस प्रकार इसका अर्थ है कि इसका करापात उच्च आय वाले राज्यों पर बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक छूट की सीमा निम्नआय वाले लोगों को इस कर से मुक्त कर देती है। तथापि व्यवहार में उच्च वर्ग के लोग भी अपना कर दायित्व पर्याप्त मात्रा में कम कर लेते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि कई प्रकार के स्रोतों से प्राप्त आय में छूटें और रियायतें मिल जाती हैं। इस स्रोतों में निर्यात, नई कम्पनियों की equity में विनियोग तथा किसी विशिष्ट प्रकार के स्रोतों का विनियोग आदि। कुछ प्रकार की बचतें स्वयं करदाता की कर योग्य आय को कम कर देता है। वह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि केवल उच्च आय वाले लोग ही वास्तव में इन रियायतों का लाभ उठाते हैं जिसका अर्थ है कि उन पर कर का भार कम हो जाता है। इसके विपरीत मध्यम आय वर्ग के लोग बचत नहीं कर पाते तथा उपर्युक्त स्रोतों से आय प्राप्त नहीं कर सकते और इस प्रकार उनकी आय की तुलना में अधिक कर देते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे कर नियम व्यापार में कई खर्चों की छूट देते हैं। वाणिज्यिक संस्थानों के मालिक और उनके शीर्ष स्तर के कर्मचारी इन व्यवस्थाओं का लाभ उठाकर व्यक्तिगत व्ययों को कम्पनी के खर्च पर डाल देते हैं। इस प्रकार वह अधिक कर दिये बिना अधिक आय का लाभ उठाते हैं। आपको यह भी ध्यान होगा कि बड़े पैमाने पर कर वंचन की समस्या भी हमारे सामने आती है जिससे समाज के बड़े भागों पर इसका भार काम हो जाता है। यह इसलिए होता है कि हमारे कर नियमों की क्रियान्विति ठीक प्रकार से नहीं होती। दूसरा ध्यान रखने योग्य बिन्दु यह है कि कृषि आय पर कर केवल राज्य सरकारों द्वारा लगाया जाता है, केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं। और राज्य सरकारों इस कर को लगाने के प्रति उत्सुक नहीं है। केवल कुछ राज्य इस कर को लगाते हैं। उन्होंने छूट की सीमा बहुत ऊंची तथा कर की दरें बहुत नीची रखी हैं। परिणामस्वरूप समूचा कृषि क्षेत्र लगभग कोई आयकर भार सहन नहीं करता। बल्कि यह गैर-कृषि आय वर्ग के लोगों पर केन्द्रित हो जाता है।

(2) **पूंजीगत लाभकर** – किसी विशिष्ट अथवा उससे लम्बे समय के लिए रखी सम्पत्ति के क्रय मूल्य से जितना उसका विक्रय मूल्य अधिक होता है उसे पूंजीगत लाभ कहा जाता है। इस पर लगाया गया कर आय कराधान का ही एक अंश होता है। यहां हमें ध्यान रखना चाहिए कि केवल धनी वर्ग ही सम्पत्तियाँ रखते हैं जिसपर कर योग्य पूंजीगत लाभ प्राप्त होता है। इसलिए जिस सीमा तक यह कर दिया जाता है इसका भार केवल उच्च आय वर्ग पर ही पड़ता है।

(3) **निगम कर** – यह कर वाणिज्यिक संस्थाओं की आय पर लगाया और वसूल किया जाता है। राजस्व के दृष्टिकोण से यह भारत सरकार का बहुत महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर है। कंपनियों की कर योग्य आय पर समान दर से भारी कर लगाया जाता है। निगम कर के भार को परिशुद्धता से निर्धारण करना आसान नहीं है। एक तरफ तो इन संस्थाओं के अंशधारियों से, इनके मालिक होने के कारण, आशा की जाती है कि कर भार वह सहन करें दूसरी ओर कुछ वाणिज्यिक संस्थान अपने माल की कीमत ऊंची कर देते हैं या आदानों की कीमत कम कर देते हैं और इस प्रकार कर भार दूसरों पर डाल देते हैं। सही स्थिति अलग-अलग कम्पनी में अलग-अलग प्रकार की होती है। तथापि सामान्य तौर पर हम कह देते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम कर रही अधिकतर कम्पनियों से कर भार स्वयं सहन करने की अधिक

सम्भावना होती है जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में कम्पनियां कर भार दूसरों पर डाल देने में समर्थ होती है।

(4) केन्द्रीय सरकार के दूसरे प्रत्यक्ष कर – इसके अतिरिक्त कुछ और प्रत्यक्ष कर भी है, इनमें वार्षिक धन-कर, उपहार कर, धन के उत्तराधिकार पर कर तथा कुछ प्रकार की व्ययों पर कर जैसे होटल तथा हवाई यात्रा पर कर आदि। इन करों की महत्वपूर्ण सामान्य विशेषता यह है कि उनसे बहुत सीमित सा राजस्व प्राप्त होता है। इस प्रकार अधिकारियों द्वारा संग्रह किये गये कुल राजस्व में इन करों का विशेष महत्व नहीं है। इन करों की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष करदाताओं के वर्ग में भी इनका भार कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। इन करों का भुगतान करने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक सही और धनकर के अतिरिक्त कर देने वालों की संख्या तो और भी कम है।

(5) राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये प्रत्यक्षकर – इन करों में कृषि आय पर कर, भू-राजस्व, व्यवसाय कर और भवनों पर कर शामिल हैं। प्रत्यक्ष करों में से कुछ स्थानीय निकायों को हस्तान्तरित किये जाते हैं और राज्य सरकारें इन्हें अपने लिये राजस्व संग्रह करने के लिए नहीं लगाती। इन स्थानीय प्रत्यक्ष करों का करापात उन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों पर ही पड़ता है। जहां तक व्यवसाय कर का सम्बन्ध है, केवल कुछ ही राज्य इसे लगाते हैं। इसकी दर बिल्कुल नाम मात्र होती है। यह केवल आयकर दाताओं पर लगाया जा सकता है। वर्ष 1989 तक इसकी राशि 250रु. प्रति वर्ष से अधिक नहीं थी। अब इसकी संशोधित उपरी सीमा 2500 रु. प्रति वर्ष है। सामान्य तौर पर ऐसा विश्वास है कि जिन व्यवसायी लोगों पर यह कर लगाया जाता है, वह इसे अपने ग्राहकों से वसूल कर लेते हैं और इस प्रकार इसका भार प्रसारित हो जाता है। जहां तक कृषि आयकर तथा भू-राजस्व का सम्बन्ध है, राज्य सरकारें इन आय के स्रोतों से आय प्राप्त करने के लिए उत्सुक नहीं है। कई स्थितियों में भू-राजस्व हटा दिया गया है या कम कर दिया गया है। इसका भार भू-स्वामियों पर पड़ता है, दूसरों पर विवर्तित नहीं किया जा सकता। केवल कुछ राज्यों द्वारा ही कृषि आयकर लगाया जाता है। इसमें छूट की सीमा अधिक तथा कर की दरें कम हैं। इसलिए इससे प्राप्त होने वाला कर राजस्व बिल्कुल नगण्य है। चाहे कितना भी है इसका भार धनी कृषकों तक ही सीमित रहता है।

26.6 समस्त प्रत्यक्ष करों का करापात

इस भाग में हम समाज के विभिन्न वर्गों पर समस्त प्रत्यक्ष करों के भार का विश्लेषण करेंगे।

आय वर्ग – प्रत्यक्ष करों का निर्धारण करदाता की करदान क्षमता के आधार पर किया जाता है। यह क्षमता आय, व्यय, धन तथा कुछ इसी प्रकार के सूचकों के आधार पर निर्धारित की जा सकती है। सामान्य तौर पर ऐसी मान्यता है कि प्रत्यक्ष कर, कर दाताओं द्वारा स्वयं ही वहन किये जाते हैं। हमें देखना है कि प्रत्यक्ष कर का भुगतान कौन करता है और कितना। भारत में प्रत्यक्ष कर प्रणाली की निम्न विशेषताएं हैं जिनसे हमें आय तथा धन की विषमताओं पर उनके करापात तथा प्रभाव का विश्लेषण करने में सहायता मिलती है। :-

(1) भारत में सामान्य तौर पर प्रत्यक्ष करों में कुछ प्रारंभिक छूट की सीमाएं होती हैं जिनके कारण गरीब वर्ग कर देने से बच जाते हैं। बल्कि समाज के धनी वर्ग द्वारा इनका भुगतान किया जाता है। उदाहरण के तौर पर कोई भी व्यक्ति जिसकी कर योग्य आय 60,000 रु. प्रति वर्ष से कम हो, उसे इस कर का भुगतान नहीं करना पड़ता। यही स्थिति धनकर, उपहार कर तथा दूसरें करों के सम्बन्ध में होती है।

(2) भारत वर्ष में प्रत्यक्ष कर खंड प्रणाली (Slab System) पर आधारित है अर्थात

जैसे-जैसे कर का आधार बढ़ता जाता है कर की दर भी बढ़ती जाती है। इससे भी वह अधिक प्रगतिशील बन जाते हैं। जैसे-जैसे हम उच्च आय तथा धन के वर्गों की तरफ जाते हैं इसका भार भी बढ़ता जाता है। एक समय था जब कि उच्चतम खंड के लिये कर की सीमान्त दरें बहुत ही ऊंची होती थी। पिछले दशक में, उच्चतम खंड के लिये कर की दरों को कुछ सीमा तक नीचा कर दिया गया है, अभी भी वह अति प्रगतिशील हैं इसके साथ ही मूल्यों में स्फीतिजनक वृद्धि होने के कारण इन करों की प्रगतिशीलता बढ़ती जा रही हैं स्फीति के कारण एक करदाता की आय तथा धन आदि का नाम मात्र मूल्य बढ़ जाता है जबकि उसके अनुरूप क्रय शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती। कर की दरों आय और धन के मौद्रिक मूल्यों पर आधारित होती हैं। इसलिए कर दाता धनवान हुए बिना ही उंची आयकर के खंड में चला जाता है जिससे प्रत्यक्ष कर और भी प्रगतिशील बन जाते हैं।

(3) कुछ प्रत्यक्ष कर केवल उच्च आय वर्ग से वसूल करने के लिये बनाये गये हैं। यहां होटल व्यय अथवा हवाई यात्रा पर व्यय का उल्लेख किया जा सकता है। यह मान्यता है कि केवल धनी वर्ग ही इन सेवाओं का उपभोग करता है इसलिए इनका करापात भी केवल उच्च आय वर्ग पर ही होगा। इसे विपरीत प्रत्यक्ष करों में कुछ कमियाँ भी हैं जिनसे वह धनी वर्ग के लिये कम भार स्वरूप होते हैं :-

(1) हमारे कर नियम बहुत जटिल हैं उनका पालन करने में कई वैधानिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त हमारा कर संग्रह तंत्र भी इतना कुशल नहीं है। निश्चित रूप से कह सकें कि प्रत्येक संभावी करदाता वास्तव में उनका भुगतान करता है। बड़ी लोगों के पास कर योग्य आय तथा धन है, जो बड़ी मात्रा में पूंजीगत लाभों से प्राप्त हुई हैं, फिर भी वह प्रत्यक्ष कर नहीं देते। वर्तमान में प्रत्यक्ष कर देने वालों की संख्या तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम है जितनी कि देश में होनी चाहिए। इस प्रकार बहुत से लोग बिल्कुल भी कर नहीं देते या जितना देना होता है उससे बहुत कम देते हैं और बड़े पैमाने पर कर वंचन होता है। इसके अतिरिक्त कर नियम बहुत जटिल है। विधि विशेषज्ञ कानूनी तौर पर कर परिहार के तरीके ढूंढ निकालते हैं। परिणामस्वरूप जहां नियम के अनुसार कर अधिक प्रगतिशील है और समाज के धनी वर्ग पर उनका भार अधिक होना चाहिये वहां वास्तव में ऐसा नहीं होता। धनी वर्ग द्वारा जितना देना चाहिए, उससे बहुत कम ही भुगतान करता है।

(2) वैसे भी देश में व्यापक गरीबी के कारण प्रत्यक्ष करों का आधार बहुत बड़ा नहीं है। हमें प्रत्यक्ष करों द्वारा पर्याप्त राजस्व संग्रह करने की आशा नहीं कर सकते। बल्कि अप्रत्यक्ष करों पर निर्भर रहना पड़ता है। वर्तमान में, उदाहरण के लिए, कर राजस्व का केवल 1/5 भाग प्रत्यक्ष करों द्वारा वूसल किया जाता है जबकि 4/5 भाग अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त किया जाता है। यदि हम मानें कि सभी प्रत्यक्ष करों का कराघात तथा करापात उन्हीं कर दाताओं पर है, और करदाता उसे दूसरों से वूसल नहीं कर सकते तो इसका अर्थ होगा कि हमारे समूचे प्रत्यक्ष कराधान का भार धनी वर्ग पर होगा। अब यदि यह मान्यता सही भी हो, तो इसका अर्थ केवल यही होगा कि धनी वर्ग केवल प्रत्यक्ष करों का 1/5 भाग और अप्रत्यक्ष करों के उनके भाग का भार ही सहन करते हैं। इसलिए यदि हम यह जानना चाहें कि भारत में कर भार कौन सहन करता है तो इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में स्थिति जाननी होगी।

क्षेत्रवार वर्ग – यदि हम जनसंख्या को उन वर्गों में विभाजित करें जो प्राथमिक रूप से कृषि पर आधारित हैं तथा जो वर्ग कृषि पर आधारित नहीं हैं तो हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष करों का भार गैर कृषि क्षेत्र की तुलना में कृषि क्षेत्र पर कहीं कम है। पूर्व में दिये गए विश्लेषण से यह परिणाम निकलता है। कृषि पर प्रत्यक्ष कर बहुत ही हलके रूप से लगे हुए हैं तथा उनसे

प्राप्त राजस्व भी बहुत ही कम है। अधिकांश प्रत्यक्ष करों का भुगतान गैर कृषि वर्ग द्वारा किया जाता है।

हमारे देश में ग्रामीण जनसंख्या प्रधानतः कृषि पर निर्भर करती है और हमारे ग्रामीण उद्योग अभी भी शिशु अवस्था में हैं। तदनुसार यदि हम जनसंख्या को ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बांटें तो कृषि और गैर-कृषि क्षेत्र से संबंधित करापात के निष्कर्षों का लगभग समान रूप से इनमें लागू किया जा सकता हैं हम सुरक्षित रूप से कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष करों का मुख्य भार शहरी जनसंख्या पर होता है। ग्रामीण जन-संख्या इनका बहुत थोड़ा भाग सहन करती है। अधिक विशिष्ट रूप में, कुछ प्रत्यक्ष कर जैसे धन कर, कृषि क्षेत्र पर लागू होते ही नहीं है, जबकि कुछ दूसरे करों से केवल सीमान्त राजस्व की प्राप्ति होती है जिनका भार करदाताओं द्वारा महसूस ही नहीं किया जाता। इस प्रकार बहुत थोड़ी से मुख्य रूप से ग्रामीण उद्योगों जैसे मछली पालन, मुर्गी पालन, मधु-मक्खी पालन, डेयरी व्यवसाय आदि पर या तो कोई प्रतयक्ष कर नहीं लगाया जाता या बहुत ही कम लगाया जाता है। फिर भी आपको याद रखना चाहिए कि खनन या कुछ प्रकार की वाणिकी पर आयकर तथा दूसरे कर लगाये जाते हैं। फिर भी यह धारणा है कि बड़े स्तर पर कर वंचन के कारण इन व्यवसायों में लगे व्यक्ति उतना कर भार वंहन नहीं करते।

स्थिति अनुसार वर्ग – ऐसा होता है कि हमारे देश के कुछ क्षेत्र बहुत ही गरीब हैं और उनमें बहुत थोड़े उद्योग ऐसे हैं जिनपर कर लगाया जाता है। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष कर का भुगतान करने वाली भारतीय जनसंख्या भौगोलिक दृष्टि से समान रूप से वितरित नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष करदाता मुख्य रूप से कुछ राजधानी क्षेत्रों वाले नगरों जैसे बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास आदि तथा अन्य बड़े नगरों में केन्द्रित है। दूसरे दृष्टिकोण में देखें तो प्रत्यक्ष करदाता कुछ धनी राज्यों और उनमें भी कुछ (Advanced) उन्नत क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। हमारे देश के गरीबी पहाड़ी जिले और विशाल जनजाति क्षेत्र प्रत्यक्ष करों द्वारा राजस्व में बहुत कम अंशदान देते हैं।

रोजगार वर्ग – यदि हम जनसंख्या को कर्मचारी (Employees) तथा स्वःनियोजित व्यक्तियों में बांटें तो हम देखेंगे कि स्वतः नियोजित वर्ग अपनी आय के अनुपात में बहुत कम प्रत्यक्ष कर भार वहन करते हैं। स्वःनियोजित वर्ग में बड़ा अनुपात कृषि से अपनी जीविका कमाने वालों का है तथा शिल्पकारों का है। यह लोग शायद ही कोई प्रत्यक्ष कर देते हैं। दुकानदार, व्यापारी, निर्माता और परिवहन में लगे व्यक्ति मुख्यतः स्वःनियोजित होते हैं। वह या तो अपनी आय को छुपा कर या अपने कुछ व्यक्तिगत व्ययों को व्यापारिक खर्चों पर दिखाकर कुछ सीमा तक अपने कर दायित्व को कम कर लेते हैं। इसी प्रकार की रियायतों का लाभ उनके उच्च आय प्राप्त कर्मचारी भी उठाते हैं जिन्हें व्यापार के खर्चे पर तथा अतिरिक्त व्यक्तिगत सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। परन्तु मध्यम तथा निम्न स्तर के कर्मचारी सामान्य रूप से आयकर नहीं बचा पाते।

बोध प्रश्न - 1

अपने उत्तरों का इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलान कीजिए।

1. सही अथवा गलत पर (✓) चिन्ह लगाईये :-

   (अ) कृषि आय पर केन्द्रीय सरकार द्वारा कर लगाया जा सकता है। सही/गलत

   (ब) कोई भी राज्य कृषि आय पर कर नहीं लगाती। सही/गलत

   (स) भारत में प्रत्यक्षकरों में प्रारम्भिक छूट की सीमा होती है। सही/गलत

(द) करापात केवल विक्रय-क्रय व्यवहार द्वारा ही विवर्तित किया जा सकता है। सही/गलत

(य) आधुनिक सरकार की कर प्रणाली अपने प्रभावों में तटस्थ हो सकती है। सही/गलत

2. कराघात तथा कर के प्रभाव में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

3. कर के आधार की परिभाषा दीजिए।

4. कर के अग्रगामी विवर्तन तथा प्रतिगामी विवर्तन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

5. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि हमारे प्रत्यक्ष करों का भार धनी तथा शहरी वर्ग पर अधिक पड़ता है?

26.7 अप्रत्यक्ष करों का करापात-अवधारणा सम्बन्धी विचार

वस्तुओं के निर्माण, (Processing) विधायन, (Packaging), संवेष्टन, भंडारण, परिवहन, वितरण, बिक्री, आयात-निर्यात तथा उपभोग पर लगाये गये करों को अप्रत्यक्ष कर कहते हैं। यह कर कई प्रकार की सेवाओं की व्यवस्था तथा उपभोग पर भी लगाये जा सकते हैं।

हमारे देश में अप्रत्यक्ष करों द्वारा कुल कर राजस्व का लगभग 4/5 भाग प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार इनका कर संरचना में प्रधान तथा अपरिहार्य स्थान है। उनमें उच्च श्रेणी का उत्प्लावन (Buoyancy) प्रभाव दिखाई देता है अर्थात जैसे-जैसे आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि होती जाती है, अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त राजस्व में वृद्धि होती रहती है। केन्द्रीय सरकार के लिये अप्रत्यक्ष करों में सबसे महत्वपूर्ण केन्द्रीय उत्पादन शुल्क है। इनकी प्राप्तियों में से कुछ भाग राज्य सरकारों को दिया जाता है। केन्द्र के लिये दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण अप्रत्यक्ष कर सीमा कर है। वह मुख्यतया आयात करों के रूप में होता है न कि निर्यात करों के रूप में। इसी प्रकार राज्य सरकारों के लिये भी सबसे अधिक आय प्रदान करने वाला अप्रत्यक्ष कर उत्पादन शुल्क ही है (विशेषकर मनुष्यों द्वारा उपभोग में लाई जाने वाली तथा औषधि तथा प्रसाधन संबंधी सामग्री खाने में काम में आने वाली मंदिरा जिस पर केन्द्र सरकार द्वारा कर लगाया जाता है और राज्य सरकारों द्वारा वसूल किया जाता है) और बिक्री कर आदि।

आईये हम सामान्य रूप से विचार करें कि इनका भार कौन वहन करता है। अधिकारियों द्वारा स्वीकार किया गया है कि अप्रत्यक्ष करों को क्रेताओं पर विवर्तित करने का आशय होता है जिससे उनका अंतिम भार उपभोक्ताओं पर पड़े न कि उत्पादकों पर, व्यापारियों पर या दूसरें पूर्तिकर्ताओं पर। सिद्धान्त में अक्सर इस आशय के बारे में प्रश्न किया जाता है और यह कहा जाता है कि किसी विशेष अप्रतयक्ष कर के भार का बंटवारा कर लगी वस्तु की सापेक्षिक मांग की लोच और पूर्ति की लोच की शक्तियों पर निर्भर करता है। फिर भी जब हम समूचे अप्रत्यक्ष करों के ढाचे पर विचार करें तो यह निष्कर्ष लागू नहीं होता। इस परस्पर विरोधी स्थिति की व्याख्या निम्न प्रकार है :-

किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो इसका भार विक्रेता को सहन करना पड़ सकता है क्योंकि क्रेता उसकी वास्तविक कीमत तथा कर देने के लिये तैयार नहीं होते लेकिन ऐसी स्थिति केवल अस्थायी रूप से होगी, यदि उत्पादक अधिक लाभकारी विनियोग कर सकें। इसलिए दीर्धकालीन में कर लगी वस्तु की पूर्ति कम हो जायेगी और इसका मूल्य बढ़ जायेगा इसलिए कर भार क्रेता पर विवर्तित हो जायेगा। यदि कर लगी वस्तु का एकाधिकार हो, उत्पादक पूर्ति को समायोजित करे बिना किसी दूसरे उद्योग में विनियोग को स्थानान्तरित किये, कर भार को क्रेताओं पर डाल सकता है। अब उस स्थिति पर विचार कीजिए जब अधिकतर वस्तुओं पर

अप्रत्यक्ष कर लगा हो। ऐसी स्थिति में जब तक कर भार क्रेताओं पर नही डाल दिया जाय विनियोग पर औसत आय की दर कम लाभप्रद हो जाती है। यदि किन्हीं कारणों से ऐसा न किया जा सके तो विनियोग पर हानि होगी। वस्तुओं की पूर्ति कम हो जायेगी और मूल्य बढ़ जायेंगे। तर्क का मुख्य जोर इस बात पर है कि व्यक्तिगत अप्रत्यक्ष कर का भार विक्रेता पर हो सकता है परन्तु यह केवल एक अस्थाई घटना होगी। इसकी दीर्घकालीन आधारभूत प्रवृति क्रेताओं पर विवर्तित होने की होगी। परिणामस्वरूप यह मान्यता उचित है कि दीर्घकालीन में समस्त रूप से अप्रत्यक्ष करो का भार क्रेताओं पर पड़ता है।

अब सीमा करों को लेते हैं। इनके सम्बन्ध में विदेशी पूर्तिकर्ता पर विदेशी क्रेताओं पर कर भार डाला जा सकता है। यदि व्यापार-वस्तु की मांग और पूर्ति की लोचें अपने पक्ष में हों। फिर भी भारत में ऐसी स्थिति नहीं है। इसी कारण से आयातित वस्तुओं की हमारी मांग की लोचें बहुत नीची है। हम उनसे वंचित रहने की अपेक्षा बहुत ऊँची कीमत भी देने को तैयार रहते है। हमारी सौदा करने की शक्ति बहुत कमजोर हैं।

दूसरी ओर कई स्थितियों में, हमारे आयातों के पूर्ति कर्ता आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है और उनकी सौदा करने की शक्ति भी अधिक है। परिणाम स्वरूप हमारे देश में सम्पूर्ण आयात-कर अधिकतर आयातकों द्वारा सहन किये जाते है और वह इन्हें अंतिम उपभोक्ताओं पर डाल देने में समर्थ होते है। इन्हीं कारणोंसे हम निर्यात-कर लगाकर हमारे निर्यातों का मूल्य नहीं बढ़ा सकते बल्कि हमें निर्यातकों को आर्थिक सहायता तथा दूसरे नगद प्रलोभन देने पड़ते हैं ताकि उनके लिये निर्यातों का पर्याप्त रूप से लाभकारी होना सुनिश्चित हो जाये।

भारतीय वस्तु बाजार की दो महत्वपूर्ण विशेषताये हमे अप्रत्यक्ष करों का विश्लेषण करने में सहायता करती है।

1. कई कारणों से हमारे देश में लम्बे समय से सभी वस्तुओं की पूर्ति, जिनमें आयातित वस्तुए भी शामिल हैं, कम है और
2. हमारे बाजारों में प्रतियोगिता के भी अपर्याप्त तत्व पाये जाते हैं। इन विशेषताओं के कारण हमारे उत्पादकों के लिये रक्षित (Sheelted) बाजारों की रचना हुई है।

जहां वह घटिया किस्म की वस्तु को ऊँचे मूल्यों पर बेच सकते है। ऐसे वातावरण में प्रत्यक्ष करों को लगाने का क्षेत्र सीमित हो जाता है और (केन्द्रीय तथा राज्य दोनों स्तरों पर) सरकार को पर्याप्त राजस्व प्राप्ति के लिये अप्रत्यक्ष करों पर निर्भर रहना पड़ता हैं। दुर्भाग्यवश, अप्रत्यक्ष कर केवल अंतिम उपभोक्ता वस्तुओं तक ही सीमित नहीं थे बल्कि वह उत्पादन तथा विधायन (Processing) आदि के विभिन्न चरणों पर लगाये जाते थें जिसका परिणाम मूल्य-प्रपतन प्रभाव कहलाता था अर्थात कर शुद्ध (Value added) पर ही नहीं देने पड़ते थे बल्कि पहले के स्तरों पर दिये गये करों पर भी देने पड़ते थे। चूंकि बहुत कम कर मूल्यानुसार होते थे (अर्थात वह वस्तु के मूल्य के आधार लगाये जाते थे) वस्तु के कुल मूल्य में कर राशि चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ती जाती थी। कुछ सीमा तक यह दोष कुछ चुनी हुई निर्माणी उद्योगों में (Value added) कर को लगाने से दूर किया गया है। परन्तु मूल्य-प्रपतन (Price-cascadus effect) प्रभाव की समस्या अभी भी रहती हैं।

जब मूल्यों पर स्फीतिजनक प्रभाव होता है तो उत्पादक अप्रत्यक्ष करों का भार बड़ी आसानी से क्रेताओं पर डाल देते हैं। हमारे देश में, हम कह सकते हैं कि सभी अप्रत्यक्ष करों का भार अंतिम उपभोक्ताओं पर पड़ता हैं।

26.8 समाज के विभिन्न वर्गों पर अप्रत्यक्ष करों का भार

उपभोक्ता बनाम उत्पाद (वस्तु)

इस इकाई के भाग 26.6 में प्रस्तुत विश्लेषण से स्पष्ट है कि हमारे देश में अप्रत्यक्ष कर उपभोक्ताओं द्वारा सहन किये जाते हैं। इसलिये यदि हम समाज को व्यापारी तथा गैर व्यापारी वर्ग में विभाजित करे (व्यापारी वर्ग के अन्तर्गत निर्माता तथा व्यापारी दोनों ही शामिल है) तो हम देखते है कि अप्रत्यक्ष करों का समस्त भार, गैर व्यापारी वर्ग पर पड़ता है। वास्तव में ऐसी स्थिति में पूर्तिकर्ता कर की राशि से भी अधिक वस्तु का मूल्य बढ़ा देते है। यदि हम अप्रत्यक्ष करों के वंचन को भी ध्यान में रखें तब स्पष्ट है कि उपभोक्ताओं पर कर भार कर की राशि से कहीं अधिक पड़ता हैं।

आय वर्ग – अप्रत्यक्ष करों की प्रकृति अति प्रतिगामी होती है। वह कम आय वर्ग पर अधिक भार डालते है। इसलिए अप्रत्यक्ष कर समाजवादी समाज के उद्देश्यों के विपरीत कार्य करते हैं जिसमें आय और धन की विषमताओं को आवश्यक न्यूनतम स्तर तक कम करना होता है। फिर भी तीव्र योजना बद्ध आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्राधिकारियों को सार्वजनकि विनियोग तथा दूसरी क्रियाओं के लिए अधिक राजस्व की आवश्यकता होती हैं। तदनुसार उनके लिये अप्रत्यक्ष करों पर अधिक निर्भरता के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं होता। फिर भी अप्रत्यक्ष करों के प्रतिगामी प्रभावों को न्यूनतम करने के लिए कुछ कदम उठाये गये है :-

प्रथम, बड़ी संख्या में कुछ वस्तुए जिन्हें गरीब वर्ग के लिए आवश्यक समझा गया उन्हें या तो अप्रत्यक्ष करों से मुक्त कर दिया या बहुत ही हल्के कर लगाये गये। इस प्रकार उदाहरण के लिए (Non-processed) खाद्य-पदार्थो को सामान्य तौर पर अप्रत्यक्ष करों से मुक्त रखा गया है जब कि दूसरे विद्यायित (Processed) और डिब्बा बन्द खाद्य-पदार्थो पर, जिन्हें मुख्यरूप से धनी वर्ग उपभोग करते है (जैसे चोकलेट, वातित पेय, जैम्स और जैलीस आदि) कर लगाये जाते हैं।

दूसरे जो वस्तुए गैर-आवश्यक और विलासिता की मानी जाती है जैसे कि मोटर गाड़ी, बिजली का सामान, और दूसरी वस्तुए उन पर उत्पादन शुल्क और बिक्री कर लगाये जाते है अतिरिक्त कर की दर भी सामान्य रूप से इन चीजों की अधिक मंहगी किस्मों पर अधिक ऊँची होती है।

अप्रत्यक्ष कर जांच समिति की (अध्यक्ष श्री एल.के.झा) वर्ष 1973-74 के लिये 1977 में दी गई रिपोर्ट से जैसा कि संलग्न तालिका में दर्शाया गया है, पता चलता है कि कुल व्यय के अनुपात में (कुल नगद व्यय के भी।) अप्रत्यक्ष कर प्रति व्यक्ति मासिक व्यय के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ते जाते है। इसका अर्थ है कि ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष करों के भार की प्रकृति प्रगतिशील है। चाहें निष्कर्ष बहुत पुराने करों से सम्बन्धित हैं परन्तु सामान्य निष्कर्ष अभी भी वैसे ही लागू होते है। परन्तु तब भी अप्रत्यक्ष करों का भार गरीब वर्ग के लिए बहुत अधिक और भार स्वरूप है। विशेषकर उस स्थिति में जब कि कर भार की इन लोगों की आय स्तर से तुलना की जाती है। सरकार को सर्वसाधारण के उपभोग में आने वाले कई औद्योगिक पदार्थो पर कर लगाना पड़ता हैं। चाहे ऐसी वस्तुओं पर कर की दर कम ही रखी जाती है। परन्तु गरीब करदाताओं द्वारा इनका भार बहुत अधिक महसूस किया जाता हैं। अत्यन्त गरीब लोगों जैसे भूमिहीन श्रमिक अनुसूचित जाति तथा गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों को भी कई ऐसी चीजें खरीदनी पड़ती हैं जिनपर कई प्रकार के अप्रत्यक्ष कर लगे होते हैं और

इसी कारण उनके मूल्य ऊंचे हो जाते हैं। यदि हम इस तथ्य पर ध्यान दें कि हमारे देश में बहुत अधिक अप्रत्यक्ष कर वंचन होता है, जब कि उपभोक्ताओं को उनका भुगतान करना पड़ता है, इस तरह गरीब वर्ग पर उनका भार और भी अधिक भयंकर हो जाता है।

क्षेत्रवार वर्ग – अब हम कृषि क्षेत्र तथा गैर-कृषि क्षेत्र में लगे व्यक्तियों पर अप्रत्यक्ष करों के भार के प्रश्न पर विचार करते है। निष्कर्ष यह है कि गैर-कृषि क्षेत्र, कृषि क्षेत्र की तुलना में अधिक करों का भुगतान करता है। इसका एक कारण तो यह है कि कृषि यंत्र तथा पैट्रोलियम पदार्थों के अतिरिक्त कृषि के अधिकतर Inputs आदानों पर या तो कर लगे नहीं हुये या बहुत ही कम लगे हुये हैं। इसके विपरीत औद्योगिक क्षेत्र द्वारा उपयोग में लिये गये अधिकतर आदानों (Inputs) पर कर लगाये गये हैं। कृषि क्षेत्र पर कर के न्यून भार का दूसरा कारण यह है कि किसान तथा कृषि मजदूर दूसरे व्यवसायों में रोजगार प्राप्त उनके प्रतिरूप से बहुत गरीब है तथा वह कई करारोपित वस्तुओं का उपभोग कर भी नहीं सकते (चाहे उनके पास उन्हें खरीदने के साधन भी हो) क्योंकि उनका प्रयोग करने की उनके पास सुविधायें नहीं हैं। उदाहरण के लिए एक धनी किसान फ्रिज का प्रयोग नहीं कर सकता यदि जहां पर वह रहता है वहा बिजली न हो। इसके अतिरिक्त उनके रहने की आदतें ऐसी है कि वह कर मुक्त वस्तुओं के प्रयोग की प्राथमिकता देते हैं। वह बहुत ही सीमित मात्रा में विस्थापित (Processed) या डिब्बा (Packed) बन्द खाद्य पदार्थो, बढ़िया कपड़ा तथा इसी तरह की दूसरी चीजों का उपभोग करते है परन्तु हमे यह भी विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि जो लोग अपनी जीविका कृषि से प्राप्त करते हैं वह अप्रत्यक्ष करों का भार बिल्कुल भी नहीं वहन करते। हम उपरोक्त कारणों के आधार पर केवल इतना कह सकते हैं कि उन पर कर भार बहुत ही कम है।

स्थितिवार वर्ग - हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि से अपनी जीविका प्राप्त करने वाले लोग कारीगर तथा शिल्पकार निवास करते हैं। दूसरी ओर जो लोग गैर-कृषि व्यवसाय में लगे हुये हैं वह मुख्य रूप से शहरी क्षेत्रों तथा औद्योगिक नगरों में केन्द्रित है। तदनुसार जो निष्कर्ष क्षेत्रवार वर्गीकरण के संदर्भ में प्राप्त किये गये है वही ग्रामीण तथा शहरी वर्गो पर भी लागू होते है। कुल-मिलाकर शहरी क्षेत्रों के लोगों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों पर अप्रत्यक्ष करो का भार कम है। अप्रत्यक्ष कर जांच समिति (जिसका ऊपर संकेत दिया गया है) ने ग्रामीण तथा शहरी लोगों पर अप्रत्यक्ष करों के भार की तुलनात्मक अध्ययन किया है। (संलग्न तालिका में देखिये)। इससे पता चलता है कि प्रत्येक आय वर्ग के लिए ग्रामीण क्षेत्र पर कर भार कम तथा शहरी क्षेत्र पर अधिक है। यह निष्कर्ष उन दोनों स्थितियों में लागू होता है जब करों पर, किसी आय वर्ग के कुल व्यय के अनुपात में अथवा कुल नकद व्यय के अनुपात विचार किया जाये।

इसलिए निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि, यद्यपि धनी वर्ग द्वारा कर वंचन को कम करने के लिये कई तत्व काम करते हैं, अपनी सम्पूर्ण कर प्रणाली काफी प्रगतिशील है। कर का भार धनी लोगों पर गरीबों की अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार ग्रामीण तथा कृषि वर्गों पर भी कर भार कम है।

बोध प्रश्न - 2

अपने उत्तरों का इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलान कीजिये।

1. व्यक्तिगत कर का भार विक्रेता पर हो सकता है, परन्तु समस्त अप्रत्यक्ष करों का नहीं, क्यों?

2. भारतीय आयात और निर्यात पर सीमा कर भारतीयों द्वारा क्यों सहन किये जाते है?

3. हमारे अप्रत्यक्ष करों की किन विशेषताओं के कारण उनका भार समाज के गरीब वर्गों पर कम हो जाता है।

26.9 सारांश

समाज के विभिन्न वर्गों पर करापात का अध्ययन करने के लिये, हमने कर के कराधात, करापात तथा प्रभावों की धारणाओं में अन्तर से प्रारम्भ किया। कराघात उन पर होता है जिनका कर देने का वैधानिक दायित्व होता है। इसका करापात उन पर होता है जो अंतिम रूप से इसे वहन करते है और करों के प्रभाव का अर्थ है कि इनको लगाने से तथा इनमें परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था में क्या प्रतिक्रियायें तथा परिवर्तन होते है। कर के भार को केवल विक्रय/क्रय व्यवहार द्वारा विवर्तित किया जा सकता है। यदि विक्रय बढ़ाया जाता है तो अग्रगामी विवर्तन होगा और यदि क्रय मूल्य कम किया जाता तो यह प्रतिगामी विवर्तित होगा। वर्तमान में प्रत्येक सरकार ऐसी कर-संरचना अपनाने में रुचि रखती है जिसका करापात इसके समस्त नीति उद्देश्यों के अनुरूप हो। व्यवहार में विभिन्न क्षेत्रों तथा उद्योगों की पारस्परिक निर्भरता के कारण प्रत्येक कर का भार जानना वैसे भी बहुत कठिन होता है परन्तु इसके अन्तर्निहित महत्व के कारण, हमें कर भार निर्धारण के प्रयासों को छोड़ना नहीं चाहिये। करों के प्रभाव तटस्थ नहीं हो सकते और उनके प्रभाव बहुत सीमा तक उनके करापात पर निर्भर करते है।

समाज के विभिन्न वर्गों पर करों के भार का अध्ययन करने के लिये, हमने देखा कि समाज को कई प्रकार के आधारों पर विभिन्न वर्गों में बाटा जा सकता है। हम आय, क्षेत्र तथा स्थिति आदि के अनुसार श्रेणियां बना सकते है और महत्वपूर्ण व्यक्ति [illegible] का अथवा समूची कर प्रणाली के करापात का इन वर्गों के सम्बन्ध में अध्ययन कर सकते है।

प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में, हमने देखा कि आयकर का भार स्वयं करदाताओं द्वारा सहन किया जाता है। चाहे कई प्रकार की छूटें तथा रियायतें है, जैसे-जैसे निम्न से उच्च आय वर्ग की ओर जाते हे कर भार भी बढ़ता जाता है। इसी प्रकार पूंजीगत लाभ कर केवल धनी वर्ग द्वारा दिया जाता है। निगम कर का भार आंशिक रूप से अंशधारियों पर पड़ता है तथा आंशिक रूप से उपभोक्ताओं पर डाल दिया जाता है।

दूसरे केन्द्रीय प्रत्यक्ष करों का करापात परिमाण (Magnitude) में बहुत कम होता है परन्तु लगभग उन्हीं तक सीमित रहता है जिनपर वह लगाये जाते है। राज्य द्वारा लगाये प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि वह कुछ प्रत्यक्ष कर तो लगाती नहीं है और दूसरों में भी ऊँची छूट की सीमा तथा कर की दरें कम है। कई राज्यों में भूराजस्व समाप्त कर दिया है या कम कर दिया है। कृषि आय पर कर भी केवल कुछ ही राज्यों में लगाया जाता है। कुछ प्रत्यक्ष कर जैसे सम्पति कर स्थानीय निकायों को स्थानान्तरित कर दिये गये है। उनके सम्बन्ध में करापात केवल स्थानीय करदातओं पर पड़ता है। जब हम समस्त प्रत्यक्ष करों के करापात का विश्लेषण करते है तो छूटों तथा इन्हें लागू करने के दोषपूर्ण नियमों का ध्यान रखते हुये हमे प्रतीत होता है करापात उच्च आय वर्ग पर अधिक है। कई कारणों से कर वंचन संभव हो जाता है जिनमें कर नियमों की जटिलता उनमें से एक है। रोजगार वर्ग के सम्बन्ध में दूसरे क्षेत्रों की तुलना में कृषि क्षेत्र पर कर भार बहुत ही कम है। स्थिति के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र कम प्रत्यक्ष कर देता है। इसी प्रकार यदि हम समाज को स्व:नियोजित तथा दूसरे वर्गों में विभाजित करे तो पहले वर्ग को दूसरे की तुलना में कम कर-भार वहन करना पड़ता है।

भारत में अप्रत्यक्ष कर इस आशय से लगाये जाते है कि उनका अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं द्वारा भुगतान किया जायेगा। हमारे देश में विशेष रूप से यह सच है क्योंकि

दशकों से यहा दुर्लभता की स्थिति रही है हमारे बाजार गैर-प्रतियोगी थे, विक्रेता घटिया किस्म की वस्तु भी ऊंचे मूल्य पर बेच सकते थे केवल व्यक्तिगत अप्रत्यक्ष करों में ही कर भार आंशिक रूप से अल्प काल के लिये विक्रेताओं पर हो सकता है। सीमा करों के सम्बन्ध में, मांग ओर पूर्ति की लोचें ऐसी होती है कि इनका भार सदा भारतीय आयातकों तथा निर्यातकों पर पड़ता है न कि विदेशियों पर।

अधिक गरीब वर्गों पर अप्रत्यक्ष करों के भार को कम करने के लिये प्राधिकारी (Unprocessed) तथा (Unpacked) खाद्य पदार्थों पर कर नहीं लगाते। गरीब वर्ग द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली कई दूसरे चीजों पर बहुत कम कर लगाये जाते है जबकि धनी वर्ग द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं पर अधिक कर लगाये जाते है। अप्रत्यक्ष कर जांच समिति के अध्ययन से पता चलता हे कि जैसे-जैसे गरीब आय वर्ग से धनी आय वर्ग की ओर जाते है अप्रत्यक्ष कर का भार प्रति व्यक्ति मासिक व्यय के अनुपात में बढ़ता जाता है। इसी प्रकार शहरी लोगों की तुलना में ग्रामीण पर कर भार कम पड़ता है।

26.10 शब्दावली

कराघात उन पर होता है जिन पर इसका भुगतान करने का वैधानिक दायित्व होता है।

करापात कर के अन्तिम विश्राम स्थल को व्यक्त करता है। अर्थात करापात उन पर होता है जो अंतिम रूप से इसे सहन करते हैं।

कर के प्रभाव, इसके लगाने से अथवा परिवर्तन से अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों को दर्शाते है।

"जैसे को तैसा" का अर्थ है किसी वस्तु को प्राप्त करने के बदले कुछ दिया जाना। कर में "जैसे को तैसा नहीं होता"

कर के आधार का अर्थ उस वस्तु की वैधानिक व्याख्या है जिसके संदर्भ में कर दायित्व का निर्धारण किया जाता है।

कर विवर्तन तब होता है जब करदाता आंशिक रूप से या पूरी तरह, या तो अपनी वस्तु का विक्रय मूल्य बढ़ाकर अथवा अपने द्वारा क्रय की गई वस्तुओं का क्रयमूल्य कम करे तो दूसरों से वसूल करता है। पहले प्रकार का विवर्तन अग्रगामी विवर्तन तथा दूसरा प्रतिगामी विवर्तन है।

कर की दर अनुसूची उन दरों को व्यक्त करती है जिन पर कर के आधार में परिवर्तन होने से कर दायित्व का निर्धारण किया जाता है।

पूंजीगत लाभ कर किसी सम्पत्ति के क्रय मूल्य से उसके विक्रय मूल्य की अधिकता को व्यक्त करता है, जब कि यह अपने स्वामी द्वारा विशिष्ट समय से कम न रखी गई हो।

प्रत्यक्ष कर वह होते है जिनके दायित्व का निर्धारण कर दाता की भुगतान क्षमता के माप के प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा किया जाता है।

अप्रत्यक्ष कर वह है जिनके दायित्व का निर्धारण कर दाता की भुगतान क्षमता के प्रत्यक्ष संदर्भ के बिना किया जाता है। वह मुख्य रूप से वस्तु के निर्माण (manufacturing) विधायन (Processing) सवेष्टन, भंडारण, परिवहन, उपभोग, विक्रय, क्रय आयात तथा निर्यात पर लगाये जाते है।

औपचारिक करापात कर राजस्व के बराबर होता है।

प्रभावी करापात कर के प्रभावों को व्यक्त करता है।

कर वंचन का अर्थ है कर आधार को छुपाना और अवैधानिक रूप से कर दायित्व से बचना है।

कर परिहार का अर्थ वैधानिक रूप से कर दायित्व को कम करना है।

26.11 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

H.L. Bhatia, Public Finance 13th edition, Vikas Publishing House, New Delhi, Chap-21, 23 & 24.

The Indirect Taxation Enquiry Committee (Jha Committee) Report 1997.

Govt. of India, Ministry of Finance, Long Term Fiscal Policy, Gain Singh Sahota, or Income distributions and Taxation, Economic Times, Annual Number, 1974.

विद्यार्थियों को चाहिए कि वह भारत सरकार के नवीनतम बजट के "Receipts Budget" भाग को भी देखें। इसी प्रकार राज्य सरकार के बजट का सारांश रिजर्व बैंक आफ इंडिया, बुलेटिन सितम्बर और अक्टूबर अंक में प्रकाशित किया गया है।

26.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

प्रश्न 1. (अ) गलत (ब) गलत (स) सही (द) सही (ह) गलत

प्रश्न 2. करापात उन पर होता है जिन पर इनका भुगतान करने का वैधानिक दायित्व होता है। करापात उन स्त्रोतों को व्यक्त करता है जिन के द्वारा वह अन्तिम रूप से दिये जाते है। करों के लगने अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों को कर-प्रभाव कहते है।

प्रश्न 3. कर का आधार वह वैधानिक व्याख्या है जिसके संदर्भ में करदाता के दायित्व का निर्धारण किया जाता है।

प्रश्न 4. जब करदाता द्वारा बेची जाने वाली वस्तु की कीमत बढ़ा दी जाती है तो कर का अग्रगामी विवर्तन होता है। जब करदाता द्वारा क्रय की गई वस्तुओं की कीमत घटा दी जाती है तब कर का प्रतिगामी विवर्तन होता है।

प्रश्न 5. हां, हमारे प्रत्यक्ष करों की अति प्रगतिशील दर अनुसूचियां हैं। उनकी प्रारम्भिक छूट की सीमा होती है। वह जनसंख्या के गरीब वर्ग पर नही लगाये जाते। कृषि आय तथा सम्पति पर प्रत्यक्ष कर नहीं लगाये जाते। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र प्रत्यक्ष करों का बहुत कम भार सहन करते है।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1. भारतवर्ष में दशकों से विक्रेताओं के बाजार है। प्रतियोगिता की दशाओं की अनुपस्थिति होती है। परिणामस्वरूप विक्रेता घटिया किस्म की वस्तु को ऊँची कीमत

पर बेचते है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष कर भार को उपभोक्ताओं पर डालने में समर्थ होते है।

प्रश्न 2. हमारी आयातों की मांग की लोचें बहुत कम होती हैं क्योंकि हमारे आयात मुख्य रूप से आवश्यक वस्तुओं के होते हैं। दूसरी ओर हमारे निर्यातों की मांग की लोच अधिक होती है क्योंकि हमारे निर्यात मुख्य रूप से उनके लिये गैर-आवश्यक वस्तुओं के होते हैं। इसी प्रकार हमारी निर्यातों की पूर्ति की लोच कम होती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हमारी सौदा करने की शक्ति बहुत कमजोर हैं।

प्रश्न 3. अप्रत्यक्ष कर (Unprocessed) तथा (Unpacked) खाद्य पदार्थो तथा गरीब वर्गो द्वारा उपभोग के लिये आवश्यक कई वस्तुओं पर नहीं लगाये जाते। गैर आवश्यक (Non-essential foods) तथा मुख्य रूप से धनी वर्गो द्वारा उपभोग में लाई जाने वाली वस्तुओं के लिये कर की दरें अधिक हैं।

इकाई 27

भारत में सार्वजनिक व्यय की प्रवृतियां

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 भारत में सार्वजनिक व्यय — कुछ सामान्य समालोचनाऐ

27.3 सार्वजनिक व्यय सकल राष्ट्रीय उत्पाद के सन्दर्भ में

27.4 कुल सार्वजनिक व्यय : केन्द्र व राज्यों की तुलनात्मक स्थिति

27.5 विकासात्मक और गैर-विकासात्मक व्यय

27.6 योजना और गैर-योजना व्यय

27.7 उपभोग व पूंजी निर्माण

27.8 सारांश

27.9 शब्दावली

27.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

27. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- इस सच्चाई को महसूस करने लगेगे कि राज्य की क्रियाओं एवं व्यय के बढ़ने की प्रविृति सम्पूर्ण विश्व में पाई जाती है और भारत इस प्रविृति से अछूता नहीं है।
- यह समझ सकेंगे कि सामान्य रूप में सार्वजनिक व्यय के ऊपर जाने की प्रवृति के क्या कारण है? और भारत में विशिष्ट रूप में कौन से कारण है?
- भारत में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि को जी.एन.पी. के बदलते स्वरूप के साथ देख सकेंगे, जिम्मेवार भारत में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के मूल्य व विकास तत्वों को अलग कर सकेंगे,
- सार्वजनिक व्यय में केंन्द्र व राज्यों के सापेक्षिक हिस्से को समझ सकेंगे।
- सार्वजनिक व्यय के विकासात्मक ओर गैर-विकासात्मक व्यय के प्रमुख घटकों की विवेचना कर सकेंगे।
- सार्वजनिक व्यय के योजना और गैर योजना घटको की विचारधारा विषय-सूचि और प्रभाव को समझ सकेंगे।
- योजना व्यय में केन्द्र, केन्द्र शासित प्रदेशों और राज्यों के तुलनात्मक हिस्सों को जान सकेंगे।
- योजना व्यय के क्षेत्रिय आवंटन पर विचार-विमर्श कर सकेंगे।

- भारत सरकार के सार्वजनिक व्यय के विभाजन एवं विशेष रूप में उपभोग और पूजीनिर्माण घटकों को समझ सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

अर्थशास्त्री यह पाते हैं कि समय के साथ 2 राज्या की क्रियाएं और सार्वजनिक व्यय के बढ़ने की प्रवृति सम्पूर्ण विश्व में देखने को मिलती है। हाल ही के वर्षों में इस प्रवृति में वृद्धि हुई है और भारत भी इस प्रवृति से अछूता नहीं है। इसी कारण यह जरूरी हो गया है कि हमारे देश में बढ़ती सार्वजनिक व्यय की प्रवृति पुनः अवलोकन करे। इसके साथ ही यह सच्चाई भी जानना जरूरी है कि देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्वास्थ्य पर सार्वजनिक व्यय के गहरे व फैलते प्रभाव पड़ते है। सार्वजनिक व्यय की भूमिका, उसके कुल स्वरूप की अपेक्षा, उसकी बनावट पर ज्यादा निर्भर करती है। इस इकाई में हम मोटे रूप में सार्वजनिक व्यय की प्रवृति और इसके महत्वपूर्ण प्रमुख तत्वों द्वारा जो सम्बन्धित भाग अदा किया जाता है का पुनः अवलोकन करेंगे। हम इस बात को भी देखेंगे कि इस प्रवृति को बढावा देने वाले प्रमुख कारण कौन से हैं।

27.2 भारत में सार्वजनिक व्यय — कुछ सामान्य समालोचनाए :

यह सच्चाई पहले ही बताई जा चुकी है कि सम्पूर्ण विश्व में सार्वजनिक व्यय और राज्य की क्रियाये बढ़ती जा रही है और भारत भी इसका अपवाद नहीं है। आर्थिक विशिष्ट रूप में कहे तो हमारी सरकारें कुछ विशेष व्यय करने को बाध्य होती है। आज सरकारों को कार्य करने की अधिक सुविधाएं उपलब्ध है। इस सुविधाओं व बाध्यताओं की शक्तियों ने मिलकर केन्द्र, राज्य और स्थानीय सभी स्तरो पर सार्वजनिक व्यय की बढ़ती प्रवृति के जिम्मेदार कारण है

अनिर्वाय व्यय - सर्वप्रथम हम अनिर्वाय सार्वजनिक व्यय को देखेंगे। हम व्यय की आवश्यकता और व्यय को प्रेरित करने वाले दोनों तत्वों को देखेंगे। आधुनिक सरकारें परम्परावादी **अहस्तक्षेप नीति** में विश्वास नहीं करती है, जिसे राज्य अपने को कुछ कार्यो तक सीमित रखता है जैसे - राज्य की कानून व्यवस्था की रक्षा, राज्य को बनाये रखना, देश को बाहरी आक्रमणों से बचाना ओर उन कार्यो को करना जिनको निजी क्षेत्र करने की स्थिति में न हो। **अहस्तक्षेप की नीति** इस मान्यता पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था में बाजार की क्रियाओं से अधिकतम कुशलता आती है निजी क्षेत्र बाजार क्रियाओं से संचालित होता है। अतः निजी क्षेत्र द्वारा संचालित प्रत्येक कार्य बाजार यन्त्र पर छोड़ देनी चाहिए। लेकिन आज का आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त यह महसूस करना है कि अनेक क्रियाएं राज्य द्वारा ही अच्छी तरह से संचालित की जा सकती है जैसे - **सार्वजनिक वस्तुएं एवं आवश्यक वस्तुए** ये वे क्रियाएं है जिनसे किसी को वंचित नहीं किया जा सकता है एवं एक व्यक्ति के इस्तेमाल से दूसरे व्यक्ति के इस्तेमाल में कमी नहीं आती है जैसे : देश की रक्षा व्यवस्था। कोई भी आर्थिक निजी इकाई उन मूल्यों पर इन सुविधाओं को उत्पादित एवं बेच नहीं सकती है जिन पर सार्वजनिक क्षेत्र इन सुविधाओं को उपलब्ध कराता है। इसी तरह प्रोफेसर मसग्रेव की भाषा में कहे, तो कुछ वस्तुएं ऐसी होती जो **गुण वस्तुए** (merit good) कहलाती है जिनका उपभोग समाज के सभी व्यक्तियों के **लिए आवश्यक** है। इस में शिक्षा, स्वास्थ और सफाई व्यवस्था आदि है अतः **समाज के** लिए कुछ वस्तुएं सामाजिक व आवश्यक वस्तुएं हैं, राज्य को इन वस्तुओं को उपलब्ध कराना होता है, इन कार्यो के सम्पादन के कारण- राज्य की क्रियाओं की बढती प्रवृति अन्तः निहित होती हैं इस लक्ष्ण की पूर्ति के लिए सरकारें समाज के लिए उपयोगी व सहायक

हो, प्रत्येक सरकार पर अतिरिक्त कार्य एवं जिम्मेदारियां बढ़ गई है, इसने भी राज्य के व्यय में वृद्धि को बढावा दिया है।

यह विचार योग्य बिन्दु है कि आधुनिक सरकारों के ऊपर स्वंय आरोपित दार्शनिक अनिवार्य व्यय है कि वे समाज की सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में सुधार लायेगा। इसके लिए वह सार्वजनिक एवं अनिवार्य वस्तुएं उपलब्ध कराती है। समय के साथ अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा व विभिन्नता बढ़ती जा रही है जिसके कारण भी सरकारों को अपना व्यय बढ़ाना पड़ा है।

इसी तरह सरकारें यह महसूस करती है कि कल्याण वादी विचारधारा उन्हें अनेकों अतिरिक्त काम करने के लिए प्रेरित करती है। उदाहरण के लिए श्रम कानून, विभिन्न नियन्त्रण-नियमन, लाइसेन्स देना आदि। शहरीकरण के साथ-साथ सरकारों के ऊपर अतिरिक्त जिम्मेदारी बने हैं, इसमें जुग्गी - झोंपड़ी की समस्याएं, ट्रैफीक, कानून व्यवस्था शहरी यातायात व्यवस्था, पानी, सफाई आदि व्यवस्थाएं है। एक तरफ बढते मुल्य राज्य के बजट को प्रभावित करते हैं दूसरी तरफ सरकारें यह महसूस करती हैं कि अपने कार्यो को कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए इन बढ़ती एवं जटिल अर्थव्यवस्था में हमे विशिष्ट व्यक्ति, जटिल मशीने एवं औजार, संचार व्यवस्था आदि चाहिये। रक्षा व्यय भी बढता जा रहा है क्योंकि अन्य देश रक्षा सामग्री में बढ़ोतरी करते जा रहे हैं।

अतः हम जानते हैं कि हर सरकारों को, जिसमें हमारे देश की सरकार भी शामिल है, उन शक्तियों का सामना करना पडता है जा राज्य के व्यय को बढ़ाती है। ये अनिर्वाय कार्य कुछ सरकारों द्वारा स्वयं के ओढ़े गये है और कुछ उन पर थोप गये हैं। भारत में **हमारी सरकार राज्य के विकास को सामाजिक न्याय के साथ बढ़ाना चाहती है।** लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हमारी सरकार ने विशाल स्तर पर सार्वजनिक विनियोग किया है। बहुत बड़े पैमाने पर आर्थिक कल्याण के कार्यो को सम्पादित किया है। सरकार की आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में सहभागिता बढ़ी है। सरकार ने अनेकों कार्यक्रम जैसे गरीबी उन्मूलन, बेकारी मिटाना, मूल्य नियंत्रण, आपात नियंत्रण निर्यात प्रोत्साहन कुछ व्यक्तियों के हाथों में आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण पर रोक आदि लागू किये है।

व्यय के अवसर

जब तक सरकारो को कार्य करने के अवसर उपलब्ध नहीं होंगे जब तक वास्तव में राज्य की व्यय बढ़ने की अनिवार्यता पूरी नहीं होगी। सार्वजनिक व्यय बढ़ने के साथ उसको पूरा करने के लिए कोष भी उपलब्ध होना चाहिए। हमारे देश भारत में सरकारों को कोष बढ़ाने की असीमित सुविधाएं उपलब्ध है। हम इन में से कुछ एक को देखेंगे।

हमें सच्चाई स्वीकार करनी होगी कि संसद का सार्वजनिक व्यय पर बहुत थोडा प्रभावी नियंत्रण होता है। देश में बजट कार्यकारिणी द्वारा बनाया जाता है और संसद इस स्थिति में नहीं होती है कि अनुमानों की सत्यता को परख सकें। अतः देश में जो व्यय स्वीकृत होता है वह अधारभूत तरीके से नहीं होता है जो कार्यकारिणी बनाती है। अधिक कहे तो कार्यकारिणी संसद के पास जाती है और बदलती परिस्थितियों के लिए अतिरिक्त व्यय की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

हमारी सरकार संसद की स्वीकृति प्राप्त करके अतिरिक्त खर्च कर सकती है। यह इस बात को बताता है कि बिना कर, आय और सार्वजनिक उपक्रम आपके देश में अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय सम्भव है यह सच्चाई खर्च की प्रवृति को बढ़ा देती है और अधिकांश सरकारें व्यय को रोकने में समर्थ नहीं होती है।

सरकारें घाटे की वित व्यवस्था भी कर सकती है। केंद्रीय सरकार में इसका अर्थ होता है कि सार्वजनिक व्यय की वित्त व्यवस्था नगद शेष के निकालने (अर्थात अतिरिक्त नोट छापने) और ट्रेजरी बिल के माध्यम से, रिजर्व बैंक आफ इंडिया से उधार लेकर की जाती है। राज्य सरकारें अंतिम उपलब्ध साधन के रूप में ओवरड्राफ्ट (over-draft) लेती है जो स्वीकृत बिलों से अधिक व्यय और अधिक समय की तरफ ले जाती है। अधिकतर क्रेन्द्र रिजर्व बैंक से उधार लेकर राज्यों के ओवर ड्राफ्ट को निपटाती है। इस नीति का शुद्ध प्रभाव यह होता है कि

(1) राज्य रिजर्व बैंक की अपेक्षा केन्द्र का ऋणी हो जाता है।

(2) केन्द्र रिजर्व बैंक का ऋणी व राज्यों का ऋणदाता हो जाता है

(3) भारत सरकार के बजट में अतिरिक्त प्रभावी घाटे को जन्म मिलता है। आधिकारियों की राजास्व रसीदें अतिरिक्त अधिक वृद्धि को दर्शाता है जो उनको और अधिक व्यय करने को अवसर प्रदान करते है। हमे विदेशी सरकारों से अनुदान व ऋण के रूप में सहायता प्राप्त होती है, जिसने सरकारों के अधिक खर्च के योग्य बनाया है।

27.3 सार्वजनिक व्यय सकल राष्ट्रीय उत्पाद के सन्दर्भ में

संक्षिप्त रूप में कुल सार्वजनिक व्यय की वृद्धि GNP के संदर्भ में बताती है (साधन लागतपर) सार्वजनिक व्यय का आशय केन्द्र, राज्य, केंद्र शासित प्रदेश के कुल खर्च से सम्बन्धित है। हम यह देखतें है कि (सकल राष्ट्रीय उत्पादन) GNP और सार्वजनिक व्यय दोनों ही बढ़ रहे हैं, पर बाद वाला अधिक तेजी से बढ़ा है। GNP और सार्वजनिक व्यय के नवीनतम आंकडे जो उपलब्ध है वे सन् 1998-99 तक के है। प्रथम योजना से 1998-99 तक दोनों की वृद्धि से यह ज्ञात होगा कि दोनों किस तरह से बढ़ है। व्यय वृद्धि पर 13.7% प्रतिवर्ष रही है। इसके विपरीत GNP इसी अवधि में 10.5% की वार्षिक वृद्धि दर को दर्शाती है। आकड़ों का अवलोकन यह बताता है कि GNP की अनुपात में सार्वजनिक व्यय की दीर्घकालिन बढ़ने की प्रवृति देखने को मिलती है। यह वृद्धि 15.14% प्रथम योजना में थी चौथी योजना में बढकर 31.32% हो गई। 1978-80 में वृद्धि इतनी अधिक थी कि अन्य वर्षो में यह बनी नहीं रह सकती है। परन्तु यह दिखाता है कि सार्वजनिक व्यय GNP के 2/5 के सामान्य स्तर पर पहुंच गया है।

सार्वजनिक व्यय की तीव्र वृद्धि के बारे में विचार विमर्श करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस वृद्धि के लिए कीमत वृद्धि का भी काफी हाथ है अगर हम बढ़ते GNP (कुल राष्ट्रीय उत्पादन) के आंकडो में विकास और कीमत तत्वों को अलग अलग करते है, तो हमे यह ज्ञात होता है कि 1950-1985 सालों के अंतराल में, इन दोनों तत्वों की क्रमशः वृद्धि 3.729% प्रतिवर्ष और 8.496% प्रतिवर्ष रही है (प्रथम योजना और 1987-88 के औसत के अनुसार) इन्हीं अवधि के दौरान हम सार्वजनिक व्यय की वृद्धि तत्व को भी देख सकते है। सार्वजनिक व्यय का वृद्धि तत्व 9.277% है जो 6.57% प्रतिवर्ष विकास दर प्रदान करता है। यह दर स्पष्टतः अधिक रही है, स्थिर मूल्यों पर मापे गये GNP (सकल राष्ट्रीय उत्पादन) की अपेक्षा।

सार्वजनिक व्यय के विकास और कीमत तत्वों को अलग-अलग करने से क्या आशय है और यह कहने का क्या तात्पर्य है कि सार्वजनिक व्यय 6.57% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रहा है पिछले 35 वर्षो के दौरान प्रथम पंचम योजना से लेकेर 1987-88 की अवधि लेवे। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए चलो हम इस तरह से आगे बढ़े। जब हम सार्वजनिक व्यय का

मौद्रिक रूप में वर्णन करते है तो हम पाते है कि एक अवधि से दूसरी अवधि मध्य यह बढ़ता ही जाता है। यह वृद्धि दो कारणों से होती है अगर राज्य की क्रियाओं का स्तर और मात्रा वही रहे, ओर मूल्य में परिवर्तन नहीं हो तो सार्वजनिक व्यय की मात्रा भी वहीं रहनी चाहिए। फिर भी यदि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि दर्शाती है तो यह वृद्धि मूल्यों में वृद्धि के कारण होगी। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि 'मूल्य तत्व' के कारण उल्लेखित होगी। इसी तरह, यदि मूल्यों को अपरिवर्तित रखे। ऐसी स्थिति में यदि सार्वजनिक व्यय में बढ़ोतरी होती है, बढ़ती राज्य की क्रियाओं के कारण हो। इन कारणों से यदि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है तो यह वृद्धि 'विकास तत्व' का परिणाम है। वास्तव में सार्वजनिक व्यय में एक अवधि से दूसरी अवधि के मध्य वृद्धि का कारण दोनों तत्वों के बराबर क्रियाशील होने का परिणाम हैं। अगर हम इन्हें अलग करते है हमे विकास तत्व व कीमत तत्व दोनों मे से किसी एक तत्व का मूल्य (value) ज्ञात होना आवश्यक है। कीमत तत्वों का मान हमारे विशलेषण में GNP (कुल राष्ट्रीय उत्पादन) की सहायता से अनुमानित किया गया है। हमारे दोनों मूल्यों के अन्तर से 'GNP' के आंकडे 'कीमत तत्व' को अनुमान लगाने में मदद करते है। यदि 'GNP' के आँकडों को स्थिर मूल्यों पर दी गई अवधि मध्य तुलना करे तो ये हमें 'विकास तत्वों' के अनुमानों को दर्शाते है। हम मानते है कि सार्वजनिक व्यय के आँकड़ो में 'कीमत तत्व' ही काम का है। इसके अनुसार बाकी की सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का कारण 'विकास तत्व' और अनुमानों का परिणाम है।

बोध प्रश्न - 1

1. आधुनिक सरकारों के सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिये।
2. हमारी सरकार के सम्मुख कौन से अनिवार्य व्यय और व्यय को अवसर उपलब्ध हैं जिन्होनें भारत में सार्वजनिक व्यय में दीर्घकालिन वृद्धि को प्रेरित किया है।
3. अहस्तक्षेप नीति से क्या तात्पर्य है?
4. सार्वजनिक आवश्यकता की वस्तुए कौन सी है। इनकी पूर्ति निजी क्षेत्र द्वारा सम्भव है।
5. गुण/आवश्यक वस्तुएँ (merit-good) किसे कहते है। ये सार्वजनिक व्यय में कैसे बढोतरी लाती है?
6. निम्न वाक्य को पूरा करने के लिए लगभग सही आंकड़े का चयन करें-

   "कीमत तत्व को हटाने के बाद, भारत में सार्वजनिक व्यय की विकास दर पहली योजना में और 1987-88 के मध्य आकी गई ..... प्रतिशत प्रतिवर्ष।"

   (अ) 5.2 (ब) 8.0 (स) 9.3 (द) 12.4

27.4 कुल सार्वजनिक व्यय : केन्द्र व राज्यों की तुल्नात्मक स्थिति

हमारे संविधान में आर्थिक एवं सामाजिक सेवाएं मुख्य रूप से राज्यों को दी गई है। जैसे-जैसे देश का सामाजिक एवं आर्थिक विकास होता है, इन आवश्यकताओं की जरूरत बढ़ती जाती है। इस सन्दर्भ में देखे तो केन्द्र का हिस्सा, सभी राज्यों के सम्मलित हिस्सा से, सार्वजनिक व्यय में कम होना चाहिए। अधिक स्पष्ट कहे तो समय के साथ-साथ केंद्र का हिस्सा घटता जाना चाहिए। लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत है। व्यय में केंद्र का हिस्सा, सभी राज्यों के सम्मलित हिस्से से सदैव ही ज्यादा रहा है। और अधिक विशलेषण करे तो ज्ञात होता है कि केंद्र का अनुपातिक हिस्से में कई दफा ऊपर की तरफ उछाल देखने को मिलता है।

इसका एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि केंद्र के कुछ करों (Taxes) से अधिक आय प्राप्त होती है जो सार्वजनिक व्यय में केंद्र के हिस्से को बढ़ाते हैं। इन करों में केंद्रीय बिक्री कर, कस्टम कर और कोरपोरेशन टेक्स (आयकर भी अधिक आयवाला है परन्तु इसका काफी बड़ा हिस्सा राज्यों को वापस चला जाता है) दूसरी तरफ केंद्र अधिक ऊँची दरों पर और आसान तरीकों से उधार ले सकता है राज्यों की तुलना में क्योंकि उसके पास "कैदी बाजार" Captive market उसके अधिकार में है। केंद्र सरकार अनेक कानूनी अधिकारों से सम्पन्न है जैसे - व्यापारिक बैंक LIC, GIC, प्रेविडेन्ट फण्ड संगठन आदि ये सभी सरकारी सिक्युरिटीयों में विनियोग करने के लिए बाध्य किये जाते हैं। ये सभी विनियोग कर्त्ता इकट्ठे सरकारी सिक्युरिटियों के लिए "कैदी बाजार" भांति है और सरकार इन पर उधार उठा सकती है विदेशी अनुदान उधार सरकार के बाजार संसाधनों में अतिरिक्त वृद्धि लाते हैं। अधिक कहे तो केंद्र सरकार भारी बजटीय घाटा बनाने में सक्षम है इसकी पूर्ति वे अधिक नोट छापकर और रिर्जव बैंक आफ इंडिया को ट्रेजरी बिल बेचकर कर सकती है। दूसरी तरफ अपने वित्तीय साधन बढाने की क्रियाओं में राज्यों को अनेक बाधायें है। केंद्र को उत्पादन कर और बिक्रीकर से अधिक आय प्राप्त हाती है दूसरी तरफ राज्यों को करों से कम आय प्राप्त होती है राज्यों के अधिकार में "कैदी बाजार" (Captive market) नहीं है जहां से वे आसान शर्तो पर उधार भारी मात्रा में ले सकें। राज्यों को कुछ मात्रा में उधार मिलता है पर वह भी कड़ी शर्तो के बीच। राज्यों को अपने साधनों को एक बड़ा भाग केंद्र से हिस्से के कर, अनुदान, उधार के रूप में मिलता है। केंद्र इन कोषों के हस्तान्तरण, निर्धारण के समय पहले अपनी स्वंय की आवश्यकता और खर्चो को पहले ध्यान में रखता है,, यह एक स्वाभाविक बात है। राज्य छिपाकर बजटीय घाटा उत्पन्न नहीं कर सकते है। क्योकि वे मुद्रा के उत्पन्न कर्त्ता (छापने वाले) नहीं है उनके ट्रेजरी बिल रिर्जव बैक आफ इंडिया द्वारा स्वीकृत नहीं किये जाते है।

27.5 विकासात्मक और गैर-विकासात्मक व्यय

विकासात्मक और गैर विकासात्मक व्यय के मध्य एक स्पष्ट रेखा खींचना सम्भव नहीं है। कुछ मद गैर विकासात्मक सारणी में होते हैं पर उनका विकासात्मक प्रभाव भी होता है उदाहरणस्वरूप - रक्षा गैर-विकासात्मक व्यय है पर देश की सुरक्षा के बिना विकास सम्भव नहीं है। दूसरी तरफ रक्षा व्यय स्वंय में नई तकनीक, साधन, प्रक्रिया, उत्पादन सम्भावनाओं को जन्म देता है। भारत में सरकारी वर्गीकरण में विकासात्मक व्यय मोटे रूप में समाजिक और आर्थिक मदों पर किये व्यय के समान है इस तरह से गैर विकासात्मक व्यय में रक्षा, ब्याज अदायगी, करो को एकत्र करने की लागत पुलिस और प्रशासन आते हैं। यह देखा गया है कि विकास व्यय कुल व्यय का 3/5 और कभी-कभी 2/3 होता है यह एक अच्छी बात है जो कोष के न्यायोंचित उपयोग को दर्शाती है यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति विकास व्यय के भाग को और अधिक बढ़ाना चाहते हो, जिसका कारण यह है कि कुल व्यय तेजी से बढ़ा है। यह 8,352 करोड़ रु सन् 1970-71मे था बढ़कर 1988-89 में 127780 करोड़ रु हो गया है। गैर विकास व्यय भी कुल व्यय की भांति बढा है यह 1970-71 में 3636 करोड़ रु था जो 1988-89 में 49693 करोड़ रु. हो गया।

सार्वजनिक व्यय के गैर-विकासात्मक व्यय के बहुत थोडा भाग कर (Tax) एकत्रीकरण की लागत ड्यूटी, पूलिस पर खर्च होता है। पहले का अनुपातिक भाग घटता जा रहा है इसका कारण है कि अधिकारी अपने व्यय की वित्त व्यवस्था बड़ी मात्रा में गैर कर आय और पूंजीगत रसीदो से करते है। रक्षा व्यय का आनुपातिक भाग गिरने की प्रवृति बताता जो 1/3 या उससे थोडा नीचे है। परन्तु ब्याज अदायगी का अनुपातिक भाग इसके विपरीत दीर्घकालीन बढ़ने की

प्रवृति को दर्शाता है, यह 1970 में 20% था जो 1980 में गैर विकासात्मक व्यय का 1/3 के लगभग हो गया है। सरकारों ने विभिन्न तरीकों से बडी मात्रा मे उधार की नीति का प्रतिपादन किया है जैसे बाजारी ऋण, छोटी बचतें, प्रोविडेन्ट फण्ड, ट्रेजरी बिल आदि। सरकारों ने दोनो ही विदेशी और आन्तरिक तरीकों से उधार लिया है। इन्हीं अवधि में ब्याज की दरे भी बढ़ी है। इन सभी क्रियाओं के कारण-बजट में भारी मात्रा में ब्याज अदायगी में बढ़ोतरी हुई है।

सार्वजनिक व्यय का दूसरा महत्वपूर्ण घटक इसमें सामान्य प्रशासन, पेन्शन, अकाल राहत, अनुदान भोजन पर, राशन के कपड़े, विदेशी सरकारों को अनुदान और उधार, और गैर विकासात्मक व्यय के लिए उधार आता है। यह नोट करने लायक बात है कि भारत सरकार द्वारा दिये गये अनुदानों का भाग बढ़ता गया है यह 1970-71 में 94 करोड़ रु था जो 1989-90 में 7790 करोड़ रु हो गया है 1989-90 के बजट में 3454 करोड़ रु अनुदान के लिए रखे गये है। दूसरी तरफ अनुदानों के पक्ष और विपक्ष में अनेक विचार है, पर सरकारों द्वारा अनुदानों की बढ़ाते रहने की आवश्यकता महसूस की गई है यह 16.86% है। गैर विकासात्मक सार्वजनिक व्यय को अनुदानों को तीन प्रमुख मदो पर व्यय किया जा रहा है (1) भोजन (2) खाद (3) निर्यात प्रोत्साहन एवं बाजार के विकास के लिए। इनमें खाद का सबसे उच्च भाग है इसके बाद भोजन व निर्माण प्रोत्साहन का भाग आता है। अन्य अनुदानों में रेलवे हस्तशिलप, और व्याज अनुदान के रूप में है। अनुदान हमारे देश की अर्थव्यवस्था में नीति निर्धारिक में प्रमुख भाग अदा करते हैं इस भाग को ऐसे ही सरलता से नहीं छोड़ सकते है।

27.6 योजना और गैर-योजना व्यय

योजना और गैर-योजना व्यय में अन्तर प्रशासनिक अकाउन्टिग की दृष्टि से किया गया है आर्थिक तर्क की दृष्टि से नहीं। एक योजना व्यय जरूरी नही (सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से) विकासात्मक प्रकृति का हो और एक गैर योजना व्यय भी इस प्रकृति का हो सकता है। जब एक योजना बनाई जाती है तो उसमे अनेकों परियोजनाएं और स्कीम होती है। जैसे ही एक स्कीम या परियोजना परिपूर्ण हो जाती है अथवा वह पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही हो, तो वह योजना की श्रेणी से हटकर गैर योजना मद की तरफ खिसक जाती है। यही कारण है कि परियोजना के रख रखाव और उत्पादकोष सम्पति (जैसे सडक, पानी संग्रहण आदि) के संचालन को गैर योजना व्यय में रखा जाता है चाहे इनके संचालन पर की गई लापरवाही उतनी ही खतरनाक और हनिकारक है जितनी उस सम्पति के बिना होती है। आगे कहे तो, गैर योजना व्यय की अन्त निर्हित प्रकृति समय के साथ बढ़ने की होती है।

सार्वजनिक व्यय के योजना और गैर-योजना व्यय में आवंटन में एक महत्वपूर्ण लक्षण है कि यह हिस्सा बढ़ता जा रहा है। 1981-82 से 1989-90 के मध्य इसका भाग 58% से बढ़कर 2/3 के लगभग हो गया है कुल व्यय के। गैर योजना व्यय का भाग गिरता जा रहा है और अब यह भाग कुल व्यय के 1/3% पर स्थिर है। रक्षा, ब्याज और अनुदान गैर-योजना व्यय का मुख्य हिस्सा ले जाते है। 1989-90 मे इन तीनों मदों पर कुल व्यय का 70% से अधिक भाग खर्च होता था जब कि दूसरी तरफ अनुदानों का भाग 5.2% है।

केंद्र द्वारा योजना व्यय का आधे से भी ज्यादा भाग खर्च किया जाता है। छठी योजना में (1980-85) कुल व्यय में केंद्र का हिस्सा 52.35% (जो कि 57,825 करोड़ रु है कुल व्यय 110,467 करोड़ रु में से राज्यों का भाग 45.89% (49,458 करोड़ रु) और केंद्र शासित प्रदेश भाग 1.76% (2,000 करोड़ रु) है। सातवीं योजना के प्रथम चार वर्षो में सामान्य प्रवृति लगभग वही रही है, यद्यपि केंद्र और केंद्र शासित प्रदेशों के हिस्सो के व्यय में कुछ वृद्धि देखने को मिलती है।

योजना व्यय का क्षेत्रीय वितरण

सार्वजनिक व्यय के क्षेत्रीय वितरण का सीधा प्रभाव अर्थव्यवस्था के विकास के स्थान और स्वास्थ्य, आय व धन के वितरण पर पड़ता है। विभिन्न मदों पर किये गये सार्वजनिक व्यय का आंवटन न केवल अर्थव्यवस्था के व्यक्तिगत क्षेत्र के विकास को प्रभावित करता है बल्कि वह भावी विकास की सम्भावनाओं पर भी प्रभाव डालता है।

समय के साथ विभिन्न मदों पर किया गया खर्च बदल गया है। कुछ मदो पर किया गया व्यय विकास के साथ विशेष रूप में महत्वपूर्ण पाया गया है। हमें यह पता चलता है कि 1979-80 में कृषि का भाग और कृषि सम्बन्धित सेवाओं, सिचाई बाढ़ नियन्त्रण का भाग ठोस रूप में बढा है उद्योग एवं खान क्षेत्र की लागत पर कुछ हद तक सामाजिक सेवाओं और यातायात व सम्वादवहन की लागत पर भी बढ़ा है। इसी तरह से पांचवी योजना में उद्योग व खान का भाग काफी ऊंचा था यह यातायात व सम्वादवहन के अनुपातिक भाग में कमी से समतोलित हुआ। (सामाजिक सेवा और कृषि और कृषि सम्बंधित सेवाए) छठीं और सातवीं योजना में 'शक्ति' पर विशेष जोर दिया जब कि दूसरी तरफ उद्योग खान के भाग में कमी की गई। 1966-69 की वार्षिक योजनाओं में सामाजिक सेवा, कृषि ओर कृषि आधारित सम्बन्धित सेवाओं, उद्योग खान और शक्ति पर विशेष जोर दिया गया, यातायात व सम्वादवहन की लागत पर। एक योजना से दूसरी योजना मे इन परिवर्तनों के बावजूद सार्वजनिक व्यय का सामान्य प्रारूप (Pattern) आवंटन को देखने को मिलता है। यदि हम कृषि, कृषि सम्बन्धित सेवाओं, ग्रामीण विकास, विशिष्ट क्षेत्र योजनाओं तो ये सदैव ही योजना व्यय के प्रमुख क्षेत्र रहीं है जिन पर 1/6 से 1/8 कुल व्यय का खर्च होता है। 'शक्ति' को कृषि और कृषि सम्बन्धित सेवाओं से सदैव ही अधिक भाग प्राप्त हुआ है और इसका भाग छठीं और सातवीं योजना में बहुत तेजी से बढा है और यह बढ़ोतरी अवश्यम्भावी थी। शक्ति, यातायात, सम्वादवहन देश की आधारभूत सुविधाओं के प्रमुख क्षेत्र है इनकी आवश्यकता हर अर्थव्यवस्था को रहती है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था को इनकी आवश्यकता ज्यादा होती है। यदि देश की आय व कुशलता को बनाये रखना है गिरने नहीं देना है तो दश को रख रखाव पर काफी व्यय करना होगा। योजना व्यय का एक प्रमुख मद सामाजिक सेवाओं का है। चाहे हमारे जैसा गरीब देश इन सामाजिक सेवाओं को देने में काफी कठिनाई महसूस करता है (ये प्रत्यक्ष रूप में स्थिर पूंजी निर्माण में बाधक है) इनको उपलब्ध कराना जीवन को सुधारने, देश में फैली दुखः, बीमारी, कुपोषण आदि को कम करने हेतु आवश्यक है। आप आगे यह देखोगे कि विज्ञान, तकनीक, पर्यावरण पर बहुत थोड़ा भाग योजना व्यय का खर्च होता है। वास्तव में जैसे-जैसे कृषि का आधुनिकीकरण हुआ है, नवीन रसायनिक व अन्य उद्योग विकसीत हुए हैं, शक्ति का विकास हुआ, यातायात उघोग, साधनो का अधिक उपयोग हुआ है, शहरीकरण बढा है, पर्यावरण दुषित होने का खतरा नये आयामों की तरफ बढ़ रहा है। ये सभी अनिवार्य कार्यो के कारण सार्वजनिक व्यय में निरन्तर गति से वृद्धि हुई है पर यह वृद्धि आवश्यक मात्रा में अभी भी काफी कम है।

हमारा देश गरीब है और अधिकारियों के पास साधन सीमित है, योजना व्यय के लिये अतः विभिन्न क्षेत्रों की प्रतिस्पर्धी को जो साधन आवंटन हेतु उपलब्ध हैं उन्हें सन्तुलित तरीके से आवंटित करना होगा। परिणाम यह है कि निरपेक्ष शब्दों में बतायें तो प्रत्येक्ष क्षेत्र को जो साधन आवंटित होते हैं वे उसकी आवश्यकता को देखते हुए काफी कम है। परन्तु फिर भी हम यह देखते है कि एक योजना से दूसरी योजना के मध्य योजना व्यय के आवंटन में लोचशीलता एवं ठहराव देह मिलती है। वास्तव में आवंटन का निर्णय विभिन्न क्षेत्रों में अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीय कार्यो का अवलोकन करके, प्रत्येक वर्ष साधनों का आवंटन किया जाता है। यह स्वीकार किया

जाता है कि साधनो के आवंटन में सदैव ही सुधार सम्भव है परन्तु सच्चाई यह है कि साधन आवंटन सदैव ही बदलनी आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तित होता है।

27.7 उपभोग व पूंजी निर्माण (Consumption and Capital Formation)

सार्वजनिक व्यय के विकासात्मक प्रभावों को देखने का एक तरीका चह है कि उसे उपभोग और पूँजी निर्माण श्रेणी में बांटा जाए। पूँजी निर्माण देश में उत्पादकीय क्षमता बढाने हेतु आवश्यक है, चाहे उसका एक हिस्सा पूँजी निर्माण मे काम आता है, जो शुद्ध पूंजी निर्माण में थोडा बहुत सहायक है। केंद्र न केवल अपने उपभोग के लिए साधन आवन्टित करता है, बल्कि अर्थव्यवस्था में इसी उद्देश्य के लिए कोष का हस्तान्तरण करता है। इसी तरह केंद्र द्वारा पूंजी निर्माण प्रत्यक्ष रूप में स्वंय के लिए किया जाता है और शेष अर्थव्यवस्था के लिए साधन हस्तांतरित करता है, पंजी निर्माण, वित्तिय विनियोग और उधार के लिए। हम एक उचित मान्यता रख सकते है कि सभी 'चालू' हस्तान्तरण उपभोग में काम आते है दूसरी तरफ सभी 'पूंजी' हस्तान्तरण पूंजी निर्माण में काम आते है।

पूंजी निर्माण में गया भाग अपनी चरम सीमा में 54.82% द्वितीय योजना में और इसके पश्चात यह भाग गिरने लगा और 1979-80 में गिरकर 42.90% पर पहुंच गया। छठीं योजना में यह भाग बढकर 45.4% हो गया लेकिन फिर सातवी योजना से लगातार गिर रहा है। 1988-89 में यह गिरकर केवल 37.4% रह गया कुल भारत सरकार के व्यय के अनुपात में।

भारत सरकार के व्यय का दूसरा प्रमुख भाग उपभोग घटक से सम्बन्धित है। उपभोग व्यय का कुछ भाग केंद्र स्वंय खर्च करता है और इसका दूसरा घटक शेष अर्थव्यवस्था को चालू हस्तान्तरण है। शुरू में 'चालू हस्तान्तरण' केंद्र के स्वयं के उपभोग व्यय से कम था, परन्तु पहला तेजी से बढता गया है दूसरे की अपेक्षा और पांचवी योजना तक यह व्यय केंद्र के स्वयं के उपभोग व्यय से उपर निकल गया था और यह प्रकृति आगे भी चली फिर 1988-89 मे चालू व्यय 29,958 करोड़ रुपये था इसमें से केंद्र का स्वयं उपभोग व्यय 18,743 करोड़ रु था निरपेक्ष रूप में 1998-99 में 'चालू हस्तान्तरण' 37.02% रहा प्रथम योजना के वार्षिक औसत के, केंद्र का स्वयं का अपना उपभोग व्यय 15.02% के लगभग था। सामूहिक रूप में आधार वर्ष की तुलना में उपभोग न्यय का स्तर 23.75% पर था।

इस प्रकार पंजी निर्माण व्यय 1988-89 में 17.12% पर रहा प्रथम योजना के स्तर पर। केंद्र द्वारा भी पूंजी निर्माण 11.91% पर था, विनियोग व उधार लगभग 17.00% पर एवं पंजी हस्तान्तरण 44.21% के लगभग रहे।

27. सारांश (Summary)

यह सच्चाई है कि सार्वजनिक वित्त का चारों और फैलने वाला प्रभाव अर्थव्यवस्था के संचालन पर है। यह सार्वजनिक वित्त की प्रकृति के अध्ययन से ज्ञात होता है। हमारे देश में यह अध्ययन और आवश्यक है क्योंकि हमारी सरकार कल्याणकारी सरकार है और यह पुरानी अहस्तक्षेप नीति में विश्वास नहीं करती है। यह हमारी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए विशेषरूप से प्रयत्नशील है। सरकार समूह के जीवन स्तर को ऊँचा उठाती है, और सामाजिक एवं आर्थिक अन्याय को हटाना चाहती है। इसके लिए प्रत्यक्ष सार्वजनिक विनियोग अन्य कार्य और व्याय में विश्वास करती है। अधिक कहे तो हमारी सरकारों को "अनिवार्यताएं" (स्वयं

आरोपित और बाह्य परिस्थितियों द्वारा पैदा करी गई) और अनेको ऐसे अवसरों को ढूढती है जो सार्वजनिक व्यय में बढोतरी लाते हैं। विशेष रूप में, हम यह स्वीकार करते हैं कि सार्वजनिक वस्तुएं सरकारों को दी जानी चाहिए और गुण वस्तुओं (merit goods) की पूर्ति इसके द्वारा बढाई जानी चाहिए। आगे कहे तो, बढते मूल्य, रक्षा आवश्यकता, शहरीकरण, रोजगार विशेषज्ञो, नवीन उपकरण और तकनीक और सम्वादवहन के साधन आदि सभी मिलकर सरकारी व्यय में बढोतरी करते हैं। नोट छापने की क्षमता और उधार प्रवृति दोनों ही विधानसभा के अपूर्व और अकुशल निष्पादन के कारण बढते जाते हैं और बढती आय के साधन के कारण कार्यकारिणी को कार्य के अक्सर बढ जाते हैं ये भी सार्वजनिक व्यय में बढोतरी लाते हैं।

हमारा विशलेषण यह बताता है कि केंद्र, राज्य और केंद्र शासित प्रदेशों का सम्मलित सार्वजनिक व्यय सकल राष्ट्रीय उत्पादन की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रहा है। यदि हम बढते मूल्यों के महत्व को समाप्त कर दे फिर भी सार्वजनिक व्यय का बढता हुआ स्वरूप ऊंची दर पर देखा जा सकता है।

तुलनात्मक रूप में देखे तो केंद्र का हिस्सा कुल व्यय में राज्यों की अपेक्षा कम होना चाहिए, क्योंकि आर्थिक और सामाजिक सेवाओं की पूर्ति करने की जिम्मेदारी राज्यों की है। पर व्यवहार में केंद्र का हिस्सा सदैव ही राज्यों के हिस्से की अपेक्षा ज्यादा रहा है। इसका कारण यह है कि केंद्र के साधन अधिक उदार या आय देने वाले है और वह आसानी से उधार ले सकता है और नोट निर्गमन कर सकता है। यह विदेशों से भी अनुदान व उधार के रूप में साधन प्राप्त कर सकता है। इसे दूसरी प्रकार से ऐसे कह सकते हैं कि यहां पर अन्तर्निहित वित्तीय असन्तुलन केंद्र के पक्ष में और राज्यों के विपक्ष में पाया जाता है और यही केंद्र को अधिक व्यय के लिए प्रोत्साहित करता है।

सार्वजनिक व्यय का सरकारी वर्गीकरण विकास और गैर-विकासात्मक घटक में किसी सैद्धान्तिक आधार पर आधारित नहीं है। अनेको ऐसे मद हैं जिनपर वर्गीकरण में मतभेद सम्भव है। वर्गीकरण का प्रमुख स्वरूप यह है कि सामाजिक और आर्थिक मदों पर व्यय विकासात्मक है और दूसरा गैर विकासात्मक व्यय है। इस वर्गीकरण की दी गई सीमितताओं में सार्वजनिक व्यय का विकासात्मक घटक सदैव ही ज्यादा रहा है गैर-विकासात्मक घटक की अपेक्षा (यह कुल का 3/5 रहा है।) चाहे पहला बढते सार्वजनिक आय के कारण अधिक तेजी से बढ़ सकता है।

किसी परियोजना/स्कीम पर किया व्यय उसे पूर्ण करने की अवस्था में हो योजना व्यय कहलाता है। चाहे जब परियोजना पूर्ण हो जाती है (अथवा परियोजना पूर्ण स्तर पर है) उसके रखरखाव पर किया गया व्यय और अन्यथा गैर योजना व्यय की श्रेणी में आता है। इस विभेद के आधार पर, गैर-योजना व्यय की एक अन्तर्निहित प्रवृति है कि वह समय के साथ बढता जायेगा। फिर भी योजना व्यय कुल व्यय के अनुपात में बढ़ रहा है 1980 की अवधि में इसमें ऊपर की तरफ बढने की प्रवृति रही यह 58% से बढकर 66% हो गया।

योजना व्यय के क्षेत्रीय आवन्टन में, दुर्लभ साधनो की परस्पर विरोधी मांग के मध्य, दो प्रमुख लक्षण देखने को मिलते है। प्रथम - समय के अन्तराल के साथ इसमें लोचशीलता और जिम्मेदारिता का गुण प्रदर्शित हुआ है, देश की बदलती आवश्यकता के अनुरूप (इस प्रकार देश की बदलती परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न क्षेत्रों के अनुपातिक भाग में अदलाव आया है। द्वितिय- विभिन्न क्षेत्रों में साधन आवंटन का एक स्वरूप देखने को मिलता है जो इन क्षेत्रों के हमारी योजना में महत्व को दर्शाता है। इस आधार पर प्रमुख क्षेत्र है (1) शक्ति (2) उद्योग (3) खनन (4) कृषि और आश्रित सेवाएं (5) यातायात एवं सम्वादवहन (6) सामाजिक सेवाएं (7) सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण।

अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक व्यय का उपभोग और पूंजी-निर्माण में विभाजन विशेष महत्व रखता है। हम यह देखते हैं कि द्वितीय और तृतीय योजना को छोडते हुए, केंद्रीय सरकार के व्यय का वह भाग जो पूंजी निर्माण में जा रहा था वह उपभोग भाग की अपेक्षा कम रहा है। हाल ही के वर्षों में यह प्रवृति काफी कष्टकारी रही है। उपभोग व्यय का वह भाग जो केंद्रीय बजट से 'चालू हस्तान्तरण' द्वारा वित्त पोषित किया जाता था वह अधिक तेजी से बढा है वनिस्पत उस भाग के जो व्यय सरकार स्वयं के चालू हस्तान्तरण द्वारा करती है। इसी तरह से पूंजी निर्माण के लिए,केंद्रीय सरकार बढती अनुपात में पूंजी हस्तान्तरण और विनियोग और उधार पर आधारित रही है, इसके वनिस्पत की वह स्वयं पूंजी निर्माण करे।

27.9 शब्दावली

अहस्तक्षेप नीति

अहस्तक्षेप नीति का तात्पर्य है हस्तक्षेप नहीं करना। यह शब्द उस नीति को अथवा दर्शन को बताता है जिसमें मांग, पूर्ति व कीमते बाजार यन्त्र द्वारा संचालित होने के लिए सरकार छोड़ देती है। प्रमुख आधार भूत आर्थिक निर्णय जिसमे उपभोग, विनियोग, बचत व उत्पादन तरीके, खरीददारी आदि शमिल है निजी हाथो में छोड़ दिये जाते है। सरकार अपने को केवल (1) स्वयं के रखरखाव (2) कानून-व्यवस्था को बनाये रखना और न्याय समाज को प्रदान करना (3) विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना (4) सामाजिक ऊपरी पूंजी उपलब्ध करने तक ही सीमित रखती है।

सार्वजनिक वस्तुएं

इस क्षेत्र की वस्तुओं मे कुछ विशेष लक्षण होते हैं, जो उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में रहने के लिए सक्षम बनाते हैं।

आवश्यक/गुण वस्तुएं (merit goods)

ये वस्तुए हैं जिनका उपभोग समाज के लिए आवश्यक माना जाता है अतः इन वस्तुओं की पूर्ति सरकार द्वारा की जानी चाहिए।

योजना व्यय

यह व्यय है जो योजना में शामिल किया गया है जब तक कि वह परियोजना/स्कीम पूरी नहीं हो जाती है।

गैर-योजना व्यय

एक बार परियोजना/स्कीम पूर्ण कर जी जाती है तो इस पर किया गया अतिरिक्त, कुछ भी खर्चा, (इसके रखरखाव का हिस्सा शामिल करते हुए) सार्वजनिक व्यय के गैर योजना व्यय में जाता है।

विकासात्मक व्यय

यह शब्द विस्तृत रूप में उस सार्वजनिक व्यय के लिए प्रयुक्त होता है जो सामाजिक और आर्थिक मदों पर किया जाता है। चाहे सभी व्यय के मद पूर्ण रूपेण (अथवा आंशिक रूप से) विकासात्मक प्रकृति के ना हो इस आधार पर कि ये देश के आर्थिक विकास में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष योगदान दे रहे हो।

गैर विकासात्मक व्यय

रक्षा व्यय, ब्याज अदायगी, प्रशासन आदि गैर विकास व्यय है इस दृष्टि से किय व्यय देश के विकास में प्रत्यक्ष योगदान नहीं करते है।

बढ़ते पुंजी उत्पादन अनुपात (ICOR)

एक इकाई को उत्पन करने के लिए आवश्यक पूंजी अनुपात के लिए काम में लिया जाता है।

27.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लोक सभा में बजट प्रस्तावित करने से पूर्व भारत सरकार प्रत्येक वर्ष आर्थिक सर्वेक्षण प्रकाशित करती हैं विद्यार्थियों से सलाह है वे इसे पढ़े। इसके साथ ही RBI रिजर्व बैक आफ इंडिया का बुलेटिन पढना होगा (यह हर महीने प्रकाशित क़िया जाता है) रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा) जो सितम्बर महीने या अक्टुबर महीने में प्रकाशित होता है। वे विद्यार्थी जो भारत सरकार के बजट का विस्तृत अध्ययन करने के इच्छुक हैं वे व्यय बजट भाग - I विभिन्न वर्षो के पढ सकते है। इसमें लोकसभा में प्रस्तुत विभिन्न बजटों का तुलनात्मक रूप देखा जा सकता है।

27.11 बोध प्रश्नों का उत्तर

1. आधुनिक सरकारों के व्यय को बढाने वाले प्रमुख कारणो में शामिल है (1) सार्वजनिक वस्तुएं और उपयोगी वस्तुएं का बढता महत्व (2) आधुनिक सरकारों का कल्याणवादी रूख (3) हर एक के लिए आर्थिक सामाजिक न्याय को रक्षा दिलाने में बाजार पक्ष की असफलता (4) बढता रक्षा व्यय (5) अर्थव्यवस्था की बढती जटिलता (6) शहरीकरण व इसकी समस्याएं (7) विशेषज्ञो की आवश्यकता, आधुनिक औजारों का प्रयोग, सम्वादवहन साधन का उपयोग (8) आर्थिक विकास व पूंजी निर्माण की दरो का बढना (9) बढती कीमतें।

2. प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर (अनिवार्यताओं या अनिवार्य कार्यों) को बताते हुए प्रश्न 1 की भांति है। इस प्रश्न के दूसरे भाग में सुविधाओं/अवसरों को देना जैसे लोक सभा का अपूर्ण और अकुशल निरपेक्ष अर्थव्यवस्था पर, नोट छापने की क्षमता और उधार लेने की क्षमता और बढती सार्वजनिक आय आदि कार्यों को बताना हैं

3. अहस्तक्षेप नीति या दर्शन उस शब्द को बताता है जहा सरकार अर्थव्यवस्था को स्वतंत्र छोड देती है, बाजार शक्तियों के लिए केवल कुछ कार्यो को रखते हुए जिन्हे निजी क्षेत्र पूर्ण नही कर सकता हैं।

4. सार्वजनिक वस्तुएं (सेवाएं) के विशेष लक्षण होते है यही कारण है इनका इस रूप में नामकरण किया गया है। इन लक्षणों में यह लक्षण भी शमिल है कि इनके उपभोग से किसी को वंचित नहीं किया जा सकता है अर्थात अलग का सिद्धान्त इस पर लागू नही होता है (अर्थात यदि वस्तु उपलब्ध है तो कोई भी इसके प्रयोग से वंचित नही किया जायेगा) यही कारण है कि ये सामाजिक वस्तुएं उन मूल्यों पर पूर्ति नही की जाऐगी या बेची जाऐगी जो उनको खरीदने की क्षमता (वेसे) रखते हैं। ये वस्तुएं सभी के लिए उपलब्ध करानी होगी और उसकी पूर्ति सार्वजनिक कोष से की जायेगी। निजी क्षेत्र इनको उत्पादित नही कर सकता है और नही इनकी पूर्ति कर सकता है।

5. उपयोगी/गुण वस्तुएं वे हैं जिनका उपभोग आवश्यक होता है। उपयोगी वस्तुओं का लाभ केवल उन्हें ही नही मिलता है जो इनका उपयोग करते हैं बल्कि ये वस्तुऐ समाज के अन्य सदस्यो को भी लाभ पहुंचाती है। उदाहरण के लिए शिक्षा स्वास्थ, पोषण आदि। यदि इनकी पूर्ति बाजार शक्तियों पर छोड़ दी जाती है तो इनकी पूर्ति कम/अपूर्ण रहती है, सामाजिक आवश्यकता की अपेक्षा। अतः सरकार को आगे बढना होगा और इनकी पूर्ति स्वयं के प्रयत्नों से बढ़ानी होगी। इनकी पूर्ति बजटीय व्यय का बढ़ा देगी।

6. (ख) 9.3

इकाई 28

भारत में केन्द्र राज्य वित्त सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 विषय के अध्ययन का उद्देश्य

28.3 भारत में संघात्मक वित्तीय व्यवस्था का इतिहास

28.4 भारतीय संघ में केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध

28.4.1 संवैधानिक प्रावधान

28.4.2 भारत में केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों की विशेषताएं

28.4.3 केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय स्रोतों का बंटवारा

28.5 भारत में वित्त आयोगों का गठन व उनकी सिफारिशें

28.6 सारांश

28.7 निबन्धात्मक प्रश्न

28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें।

28.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप :

- जान सकेंगे कि भारत में संघात्मक वित्त व्यवस्था कब से प्रारम्भ हुई।
- विभिन्न वित्त आयोगों ने संसाधनों के बँटवारे के लिए क्या सिफारिशें की है?

28.1 प्रस्तावना

सन् 1947 का वर्ष भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। इस वर्ष भारत अपनी सदियों की दासता से मुक्त हुआ था। इतने बलिदान के फलस्वरूप अर्जित इस स्वतंत्रता को संजोये रखने के लिए इसे बहुत कुछ करना था। सर्वप्रथम देश के प्रशासन का महत्वपूर्ण कार्य सामने था। भारत को एक संविधान की रचना करनी थी। किसी भी देश का संविधान एक दिन की उपज नहीं होता है। संविधान एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है। भारत में भी संवैधानिक परम्परा का विकास अंग्रेजो के भारत में आगमन के समय से ही प्रारम्भ हुआ। स्वतंत्रता के प्राप्ति के पश्चात् दूसरा ऐतिहासिक महत्व का दिन था 26 जनवरी 1950, जब भारत का संविधान लागू हुआ, जिसने भारत को संसार के समक्ष एक नये गणतंत्र के रूप में प्रस्तुत किया।

भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार इण्डिया अर्थात भारत राज्यों का एक संघ

होगा। इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है और इसमें संघात्मक शासन के सभी लक्षण विद्यमान है। संविधान ने शासन शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न कर केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच विभाजित कर दी है जो दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र है। संविधान लिखित और कठोर है, इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गई है। सवोच्च न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है। जिसे संविधान की व्यवस्था करने और केन्द्र व राज्यों के बीच उत्पन्न संवैधानिक झगड़ों को निपटाने का अधिकार दिया गया है।

परन्तु संविधान में कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनमें इसका झुकाव एकात्मक शासन की ओर प्रतीत होता है जैसे राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति, इकहरी नागरिकता आदि।

संविधान द्वारा भारत के लिए एक संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है पर संविधान में कहीं पर भी "संघ राज्य (Federation)" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, वरन् उसके स्थान पर "राज्यों के संघ (Union of States) शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने "राज्यों के संघ" शब्दावली के महत्व को स्पष्ट करते हुये संविधान सभा में कहा था" प्रारूप समिति के द्वारा इस शब्दावली का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि यद्यपि भारत का एक संघ राज्य है लेकिन यह संघ राज्य किसी प्रकार के पारस्परिक समझौतों का परिणाम नहीं है और संघ राज्य समझौतों का परिणाम न होने के कारण, किसी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है।"

कुछ संविधान वेत्ताओं ने भारतीय संविधान की संघीय प्रवृति पर आपत्ति प्रकट की है और कहा है कि भारतीय संविधान सही रूप में एक संघीय संविधान नहीं है। प्रो. हिव्यर ने- "Indias New Constitution analysed" (1950) D.L.R.-25 में कहा है कि भारतीय संविधान एक अर्द्धसंघीय संविधान है जिसमें एकात्मक राज्य, जिसमें संघात्मक तत्व सहायक रूप में, न कि संघात्मक राज्य जिसमें एकात्मक तत्व सहायक कहे जा सकते हैं।

जेनिंग्स ने इस संविधान को अपनी पुस्तक Some Characteristics of the Indian Constitution, P.55 में एक ऐसा संघ बताया है जिसमें केन्द्रीयकरण की सशक्त प्रवृति है।

संघात्मक बनाम एकात्मक के विवाद के इस घेरे से निकलने का एक ही उपाय है वो यह कि इस बात को भली भांति समझ लेना चाहिये कि संघवाद की प्रवृति किसी देश के ऐतिहासिक विकास व आवश्यकता के आधार पर निर्भर करती है। प्रत्येक देश में एक ही पद्धति के संघवाद की आशा करना व्यर्थ है। संघवाद स्थान और समय के अनुसार बदलता रहता है। किसी देश में इसका क्या स्वरूप अपनाया जायेगा, वह देश-विदेश की ऐतिहासिक भौगोलिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर आधारित करता है।

यह सच है कि भारतीय संविधान में संघीय सिद्धांत को उस रूप में नहीं स्वीकार किया गया जिस रूप में वह अमरीका या अन्य संघीय संविधानों में अपनाया गया है, इसका कारण स्पष्ट है कि भारतीय संविधान ने संघीय शासन व्यवस्था की सैद्धांतिक दृष्टिकोण से नहीं वरन् व्यावहारिक दृष्टिकोण से परिभाषा दी है। भारतीय संविधान निश्चित रूप से संघवाद के क्षेत्र में एक नया और साहसपूर्ण प्रयोग है।

भारतीय संविधान निर्माताओं का उद्देश्य एक दृढ़ व शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने का रहा है जो किसी भी समय देश पर बाहरी आक्रमण को रोकने में समर्थ हो और आन्तरिक विनाशकारी शक्तियों को दबाने में पूर्ण सक्षम हो। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए

केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गयी है। भारतीय संघात्मक व्यवस्था एक परिवर्तनशील व्यवस्था है और आवश्यकतानुसार यह एकात्मक व संघात्मक दोनों ही रूप धारण कर सकती है।

इस प्रकार भारत अपने ढंग का एक अनोखा संघ है, यह इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है, कि संघात्मक सिद्धान्त की अपेक्षा देश का हित सर्वोपरि हैं।

28.2 विषय के अध्ययन का उद्देश्य

"किसी भी संघात्मक प्रणाली की सफलता के लिए आवश्यक है कि केन्द्र और राज्यों के वित्तीय साधन पर्याप्त हों जिसमें संविधान द्वारा आरोपित अपने-अपने उत्तरादायित्वों का वे सुचारू रूप से पालन कर सकें।"

डी.डी. बसु - "इन्ट्रोडक्शन टू दि कान्सटीट्यूशन ऑफ इण्डिया, पृ. 141 संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों की सरकारों के बीच केवल विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का ही विभाजन नहीं होता, अपितु वित्तीय स्रोतों का भी बंटवारा होता है। वित्तीय स्रोतों के विभाजन को लेकर राज्यों के बीच मतभेद और तनाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है, यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी संघात्मक शासन प्रणाली और यह विश्व की अधिकांश संघ व्यवस्थाओं को संकट ग्रस्त करती रही है।

वस्तुतः राज्यों के विधायिनी और प्रशासकीय प्राधिकार को कायम रखने के लिए उनकी वित्तीय स्वतंत्रता अत्यन्त आवश्यक है किन्तु संघीय सिद्धान्त का विश्व के किसी भी संघात्मक संविधान में पूर्ण रूपेण पालन नहीं किया गया है। आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधान के अन्तर्गत राज्यों को दिये गये राजस्व के साधन इतने अपर्याप्त हैं कि उन्हें काफी हद तक केन्द्रीय अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है। स्विटजरलैंड के संविधान में वित्तीय साधनों का विभाजन इसके बिल्कुल विपरीत है और वहां केन्द्र राज्यों के उपर निर्भर हैं क्योंकि केन्द्रीय राजस्व का अधिकतर भाग राज्यों से प्राप्त होता है। अमेरिका के मूल संविधान में इस सिद्धान्त को कठोरता से लागू करने का प्रयास किया गया था जिससे केन्द्र और राज्य वित्तीय मामलों में पूर्ण स्वावलम्बी रहें, किन्तु कालान्तर में राज्यों की कल्याणकारी धारणा के विकास के उनके कर्त्तव्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, जिसके कारण राज्यों को केन्द्रीय अनुदान पर निर्भर रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसके कारण अमेरिका में भी केन्द्रीयकरण की प्रवृति का विकास हुआ -जिसने राज्यों की स्वायत्तता को कम कर दिया।

भारतीय संविधान में केन्द्र और राज्यों में राजस्वों का वितरण भारतीय सरकार अधिनियम 1935 की पद्धति के आधार पर किया जाता है। हमारे संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि केन्द्र व राज्यों के वित्तीय संबंध लचीले हों व बदलती परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुकूलनीय रहें। इस प्रयोजन के लिए एक वित्त आयोग की स्थापना का प्रबन्ध भी किया गया है जो समय-समय पर वित्त स्थिति पर पुर्नविचार करेगा और संशोधन व परिवर्तन का सुझाव देगा।

किसी भी संघीय संविधान में इस तरह की कोई विस्तृत व्यवस्था नहीं है कि जिसके माध्यम से केन्द्र और राज्यों में राजस्वों वितरण का समयानुकूल समायोजन और वितरण होता रहे। इस व्यवस्था को अपनाकर भारतीय संविधान ने निस्सन्देह इस जटिल क्षेत्र में एक मौलिक योगदान दिया है।

समस्त व्यवस्थाओं के बाद भी केन्द्र और राज्यों, राज्यों व राज्यों के मध्य वित्तीय मतभेद

समय-समय पर उभर कर सामने आते रहे हैं। चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व केन्द्र और राज्य सरकारों के सामान्य संबंध संतोषजनक थे, जिनका प्रमुख कारण भारतीय संघ के लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस दल की सरकार तथा नेहरू का महा व्यक्तित्व था। इस समय तक केन्द्र और राज्यों में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक मदभेद नहीं था।

लेकिन चतुर्थ आम चुनाव के केन्द्र व राज्य के बीच पारस्परिक संबंधों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। चुनाव के बाद कई राज्यों में गैर-कांग्रेसी दलों ने अकेले या संयुक्त मोर्चे की गैर कांग्रेसी सरकारों का निर्माण किया और इन गैर कांग्रेसी सरकारों विशेष कर तमिलनाडु की द्रविड़ मुनेत्र कड़गम सरकार ने राज्यों की अधिक स्वायतता की मांग की। 1977 में राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के बाद स्वायतता की मांग को पुनः उठाया गया। अब इस प्रकार की मांग पश्चिमी बंगाल के वामपन्थी मोर्चे की सरकार और उसके मुख्यमंत्री ज्योति बसु द्वारा की गई और जम्मू-कश्मीर राज्य के मुख्य मंत्री और नेशनल कांग्रेस के नेता श्री शेख अब्दुला तथा कुछ अन्य के द्वारा उसका समर्थन किया गया। 11 फरवरी 1978 को श्री शेख अब्दुल्ला ने कलकत्ता में "कश्मीर मेले" का उद्घाटन करते हुए इस बात की मांग की कि "30 वर्ष पूर्व की परिस्थितियां नहीं रही है। अतः अब राज्यों की अधिक अधिकार दिये जाने चाहिये। जिससे वे अपना विकास कर सकें - - केन्द्र तथा राज्यों के समस्त संबंधों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिये।" (हिन्दुस्तान टाइम्स, 12 फरवरी, 1978)

यद्यपि यह सत्य है कि अधिकांशतः राज्यों द्वारा अधिक शक्तियों और वित्तीय साधनों की मांग अनेक बार चुनावी राजनीतिक मुद्दे के रूप में की जाती है, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्यों को अधिकत अधिकार, विशेष तथा आर्थिक क्षेत्र में अधिक अधिकारों के प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किये जाने की आवश्यकता है।

ग्रेनविल ऑस्टिल लिखते हैं "भारत नयी दिल्ली नहीं है, बल्कि राज्यों की राजधानियां भी है। राज्य केन्द्रीय सहायता के आंकाक्षी हैं, किन्तु राज्यों के सहयोग के बिना संघ, बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकता। राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार की नीतियों का माध्यम हो सकती है। किन्तु उसकी सहायता के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सकती। वस्तुतः दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर है।"

केन्द्र राज्य सम्बन्धों में अभी हाल के वर्षो में स्वस्थ दिशा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। राज्य की बिगड़ती हुई आर्थिक दिशा में कुछ पिछले आयोगों ने राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों में बहुत अधिक वृद्धि का सुझाव दिया।

इस प्रकार केन्द्र राज्य सम्बन्ध, विशेष रूप से आर्थिक संदर्भ में, ध्यान आकर्षित करते हैं, इस बिन्दु पर चिंतन मनन आवश्यक है ताकि केन्द्र में शक्तिशाली सरकार की स्थापना तो हो ही जाये तथा बढ़ते हुये उत्तरादायित्वों के संदर्भ में पर्याप्त वित्तीय साधन भी प्राप्त कर सकें।

28.3 भारत में संघात्मक वित्तीय व्यवस्था का इतिहास

भारत एक संघात्मक गणतंत्र है जिसमें केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों व जिम्मेदारियों का बंटवारा संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से कर दिया गया है। वर्तमान समय में जिस संघीय वित्त व्यवस्था को अपनाया गया है वह कई सोपानों से गुजरा है। अगर हम वर्तमान भारतीय संघीय वित्त व्यवस्था को सही प्रकार से समझना चाहते हैं तो इसके पीछे छिपे इतिहास को अनदेखा करना, इस दिशा में अपने ज्ञान को अल्प रखना होगा - हम इसके इतिहास को जाने बिना इसके वर्तमान को सही रूप में समझ नहीं सकेंगे।

(1)	प्रथम अवधि	1833 - 1870
(2)	द्वितीय अवधि	1871 - 1918
(3)	तृतीय अवधि	1919 - 1935
(4)	चतुर्थ अवधि	1936 - 1949
(5)	पंचम अवधि	भारतीय संविधान के निर्माण के बाद यानि स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान में केन्द्र और राज्यों के मध्य स्रोतों का बंटवारा।

1. प्रथम अवधि - (1833-1870)

1833 में भारत की वित्तीय व्यवस्था ब्रिटिश सरकार के चार्टर एक्ट के तहत संचालित होती थी, इसके अनुसार बंगाल का गर्वनर भारत का गर्वनर जनरल होता था तथा विभिन्न प्रान्तों के गर्वनर वित्तीय मामलों में गर्वनर जनरल के अधीनस्थ थे। समस्त आय भारत सरकार के नाम से एकत्रित की जाती थी और गर्वनर जनरल को उसे खर्च करने का पूरा अधिकार था। प्रान्तीय सरकारें वित्तीय मामलों में स्वतंत्र नहीं थी, छोटे-छोटे व्ययों के लिये भी प्रान्तीय सरकारों को गर्वनर जनरल से पूर्वानुमति लेनी पड़ती थी।

इस व्यवस्था के अनेक दोष थे-- जैसे असुविधाजनक, अपव्यय, आदि। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष था कि किसी भी प्रान्त को कितना अनुदान मिले, इस बात का निर्णय इस आधार पर नहीं किया जाता था कि उनकी मांग कितनी जायज है वरन् जिस प्रान्त पर गर्वनर जनरल का जितना ज्यादा वरद् हस्त रहता था वह उतना अधिक वित्त प्राप्ति की स्थिति में होता था। इस व्यवस्था का प्रान्तों के द्वारा विरोध किया गया।

2. द्वितीय अवधि (1871-1918)

भारत में 1871 के पूर्व केन्द्रीय सरकार को आय व व्यय के संदर्भ में पूरा अधिकार प्राप्त था। प्रान्तों को केन्द्र सरकार द्वारा निश्चित अनुदान दिये जाते थे ताकि वह अपने व्ययों की पूर्ति कर सकें। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रान्तों में इस बात पर अनिश्चितता का वातावरण बना कि उन्हें कितना अनुदान केन्द्र सरकार से मिलेगा, कई प्रान्तों को आवश्यकता से अधिक अनुदान मिला जिनका दुरूपयोग किया गया। इस समस्या को समाधान हेतु कई बार केन्द्र सरकार ने प्रान्तों को समान मात्रा में अनुदान दिए परन्तु भारत जैसे देश में जहाँ प्रांतों में अनेक विविधतायें हैं, जहां हर प्रान्त की समस्या विविध है, समानता के आधार पर वित्तीय अनुदान देना सही प्रतीत नहीं होता।

इसी कारण से 1871 में लार्ड मेयो ने वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में कदम उठाया। इस व्यवस्था को Prcvincial Settlement का नाम दिया जिसके तहत कुछ व्यय जो स्थानीय प्रकृति के थे उनका अधिकतर प्रान्तों को दिया गया ये विषय थे पुलिस, जेल, शिक्षा, सड़कें आदि। इस व्यवस्था के तहत 4.68 करोड़ रू. का वार्षिक अनुदान हर प्रान्त को दिया गया और सीमित मात्रा में कर लगाने का अधिकार भी दिया गया। इस प्रकार भारत में संघात्मक वित्त व्यवस्था की नींव पड़ी। इस वित्तीय व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि प्रान्तों के व्यय कॉफी मात्रा में बढ़ गया परिणामतः 1877 में लार्ड ल्याटू ने नयी स्कीम दी जिसके तहत प्रान्तीय सरकारों के अधीन के व्यय व आय स्रोतो में बढ़ोतरी की गई जैसे स्टाम्प, एक्साइज। परन्तु यह व्यवस्था भी ज्यादा संतोषप्रद नहीं बन पाई।

सन् 1882 में लार्ड रिपन ने एक नवीन योजना दी जिसके तहत कुछ मामलों में आय

प्राप्त करने का अधिकार प्रान्तों को सौंपा गया जबकि कुछ स्रोतो को "विभाज्य स्रोत" की संज्ञा दी गई। जिनसे प्राप्त आय को केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों के मध्य बांटा गया। इस प्रकार इस व्यवस्था के बाद में प्रान्तों को निश्चित मात्रा में वित्तीय अनुदान देने की व्यवस्था समाप्त हो गई। 1887, 1892, 1897 में इस व्यवस्था में और सुधार लाये गये।

3. तृतीय अवधि (1919-1935)

बाद में वित्तीय व्यवस्था के केन्द्रीकरण की दिशा में मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के तहत और सुधार किये गये — इस सुधार योजना को भारत सरकार के अधिनियम 1919 में शामिल किया गया जो 1921 में लागू हुआ। इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय सरकारों के वित्तीय स्त्रोतों का स्पष्ट रेखांकन किया गया जैसे भूराजस्व, सिंचाई पर आमदनी, स्टाम्पस आदि महत्वपूर्ण आय स्त्रोंत राज्यों को प्रदान किये गये। इस बात को भी मद्देनज़र रखा गया कि इतने महत्वपूर्ण आय स्त्रोत प्रान्तों के पास जाने पर केन्द्र के पास वित्तीय अभाव की स्थिति उत्पन्न होगी - इसलिए यह तय किया गया कि प्रान्तीय सरकारें केन्द्र सरकार को वित्तीय सहायता देंगी जैसे मद्रास 4.28 करोड़ रु., इस व्यवस्था ने प्रान्तों में गम्भीर असंतोष उत्पन्न किया, इस संदर्भ में एक "वित्तीय संबंध समिति" का निर्माण किया गया जिसने 1920 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसे "मेस्टन अवार्ड" के नाम से जाना जाता है।

मेस्टन अवार्ड – लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में नयुक्त इस समिति की निम्न महत्वपूर्ण सिफारिशें थी —

(अ) प्रान्तों द्वारा केन्द्र को दी जाने वाली वित्तीय सहायता 9.63 करोड़ रु. स्थिर रहेगी ताकि केन्द्र सरकार 1921-22 के बजट के घाटे को पूरा कर सके।

(ब) केन्द्र सरकार प्रान्तों से जो ऋण लेगी वो 12 साल के अन्दर ब्याज सहित, प्रान्तों को लौटाने होंगे।

(स) आय-कर के रूप में उगाही, गयी समस्त राशि केन्द्र सरकार के कोष में जायेगी।

4. चतुर्थ अवधि-(1936-1949)

सन् 1935 तक उक्त व्यवस्था रही बाद में इस बात पर विचार प्रारम्भ हुआ कि केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों के मध्य आय का बंटवारा किन सिद्धान्तों के आधार पर हो। 1935 में भारत सरकार अधिनियम पारित हुआ जिसमें केन्द्र में संघात्मक व्यवस्था वाली सरकार की स्थापना पर जोर दिया गया और प्रान्तों को कुछ विषयों में स्वायत्ता प्रदान की गयीं।

1935 के इस अधिनियम के तहत भारत में भूराजस्व, अपगेम कृषि आय कर, रजिस्ट्रेशन, स्टाम आदि जैसे आय के स्रोत प्रान्तों को दिये गये। कुछ ऐसे कर भी निर्धारित किये गये जो केन्द्र सरकार द्वारा लगाये व एकत्रित किए जायेगे। पर उस राशि का बंटवारा प्रान्तों के मध्य किया जायेगा। कुछ ऐसे कर भी निर्धारित किये गये जो प्रान्तीय सरकारों द्वारा लगाये व एकत्रित किये जायेंगे पर उनसे प्राप्त राशि का बंटवारा केन्द्र व प्रान्तों के बीच होगा। साथ ही इस अधिनियम द्वारा यह प्रावधान भी रखा गया कि जरूरतमंद प्रान्त को उसकी जरूरत के अनुसार वित्तीय अनुदान केन्द्र सरकार देगी।

ओटो नाइमेयर अवार्ड 1936 — सन् 1936 में सर ओटो नाइमेयर को केन्द्र व प्रान्तों के मध्य वित्तीय संबंधों का अवलोकन करने के लिए नियुक्त किया गया। इनकी निम्न सिफारिशें थी।

(अ) आय कर से प्राप्त राशि का 50% प्रान्तों को बांटा जाये।

(ब) वित्तीय अनुदान आर्थिक दृष्टि से पिछड़े प्रान्तों को देना चाहिए।

(स) किस प्रान्त को आय कर का कितना भाग दिय जाये इसका निर्धारण दो आधारों पर किया जाये। पहला कि उस राज्य की कुल आय कर राशि में योगदान कितना है, दूसरा, उस राज्य की जन संख्या।

भरत सरकार ने उक्त सारी सिफारिशें मान ली और यह व्यवस्था 1947 तक चली।

5. पंचम अवधि

स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान बना और उसमें 1935 के अधिनियम को ही आधार बनाया गया। संविधान में यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक पांच वर्ष में या उसके पहले, राष्ट्रपति वित्त आयोग की स्थापना करेगा। इस प्रकार प्रत्येक पांच वर्षों में भारत वित्त आयोग की स्थापना की जाती है, जो राष्ट्रपति को सलाह देता कि आय कर व अन्य करों में (जो केन्द्र सरकार द्वारा अगाये व/और एकत्रित किये जाते हैं) राज्यों का हिस्सा कैसे निर्धारित किया जाये, तथा वित्तीय अनुदान किस आधार पर राज्यों को दिये जायें।

अब तक भारत में नौ वित्त आयोग नियुक्त किये जा चुके हैं। दसवां वित्त आयोग अभी कार्यरत है।

देशमुख आवार्ड (1950) – स्वतंत्रता के तुरन्त बाद वित्त आयोग की स्थापना नहीं की जा सकी, इसलिए भारत सरकार ने श्री सी.डी. देशमुख को नियुक्त किया ताकि वे सलाह दे सकें कि कर राशि का बंटवारा केन्द्र व राज्य सरकारों के मध्य कैसे किया जाये, उन्होंने अपनी सिफारिश में कहा कि आयकर में किसी राज्य का क्या योगदान रहा है इसे आयकर राशि बंटवारे का महत्वपूर्ण आधार बनाया जाना चाहिए। वित्त आयोग की स्थापना तक श्री देशमुख की सिफारिशें ही आधार मानी जाती रही।

28.4 भारत में केन्द्र – राज्य वित्तीय सम्बन्ध

28.4.1 संवैधानिक प्रावधान

भारत में संघीय वित्त व्यवस्था के कारण भारतीय संविधान में केन्द्र व राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों के बारे में विशेष प्रावधान किये गये हैं। केन्द्र को वित्तीय साधनों के व्यापक व सुनिश्चित स्त्रोत प्रदान कर उसे काफी सशक्त बनाया गया है। राज्यों को अपनी वित्तीय आवश्यकताओं के लिए बहुत कुछ केन्द्र पर आश्रित रहना पड़ता है। केन्द्र राज्यों को उनके वित्तीय अभावों की पूर्ति के लिए तीन प्रकार से वित्तीय हस्तांतरण करता है—

(अ) वैधानिक हस्तान्तरण

इसके अन्तर्गत राज्यों को वित्तीय साधनों का हस्तान्तरण केन्द्रीय करों में अंश तथा सहायतार्थ अनुदान के रूप में किया जाता हैं जो राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक पांच वर्ष में नियुक्त वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार निर्धारित किया जाता है। अब तक भारत में दस वित्त आयोग अपनी सिफारिशें दे चुके हैं।

(आ) योजना हस्तान्तरण

इसके अंतर्गत राज्यों को योजना कार्यों के लिए वित्तीय साधनों का केन्द्र द्वारा हस्तान्तरण

योजना आयोग के निर्धारित फार्मूले के अनुसार किया जाता है। पिछले वर्षों में केन्द्र से राज्यों को योजना कार्यों के लिए वित्तीय साधनों का हस्तान्तरण, गाडगिल फार्मूले तथा उसके समय-समय पर संशोधित फार्मूले के तहत होता रहा है।

(इ) अन्य ऐच्छिक हस्तान्तरण

केन्द्र सरकार द्वारा उपर्युक्त दो प्रकार के हस्तान्तरणों के अतिरिक्त भी राज्यों को संविधान की धारा 282 के अन्तर्गत ऋणों एवं विशिष्ट अनुदानों के रूप में वित्तीय साधनों का हस्तान्तरण किया जाता है जो बहुत कुछ केन्द्र सरकार की इच्छा एवं परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं। ये ऐच्छिक हस्तान्तरण प्रायः केन्द्र प्रायोजित योजनाओं प्राकृतिक विपदाओं में राहत देने, साधनों की कमी की पूर्ति करने तथा राज्यों को ओवर ड्राफ्ट चुकाने की ऋण राहत के रूप में होते हैं।

28.4.2 भारत में केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों की विशेषतायें

भारत में संघीय वित्त व्यवस्था का सुत्रपात 25 जनवरी 1950 से लागू भारतीय संविधान की धारा 264 से 300 के अन्तर्गत हुआ है। जिसमें केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय संबंधों की व्यवस्था की गई है। संविधान की सातवीं अनुसूचि में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के आय स्रोतों का विभाजन किया गया है। संविधान में यह भी व्यवस्था की गई हे कि राष्ट्रपति की आज्ञा से प्रत्येक पांच वर्ष के बाद एक वित्त आयोग की स्थापना की जायेगी जो सर्वेक्षण व अनुभवों के आधार पर केन्द्र तथा राज्यों के वित्त संबंधों का निर्धारण तथा उनमें वित्तीय संतुलन के हेतु अपनी सिफारिशें देगा।

संविधान की धारा 360 के अर्न्तगत संकट काल में राष्ट्रपति को देश में वित्तीय आपातकाल की घोषणा कर वित्तीय साधनों के विभाजन व वित्तीय अधिकार अपने हाथ में लेने का अधिकार दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 275 में केन्द्र द्वारा राज्यों को अनुदान व सहायतार्थ साधन हस्तान्तरण की व्यवस्था है। अनच्छेद 292-293 में केन्द्र द्वारा राज्यों से ऋणों के लेन देन की व्यवस्था की गई है।

28.4.3 केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय स्रोतों का बंटवारा

भारतीय संविधान की धारा 268 तथा उसकी सातवीं अनुसूचि में केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों के आय स्त्रोतों का विभाजन किया गया है। केन्द्र सूची (संघ सूची) में राष्ट्रीय महत्व के कार्यों को शामिल किया गया है जिनमें शामिल विषयों पर कर लगाने का अधिकार केन्द्र सरकार को ही है, जबकि राज्य सूची में शामिल विषयों पर कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है। वित्तीय साधनों का विभाजन मुख्यतः पांच श्रेणियों में किया जा सकता है।

(अ) केन्द्र सरकार के आय स्रोत

निगम कर, आयात-निर्यात शुल्क, उत्तराधिकार कर, कृषि के अतिरिक्त अन्य आय पर कर, अखबारों तथा विज्ञापनों पर बिक्रीय कर रिजर्व बैंक से प्राप्त आय, शराब एवं नशीली वस्तुओं के अतिरिक्त भारत में निर्मित अन्य वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा केन्द्र के अधीन सम्पत्ति से आय आदि। संविधान की सातवीं अनुसूची को प्रथम सूची में इनका उल्लेख है।

(आ) राज्य सरकारों के आय स्त्रोत

संविधान की सातवीं अनुसूची को द्वितीय सूची में इसका उल्लेख है। इन स्त्रोतों से आय जुटाने तथा उनके उपयोग का पूर्ण अधिकार राज्य सरकारों को है। इनमें मुख्य है — भूमि तथा भवन कर, मनोरंजन कर, शराब व मादक वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, वाहनों पर कर, स्थानीय

क्षेत्र में वस्तुओं के आने पर कर आदि स्रोत शामिल हैं।

(इ) केन्द्र द्वारा लगाये गये व वसूल किए गए राज्यों में विभाज्य स्रोत

संविधान के अनुच्छेद 269 (1) के तहत इसके अर्न्तगत वे कर स्त्रोत आते हैं जो केन्द्र द्वारा लगाये व वसूल किये जाते हैं तथा उनसे प्राप्त समस्त आय वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यों में विभाजित कर दी जाती है। केन्द्र को उसमें कुछ भी नहीं मिलता। ये हैं - कृषि भूमि को छोड़कर उत्तराधिकार कर, सीमा शुल्क कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य संपत्ति कर।

(ई) केन्द्र सरकार द्वारा लगाये व वसूल किये जाने वाले कर पर केन्द्र तथा राज्यों में विभाज्य आय स्रोत

इसके अर्न्तगत संविधान के अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद 270 में वर्णित कर आते हैं। इसे लगाने का अधिकार तो केन्द्र सरकार को ही है पर इनसे प्राप्त संपूर्ण आय को वित्त आयोग की सिफारिशों के द्वारा निर्धारित अनुपात में केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजित किया जाता है। इसके अंतर्गत - कृषि आय को छोड़कर अन्य प्रकार की आयकर, केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, रेलगाड़ी भाड़े पर कर आदि।

(उ) अन्य आय स्रोत

इनमें उन आय स्त्रोतों का समावेश है जो केन्द्र राज्य अथवा उनमें से किसी द्वारा लगाये व वसूल किये जाते हैं।

केन्द्र द्वारा लगाये कर पर राज्यों द्वारा वसूल आय के स्रोत जो राज्यों की ही आय माने जाते हैं। जैसे - स्टाम्प कर व सौंदर्य प्रसाधनों पर केन्द्र सरकार कर लगाती है, पर राज्य सरकारें ही उन्हें वसूल करती हैं और वे उन्हीं की आय माने जाते हैं।

अधिभार-केन्द्र सरकार संविधान के अनुच्छेद 271 के अनुसार किसी भी वर्ग के करों पर नया अधिभार लगाने या पुराने अधिभार में परिवर्तन करने को अधिकृत हैं इस प्रकार के अधिभार से प्राप्त समस्त आय केन्द्र सरकार की ही मानी जाती है। इसमें राज्यों को कुछ नहीं मिलता। जैसे आय कर पर अधिभार अथवा उत्पादन शुल्क पर अधिभार से प्राप्त संपूर्ण आय पर केन्द्र सरकार का अधिभार होता है।

व्यवसायों पर कर लगाने को राज्य सरकारें अधिकृत हैं।

28.5 भारत में वित्त आयोगों का गठन व उनकी सिफारिशें

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280-281 के अर्न्तगत राष्ट्रपति हर पाँच वर्ष में एक वित्त आयोग की नियुक्ति करते हैं। जिसमें चार सदस्य एवं एक अध्यक्ष होता है। यह आयोग राष्ट्रपति को सिफारिश करता है कि —

(1) कौन-कौन से करों का केन्द्र व राज्यों के बीच बंटवारा हो और विभाजन का आधार क्या है।

(2) राज्यों को अनुदान देने के सिद्धान्तों का निर्धारण तथा

(3) अन्य कोई विषय जो राज्य व केन्द्र के वित्तीय संबंधों हेतु राष्ट्रपति ने सौंपा हो।

संविधान लागू होने के बाद 1951 से अब तक 10 आयोगों की नियुक्ति की गई है, उनको नियुक्ति की तारीख, प्रतिवेदन प्रस्तुत करने तथा उनके अध्यक्षों का विवरण इस प्रकार है--

35. PVHOP प्राइवेट वालन्ट्री हेल्थ आरगेनाइजेशन प्रोग्राम	1979-78	समस्त राज्य	निजी डाक्टर स्वेच्छा से आदिवासियों को तथा अन्य ग्रामीणों को स्वास्थ्य व परिवार नियोजन सुविधाएं दें
36. स्लम्स एन विरनामेंट स्कीम SES	1977-78	समस्त राज्य	गंदी बस्तियों के हालात सुधारे जायें, विशेष रूप से जल-मल निकासी, स्वच्छ पानी व कूड़ा करकट हटाना
37. इन्टेग्रेटेड चाइल्ड डेवेलपमेंट ICDS प्रोग्राम	1977-78	समस्त केन्द्रीय शासित प्रदेश	बच्चों के स्वास्थ्य का व पोषण का विकास
38. (बंधुआ मज़दूर) बान्डेड लेवर रीहे बिलिटेशन प्रोग्राम	1977-78	कर्नाटक, मध्यप्रदेश उड़ीसा, तमिल-नाडु, उत्तर प्रदेश	इन्हें खदान मालिकों या ज़मीदारों से मुक्ति दिलाकर स्वतन्त्र मज़दूरी करने देना सम्भव बनाना
39. नेशनल एडल्ट ऐजूकेशन प्रोग्राम	1978	सभी राज्य सभी अशिक्षित प्रोढ़	इन्हें साक्षर बनाना तथा आधारभूत ज्ञान देना
40. डिस्ट्रिक्ट इन्डस्ट्रीज सेन्टर प्रोग्राम DIC	1978	सभी राज्य	ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक विकास, बढ़ाना
41. ट्रेनिंग फार रुरल यूथ फार सेल्फ एम्पलायमेंट TRYSEM	1979	ग्रामीण युवक	इन्हें स्वरोज़गार योग्य बनाना
42. सेल्फ एफीसियेन्सी स्कीम SSS	1979-80	तमिलनाडु	ग्रामीण गरीबों को सिरोपरी सुविधाएं देना
43. नेशनल रुरल ऐम्प्लायमेंट प्रोग्राम NREP	1980	ग्रामीण तथा अर्ध शहरी क्षेत्र	रोजगार का कार्यक्रम अशिक्षितों के लिए अल्पकालिक राहत के लिए
44. स्पेशल एनीमल हस्बेन्ड्री प्रोग्राम SAHP	1980	चुनिन्दा ब्लॉक	दूध के उत्पादन से ग्रामीणों की आय बढ़ाना
45. रुरल लेबर ऐम्प्लायमेंट गारंटी प्रोग्राम RLEGP	1980	ग्रामीण भूमिहीन मज़दूर	इस तरह के परिवारों में से एक को रोज़गार देने की गारन्टी देना
46. डेवेलपमेंट ऑफ वीमेन एंड चिल्ड्रेन इन रुरल एरियाज़ DWCRA	1982-83	सभी जगह	ग्रामीण स्त्रियों व बच्चों का "उत्थान" व विकास

47. सेल्फ ऐम्प्लायमेंट फार ऐजूकेटेड अनऐम्प्लायड यूथ SEEUY	1983	अनऐम्प्लायमेंट से पीड़ित सभी युवक उन जगह जहां आबादी 10 लाख से कम हो	स्वरोज़गार की "योजना"
48. मासिव असिस्टेन्स फार इन्क्रीज़िंग एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन प्रोग्राम MAPP	1983-84	छोटे व सीमान्त कृषक	छोटी सिंचाई परियोजनाएं शुरु करना
49. सेल्फ इम्प्लायमेंट फार अरबन पुअर (SEPUP)	1986	शहरी गरीब	वही स्वरोज़गार योजना — नये नाम से
50. सर्विस ऐरिया एपरोच SAA	1989	सभी ग्राम	गांव के लिए बैंक द्वारा साख योजना बनाकर उधार देना
51. नेहरू रोज़गार योजना NRY	1989	शहरी गरीब	रोज़गार योजना
52. जवाहर रोजगार योजना JRY	1989	ग्रामीण गरीब	मज़दूरी — रोज़गार देना
53. स्कीम फार अरबन माइक्रो ऐन्टरप्राइज़ेज़ SUME	1990	शहरी गरीब	स्वरोज़गार के धन्धे स्थापित करें
54. प्राइमिनिस्टर रोज़गार योजना	1993	शिक्षित बेरोज़गार युवक	स्वरोज़गार की एक और योजना
55-56 बीस सूत्रीय कार्यक्रम (दो बार)	1975-77	यह एक बिन्दु के कार्यक्रम नहीं थे, जैसा कि नाम से जाहिर है इनमें अनेक कार्यक्रम शामिल थे पूरा भारत	उस समय चल रहे सभी कार्यक्रमों व विभागों के कार्यों की सूची प्रशासन ने पंचवर्षीय योजना से ज्यादा महत्व दिया

यह सूची के कार्यक्रम याद नहीं रखे जा सकते परन्तु यह इसलिए दी गयी है कि कोई चाहे तो इनके क्रियान्वयन पर शोध कर सकता है, शर्त यह है कि सतह पर इनके चिन्ह मिल जायें! मुख्यबात इन कार्यक्रमों के बारे में यह है कि विभाग के जो सामान्य काम हैं, पंचवर्षीय योजना में जो होना था या हो रहा है वह क्या था? यह कार्यक्रम ही धन खाने के प्रमुख साधन बने। इन राहत कार्यों के चिन्ह बहुत कम जुटे। इनका सामाजिक मूल्यांकन व आडिट शिथिल रहा। अगर शिक्षा विभाग ने व आदिवासी (अनुसूचित जनजाति) विभाग ने गरीब स्कूली लड़कियों

को यूनीफार्म, पाठ्य पुस्तक निगम की पुस्तकें, या कुछ और दिया तो उसे "सुकन्या" नाम दे दिया, रोज़गार के अनेक कार्यक्रम नये नाम पाते रहे। इन्हीं कार्यक्रमों से राजनीतिबाज़ अपने लिए नाम कमाते रहे, व राजीव गांधी मजबूर हुए कि वे सार्वजनिक रूप से यह मानें कि 85 प्रतिशत धन हितग्राहियों को नहीं पहुंचता था।

कार्य अवश्य हुए हैं, परन्तु इन कार्यों ने पंचवर्षीय योजनाओं से भी ज्यादा नाम कमाया यह आंकना मुश्किल हो गया कि कौन से कार्य योजना/सालाना बज़ट/विशेष कार्यक्रमों में हुए। इनके लिए धन आवंटन से कहां हुआ। बीस सूत्रीय कार्यक्रम तो इतने प्रसिद्ध हुए कि प्रशासन ने पंचवर्षीय योजना को कम महत्व देना शुरू कर दिया यह सही है कि ये सारे कार्यक्रम गरीबी निवारण के थे, ग्रामीण विकास के थे परन्तु इनके लिए एक सच्चा समन्वित कार्यक्रम होना था जो उत्पादन की सक्षमता व वितरण का न्याय सुनिश्चित करता।